

नमो त्थु णं समणस्स भगवतो णायपुत्त-महावीरस्स
श्रीमत्सुत्रकृताङ्गसुत्रस्य षष्ठोऽध्यायः

वीरस्तुतिः



श्रीमत्सुधर्माचार्येण गणधरभगवता प्रणीता



श्रीमज्जातृपुत्रमहावीरजैनसद्धानुगामिनो हि स्वर्गीयश्रीमन्म-
हर्षिफकीरचन्द्रजिन्महाराजाधिराजस्य चरणान्तेवासिना
पुष्पभिक्षुणा-प्रणीतया संस्कृतहिन्दीभाषान्तर-
समुल्लसितया विवृत्या सनाथीकृता



कलकत्तानिवासिना

क्षेमचन्द्रश्रावकेण गुर्जरभाषया समलंकृता

सा च

पाञ्चालदेशान्तर्गतपाटोदीनगरे

ज्ञातृपुत्रमहावीरजैनसङ्घेन प्राकाश्यं नीता

२४६६ वीरब्दे, १९९६ विजयसंवत्ति, शके १८६१ वत्सरे,
सन १९३९ ई०,

धनसाहाय्यकर्ता आलामनोहरलाल जैनः कानपुरीयः

मूल्यम् ३।) रूप्यकम्

Printed by Hanobandra Yenu Shodgo, Nirnaya Sagar Press,
26-28 Kolbhat Street, Bombay.

Published by Gyatiputra Mahavira Jain Sangh,
Patardi (Rajshab.)

करके निर्माण की है। इस परिस्थिति में मेरे अन्तेवासी सुमित्र भिक्षु ने यथा सम्भव इस पुस्तकके मुद्र देखकर सहायता की है अतः इसका नाम लिखते समय मुझे प्रसन्नता होती है -

इस पुस्तकमें अज्ञताके कारण यदि कहीं भूल होगई है तथा सूत्रसिद्धान्तसे विरुद्ध कुछसे कुछ लिख गया हूं तो उसका निखालिस हृदयसे "सिद्ध्या दुष्कृतम्"

वीरस्तुतिके अभ्यासियों! इसे भावशुद्धि पूर्वक पढ़िये, पठन और मननके द्वारा ज्ञातपुत्र महावीर प्रभुके समान बनिये, एवं अपने हृदयसे पुरानी रुढ़ियें एवं पक्षवाद-टोलावाद-सम्प्रदायवाद-गच्छवाद-पार्टीवाजी और मतभेदका कालापान निकाल डालिये, और समदृष्टि बनकर भारतके दासत्वको दूर कीजिये जगतको भूखेमरनेसे बचाइये, अपने धर्मगुरुओंको राग-द्वेष-ईर्ष्या एवं मत्सरताके फीचडसे निकालिये, समाजमें सचरित्रता और पारस्परिक सहायभूति पैदा करनेका प्राण संधार कीजिये, मेरी अन्तिम भावना यही है।

प्रस्तावना

काव्यं चैतदमूढमम्यनुपमं चम्दार्यरत्नाकरं, श्रीवीरस्तुतिनामतोऽति-
 प्रथितं पुच्छिस्तुणस्याऽपि च । धीमत्सूत्रकृताऽसूत्रकरसाध्यायस्थसारात्मकं,
 यच्चित्तं प्रपठन्ति श्रावकगणाः साधूत्तमाः सादरम् ॥ कठेनैव मुमुक्षुवक्ष्ये पठनं
 कुर्वन्ति यस्यानिशं, एवं जैनसमाजकेऽपि निरताः स्वाध्यायमस्य प्रियम् । पाठं
 चास्य महत्प्रियात्प्रियतरं कुर्वन्ति प्रेमान्विता, जातं संस्करणं यद्विन्नजननं यस्याऽ-
 ध्वनेऽं मुहुः ॥ यत्राऽनन्तदयाकरस्य निद्रिलं सामर्थ्यसंवर्णनं, तत्रात्पन्नमनुष्य-
 जस्य नितरां शक्येव वार्ता भवेत् । आचार्येण सुधर्मणा विरचितं यद्द्वै कृते योगिनां,
 योग्यं प्रोचामिदं विद्यार्थ्यं सुधियां मोदप्रमोदार्थिनाम् ॥ कान्धेऽस्तिन्दुनक्षिरस्ति
 मुनिभिर्नोद्गावनीया कश्चिद्दृष्ट्वाऽध्येतृगणस्त्रपाठकरणाच्छब्दार्थसङ्गौरवात् । धीम-
 देवगणस्य वाक्यतुलना तादात्म्यदृष्ट्यात्मकात्सल्यात्सलविचारवाहनयनात्सम्पूर्णतत्वं
 महत् ॥ सर्वाङ्गस्य रहस्यबोधजनने स्पष्टं भवेद्बोधनं, धीमदमर्ममयस्य धीगण-
 धराचार्यस्य कथाश्रवणः । प्रत्येकार्थगतं कियत्कतिविधं भिन्नं तथा प्रस्फुटं, सर्वं
 काव्यगतं समस्तविषयो विज्ञानरूपात्मकम् ॥ आचार्येण सुधर्मणा रसयुते काव्येऽत्र
 सिध्याय च, स्वान्तःस्थाप च जम्बुदेवमुन्वे यद्दर्शितं प्रेमतः । ज्ञानं शासनना-
 यकत्तमत्रिल तीर्थद्वारत्वं तथा, अमर्त्यं धेष्टनमत्वमेव जगतामुद्धारकत्वं पुनः ॥
 श्रीयोगीन्द्रशिक्षामणेर्भगवतो वीरस्य ज्ञान तथा, चारित्रं खलु दर्शनं च बहुधा
 स्वाध्यायज्ञानं मुहुः । सुस्पष्टं च निर्दिशितं प्रविततं केन प्रकारेण च, तद्वत्तद्गुण-
 साम्यमेवमदिलज्ज्ञाण्डभाण्डोदरे ॥ स्वाध्यायं प्रतिप्रेमिणा च महतां सम्भावु-
 कानां पुरः, धीमद्वीरगणदेवनायकवराणां सुन्दरं चोत्तमम् । सच्चित्तं हितकारका-
 शययुतं तेनैव साकं तथा, अध्यात्म्यास्वरसान्वितागचमहाचार्यान्वयणामलम् ॥
 एवं कोविदकाव्यकौशलयुजां सहस्रं सर्वाश्रयं, टीकायां सुसमन्वितं प्रविततं
 कृत्वाऽत्र सन्दर्शितम् । जैनानां च नृणां तदन्यविदुषां स्थानं प्रदत्तं पुनः,
 शास्त्राणां निखिलं समन्वयमदोऽमेदेन शश्वत्कृतम् ॥ अयं निर्विवादः स्वयं सिद्ध-
 रूपः, समस्तस्य काव्यस्य मूलं शिखेति । इयं सिद्धमध्यात्मतत्त्वाम्भषा च, कुतो
 आजते गणपत्यापदेन ॥ महा सुप्रभावस्य तेजोमयस्य, सुधर्मास्वदेवस्य चेहङ्क-
 र्दिव्य । नरो जीवने स्वस्य चाल्योपरिष्ठात्प्रभावस्य संस्थापनार्थं प्रयात्वात् ॥ तथाऽ-
 ध्यात्मतत्त्वोत्तमं पाठमेवं, सदा सम्प्रयष्टुं तथाऽध्यासकार्थम् । मुश तस्य तत्त्वार्थ-

मावार्थकस्य, प्रबोधार्थमत्यन्तमावश्यकत्वम् । अतोऽप्यस्य मूल्यज्ञयं सम्प्रधार्य, बृहत्स्तुत्यमेतत्तथाऽध्यात्मपूर्णम् । शुभाऽध्यायजस्य यथा बुद्धिर्शक्तिः, समस्तं यथार्थानुभवं च ज्ञात्वा ॥ सुसंस्कारसन्धेन वा भाषया च, समृद्धं कृतं तस्य मुख्यो-
 ऽस्ति हेतुः । तथा मातृभाषानिबद्धं प्रसिद्धं, जनानामनेकार्थतत्त्वप्रदीपम् ॥ तथा ज्ञापनार्थं च भावस्य तस्य, ऋजुर्वा मृदुर्वाऽस्य भाषानुवादः । तदाऽऽवश्यकत्वं च तस्यैव भावं, मृदुत्वं प्रशस्तं स्फुटं भाषते च ॥ गुर्जरे चानुवादोऽस्य कालीय-
 कच्चरनिशातेन क्षेमेन्दुनाऽस्य प्रकथः । कृतः भावकेणैव तस्यैव तत्त्वं, तथा सुप्रसिद्धोऽनुवादः स्वतन्त्रः ॥ कदाचिच्चैतानां त्रिपुटदलवृन्दे च जनता, प्रसक्त-
 नानेवं यदि सदुपयोगश्च भवति । सदैवद्वावेन विबुधजनसेवासु निरतः, प्रकाशं सर्वत्राऽखिलविशदबोधाय कृतवान् ॥ पवित्रोऽयं पाठो बहुरुचिकरो मेऽस्ति मनसा, करोमि स्वाभ्यायं मननपरिपूर्णेन सुखतः । महानन्दसादो भवति फर-
 णाकास्य सततं, सुलब्धं सौभाग्यं प्रतिदिनवितृष्णो विरमति ॥ सुमुख्यं चित्तं सुखरसमुद्यान्ति वितनुते, सुहार्जिहासा नो बहुविधमलं चास्य विद्यतिः । तदा जाता मावाखिलमतिमुपतिर्निर्गदिता, सदैव ज्ञातव्यं यत्तिमुनिगणैर्मुक्तिनिलयैः ॥ यदाऽऽ-
 वश्यकत्वेन यस्याऽस्ति पूर्तिः, प्रजाता च संस्कारतोऽनेकवारम् । समर्थं च सर्वाङ्गतो लब्धमेतत्तदाऽस्योत्तरं पत्रमेतद्ददातु ॥ अथो पाठकानां जनानां च व्यक्तं, तथा वाचकोपर्यतो मुक्तेमेतत् । ममाऽस्य प्रलेखेन वा ज्ञापनेन, न वाऽऽवश्यकत्वं न वा कारणत्वम् ॥ यदा पीयते चामृतं स्वादवद्विषदा नोच्य-
 तेऽमर्षता मेऽस्ति कीदृक् । सुमिष्टं च त्रिकं मवीथं कियद्वा, प्रसिद्धं हि लोके रसस्वादुक्तत्वम् ॥ मुदा वर्णनं तस्य जिह्वा करोति, स्वयं वर्णनस्यातिसेतुं विधत्ते । मया न्यायमार्गानुरोधेन चैव, स्वकीयायसी केतनी स्थाप्यतेऽत्र ॥

भाषार्थ-यह काव्य भीमस्तुतकृताहस्तके छठवें अध्यायकी अनुपम और मौलिक वस्तु है, और 'वीरस्तुति' या 'पुच्छिस्तुणं' के नामसे अतिप्रख्यात है । बहुतसे जैनबन्धुओंको तो यह मुखस्थ होती है, अनेक जिज्ञासु महानुभाव इसका आतःसार्य व्यवधान रहित निल पाठ करते हैं, और जैन समाजमें यह पवित्र पाठ इतना अधिक प्रिय है कि इसके कई संस्करण प्रकाशित-हो चुके हैं ।

प्रभुके अनन्तसामर्थ्यका वर्णन करना तो मानो उन्नत-मानुषी शक्तिके शहर है, और इस विषयके वर्णनकरनेमें धीमान् सुधर्माचार्य जैसे महान् ज्योतिर्धर और परम योगीको ही योग्य अधिकारी समझ गया है ।

सके इस भावसे प्रेरित होकर इसका प्रकाशन किया है । मुझे तो इसके प्रति-समयके स्वाध्याय और पाठसे भरपूर शक्तिमुधाधाराका अव्यवच्छिन्नरूपसे आस्वादन करनेका पूर्ण सौभाग्य मिल रहा है । अतः मुझे पूर्ण आशा है कि अन्यान्य सुमुहुमदानुभावोंको भी इसके निरन्तर पाठ तथा मननात्मक स्वाध्यायसे अवश्य शान्तरसकी प्राप्ति होगी । यद्यपि इसकी कई आठतिए निकलकर प्रकाशित हो चुकी हैं परन्तु यह संस्करण जिस आवश्यकताकी पूर्तिमें सर्वाङ्ग सफल हुआ है इसका उत्तर पाठकगणोंके ऊपर ही छोड़ दिया जाता है, कहने सुनने और लिखनेकी आवश्यकता नहीं है । कारण यह है कि जिस समय अमृतका पान किया जाता है उस समय वह अनताको यह नहीं कहता है कि मेरा स्वाद कैसा है? उसका वर्णनतो जिह्वा स्वयं करने लगती है तथा उसकी प्रशंसाके पुल बांध देती है । अतः इम न्यायको लक्ष्यमें रखकर इस लोहलेखनीको विराम देता हूँ ॥

लघुतम—

‘पुष्प भिक्खु.

सहायक

बीरस्तुतिकी विवृतिके अर्थे जिन जिन पुस्तकों का अवलोकन करके अपने अनु-
मानानुसार जिन जिनके प्रमाण अधिक किये हैं उनका नामोलेख इस प्रकार है।

अथाश्वत्थामउक्ति-आचाराह-विश्वेपावदयकभाष्य-अन्यकुमार-वरित-समवापाह्वयुजविवृति-
सूत्रगर्हापमुच-शब्दार्थचिन्तामणि-अमरकोष-कुष्माण्ड-भेदिनी-वनप्रयनाममाला-वनप्रय-
कोश-शब्दस्तोत्रमहानिधि-वर्णनिर्णय-वर्णसारमसुधय-उत्तराध्ययनसूत्र-दशवैकलिकसूत्र-
मार्कण्डेयपुराण-सुकारितरत्नसन्दोह-गल्पार्थाभिगम-मनुस्मृति-बृहद्ब्रह्मसंह-परमात्माम-
काश-दाहवस्तवरसृति-स्थानाह्वय-अनितगणित्यावकाचार-समयसार-अवचनसार-नियम-
सार-योगशास्त्र-वतजलदोगदर्शन-महाराजनिखषाठ-सागारभर्माशुव-वसममपार्श्वनाथवरित्र-
अभिधानपरदीपिका-महाभारत-ज्ञानार्णव-भाष्यदयकचूर्णि-त्रैलोक्याशुकावदानर्क-परिशिष्ट-
पर्व-वात्स्यायनसूत्र-बुद्धचर्चा-मज्झिमनिकाय-बुद्धवार्थसिद्धयय रत्नकरण्डावकाचार-बद-
लसिद्धान्त-मूलाचार-आवदयकभाष्य-पद्मपनासूत्र-अवचनसारोद्धार-भगवदी आराधना-
सार-सोत्रसमुच्चय-स्तोत्ररत्नाकर-काव्यमाला.

इन सब पुस्तकोंके सुलेखक एवं अनुवादकोंका एक साथीदारोंके नातेसे इनके
साथको मैं यभी नहीं भूल सकना। तदुपरान्त प्रत्यय या परोक्षमें जिन जिन महानुभा-
योने प्रोत्साहन प्रेरित किया है उन मन्त्रकबलेख करना भला मैं क्योंकर विरमुव करसकूँ ?

विवृतिकारः

निदर्शन

उपासकके अन्तरमें भक्तिभावका ओष उछलने लगता है तब स्तोत्र या स्तुतिका साहित्य-सर्जन होता है, इस प्रकारकी भारतीमें कई बार अमूल्य रत्न बहकर निकल आते हैं। विवेक इन रत्नोंका मूल्य आंकने एवं समझनेकेलिये लम्बे चौड़े भाष्य और टीकाएँ बनाते हैं। जैन साहित्यमें तीर्थंकर-भगवान्की स्तुतिओंका साहित्य पुष्कल प्रमाणमें पाया जाता है। यहाँ तक तो है, कि अन्य कोई दर्शन उसकी बराबरी नहीं करसकता, यह कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। समर्थ नैयायिक और वैयाकरणों भी कान्यसाहित्यमें जो कुछ अपनी प्रतिभा उडैलनेको उद्यत हुये हैं तो वह भी स्तुतिसाहित्यका ही प्रताप है। आमका वृक्ष फलोंसे लदा हो, मजरी महकती हो और वसन्तका वायु चलता हो तो कोयल परबस होकर भला पंचमखर निकाले बिना क्योंकर रह सकेगी? इसी प्रकार न्याय-दर्शन-न्याकरण या अन्यान्य कठिनसे कठिन शास्त्रोंमें पारंगत समझे जानेवाले पुरुषोंके अन्तरमें किसी समर्थपुरुषके प्रति भक्तिभाव जागृति हो तो वे स्तुतिके साहित्यकी उपेक्षा कभी न कर सकेंगे। चन्द्रदर्शनसे उभरकर बढनेवाले महासागरकी भांति अन्तर भी भक्तिसे संशुद्ध बन जाता है। परन्तु परमपुरुषकी स्तुतिओंमें केवल कान्य अथवा साहित्यका ही अंश हो यह मान्यता युक्तिसंगत नहीं है। स्तुतिका रचयिता उस समय जब कि कृत्तिका आसन स्वीकार करता है परन्तु अपनी विशिष्टताको नहीं छोंडता। इसीलिये कि स्तुतिओंके साहित्यमें तत्वज्ञान अध्यात्म छलक और बुद्धिचातुर्यके अक्षय्यद्वत अंश उसे उस समय भी प्राप्त होते हैं।

समग्र आगम-सम्प्रदाहके उपोद्घातके समान गिने जानेवाले नन्दीसूत्रमें श्रीदेव धावक क्षमाप्रमणने मन्त्रलाचरणके रूपमें जो गाथायें ग्रंथन की हैं उसमें मूलमें तो धमण भगवान् महावीर प्रभुकी स्तुतिका ही प्राधान्य है परन्तु उसमें इतना अधिक गम्भीर अर्थ है कि आचार्यमलयागिरि रचित संस्कृत टीकारूप तालिकाको समझे बिना उस स्तुतिके गंभीर अर्थकी कल्पना शायद ही किसीकी समझमें आयेगी।

श्रीमलयगिरिने स्तुतिके ओकोंकी व्याख्या करते समय आतवाद-स्याद्वाद-आत्मवाद-प्रमाणवाद जैसे तत्वज्ञान सम्बन्धी अनेक सिद्धान्तोंको स्पष्ट कर दिखाया है।

इसी प्रकार महाकवि धनपालने भी महावीर स्तुति संस्कृतमें रची है। परन्तु उसमें विरोधाभासके अलंकारोंका ऐसा संग्रह किया है कि कोई भी रसिक आत्मा उसके रसास्वादनसे पुलकित हुये बिना न रहसकेगा।

आद्य यह है कि सोपानके या स्वप्नके साहित्यमें कवित्वके उपरान्त अलंकार और तत्त्वज्ञानके असंख्य विषयोंके समाविष्ट करनेका एक कालमें रियाज था। और जो श्रीसूक्तताम्रसूत्रके छठे अध्यायमें समाई हुई वीरस्तुतिको विचारपूर्वक पढ़ेगा, अवधारण करेगा उसे उसमेंसे उपासनाके रस-आनन्दके उपरान्त प्रभु महावीरके यथार्थस्वरूपका भी विचार सहजमें आ सकेगा।

प्रकृतिके इन प्रवाहरूप सिद्धान्तारामक नियमानुसार मुनिधीने भी यथासम्भव शुद्धतापूर्वक संस्कृतवाणीमें टीका रचकर इस स्तुतिके मूलके साथ प्रस्तुत किया है, और जैनसाहित्यी, जैनउपासकोंकी अत्यधिक सेवा की है।

जनोंका अधिकांश भाग वीरस्तुतिको प्रेमसे कण्ठस्थ करता है तथा आनन्दके साथ भावुकता पूर्वक पढ़नेका गौरव प्राप्त करता है। अन्यान्य सोपान-स्वप्न और स्तुतिभोंकी अपेक्षा इसमें एक प्रकारकी विशेषता है जिसके कारण यह स्तुति कण्ठस्थ रहकर इतनी स्वीकृति और आदरसे प्राप्त है। यह इसमें एक विशेषता है, परन्तु यह विशेषता क्या है?

महावीरस्वामीके एक समय गणधर श्रीगुधर्मस्वामी स्वयं अपने अन्तेवासी जम्बूके समुद्र मण्डिपूर्वक नद्वद होकर वीरप्रभुका प्रताप, प्रभाव और माहात्म्य वर्णन करते हैं। श्रीगुधर्मस्वामीने अपने जीवनकी धन्य पदियोंमें जो कुछ देखा सुना एवं अनुभव किया है उसीका वर्णन अपने शिष्यके सामने किया है। स्तुतिको पढ़ते या सुनते समय हमें भी यही प्रतीत होता है कि गुधर्मस्वामी महावीर परमात्माकी महिमाका वर्णन करते समय गुप्त दृष्टिसे मानो यही कह रहे हैं कि "अभी बहुत कुछ छेप है, अभी और बहुतसा अनिर्वचनीय है" वे प्रभुके स्वरूपका कुछ भाग करानेकेलिये जगद्ग्रीवसमोः-सम सामग्रीओंके साथ उनकी तुलना करते हैं। मेह पर्वत, नन्दनवन, चंद्रमा, सयम्भूरमण समुद्र इनमेंसे सभी कुछ, मानी किसी भी सुन्दर वस्तुको वे नहीं मूले हैं। तथापि अन्तमें नेत्रि-नेत्रि कहकर मानो बिसय पा रहे हैं। प्रभुके गुण अपार होनेसे उनका अन्त ही न भावना ऐसी सूचना करनेका आभास भी इसमेंसे मिल रहा है।

जिस वीरपरमात्माका शब्दचित्र इतना भव्य है तब उनके साक्षात् परिचयमें आनेवाले श्रीसुधर्माखार्याके अन्तरमें इस स्तुतिकार्यकी स्फुरण हुई होगी तब उन्होंने कैसी रमणीय अन्यामनस्क्ताका अनुभव किया होगा। तीन-लोककी उत्तमोत्तम रससामग्री भी भगवान्के सत्य स्वरूपके सम्मुख उनको तुच्छ लगती होगी। इतनेपर भी भगवान्की पहिचान करानेके लिये वे प्रयत्न करते हैं और एक अमर स्तुतिकार्य रचकर जगत्को सौंप देते हैं।

महावीरके भक्तोंके मनको महावीर भगवान्के यथार्थ स्वरूपकी सुन्दर और गहरी झांकी हो, उसकी अपेक्षा मूल्यवान् उपादेय वस्तु और क्या हो सकती है। जैनसंघ इस स्तुतिके पठन पाठन और चिन्तनके प्रतापसे उनके सिद्धान्तोंका अनुसरण करनेके लिये भाग्यशाली हो! इतनी ही प्रार्थना करना बस है।

ज्ञातसेवक

॥ अभिप्रायाः ॥

ज्ञातृपुत्रमहावीरः, सर्वज्ञस्तु जगद्गुरुः ।
 तस्य स्तुतेर्मनोरम्या, सा टीका कस्य न प्रिया ॥
 निखिलागमविज्ञेन, सिन्धवङ्गविहारिणा ।
 निर्भिता पुष्पचन्द्रेण, सा टीका कस्य न प्रिया ॥
 गीर्वाणी हैन्दवीभाषा, गुर्जरीया तथैव च ।
 त्रिभाषासङ्गमो यत्र, सा टीका कस्य न प्रिया ॥
 भवबन्धापहर्त्री च, सूर्योपस्य दीपिका ।
 शरण्या सर्वजीवानां, सा टीका कस्य न प्रिया ॥
 वाच्यवाचकभावस्तु, स्फुटो यत्र विधीयते ।
 लालित्यादिगुणैराद्या, सा टीका कस्य न प्रिया ॥
 विबुधेन्द्रमुनीन्द्राणां, चरतां शास्त्रयत्नसु ।
 कंठाभूषणकं भाति, सा टीका कस्य न प्रिया ॥
 विद्यार्पाठे तु संस्वाप्य, टीकां पाठ्यविधायकाः ।
 धर्मोन्नतिश्च कर्तव्या, हि पुष्करमुनेर्गतम् ॥

न्याकरण—काव्य—न्यायतीर्थः

पुष्करो मुनिः—

संसारार्णवसेतुतामुपगता सिद्धान्तचिन्तापरा,
 कल्याणायनदर्शिकाऽस्त्यविरतं सत्प्राणिनां सधैतः ।
 हिन्दी-संस्कृत-गुर्जरी प्रभृतिभिर्भाषाभिराभूषिता,
 श्रीपुष्पेन्दुमुनीरिता विद्ययते वीरस्तुतेर्विश्रुतिः ॥ १ ॥

भा. १-१-१९ }
 विद्यामन्दिर
 कानपुर

पाण्डेय दवेन्द्रनाथ शर्मा

मुनि सिरि उवज्झाय आयारामस्स सम्मह

मए वीरत्थुइ नामा षडुवी पोत्थियं अवलोइया, सा धुइ पोत्थिया भत्ति भावेण अलंक्रिया, पोत्थिया भत्तिभावेण विज्जस्सा, अम्मुअरत्तस्स प्पयाण कत्ता-जहावि कइ वाइं विसएमु मयमेयोऽत्थि किन्तु कत्तुणा भत्तिभावं अणुवमं दंसिता । मम मणो अइव प्पसच्चभूओ, कत्तुणो पुणो पुणो धत्तवायं देमि । जेण अइपरीसमेण भत्तिवसेण अइव संग्गह कट्टु, जणयाए भत्तिमगं पदंसिया । सत्थेवि उत्तं, अरिहंताइणां भत्तिभावेणं जीवो त्थित्ययर नामगोयं कम्मं निवंधइ । इयं रयणा म्भंइराऽत्थि, भव्वज्जाणं अवत्तमेव भणणिज्जो, कत्तुणा जहाअणे अइवउवओगी उअरणाणं पसेसणिज्जो संग्गह कट्टं, तथा उत्तरज्जयणस्स तव-मगोऽवि उत्तं, 'शुद्धभत्तिभावमुत्सूहा, विणओ एस वियाहिओ' एवं वीरभत्ति वा वीरत्थुइ वि विणयक्खोऽत्थि, तथा उत्तरज्जयणस्स एगूणतीसाए अज्जयणं थूस्स एवं फलं वणिअ जहा—“धय शुद्धमंगलेणं भंते जीवे किं जणयइ ? थ० नाणदंसणचरित्तबोहित्थभं जणयइ । नाणदंसणचरित्तबोहित्थभसंपत्ते य णं जीवे अन्तकिरियं कप्पविमाणोववत्तिगं आराहूणं आराहेइ ॥ १४ ॥ अओ वीरत्थुइ अवत्त भणणिज्जो ।

१९९६ सावणमुवा एगादसी, सुव.वारे,
इहियाणा णयरे, उवज्झाय जइणमुनि

आयारामो

देहली शहर महावीर जैनभवन
ता० २७ अगस्त १९३९ ई०

घान्तलभावी, वीरगममूर्ति, विद्वान् श्रीमज्जेनाचार्य पूज्यधी खूब-
चन्द्रजी म० साहबकी सम्मति:—

“वीरस्तुति:” नामक पुस्तक भाई पंचमलालजी द्वारा पठनार्थ मिली, पुस्तक सरसरी नजरसे देखी, अहिंसाके अवतार भगवान् महावीर प्रभुकी स्तुति मूल गाथाओंके साथ हिन्दीभाषामें अच्छे ढंगसे लिखी है । वर्तमान समयमें ऐसे २ शुद्ध हिन्दीभाषायुक्त धार्मिक साहित्यकी विशेष आवश्यकता है ।

जैनधर्मोपदेश विद्वान् मुनिश्री फूलचन्द्रजी ने वीरस्तुति लिखनेका सुल्य कार्य किया है । आज्ञा है स्वाध्यायप्रेमी महानुभाव इस वीरस्तुति पुस्तकके स्वाध्यायसे आत्मकल्याणका लाभ अवश्य उठावेंगे । अस्तु ।

इत्याक्षर-मार्थ जैन सुखमुनि
द्वितीय श्रावण शु० १२, रविचार, सं० १९९६

पुस्तक दर्शनीय है, मूलगत भावोंको काफ़ी सरलताके साथ घनज्ञानकी चेष्टा की गई है। क्या प्रसंग अन्वय प्रत्येक उद्धरण सोनेमें मुगन्धिक्रम काम करते हैं यह अतिशयोक्ति न होगी। यदि मैं कहूँ कि वीरस्तुतिका इतना लोक-प्रिय संस्करण अभी तक कहींसे भी प्रकाशित नहीं हुआ।..... कुछ स्थान ऐसे भी हैं जहाँ लेखक सतत होकर चल पड़ा है, अस्तु तत्तद् स्थलोंपर लेखकसे हमारा 'मत' भेद है। परन्तु ये सब बातें "एको हि दोषो गुणसंनिपाते, निमज्जतीन्दोः किरणेप्यिवाद्भुः" की उल्लेखके अन्तर्गत अन्य धेष्टताओंमें छुप जाती हैं। स्थानकवासी (जैन) समाजकी ओरसे ऐसी सुन्दर कृति उपस्थित करने के उपलक्ष्यमें श्रेयुत पुण्यभिक्षु वास्तवमें क्याईके पात्र हैं।

जैनाचार्य-पूज्यश्री पृथ्वीचन्द्रजी महाराज

ता० २५ अगस्त, सन् १९३९

पुस्तक काफ़ी सुन्दर लिखी गई है, बहुतसे स्थलोंपर तो व्याख्या काफ़ी प्रभावोत्पादक ही गई है। संस्कृत हिन्दी और गुजराती भाषाओंमें व्याख्या को ढालकर लेखकने क्या विद्वान् क्या सर्वोपकारण समीके लिये अध्ययनका मार्ग प्रशस्त कर दिया है।

श्रेयुत पुण्यभिक्षुने अन्य भी उपयोगी पुस्तकें लिखी हैं, परन्तु प्रभु महा-धीरके चरणोंमें उनकी यह श्रद्धाश्रुति तो अतीव उत्कृष्ट धेणीपर पहुंच गई है। मैं आज कहूँगा कि समाज उक्त कृतिको अधिस्तसे अधिक अपनायेगा और प्रभु वीरके गुणगान द्वारा लेखकके धर्मकी सफल करता हुआ अपने जीवनको भी सफल बनायेगा ॥

व्याख्यान वाचस्पति पंडितश्री मदनलालजी म०,

ता० २५ अगस्त, सन् १९३९

ग्रन्थ परमोपयोगी है, इसमें कुछ सन्देह नहीं कि मुनिजीने हर एक विषयको यही गम्भीरता और साथ ही सरलतासे सुसजित किया है। आशा है कि ईश्वर संस्तरन प्रेमी संसार इस ग्रन्थसे महान् लाभ उठावेगा। मुनिजीका परिधम और विज्ञानबोध इस ग्रन्थके अवलोकन करनेसे अधिप्रसंगनीय प्रतीत होता है।

सम्मति प्रदाता—

"मुनि बालभिक्षु प्रेमेन्दुः"

वीरस्तुति नामकी पुस्तक देखी, लेखक मुनिधीने अत्यन्त परिधमसे तैयार कर जन समाजपर उपकार किया है। तीर्थकरोंकी स्तुति करना आत्माको पवित्र बनाना है। तीर्थकरोंकी स्तुतिकरते हुवे उचकोटिकीभावना आजाय तो तीर्थकर जैसी आत्मा बनजाती हैं। अतः जन समाजको सम्मति देता हूँ कि वीर-प्रभुकी स्तुति हमेशा पढा करें। जैनाचार्य पूज्यधी-ख्वचन्द्रजी महाराजका सम्प्रदायानुयायी—भार्य जैन मुनि हीरालाल २९-८-३९, अंवाला शहर

...साहित्याकाशप्रमणभानु पुष्कभिक्षु रचित संस्कृत और हिन्दी भाषामें वीरस्तुतिकी दर्शन किया। आपने इस उचितके युगमें इस प्रकार लेखनी उठाकर जैन संसार पर ही क्या बल्के भग्यसाक्षरसृष्टिका कल्याण कार्य किया है। यह रचना रोचक और हृदयग्रम है, मानवके आन्तरिक विचार इसका स्वाध्याय करते करते भक्तितापरमें लहरायमान होने लगते हैं।

वीरस्तुतिके विषयमें मेरा इतना ही कहना बस है कि इसका सम्पादन विज्ञानके युगमें वैज्ञानिक ढंगसे किया गया है, अतः स्थानकवासी जैनसमाजके लिये यह बड़े गौरवकी वस्तु है। जैन समाजके मुनि धार्मिक ग्रन्थ शास्त्र अथवा अन्यान्य ग्रन्थोंपर टीका रचना कुछ भूलसे गये थे। लोकाशाहके अनन्तर स्वतन्त्र साहित्य विकासका उत्सर्जन रुकवा गया था परन्तु पुष्क भिक्षुने वीरस्तुतिके प्रभावसे उस कमीकी पूर्ति कर ली। हे पुष्कभिक्षु ! साधुवाद !

शासन प्रेमी—धनचन्द्र भिक्षु ता० २८-८-३९, इंदौर (मध्यभारत)
 अग्नि, असीमशेमुषिमुपितदोषाः ! अजितवियारकोषाः ! धियासीताभ्याताद्येय-
 जैनमुनिप्रवराः ! विदितमस्तु अत्र भवतां धीमतां, यन्मुनि पुत्रवेन धीफूल-
 चन्द्रेण रचितं ममा क्रन्दनकं काव्यं मया सम्यक्समवलोकितं, यत्किञ्चित् स्वस्थान्ते
 यदेतत्काव्यं शिक्षयति जैनमुनीन् यदीदृशेन गुरुणा भाव्यं तयेदक्षेण च शिष्येण ।
 ये हि मुनयः पूर्वमपरीक्ष्यैव शिष्यान्दीक्षयन्ति तेऽचिरादेव विकृतिं प्रयान्ति । तान्
 एषा मुनीन्द्ररचिता कृतिः सम्यगवबोधयति, ये च जिनधर्माचारप्रचरणे परित्य-
 क्षनिवप्रयोजनाः सन्ति, तथा परस्परैर्ध्यामोहनिद्रया निद्रिता वर्तन्ते तेषु मातेषु
 जाग्रतभावमुत्पादयतीति, नायावधि केनापि जैनमुनिना स्वसंप्रदायपोषकनीहक्षं
 संस्कृतकाव्यं विरचितं दृष्टिपथमवतरति । एतद्धि न्यूनतापूरकमिति मे मतिः ।
 अहो एतत्काव्यमुपारसं स्वार्दं सन्तुष्यमाणो मेऽन्तरात्मानानन्तर्माति, नूनं हि
 एतस्य कवित्वतत्त्वमनुकरोति कालीदासादीनां कविपुत्रानां कविताम् । असिन्स-
 म्यगवबोधिता जैनसम्प्रदायानुसारं गुरुशिष्यव्यवस्था, तस्यामपि कवित्वसौष्ठवेन
 हेत्रि सौरभसन्दोह उत्पादितः । जूनमेषा कृतिर्जैनसम्प्रदायानुयायिभिर्मुनिभिः
 समादरणीया तेषु बहूपकरिष्यतीति मनुषे—

पण्डित—हंसराजशास्त्री, व्याकरणरत्नः, साहित्याचार्यश्च,
 प्रधानाध्यापकः, संस्कृतविद्यालय मलेरकोटव्यग्रज्ये (पावालः)

प्राक्प्रथन

धोमत्स्यग्रहताडस्यके पंचम अध्यायमें 'नरकविभक्ति' का अधिकार प्रतिपादन किया गया है और वह ज्ञातपुत्र महावीर भगवान्‌ने स्वयं कहा है । इसके अनन्तर उनका ही चरित्र इस शुण्डीर्तनविभूतिरूप छठवें अध्यायमें वर्णन किया है ।

शाओपदेशकके महत्त्वसे शास्त्रज्ञ महत्त्व है इस सम्बन्धसे इस अध्यायके उपक्रमविचार अनुबोध होते हैं । उसमें भी उपक्रमके अन्तर्गत जो अर्धाधिकार है वह महावीर प्रभुके शुणसमूहका उत्पत्तिरूप है । अनुयोगका दूसरा भेद निक्षेप है, जिसके दो प्रकार हैं । ओपनिषद् और नामनिषद् । ओपनिषद् निक्षेपके रूपमें यह अध्याय और नामनिषद्के रूपमें महावीर स्तुति । उसमें 'महत्' 'वीर' और 'स्तय' के निक्षेप उल्लेखनीय ॥ ।

'जैसा उद्देश्य वैसा निर्देश' इस न्यायके अनुसार प्रथम 'महत्' शब्दका निर्णय किया जाता है । यह 'महत्' शब्द बहुरूप है । जैसे कि 'महाजन' बड़ा आदमी है । 'महाघोष' अतिक्रम है । महामय-प्राधान्य रूप है । महापुरुष सबमें बड़ा पुरुष है । ये चार अर्थ 'महत्' शब्दके प्राधान्य अर्थमें प्राक्त हैं । यथा—

पाहमे महासहो, दन्वे खेत्ते य काले भावेय ।

धीरहस उ गिफखेयो, घउकओ होर जायव्यो ॥

महावीर छानमें 'महत्' शब्द प्राधान्य अर्थ में है, और वह नाम-स्थापना-इन्द्र-क्षेत्र-बाल और मातृ इन सेहोसे छ प्रकारका है । इस प्राधान्यमें नाम और स्थापनाके भेद तो सुगम ही हैं । इन्द्र प्राधान्य है शरीर-भक्त शरीर और इन्द्र भक्त्य व्यतिरिक्त ये तीन भेद हैं । इन्द्र भक्त्य व्यतिरिक्तके सचित्त-अचित्त और मिथ ये तीन प्रकार हैं । उनमें सचित्त भी द्विपद-चतुष्पद और अपदके भेदसे तीन तरहका है । तथा द्विपदमें तीर्थहर-चक्रवर्ती आदि, चतुष्पादमें हाथी घोडा आदि और अपदमें कल्पवृक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप-रसनांभ और स्पर्शमें उत्कृष्ट शुण्डीक कमल्यदि पदार्थोंका प्राधान्य है ।

अचित्तमें वेदुर्ग आदि विशेष प्रभावतुक्त सचिद्राजोक्त प्राधान्य है । मिथमें विभूषित तीर्थेच्छादि ।

विषयानुक्रमिका ।



विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
प्रथम गाथा—मंगलाचरण	१	ब्राह्मणके १० प्रकार, देव,	
संस्कृतटीका	२-१६	द्विज, मुनि, गृप । ...	२३
दानधर्मकी विशेषता, स्त्रीत्वमें		वैश्य, शूद्र, विलव, भ्लेच्छ,	
दानधर्मका समावेश, तपमें		चांडाल, खर, अयोग्य	
दानधर्मका अन्तर्भाव ।	१७	ब्राह्मण, ब्राह्मण परम्परा ।	२४
भावधर्म दान ही है, क्या साधु		अब्राह्मण, ब्राह्मणोचित यज्ञ,	
भी दान देता है? धर्म-		ब्राह्मणोचित तीर्थस्नान,	
रत्न, कर्मनाश करनेकी		गुजराती अनुवाद ।	२५
कसौटी ।	१८	द्वितीय गाथा—टीका ...	२३
वीरप्रभुकी स्तुति, उनकी		भाषा टीका	३६
अनेक स्तुतिएँ और मेरा		ज्ञान	३७
असामर्थ्य ।	१९	दर्शन	३८
वीरप्रभुका गुणगान करते		चरित्र, शतपुत्र	३९
समय गुरुशिष्यकी बातें,		गुजराती अनुवाद	४०
आचार्य और उसकी पह-		तृतीय गाथा—	४१
चान ।	२०	सं० टीका,	४३
आचार्यके ३६ गुण, आचा-		भाषा टीका,	४५
र्यको चतुर ग्वालेकी उपमा,		३४ अतिशय,	४६
उन्हें नमस्कार करनेका		३५ बाणी गुण,	४७
प्रयोजन, आचार्यकी विशे-		खेदज्ञ-क्षेत्रज्ञ-कुशल-आशुप्रज्ञ-	
पता ।	२१	महर्षि,	४८
जम्बू अन्तेवासीका मुधर्मा-		धर्म, गुजराती अनुवाद, ...	४९
चार्यसे प्रश्न, ब्राह्मण,		चतुर्थ गाथा—सं० टीका—	५३
ब्राह्मणलक्षण ।	२२		

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
धीसुधर्मानार्य वीरप्रभुके		वारहवीं गाथा-	८१
... गुणोंको प्रकट करते हैं,		तेरहवीं गाथा-	८४
उपयोगमय, अगुन, कर्ता,		चौदहवीं गाथा-	८९
सदेह परिमाण, ...	५१	उपमेयका वर्णन,	८७
भोक्ता, संसारस्थ, विद्व, ...	५५	पन्द्रहवीं गाथा-	८८
ऊर्ध्वगामी, व्रस, ...	५८	निषध पर्वत और हचकपर्यंतकी	
स्थावर, द्रव्यप्राण, गुजराती		उपमा	८९
अनुवाद,	५९	सोलहवीं गाथा-	८९
पृथ्वीकाय, अपकाय, ...	६२	छेद्याभोका वर्णन,	९०
तेजस्काय, वायुकाय, वन-		कृष्णछेद्या-नीलछेद्या-कापीती-	
स्पतिकाय,	६३	छेद्या,	९३
पञ्चम गाथा-	६४	तेजोछेद्या, पद्मछेद्या-शुक्र-	
सं- टीका,	६५	छेद्या, उनपर उदाहरण,	९४
भाषाटीका,	६६	सतरहवीं गाथा-	९८
गुजराती अनुवाद,	६७	विश्ववर्णन	१००
छठवीं गाथा-	६७	अठारहवीं गाथा-	१०१
सं- टीका,	६८	छास्मली वृक्ष और मन्दन-	
भाषाटीका,	६९	वनकी उपमाका वर्णन,	१०२
सातवीं गाथा-	७०	उध्रीसर्पिं गाथा-	१०३
आठवीं गाथा-	७३	श्रेयमर्जना-चन्द्र और चन्द्र-	
नववीं गाथा-	७५	वन्दी उपमाका वर्णन,	१०४
मेरुकी उपमा,	७६	बीसवीं गाथा-	१०४
दशवीं गाथा-	७७	महावीर प्रभुमें स्वयंभूरक्षण	
मेरु पर्वतका वर्णन,	७८	समुद्र, परबेड, दधुरसुषे	
ग्यारहवीं गाथा-	७९	भी अधिक महत्ता,	१०५
सुमेरु पर्वत तीनों क्षेत्रोंमें		इकीसवीं गाथा-	१०६
म्यात्त दे,	८०		

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
ऐरावत हाथी, सिंह, गंगा और वेणुदेवकी उपमा- सेभी बढकर उपमेयकी विक्षेपता,	१०७	गृहस्थके लिये त्याज्य असत्य क्या है?	१४०
चाईसवीं गाथा- ...	१०८	असत्यका युग परिणाम, ...	१४१
कृष्ण-कमल-चक्रवर्तीकी उप- माका वर्णन,	११०	मौनसे कल्याण,	१४३
तेईसवीं गाथा-... ...	११०	तपोमि ब्रह्मचर्यकी उत्तमता, कुशीलताके दोष, ...	१४४
दानका लक्षण,	१११	कदाचारका परिणाम, वारस्या- यनका मत, मैथुन सेवगसे	१४७
दानके प्रकार, अभयदान सबसे घटा दान है, ...	१११	कामज्वर नहीं घटता,	१४७
शाहवाक्यका मत, यजुर्वेद, मनुका मत, दशधर्म, ...	११३	ब्रह्मचर्यसे ही पूजा, ब्रह्म- चर्यका फल, महावीरप्रभु- के नाम, ज्ञातपुत्र शब्दकी उत्पत्ति,	१४८
नियमसारकामत, समन्तभद्रा- चार्यकामत, लोकोंका मन्तव्य,	११४	चौबीसवीं गाथा-त्वस- त्तमदेव, सुधर्मसभा, सर्व- धर्मकी उपमाका वर्णन,	१८२
राज्यसे भी अधिक प्राण प्रिय हूँ-पीडा-मत्तलयकी हिंसा भी हानिकर,	११५	पच्चीसवीं गाथा- ...	१८४
अहिंसाका माहात्म्य, अहिं- साका फल, लोकमत, परिणाम,	११६	छब्बीसवीं गाथा- ...	१८६
अभयदानपर उदाहरण, ...	११७	कषाय वर्णन, कषायसे हानि, इनके हटानेके साधन, कषाय त्यागका फल, वीत- रागताद्वारा अलग २ कषा- यके जीतनेका फल, ...	१९२
सबसे बडी सत्य भाषा, मनुका अभिप्राय, अस- त्यका सुलभा, ...	११८	कषायकी आगको बुझाओ, सताइसवीं गाथा- मर्तोक्ष वर्णन,	१९३ १९६ १९६

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
अट्टाहसर्षी गाथा- ...	१९८	बटवाणवाडे धीजीवराज	.
स्त्रीसंतर्गके दोषः ...	२०९	सुखलाळ कृत, महावीर	
रात्रिभोजनके दोष, ...	२१०	सुन्दरो गुजरराजी काव्यानु-	
पुरुषोंके प्रकार, ...	२११	वाद.	२६१
रात्रिभोजन त्याग, ...	२१२	प्राकृतखोत्र विभाग, ...	२६६
सुदोंके आठ उपदेशोंमें रात्रि		संस्कृत खोत्रविभाग, ...	२७२
भोजन वर्जित, ...	२१३	हिन्दी कविता विभाग ...	२८३
रात्रिभोजनके प्रत्यक्ष दोष, ...	२१४	घान्तरस पूर्ण क्षान्तिप्रसंग,	२९०
आयुर्वेदमें रात्रिभोजन त्याग्य है, ...	२१५	वीरस्तु भगवान् स्वयम्, ...	३१०
रात्रिभोजन त्यागनेवालोंके गुण, ...	२१७	वीरयोगतरङ्गः,	३४३
उनतीसवीं गाथा- ...	२१७	आम्नेचना पुष्पाञ्जलिः ...	३६७
प्रशस्तिः,	२३७	भगवन् महावीरकी वैराग्य	
परिशिष्ट भाग-दशकंद्वयी		भावना,	३७०
कृत महावीर भगवान्की		महत्त्वचरणम्,	३७७
स्तुति,	२४२	महाकन्दनधाम्यम् ...	३८१
आनन्दपनकृत वीरस्तुति, ...	२५०	महाकन्दनधाम्यस्तोत्रार्दम्	३९९
कुंभड विनयचंद्रकृत वीरस्तुति, ...	२५८	सातगुण महावीरके सिद्धान्त	४११
		शुद्धिपत्रम्	४१३

नमोत्थुणं समणस्स भगवओ णायपुत्त महावीरस्स

वीरस्तुतिः ।



हिन्दी-गुर्जरभाषान्तरसमुल्लसितया
संस्कृतटीकया सनाथीकृता

मूल—

पुच्छिस्सु णं समणा माहणा य,
आगारिणो या परतित्थिआ य ।
से केइ णेगंतहियं धम्ममाहु,
अणेलिसं साहुसमिक्खयाण ॥ १ ॥

संस्कृतच्छाया—

अप्राप्तु श्रमणा ब्राह्मणाश्च, अगारिणश्च परतीर्थिकाश्च ।
सं क इत्येकान्तहित् धर्ममाहु, अनीदृश साधुसमीक्षया ॥ १ ॥
अथ शान्दपुत्रमहावीरजैनसंघीया-संस्कृतटीकाकर्तुर्मंगलाचरणम् ।

ध्यायं ध्यायमशेषशक्रप्रमुखाऽमर्त्याऽर्चिताद्विद्वयं,
मोक्षश्रीपरिणीतिसम्भवमहानन्दोल्लसन्मानसम् ।
श्रीवीरप्रभुमीश्वरं तदनु च ज्ञानप्रदं श्रीगुरुं,
तामं नाममशेषभव्यमुहितं श्रीफूलचन्द्रो मुनिः १

श्रीमत्सूत्रकृताङ्गमध्यविलसत्सुश्लोकवीरस्तुते-
 भव्यानां भवयन्धभेदमनसामानन्दसंवर्द्धिनीम् ।
 कुर्वेऽहं विवृतिं तदर्थगतिकृद्भाषान्तरोद्भासितां,
 तेन श्रीत्रिशलात्मजाऽन्तिमजिनः प्रीयात्समाराधितः

टीका—इहापारावारसंसारद्व्यां परिभ्रमणं कुर्वतां प्राणिनां
 बुद्ध्यादिदशभिर्ज्ञातेरतिदुर्लभं मानुष्यं, तत्राप्याय्यदेश-कुलाऽऽयु-रारो-
 म्य-समग्रेन्द्रियानुकूलसामग्रीसंयोगो दुर्लभतरः, तत्राप्यतिदुर्लभतमा
 श्रीजिनधर्मप्रवृत्तिः । तत्रेह जगतीदृष्टः श्रीसर्वज्ञोक्तधर्मः परममङ्गलः
 समस्तशारीरमानसादिदुःखोच्छेदकश्चाप्यस्ति । धर्मश्चासौ चतुर्धा वान-
 शीलतपोभावभेदाः, तत्र चतुर्णां धर्मभेदानां मध्ये सर्वज्येष्ठो धर्मो दान-
 धर्मः, सर्वेष्वपि धर्मभेदेष्वन्तश्चारित्वात् । तथाहि—लौकिके लोकोत्तरे
 च सर्वत्र दानप्रवृत्तिर्ज्येष्ठतरा, श्रीमन्तस्तीर्थंकरा अपि प्रथमं वर्षीयदानं
 दत्त्वा पश्चाद्भिक्षुव्रतं गृह्णन्ति; पुनश्च शीलधर्मेऽपि दानधर्मोऽविच्छिन्न
 एव, यतो ब्रह्मचर्यव्रतग्रहणेऽसंख्यद्वीन्द्रियाणामसंख्यसम्मूर्च्छिमपद्ये-
 न्द्रियाणां नयलक्ष्मर्भजपमेन्द्रियाणां च कृते प्रतिदिनं भक्षप्रतिनाऽ-
 भयदानं दत्तम्, स्वजीवसाऽप्यभयदानमाप्तं तेन गर्भादिदुःखनाशक-
 त्वाच्चेति; व्यवच्छिन्नतया हि ज्ञानेष्वपि दानस्य मुख्यता । तथैव तपो-
 धर्मेऽपि दानमन्तर्भवति, यतो षड्जीवनिकायविराधनया च आहारो
 निष्पाद्यते, परन्तूपवासादितपसि कृते तु तेभ्योऽभयदानं प्रदत्तं तस्मा-
 दपस्वपि दानमन्तर्भूतम् । भावधर्मे तु सुतसमेव, यतः 'परमकरु-
 णया जीवाजीवाऽर्हिसनपरिणतिर्भावः' कथाऽप्यभयप्रदानद्वारा दानमेव
 पर्यवस्यति, जैनमुनयोऽपि प्रतिदिनं देहनादानं ज्ञानशिक्षादानं च
 ददति; अतो दानस्य त्रिष्वप्यन्तर्भावान्मुख्यतया प्रथमं दानस्योपादानं

कृतम् । परं तद्भावपूर्वकं हि सफलतामेति । दानादिरूपं हि धर्मरत्नं प्राप्य सुकुलोत्पत्तिसमस्तेन्द्रियसामग्र्याद्युपेतेनाऽनेकान्तवादरूपमार्हतदर्शनपरिज्ञाय चाशेषकर्मोच्छिद्येऽवश्यं प्रयतितव्यं भव्येनेति । परन्तु कर्मोच्छेदश्चापि सम्यग्विवेकसव्ययेक्षोऽसावपि ह्याप्तोपदेशमन्तरेण न सुलभः, आसश्चात्यन्तिकाशोपक्षयात्, स चार्हन्नेव, स हि श्रीज्ञातृपुत्रमहावीरचरमतीर्थकरस्तस्य स्तुतौ कृतयत्नोऽस्मीति, क्रोविदमुख्यैरिह जगति तस्य गुणवर्णनं बहुधा कृतं परन्त्वहमपि तद्गुणवर्णनोत्कटेच्छया तरलीकृतः सम्यग्दर्शनबलेन क्षयोपशमबलेन च किञ्चिद्विद्वरीतुं यतिष्ये । किमनन्तमाकाशे पक्षिराजगतं सम्यगवगम्य तेनैव पथा शलभो गन्तुं न चाञ्छति ? वाञ्छत्येवैवमनया रीत्याऽहमप्यल्पज्ञप्रायः परं किञ्चिद्धि श्रीसूत्रकृताङ्गसूत्रे यज्ज्ञातृपुत्रमहावीरस्तुतिनामाध्यायस्य व्याख्यां वितनोमि, तद्वीररूपयैव, न ममाल्पज्ञस्य साहात्येनेति । अथ श्रीमन्महावीरस्य प्रभोर्गुणा निगद्यन्तेऽतोऽत्र जम्बूनामधेयोऽन्तेवासी सुधर्माणं धर्माचार्यं आ=भर्यादया तद्विषयविनयरूपया चर्यते सेव्यन्ते जिनशासनोन्नत्यर्थोपदेशकतया तदाकांक्षिभिरित्याचार्यास्तमाचार्यम्; उक्तं च—

सुत्तत्थविज लक्खणजुत्तो, गच्छस्स मेदिभूओ य,
गणतत्तिविप्पमुक्को अत्थं वाएइ आयरिया ॥ १ ॥

संस्कृतच्छाया—

सूत्रार्थं विलक्षणयुक्तो, गच्छस्यालम्बनभूतश्च ।

गणतत्तिविप्रमुक्तः सन्नर्थं वाचयंत्याचार्या इति ॥

अथवा आचारो ज्ञानाचारादिः पंचधा, आ=भर्यादया वा चारो विहार आचारस्तत्र साधवः स्वयं करणात्मभाषणात्मदर्शनाच्चेत्याचार्याः ।
आह च—

पंचविहै आयारं, आयरमाणा तद्वा पयासंता,
आयारं दंसंता, आंयरिया तेण चुचंति ॥ १ ॥

संस्कृतच्छाया—

पंचविधमाचारमाचरमाणास्तथा प्रकाशमानाः ।

आचारं दर्शयन्त आचार्यास्तेनोच्यन्त इति ॥

इति च विशेषावश्यकै—

अथवा आ=ईषत् अपरिपूर्णा इत्यर्थः, चारं हेरिका ये ते
आचाराः, चारकल्पा इत्यर्थः, युक्तायुक्तविभागनिरूपणनिपुणा विनेया-
अतस्तेषु साधवो यथावच्छास्त्रार्थोपदेशकतया इत्याचार्याः । एषामा-
चारोपदेशकतयोपफारित्यात्, समाचार्यम् । *द्वादशाह्दशास्त्राध्याप-
यितारमित्यर्थः । “मध्वव्याख्याकृदाचार्य इत्यमरः” । मोक्षशा-
स्त्रोपदेष्टरि, श्रीधर्मगुरौ, “इति शब्दार्थचिन्तामणिः” । अथवा=

* समवायंगसूत्रगतो द्वादशाह्याः परिचयः संक्षिप्यात् उद्धृतः स वैयम् ।

आचाराङ्गः—आचार्येण समणानं निगमेषणं आचार-गोचर-विणय-
वेणह-रण-गमन-संक्रमण-पमाच-जोय-जुंजण-भासा-समिति-गुतिसेजोने
बहि-भत-पाण-उगम-उप्याय-एवणा-विचोहि-गुदागुदगहण-वध-नियम-
तवो-नहाणमुपरात्भमाहिज्जइ x x x x षडमे अगे दो मुभकरंधा, पण-
वीसं अजगयणा, पंचासी उदेसणकाला, पंचासी समुदेसणकाला, अटारमपय-
खहरसाई ।

भावार्थः—समवायंगसूत्रगत द्वादशांगी वाणीया संक्षेपते इत प्रकार
परिचय उद्धृत किया जाता है ।

आचार्यंगः—आचार्यंग सूत्रमें इस प्रकार के विषयों का वर्णन किया
गया है यथा—भ्रमण निषेधोक्त मुद्रास्त आचार, गोचर (भिश्चार्थिचि), विनय,
वैनविक, कावोत्सर्गोदि मुन्दर और एरान्त स्थान, विहारभूम्यादि गमन, संक्र-
मण अर्थात् टहलना, वा पाठीरेक धम दूर करने के लिए उपाध्ययमें बनये
बलि में गमन, सिधान, आहाणदि खय येव पदापों का माप, साभ्यायादि

स्वयमाचरते शिष्यानांचारे स्थापयत्यपि । आचिनोति हि शास्त्रार्थ-
भाचार्येण कथ्यते । इति कुलार्णवः । “आम्नायतत्वविज्ञाना-
चराचरसमानतः । यमादियोगसिद्धत्वादाचार्य इति कथ्यते” ॥ १ ॥
इति शांकरे ॥ अतोऽत्र जिनधर्म एव मन्त्रस्तस्य व्याख्याकृत्, श्रीमान्-
सुधर्माचार्य इति भावः । तं सुधर्माचार्यं प्रति श्रीमन्महावीरचरमतीर्थ-
ऋषुगान् पृष्ट्वात्, विनयेनेति शेषः “सन्मतिर्महतिर्वीरो, महावीरो-

नियम, नियोग, भाषा समिति, गुप्ति, शप्या, उपवि, भक्त, पान, उद्गमादि
(उद्गम, उत्पाद, एषणा) दोषोक्ती विशुद्धि, शुद्धशुद्धमरण, प्रत, नियम,
तप और उपधान ।

प्रथम सूत्र आचारांग में दो श्रुतस्वरूप, ८५ उद्देशनकाल, ८५ समु-
द्देशनकाल, तथा १८००० पद संख्या है ।

सूत्रकृतः—सूत्रगणे णं सप्तमया सूद्भन्ति, परसमया सूद्भन्ति, स-
परसमया सूद्भन्ति, जीवा सूद्भन्ति' अजीवा सूद्भन्ति, जीवाजीवा सूद्भन्ति, लोके
सूद्भन्ति, भलोगे सूद्भन्ति, लोमालोके सूद्भन्ति, सूत्रगडेण जीवाजीवे पुण्णवावा
सयसंवरनिज्जरणायंथमुक्खानसाणा पयत्था सूद्भन्ति । × × × × × असी-
इस्त किरियाकाइयसस, चउरसीए अकिरियवाइणं, सत्तट्टीए अण्णाणिय-
वाइणं, यत्तीसाए वेणइअवाइणं, तेतीसं उद्देशनकाल, तेतीस समुद्देशनकाल,
छत्तीसं पदसहस्राई ।

सूत्रकृतः—सूत्रगण (सूत्रकृत्याग) में प्ररूपित विषय इन प्रकार
हैं । स्वसिद्धान्त, परसिद्धान्त, स्व-परसिद्धान्त, जीव, अजीव, जीवाजीव, लोक,
अलोक, लोकालोक, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आसव, संवर, निर्जेर, बंध और
मोक्ष तकके सब पदार्थ, इतर दर्शन मोहित नवीन संदिग्ध शीक्षितमी बुद्धिको
शुद्ध करनेके लिए १८० क्रियावादी के मत ८४ अक्रिया वादीके मत, ३२
विनयवादीके मत, अज्ञानवादीके ६७ मत, सब मिलकर ३६३ अन्यदृष्टिके
मतोंका परिश्लेष करके स्वसमय स्थापन,

सूत्रकृत्यांग सूत्रमें दो श्रुत-स्वरूप हैं, २३ अध्याय हैं, ३३ उद्देशन काल
हैं, ३३ समुद्देशन काल हैं । ३६००० पद संख्या है ।

ऽन्तकाश्यपः । नाथान्वयो वर्धमानो, यतीर्थमिह साम्प्रतम् ।" इति
 धनंजयनाममाला । अथाऽसावपि भगवान् सुधर्मात्साम्येवं गुणविशिष्टो
 'ज्ञातृपुत्रो महावीर इति' कथितवांश्च मां प्रतीति शेषः । एवं चासौ
 वर्धमानोऽर्हन् "सर्वज्ञो वीतरागोऽर्हन्, केवली धर्मचक्रभृत्" 'इति
 धनंजयः' । विष्टपस्य संसारस्य सांसारिकविषयस्येत्यर्थः सकृच्चन्दनव-

स्थानांगः—अणुं सप्तमया ढविञ्चति, परसमया ढविञ्चति, सप्तम-
 यपरसमया ढविञ्चति, जीवा ढविञ्चति, अजीवा ढविञ्चति, जीवाजीवा ढवि-
 ञ्चति, लोगा, अलोगा, लोगालोगा ढविञ्चति, × × × × × तदए अगे
 एगमुभम्बुंषा दस अज्जयणा, एदवीसं उरेणकाला, एदवीसं समुरेण-
 काला, वावत्तरि पदसहस्ताई ।

स्थानांगः—स्थानांग सूत्र में निरूपण किए हुए ये विषय हैं । सप्तमय,
 परसमय, सप्त-परसमय, जीव, अजीव, जीवाजीव, लोक, अलोक, लोकालोक
 का स्थापन,

तीसरे (स्थानांग) अंग में पांच श्रुतस्कन्ध, दस अध्याय, २१ उद्देश-
 नकाल, २१ समुरेणकाल, और ७२००० पद संख्या है ।

सप्तमयायांगः—सप्तमयायांगं सप्तमया सूत्रं चति परसमया सूत्रं चति, सप्त-
 मयपरसमया सूत्रं चति, सप्तमयायांगं एदवीसं एदवीसं एदवीसं, परिशुक्ति-
 युवालसंगस्त य गमिपिटकस्त पादवग्गे समलुगाहज्ज, × × × × × चटस्ये
 अगे, एगे अज्जयणे, एगे मुयक्कधि, एगे उरेणकाले, एगे समुरेणकाले एगे
 चउमाळे पदसहस्रे ।

सप्तमयायाङ्गः—सप्तमयायांगं सप्तमयायांगं, परसिद्धान्त, सप्त-परसिद्धान्त,
 और एक संख्यासे लगा कर अधिकसंख्यातक पदाधोद्य परिगमन एदोत्तरिक,
 परिशुक्तिपूर्वक प्रतिपादन है, अर्थात् प्रथम एकसंख्याक पदाधोद्य निरूपण
 करके फिर द्विसंख्याक पदाधोद्य प्रस्तुत है । इस क्रमसे प्रतिपादन करने के
 बाद द्वादशांग गमिपिटकके पद्विंशोद्य प्रतिपादन किया गया है । चतुर्थ
 सप्तमयाय (अंग) में एक अध्याय, एक श्रुत स्कन्ध, एक उद्देशन काल, एक
 समुरेण काल, और एक दस चत्वारिंशहजार पद संख्या है ।

नितादेरिति यावज्जयं तिरस्क्रियां चकार । “विष्टपं भुवनं लोको जगदिति कोपः” । “परिमवः परामवस्तिरस्क्रियेति कोपः” । अतो

व्याख्याप्रश्नसिः—(भगवती) विआहेणं ससमया विआहिजंति, परस-मया विआहिजंति, ससमय-परसमया विआहिजंति, जीवा विआहिजंति, अजी-वा विआहिजंति, जीवाजीवा विआहिजंति, लोगे विआहिजंति, अलोगे विआहि-जंति, लोगालोगे विआहिजंति, विआहे णं नाणाविहमुरनरिदरायरिसिविहिसं-सइभ पुच्छिभाणं, जिणेणं वियरे ण, भासिभाणं, इध्वगुण-खित्त-काल-पज्जव-पदेस-परिणाम-जहत्थि अभाव अनुगम-नियत्तेव-णय-प्पमाण मुनिउ-णोवक्कम विविहप्पकारपगडपयासिआणं. संसारसमुद्दंउत्तरणसमत्थाणं, मुएवइ-संपूजिआणं, भवियजणपयहिअयाभिनंदिआणं, तमरयविद्धंसणाणं, मुदिठ्ठीइ भूअइंहामतिशुद्धिबद्धमाणाणं छत्तीससहस्समणूणया णं वागरणाणं दंसणाओ, मुअत्थवहुविहप्पगाए, छीसहिअत्था × × × × × पंचमे अंगे एगे सुअ-क्खंये, एगे साहरेगे अउत्तयणसये, दसउत्तसगसहस्साइं, दसउत्तसगसहस्साइं, छत्तीस वागरणसहस्साइं, चउरासीइं पयसहस्साइं ।

व्याख्याप्रश्नसिः—(भगवती) सूत्र में स्वसमय, परसमय, जीव, अजीव, जीवाजीव, लोक, अलोक, लोकालोक, इत्यादि कथनके अतिरिक्त, भिन्नभिन्न प्रकारसे देव, राजा, राजर्षि, और अनेक प्रकारके सन्दिग्ध पुरुषोंके पूछे हुए प्रश्नोंका जिनेन्द्रदेवने विस्तारपूर्वक जो उत्तर दिए हैं । और वे उत्तर इन्द्र, गुण, क्षेत्र, काल, फल, प्रवेश और परिणाम के अनुगम, निक्षेप, नय, प्रमाण और विविध तथा मुनिपुत्र उपक्रम पूर्वक यथास्तिभावके प्रतिपादक हैं । जिससे लोक और अलोक दोनों प्रकाशित हैं । जो विशाल संसार समुद्रसे पार कर देनेमें समर्थ हैं । इन्द्रों द्वारा पूजित हैं, भव्य ओकोंके हृदयके अभिनन्दक हैं, अन्धकार रूप मैलके नाशक हैं । सुन्दर और दर्शनीय हैं, दीपक की तरह बस्तुका तप्य निर्णय देने वाले हैं । ईहा, मति, और बुद्धिके बढानेवाले हैं, जिनकी संख्या ३६००० में पूर्ण होती है, और जो उत्तरोंके उपनिबन्धसे बहुत प्रकारके श्रुतार्थोंके समुदायरूप शिष्योंके हितार्थ गुणहरूप हैं । पंचम अंग (भगवती) सूत्रमें एक श्रुतस्कन्ध, साधिक अति उत्तम सौ १०० अध्याय हैं । दशहजार उद्देशक, १०००० समुद्देशक, ३६००० प्रश्न और ८४००० पद संख्या है ।

धीरः संसारं यथा जितवान्, वयमपि तथैव तज्ज्याय प्रयत्नं कुर्मः ।
 भगवन् ! बहुविधां नरकविभक्तिं च श्रुत्वा संसारादुद्धिममर्नसः 'केनेयं
 नरकविभक्तिः प्रतिपादितः' इति मामप्राप्तुरिति, पुनश्चैवं भूतो धर्मः

ज्ञाता-धर्मकथांगः—णया-धम्म-कहामु णं णायार्णं नगरइं, उब्बाणाइं,
 वणराण्डा, राजाणो, अम्मापियरो, समोसरणाइं, धम्मायरीआ, धम्मकहाओ,
 इंदलोइअ-परलोइअ-इद्धिविसेसा, भोग परिष्वाया, एवञ्जाओ, मुयपरिग्गहा,
 तवोवहाणाइं, परिंयागा, संछेहणाओ, भत्तपञ्चस्थाणाइं, पाओरगमणाइं, देहलो-
 गगमणाइं, मुकुत्तपचाया, पुण बोहित्थओ, अंतकिरिआओ, अ आचमिज्जंठि,
 X X X X छट्ठे अणे दो मुअक्कंथा, एगूणत्तीसं अज्जयणा, वे समासओ
 दुविहा, पजत्ता, संजहा, चरित्ता अ, कप्पिआ अ, दद्य धम्म कहानं पग्गा,
 तात्थणं एगमेगाए धम्म कहाए पंच पंच, अस्साइयासयाइं, एगमेगाइ अस्साइ-
 आए पंच पंच उवस्साइआसयाइं, एगमेगाए उवस्साइआए पंच पंच अक्सा-
 इअ, उवस्साइअसयाइं, एगामेव सपुब्बापरणं अज्जुए अक्खाइअओठिओ,
 भवंतीतिअस्सायाओ, एगूणत्तीसं उरंयनक्याता, एगूणत्तीसं समुरंयनक्यात्त,
 सखेब्बाइं पयसदस्साइं, ।

ज्ञाताधर्मकथा—इस सूत्रमें उदाहरणभूत पुरुषों के नगर, उद्यान,
 वनराण्ड, राजा, माता पिता, मनवतरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, ऐहिक और
 पारलौकिक इन्द्रविशेष, भोगपरित्याग, प्रमज्जा, शून्य परिग्रह, तप, उपधान,
 पर्याय, संछेदना, भक्तप्रलाहयान, पादपोषणनन, देहलोकागमन, किर उत्तम
 कुल में अवतार, पुनर्जन्म, बोधिल्लभ और अन्तकिया इत्यादि अनेक विषयों-
 का कथन विद्यालये किया गया है । छठवें ज्ञाता धर्मकथांगमें दो धुतरङ्ग हैं,
 जिनमें २९ अध्याय हैं, वे अध्याय चरित्र और कल्पिक भेदों दो तरहके
 बताए हैं । धर्मकथांग १० वर्ष हैं । जिसकी एक-एक धर्म कथामें ५००-
 ५०० आख्यायिकाएँ हैं, एक एक आख्यायिकामें ५००-५०० उपाख्यायि-
 काएँ हैं, एकएक उपाख्यायिकामें ५००-५०० आख्यायिकोपाख्यायिकाएँ
 हैं, और किर इसी प्रकार से सपूर्वापर (सबमितकर) साठे तीन ओर आख्या-
 यिकाएँ हो जाती हैं । इसमें २९ उरंयनक्यात, तथा २९ समुरंयनक्यात हैं,
 ओर संख्यात अग्र पद हैं, यानी ५ सख ७६ हजार पद हैं ।

संसारोत्थारणसमर्थः केन प्रतिपादितः । इत्येतद्भवो भामिति भावः ।
ते के इत्याकांक्षायामाह श्रमणाः—साधवो निर्ग्रन्थादयः । “तपस्वी

उपासकदशांगः—उपासकदशांगु णं उपासकानं नगराई, उज्जानाई,
वणखंडा, रामाणो, धम्मापियरो, समोसरणाई, धम्मायरियाई, धम्मकहाओ,
इहलोअ, परलोइअइडुविसेसा, उपासयाणं, सीलज्वय वेरमणगुणपचक्खाणं,
पोसहोववासपडिवंजिआओ, सुअपरिग्गहा, तवोवहाणाई, पडिमाओ, उवसग्गा,
इहेहणा, भत्तपचक्खाणाई, पाओवगमणाई, देवलोगमणाई, सुकुलपच्चाया, पुणो
सोहिलाओ, अंतकिरिआओ, आषविजंति, × × × × × सत्तमें अगे एगे
सुअन्पंधे, दशअज्जयणा, दशउरेशणअल्ल, दश समुदेशणकाला, सल्लेआई
पयसहस्ताई ।

उपासकदशांगः—इसमें उपासकोंके (भावकोंके) नगर, उद्धार,
चनखंड, राजा, मातापिता, समवसरण, धर्माचार्य, इसलोक और परलोककी
शुद्धिविशेषका तथा भावकोंका सीलमत, विरमण, गुणमत, प्रत्याप्तान, पौष-
शोपचास, श्रुतपरिग्रह, तप, उपधान, प्रतिमा, उपसर्ग, संलेखना, भक्तप्रत्या-
ख्यान, पादपोषणमन, देवलोकगमन, भेष्टकुलजन्म, सोधिलाभ और अन्त-
क्रियातकका वर्णन है × × सातवें उपासकदशांगमें एक श्रुतस्कन्ध, दश
अभ्ययन, दश उदेशनकात्, दश समुदेशनकाल, और सद्यथातलापद
अर्थात् ११५२००० पदोंकी संख्या है ।

अन्तःकृद्दशांगः—अंतगडदशांगु णं अंतगडा णं नगराई, उज्जान,
वणखंड, राया, धम्मापिय, समोसरण, धम्मायरिय, धम्मकहा, इहलोइअ,
परलोइआ, इडुविसेसा, भोगपरिआया, पच्चज्जाओ, सुअपरिग्गहा, तवोवहा-
णाई, पडिमाओ, यडुविहाओ, यमा, अब्बं, महवं, योअं च सचधहिअं,
सत्तरस्सविहोसजमो, उत्तमं च बंभं, अकिंचणया, तपो, किरियाओ, समिइगु-
त्तिओ चं, तह अप्पमायजोगो, सज्जय्य ज्जाणेष य, उरत्तयाणं दोण्हं, लक्ख-
णाई, पत्ताणय संजमं, जिअपरिसह्माणं, चउव्विहकम्मकखवियम्मि, जइ केवलस्स
लंभो, परियाओ जत्तिओ य जइ पाळिओ मुण्हिं, पाओवगओ जहिं, जतियाणि
भत्ताणि, ऐअइत्ता, अंतगडो मुण्हिरो, समरयोधविमुद्धो, मुअखमुहमणंतर, च
पत्ता ए ए अच्चेय एवमाइत्थ वित्थरेण परूवेइ, × × × × अट्टमे अगे

वीरः संसारं यथा जितवान्, ययमपि तथैव तज्जयाय प्रयत्नं कुर्मः ।
भगवन् ! बहुविधां नरकविभक्तिं च श्रुत्वा संसारादुद्धिमर्नसः 'केनेयं
नरकविभक्तिः प्रतिपादितः' इति मामप्राक्षुरिति, पुनश्चैवं भूतो धर्मः

ज्ञाता-धर्मकथांगः—णाया-धम्म-कहामु षं णावाणं नगराई, उच्चाणाई,
वनरगण्डा, रायाणो, अम्मापियरो, समोसरणाई, धम्मायरिआ, धम्मकहाओ,
इंहलोइअ-परलोइअ-इहिविसेसा, भोग परेआया, पवजाओ, सुयपरिगहा,
संबोवहाणाई, पारियाणा, सुळेहणाओ, भत्तपञ्चम्हाणाई, पाओवगमणाई, देवलो-
गगनणाई, सुकुरपञ्चाया, पुण बोहिल्लभो, अंतकिरिआओ, अ आपविच्चंति,
× × × × × छट्टे अगे दो सुअक्कंधा, एगूणतीसं अज्जयणा, वै समासओ
दुविहा, पत्ता, तंजहा, चरित्ता अ, कप्पिआ अ, रथ धम्म कदाणं यग्गा,
सत्थणं एगमेगाए धम्म कहाए पंच पंच, अत्त्याइयासयाई, एगमेगाइ अत्त्याइ-
आए पंच पंच उवत्त्याइआसयाई, एगमेगाए उवत्त्याइआए पच पंच अत्त्या-
इअ, उवत्त्याइअसयाई, एगमेव सपुम्बावरणं अडुट्टाए अत्त्याइअओडिओ,
अवंतीविअत्त्यायाओ, एगूणतीसं उइंएणकाला, एगूणतीसं समुरेएणकाला,
सकपेआई पयसइत्ताई, ।

ज्ञाताधर्मकथा—इस सूत्रमें उदाहरणभूत पुरुषों के नगर, उद्यान,
वनरगण्ड, राजा, माता पिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, ऐहिक और
पारलौकिक ऋद्धिविशेष, भोगपरित्याग, प्रमत्तता, श्रुत परिग्रह, तप, उपधान,
पर्याय, सुखेचना, भक्तप्रत्याख्यान, पादपोषणमन, देवलोकागमन, फिर उत्तम
कुल में अवतार, पुनर्जन्म, वांछित्यभ और अन्तकिया इत्यादि अनेक विषयों-
का कथन विद्यारंभ किया गया है । छट्टवें ज्ञाता धर्मकथांगमें दो श्रुतरत्न हैं,
जिनमें २९ अध्याय हैं, वे अध्याय चरित्र और कल्पिक मेदसे दो तरहके
बताए हैं । धर्मकथाके १० वर्ग हैं । जिसकी एक-एक धर्म कथाके ५००-
५०० आख्यायिकाएँ हैं, एक एक आख्यायिकामें ५००-५०० उपाख्यायि-
काएँ हैं, एक-एक उपाख्यायिकामें ५००-५०० आख्यायिकोपाख्यायिकाएँ
हैं, और फिर इसी प्रकार से सपुत्रापर (सवनिज्जपर) पाठे तीन ओर आख्या-
यिकाएँ हो जाती हैं । इनमें २९ उद्घोषनसूक्त, तथा २९ समुरेएणसूक्त हैं,
ओर उक्त्यात सूत्र पद हैं, यानी ५ सूत्र ७६ हजार पद हैं ।

संसारोत्थरणसमर्थः केन प्रतिपादितः । इत्येतद्ब्रह्मो भामिति भावः ।
ते के इत्याकांक्षायामाह श्रमणाः—साधवो निर्ग्रन्थादयः । “तपस्वी

उपासकदशांगः—उवासगदसासु णं उवासगगं नगराई, उज्जाणाई,
चणखंडा, रायाणो, अम्मापियरो, समोसरणाई, धम्मायारियाई, धम्मकहाओ,
इहलोअ, परलोइअइद्विविसेसा, उवासयाणं, सीलध्वय वेरमणगुणपच्चक्खाण,
पोसहोववासपडिबंजिआओ, मुअपरिग्गहा, तवोवहाणाई, पडिमाओ, उवसग्गा,
सुखेहणा, भत्तपच्चक्खाणाई, पाओवगमणाई, देवलोगगमणाई, सुकुलपच्चाया, पुणो
बोहिलाओ, अंतकिरियाओ, आपविजंति, × × × × × सत्तमं अगे एगे
मुअकर्त्तये, दशअज्जायणा, दशउददेशणफला, दश समुदेशणकाला, संखेजाई
पयसहस्साई ।

उपासकदशांगः—इसमें उपासकोंके (धावकोंके) नगर, उद्यान,
चणखंड, राजा, मातापिता, समवसरण, धर्माचार्य, इसलोक और परलोककी
शुद्धिविशेषका तथा धावकोंका शीलव्रत, विरमण, गुणव्रत, प्रख्याख्यान, पौष-
धोपवास, क्षुणपरिग्रह, तप, उपवास, प्रतिमा, उपसर्ग, संखेजना, भक्तप्रत्या-
ख्यान, पादपोषणमन, देवलोकगमन, अष्टकुलजन्म, बोधिल्लभ और अन्त-
किनातकका वर्णन है × × सातवें उपासकदशांगमें एक श्रुतस्कन्ध, दश
अध्वयन, दश उदेशनकाल, दश समुदेशनकाल, और संख्यातकालपद
अर्थात् ११५२००० पदोंकी संख्या है ।

अन्तकृद्दशांगः—अतगददसासु णं अतगदद णं नगराई, उज्जाण,
चणखंड, राया, अम्मापिय, समोसरण, धम्मायारिय, धम्मकहा, इहलोइअ,
परलोइआ, इद्विविसेसा, भोगपरिच्चाया, पच्चज्जाओ, मुअपरिग्गहा, तवोवहा-
णाई, पडिमाओ, बहुविहाओ, समा, अब्बवं, मइवं, सोअं च सचउहिअं,
सत्तरस्सविहोसजमो, उत्तमं च वंमं, अक्किचणया, तवो, किरियाओ, समिइगु-
त्तिओ चैव, तह अप्पमायजोगो, सज्जाय ज्जाणेण य, उत्तमानं दोण्हंपि, लक्ख-
ण्णाहं, पत्ताणय संजमं, जिअपरिसहाणं, चउब्बिहकम्मक्खविद्यम्मि, जइ केवलस्स
लंभो, परियाओ जत्तिओ य जइ पाळिओ मुण्हिं, पावोवगओ जहिं, जत्तियाधि
भत्ताणि, छेअइत्ता, अतगदो मुण्णिवरो, तमरयोपविमुक्को, मुक्खमुहमणंतर, च
पत्ता ए ए अज्जेय एवमाइत्थ विरथरेण पस्सुवेइ, × × × × × अट्टमे अगे

संयमो वर्णा, योगी साधुश्च तापसः । ऋषिर्यतिर्मुनिर्भिक्षुः संयतः
 श्रमणो व्रतीति" धनंजयः । "यतिभेदे, साधुभेदे वा, भिक्षाजीविनि,
 शरीरभेदे वेति शब्दस्तोत्रमहानिधिः" । "तपस्विनि, श्रमणः परिग्राह,
 संन्यासीति पूज्यपादाः" । जैनभिक्षुके, निर्मन्ये चापि, 'श्राम्यतीति

एणे मुअकखंवे, दस अज्जयणा, सत्तवणा, दस उदेवणकाला, दस समुरेवण-
 काला, संखेब्बाई पयसहस्साई,

अन्तर्दृशांगः—अन्तर्गडदशांग सूत्रमें अन्तर्कृत (तीर्थकपरि)
 पुरुषोंके नगर, उद्यान, वनखंड, राजा, मातापिता, समवतरण, धर्माचार्य,
 धर्मकथा, ऐहिक और पारलौकिक ऋद्धि, भोगपरित्याग, प्रप्रज्याग्रहण, श्रुतपरिग्रह,
 तप, उपधान, बहुविधप्रतिज्ञारक्षण, क्षमा, आर्जव, मार्दव, सत्य श्रद्धित शौच,
 यतरह प्रकारका संयम, उत्तम व्रतार्च्य, अकिंचनता, तप, क्रिया, समिति, गृप्ति,
 अप्रमादयोग, उत्तमस्वाध्याय, ध्यान और अयोत्सर्ग का स्वरूप, उत्तम संयम-
 प्राप्ति और परिग्रह जीतनेवाले पुरुषोंका चारप्रकारके पातक कर्म क्षय होने से
 केवलज्ञानका प्राप्त करना, (अमन्त चतुष्टयकी प्राप्ति) मुनि पर्यायके फलन
 करनेकी अवधि, पादपोषणत पवित्र मुनिवर जितने भर्षा (भोजन समयों) को
 बिताकर जहां अन्तर्कृत हुए वह विवरण और नी मुनिपत्र कि जो मुक्तिके
 अचल मुर्खोंको प्राप्त हुए, इत्यादि सब वर्णन आठवें (अंतर्गड) अंगमें एक
 श्रुतस्कन्ध के अन्दर है, इसके दस अध्याय हैं, सात पर्व हैं, दस उद्घम
 काल हैं, दस समुरेचन काल हैं, और संख्यात स्यस पद हैं, अर्थात्
 २१०४००० पद संख्या है ।

अनुत्तरोपपातिकदशांगः—अनुत्तरोपवाहभ दशाष्ट मं अनुत्तरोप-
 वाहभाषं नगराई, उज्जाणार्ह, वणखटा रागाणो, अम्मापियरो, समोसरणाई,
 धम्मावरिया, धम्मकहाओ, इहल्लोय-परल्लोयसस इट्ठिविसेषा, भोगपरिष्वाया,
 धम्मजाओ, मुअपरिग्गहाओ, तवोवहाणाई, परिवाणो, पडिभाओ, संखेहणाओ,
 अत्तपाण-पञ्चउपाणाई, पावोवगमणाई, अनुत्तरोववाह ओ, गुत्तक पचाया,
 पुणोवोदिलाओ, अंतकिरियाओ, आपविजंति, + + + + नववे अगे एणे
 मुअकखधि, दस अज्जयणा, त्रिणि वग्गा, दस उदेवणकाल दस समुरेवण-
 काल, संखेब्बाई पयसहस्साई,

श्रमणः ।' इति "शब्दार्थचिन्तामणिः" ग्राम्यति परदुःखं जाना-
तीत्यपि ।' च पुनर्ब्राह्मणाः ब्रह्मचर्याद्यनुष्ठाननिरताः । "द्विजात्य-
प्रजन्म, भूदेववाडवाः । विप्रश्च ब्राह्मण" इत्यमरः । ब्रह्म परमात्मानं

अनुत्तरोपपातिकः—इस सूत्रमें अनुत्तरोपपातिकोंके नगर, उद्यान,
वनपंड, राजा, मातापिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, इत्यादिकका
वर्णन है, और ऐहिक तथा पारलौकिक ऋद्धिविशेष, भोगपरित्याग, प्रव्रज्या-
प्रहण, श्रुतपरिग्रह, तप, उपधान, पर्याय, प्रतिज्ञा, संछेयना, भक्तपान-
प्रत्याख्यान, पादपोषणमन, श्रेष्ठकुलमें पुनर्जन्म, बोधिलभ, अन्तक्रिया,
इत्यादि विषयोंका वर्णन है । × × नवम (अनुत्तरोपपातिक) अंगमें एक
श्रुतस्कन्ध, दश-अध्याय, तीन वर्ग, दश उद्देशनकाल, दशसमुद्देशनकाल,
संख्यातलाख पद—अर्थात् ४६००००० पद हैं ।

प्रश्नव्याकरण—पण्डवाग्रणेसु अद्भुतरं अपसिणसयं, अद्भुतरं पसि-
णापसिणसयं, विजाइसया, नागसुवण्णे हिं सदिं दिन्वा सवाया आघविजंति,
विह्वयकरणं अइसवेमइ अकालदमसमतिथककतमस्म ठिइकरणकारणार्णं, दुर-
हिगमदुरवगाइस्स, सम्बसम्बणुसम्मअस्स, अयुहजणबोहकरस्स, पबयस्सपस-
यकरणं, पण्हाणं, विविहगुणमहरया, ज्जिणवरप्पणीआ आघविजंति, + + +
+ दसमे अगे एगे सुभकसंधे, पणयाठीस उद्देशणकाला, पणयाठीसं समुद्देशण-
काला, संक्खेजाणि पयसइस्सणि ।

प्रश्नव्याकरण—इस सूत्रमें एकसो आठ प्रश्न, १०८ अप्रश्न, १०८
प्रश्नाप्रश्न, विद्याओं का अतिशय, और नागकुमार तथा सुवर्णकुमारके धाव होने
वाले दिव्य संवाद का वर्णन है । × × × दशम (प्रश्नव्याकरण) अंगमें,
एक श्रुतस्कन्ध, ४५ उद्देशनकाल, ४५ समुद्देशनकाल, और संख्यात लाख पद
अर्थात् १२१६००० पद संख्या है ।

विपाकश्रुत—विवायसुए षं मुक्कड-डुक्कडा षं कम्मार्णं फलविवागे
आघविजंति, से समासजो, दुविहे पभते संजहा; दुहविवागे सुहविवागे चेव,
त्तर्यणं दस दुहविवागाणि, दस सुहविवागाणि से किं तं दुहविवागाणि ? दुहवि-
वागे षं दुहविवागाणं नगराई, उज्जाणाई, वणखंडा, रायाणो, अम्मापियरो,
समोसरणाई, धम्मायरिया, धम्मकहाओ, नगरायणाई, संसारपबंधे; दुहपरप-

संयमी वर्णा, योगी साधुश्च तापसः । ऋषिर्यतिर्मुनिर्भिक्षुः संयतः
श्रमणो व्रतीति” धनंजयः । “यतिभेदे, साधुभेदे वा, भिक्षाजीविनि,
शरीरभेदे वेति शब्दस्तोममहानिधिः” । “तपस्विनि, श्रमणः परित्राद्,
संन्यासीति पूज्यपादाः” । जैनभिक्षुके, निर्मन्ये चापि, ‘श्राम्यतीति

एते शुभसूत्रे, दस अज्ज्ञयणा, सतसव्या, दस उद्देयनस्यत्र, दस समुरेण-
काला, संखेब्बाई पयसहस्ताई,

अन्तकृद्दशांगः—अन्तकृद्दशांग सूत्रमें अन्तकृत् (तीर्थंकरादि)
पुरुषोंके नगर, उद्यान, वनसंघ, राजा, मातापिता, समवसरण, धर्माचार्य,
धर्मकथा, ऐहिक और पारलौकिक ऋद्धि, भोगपरित्याग, प्रमत्ताग्रहण, श्रुतपरिग्रह,
तप, उपधान, बहुविधप्रतिश्रावण, धमा, आर्जव, मार्दव, सत्य सद्दिव घोच,
सतरह प्रकारका संयम, उत्तम ब्रह्मचर्य, अकिंचनता, तप, क्रिया, समिति, प्रति,
अप्रमादयोग, उत्तमस्वाध्याय, ध्यान और कयोरार्थ का स्वरूप, उत्तम संयम-
प्राप्ति और परिग्रह जीतनेवाले पुरुषोंका पारप्रकारके पापिक कर्म क्षय होने से
केवलज्ञानका प्राप्त करना, (अमन्त पशुटयकी प्राप्ति) मुनि पर्यायके पावन
करनेकी अवधि, पादपोषणत पवित्र मुनिवर जितने भक्तों (भोजन समयों) को
बिताकर जहाँ अन्तकृत् हुए वह विवरण और भी मुनिराज कि जो मुक्तिके
अचल पुरुषोंको प्राप्त हुए, इत्यादि गव वर्धन आठवें (अंतगड) अंगमें एक
श्रुतकथ के ही अन्दर है, इनके दस अध्ययन है, सात वर्ग हैं, दस उद्देयन
काल हैं, दस समुरेण काल हैं, और संख्यात लख पद हैं, अर्थात्
२२०४००० पद संख्या है ।

अनुत्तरोपपातिकदशांगः—अनुत्तरोपपादक दशांग वं अनुत्तरोप-
पादकानं नमराई, उद्वाणाई, वणधंदा राणाओ, अम्नापियणे, समोसरणाई,
धम्मावदिया, धम्मकराओ, इहलोग-परलोगस्य इष्टिभियेगा, भोगपरिष्वाया,
धम्मजाओ, शुभपरिग्रहाओ, तवोवहाणाई, परियाओ, परिमाओ, उंकेहपाओ,
अत्तपाण-पञ्चाणाई, पावोवगमणाई, अनुत्तरोपपाद ओ, मुक्ता पञ्चाया,
पुषोवोद्विलाओ, अंतकिरियाओ, आपनिजंदि, + + + + नवमे अगे एगे
शुभसूत्रे, दस अज्ज्ञयणा, तिमि वया, दस उद्देयनस्यत्र दस समुरेण-
काल, संखेब्बाई पयसहस्ताई,

श्रमणः ।' इति "शब्दार्थचिन्तामणिः" श्राम्यति परदुःखं जाना-
तीत्यपि ।' च पुनर्ब्राह्मणाः ब्रह्मचर्याद्यनुष्ठाननिरताः । "द्विजात्य-
प्रजन्म, भूदेववाडवाः । विप्रश्च ब्राह्मण" इत्यमरः । ब्रह्म परमात्मानं

अनुत्तरोपपातिकः—इस सूत्रमें अनुत्तरोपपातिकोंके नगर, उद्यान,
वनखंड, राजा, मातापिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, इत्यादिकका
वर्णन है, और ऐहिक तथा पारलौकिक ऋद्धिविशेष, भोगपरित्याग, प्रव्रज्या-
ग्रहण, श्रुतपरिमह, तप, उपघन, पर्याय, प्रविज्ञा, संलेखना, भक्तपान-
प्रत्याख्यान, पादपोषणमन, श्रेष्ठकुलमें पुनर्जन्म, बोधिलाम, अन्तक्रिया,
इत्यादि विषयोंका वर्णन है । × × नवम (अनुत्तरोपपातिक) अंगमें एक
श्रुतस्कन्ध, दश-अध्याय, तीन वर्ग, दश उद्देशनकाल, दशसमुद्देशनकाल,
संख्यातलाख पद-अर्थात् ४६०८००० पद हैं ।

प्रश्नव्याकरण—पण्डितगणेषु अद्भुतरं अपसिन्नसयं, अद्भुतरं पसि-
णापसिन्नसयं, विज्ञाद्वयसा, नागसुवर्णे हिं सद्धिं दिव्या सवया आपविजंति,
विम्वयकरणं अइसयमइ अकालदमसमसित्यकरतयस्व डिइकरणकारणार्णं, दु-
हिपमदुरवगाहस्त, सम्बसम्बणुसम्मअस्त, अनुद्वजणबोहकरस्त, पक्षकषपक्ष-
यकरणं, पण्हाणं, विविहगुणमहाया, जिणवरप्पणीभा आपविजंति, + + +
+ दसमे अगे एगे सुभकसंधे, पणयालीसे उद्देशनकाल, पणयालीसे समुद्देशन-
काल, सक्खेज्जाणि पयसहस्सणि ।

प्रश्नव्याकरण—इस सूत्रमें एकसौ आठ प्रश्न, १०८ अक्षर, १०८
प्रश्नाक्षर, विद्यार्थों का अतिशय, और नागकुमार तथा सुवर्णकुमारके साथ होने
वाले दिव्य संवाद का वर्णन है । × × × दशम (प्रश्नव्याकरण) अंगमें,
एक श्रुतस्कन्ध, ४५ उद्देशनकाल, ४५ समुद्देशनकाल, और संख्यात लाख पद
अर्थात् १२१६००० पद संख्या है ।

विपाकश्रुत—विवागसुए णं सुइइ-दुइइ णं कम्माणं फलविवागे
आपविजंति, से समासओ, दुविहे पक्षते तंजहा; दुहविवागे मुहविवागे चैव,
तत्पर्यं दस दुहविवागाणि, दस मुहविवागाणि से किं तं दुहविवागाणि ? दुहवि-
वागे णं दुहविवागाणं नगराई, उज्जाणाई, वणखंडा, रामाणो, अग्नापिबरो,
समोसरणाई, धम्मायसिया, धम्मकहाओ, नगरगमणाई, संसारपवंधे; दुहपरं-

सिद्धं जानातीति ब्राह्मणः । परब्रह्मज्ञे ब्राह्मण इति शब्दस्तोममहा-
निधिः । ब्राह्मणलक्षणानीत्थं ब्रुवन्ति वृद्धाः । यथा—

‘क्षमा, तपो, दया, दानं, सत्यं, शौचं, वृणुवतम् ।

विधाविनयसम्पन्नं प्रथमं ब्रह्मलक्षणम् ॥ १ ॥

शान्तो दान्तः सुशीलश्च, सर्वभूतहिते रतः ।

क्रोधावेशं न जानाति, द्वितीयं ब्रह्मलक्षणम् ॥ २ ॥

निलोभो निरहंकारः पापत्यागं करोति यः ।

रागद्वेषविनिर्मुक्तस्तृतीयं ब्रह्मलक्षणम् ॥ ३ ॥

परद्रव्यं यथा दृष्ट्वा, पथि गेहेऽथवा वने ।

अदत्तं नैव गृह्णाति, चतुर्थं ब्रह्मलक्षणम् ॥ ४ ॥

मधमासमधुत्यागी—त्यक्तोदुंबरपञ्चकः ।

भुनक्ति न निशाहारं, पञ्चमं ब्रह्मलक्षणम् ॥ ५ ॥

राभो, य आचविज्वति, से तं दुहविवागामि; से कि तं मुहविवागामि ? दुहविवा-
नेमुणं मुहविवागामं नगराहं, उज्जाणाहं, वणसंडा, रायाणो, धम्मापियरो,
समोत्तरणाहं, धम्मायरिवा, धम्मकहाभो, इहलोअ—परलोअ इड्ढिविसेमा, भोग-
परिचाआ, पणज्जाओ, मुअपरिग्गहा, तवोवहाणाहं, परिपागा, पडिमाओ, संले-
हणाओ, भत्तपाणपबन्धणाणाहं, पावोवगमणाहं, देवत्थेगममणाहं, सुकुल पचाआ,
‘सुणयोहिलाहो, अत्तकिरियाओ, आचविज्वति, × × × ■ × एकारसमे अणे
वीसं अज्जयणा, वीसं उद्देसणकाला, वीसं समुद्देसणकाला, संक्खेज्जाहं पयसय-
सहस्साहं ।

विपाकश्रुत—इसमें मुहूतकम्मोक्क और दुहूत कम्मोक्क फलविपाक-
परिणाम बताया गया है । वह फलविपाक संक्षेपसे दो प्रकारका है । यथा
दुःखविपाक और सुखविपाक । जिनके १०—१० भेद हैं । दुःखविपाकमें
दुःखविपाकवालोके नगर, उद्यान, वनसंड, रावा, नावापिता, समवसरण,
धम्माचार्य, धम्मकथा, नगरगमन, सत्तार प्रबन्ध, दुःखपरम्पराका चारो
चार वर्णन है ।

‘कैश्चित् ब्राह्मणा दशधा प्रोक्तास्त एवम्’ :

यथा—दैवो द्विजो मुनी राजा, वैश्यः शूद्रो विडालकः ।

सरो म्लेच्छश्च चाण्डालो, विप्रास्तु दशधा मताः ॥ १ ॥

दैवः—एकाहारेण सन्तुष्टो, मयमांसविवर्जितः ।

पारीणस्तत्त्वविज्ञाने, स विप्रो देव उच्यते ॥ १ ॥

द्विजः—यामिको नियमी चैव, संयमी संयतेन्द्रियः ।

समो दमक्षमायुक्तो द्विजो विप्रः स उच्यते ॥ १ ॥

मुनिः—रुक्षाऽऽहारी दिवाहारी, वनवासे रतः सदा ।

कुरुतेऽङ्गनिशं ध्यानं, स विप्रो मुनिरुच्यते ॥ १ ॥

नृपः—अश्वादिवाहनेच्छुर्यो विप्रहे चातिवर्तते ।

आरंभः शासकः शूरः, स विप्रो हि नृपः स्मृतः ॥ १ ॥

वैश्यः—कृपिवाणिज्यगोरक्षां, न्यायं सेवां करोति यः ।

धातूनां संप्रही नित्यं, स विप्रो वैश्य उच्यते ॥ १ ॥

मुखविपाकमें मुखविपाकवालोके नगर, उद्यान, वनखंड, राजा, माता-पिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, इसलोक परलोक सम्बन्धी ऋद्धि विक्षेप, भोगपरित्याग, प्रग्रन्थाग्रहण, धृतपरिग्रह, तप, उपधान, पर्याय, प्रसिद्धा, सलेखना, आहारपानीका त्याग, पादपोषणमनसंस्कारक, देवलोक-गमन, मुकुलावतार, बोधिलाभ और अन्तर्किया तकम्य अनुक्रमसे वर्णन है । इसमें २० अध्याय हैं । २० उद्देशनकाल हैं, २० समुद्देशनकाल हैं । आरंभ संख्यात मात्र अर्थात् १, ८४, १२७०० पद संख्या है ।

दृष्टिवादः—द्विद्विषाएणं, सब्बभावपरुषणया, आपविजंति से समाप्तओ पंच विहे पण्यते, तं जहा-परिकम्मं, मुत्तायं, पुम्बमयं, अणुओणो, चूडिया, १ ।

१७१ दृष्टिवाद-इसमें सब पदार्थों की प्ररूपणा है, और बह दृष्टिवाद परिकर्म, सम, पूर्वगत, (पूर्व) अनुयोग और चूडिअ इन नैरोसे ५ प्रकरका कथा है ।

शूद्रः—लाक्षातैलकयं चैव, विक्रयं व्याजमक्षकः ।

विक्रेता मद्यमांसानां, स विप्रः शूद्र उच्यते ॥ १ ॥

विडालः—भक्ष्याभक्ष्यं न जानाति, नाद्यं वाद्यं करोति यः ।

परस्त्रीगमनं कर्ता, विडालः स हि प्रोच्यते ॥ १ ॥

म्लेच्छः—वार्पाकूपतडागानामपूतजलसंग्रहः ।

परदुःखं न जानाति, विप्रो म्लेच्छः स कथ्यते ॥ १ ॥

चाण्डालः—अहिंसां नैव जानाति, सर्वदा प्राणियातकः ।

वनं दग्ध्वा कृषिं कुर्यात्, विप्रश्चाण्डाल उच्यते ॥ १ ॥

स्वरः—शास्त्राध्ययनजाप्यादिकर्मपटुविवर्जितः ।

जातमृत्युगृहे भोजी, स्वरो विप्रः स उच्यते ॥ १ ॥

वर्ज्यः—नाच्छादयति परदोषं, कुर्यात्स्वपापगोपनम् ।

शूनः पुच्छमिव व्यर्थ, ब्राह्मणमविवर्जितः ॥ १ ॥

जन्मकाले भवेच्छूद्रो, वृद्धिकाले भवेद्द्विजः ।

शास्त्रान्यासे भवेद्दिप्रो, ब्रह्मविद्ब्राह्मणः स्मृतः ॥ १ ॥

स तत्राऽब्राह्मणो यथा—

कोहो य माणो य बहो य जेसिं,

मोसं अदत्तं च परिग्गहं च ।

ते माहणा जाह्विज्जाविह्वणा,

ताइं तु खेत्ताइं सुपावयाइं ॥ १४ ॥

(संस्कृतच्छाया)

क्रोधश्च मानश्च धधश्च येषां, मृषाऽदत्तं च परिग्रहं च ।

ते ब्राह्मणा जातिविद्याविहीनास्तानि तु श्रेयाणि सुपापकानि ॥१४॥

[ब्राह्मणोचितधेष्टयज्ञः]

सुसंबुडा पंचहिं संवरे हिं,
इह जीवियं अणवकंस्वमाणा ।
वोसट्टकाया सुइचत्तदेहा,
महाजयं जयइ जन्नसेट्टं ॥ ४२ ॥

सुसंबुताः पंचभिः संवरे, रिह जीवितमनवकांक्षमाणाः ।
स्युत्सष्टकायाः शुचित्यकदेहाः, महाजयं यजन्ते धेष्टयज्ञम् ॥ ४२ ॥

उत्तराध्ययन भ० १२

[ब्राह्मणोचितज्ञानतीर्थम्]

धम्मे हरए धम्मे संति तित्थे,
अणाविले अत्तपसन्नलेसे ।
जहिं सिणाओ विमलो विसुद्धो,
सुसीइभूओ पजहामि दोसं ॥ ४६ ॥
एयं सिणाणं कुसले हि दिट्ठं,
महासिणाणं इसिणं पसत्थं ।
जहिं सिणाया विमला विसुद्धा,
महारिसि उत्तमं ठाणं पत्ते ॥ ४७ ॥

संस्कृतच्छाया

धर्मो हृदो ब्रह्म शान्तितीर्थं, अनाविल आत्मप्रसन्नलेदये ।
यस्मिन् छातो विमलो विशुद्धः सुशीतीभूतः प्रजहामि दोषम् ॥ ४६ ॥
एतत्त्वानं कुशलैर्दृष्टं, महाज्ञानमृषीणां प्रशस्तम् ।
यस्मिन् छाता विमला विशुद्धा, महर्षय उत्तमं स्थानं प्राप्ताः ॥ ४७ ॥
। तथाऽगारिणो=गृह्यासिनः 'सदनं सन्न भवनं धिष्ण्यं वेदमाऽथ
मन्दिरम्; रोहं निकेतनागारमिति' घनंजयः । आ-गृ, कर्मणि

घञ्, आगमृच्छतीति, प्राप्नोति वेत्ति, आग, आ-ऋ गतावण् वेत्ति आगारं, = गृहमस्यास्तीत्यागारी, ते । आगारिणः, क्षत्रियादयश्चेति भावः । परतीर्थिकाः परमतावलम्बिनः शाक्यादयश्चेति वा; ते सर्वेऽपि, किं तदिति दर्शयति, स को योऽसावेनं धर्मम् । आगारानागारविच्छिन्नमाहोक्तवान् । घृञ् धारणे धातौ मन्, "स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुरतं वृष" इत्यमरः । 'वत्सुसहायो धर्मो' यतोऽभ्युदयो निःश्रेयसी स धर्मः, 'दुर्गतौ प्रपततां प्राणिनां धारणाद्धर्म रक्षकमेकान्तहितमाहोक्तवानिति । किंभूतं धर्ममनी-हंशमनुलम् । कयोक्तवान्? साधुसमीक्षया समतयेति भावः ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(समता) मिथु (माहणा) प्राज्ञण (य) और (अगारिणो) भद्राल गृहस्थ (य) तथा (परतिथिया) और और जैनतरमतावलम्बी (पुच्छिस्तु) पूछेंगे कि-जिन्होंने (साधुसमिन्त्रयाए) अच्छी तरह स्वाभाविक ज्ञानद्वारा (जेगतहियं) सब प्रकारसे कस्याण और उदार करनेवाला (अणेलिसं) उपमा रहित (धर्म) आत्म-धर्म (आहु-) कहा है (से) वे (केइ) कौन थे? ॥ १ ॥

भावार्थ—आर्य सुधर्माचार्य भगवान्से उनके सर्वैव समीपमें रहनेवाले आयुष्मान् जंक् शिष्यने पूछा कि-हे आर्य्य! संसारसमुद्रसे पार करनेवाला, एकान्त हितकारी एवं अनुपम आत्म-धर्म किसने प्रतिपादन किया है? सुससे इस प्रकार अनेक मिथु-गृहस्थ एवं अन्यान्व-मतवालोंने प्रश्न किया है ॥ १ ॥

भाषाटीका—इस संसाररूपी गहन वनमें धूमते फिरते प्राणिओंके लिए दश दशान्तोंसे मनुष्यजन्मका मिलना अत्यन्त कठिन है, इसके अतिरिक्त आर्यदेश [आर्य भोजन, आर्य वृत्ति, आर्य वेशभूषा, आर्य पडोस, आर्य सहवास, आर्य भाषा,] उत्तम कुल, सम्बन्ध आयु, आरोग्य शरीर, समस्त इन्द्रियोंकी इच्छानुकूल सामग्रियोंका संयोग मिलना तो और भी कठिन है, परन्तु धीवी-तरंगों में गंगानदीके धर्ममें प्रवृत्त होना सबसे अधिक मुश्किल है, और जगत्के जीवोंको सर्वज्ञोक्त धर्म ही कल्याण और मंगलकर करने वाला है । इसी भाव औपधके अनुपानसे शरीर और मन सम्बन्धी कर्म रोग नाश होते हैं, और वह धर्म शतंपुत्रमहावीर प्रभुने; चाहे प्रकारका प्रतिपादन किया है । ओं कि-ज्ञान, सीद्ध, तप और भ्रातसे प्रवृत्ताना जाता है ।

दान धर्म की विशेषता-

दानको सबसे प्रथम इसलिए कहा है कि यह दान धर्म पिछले तीन भेदोंमें भी समाया हुआ है, लोकोंमें इसलोक, तथा परलोककी अपेक्षासे दान देनेकी प्रणाली सबसे पुरानी है, थीमान् तीर्थकर भगवान् सबसे पहले एक वर्ष दान देकर फिर बीधा लेते हैं।

शीलमें भी दान धर्मका समावेश-

शील धर्ममें भी दानधर्म ज्योंका त्यों समाया हुआ है, क्योंकि ब्रह्मचर्य व्रत प्रवृत्त करनेपर असह्य इंद्रिय, और असंख्य सम्पूर्णम पंचेन्द्रिय जीवोंको तथा नबलाख गर्भजपंचेन्द्रिय जीवोंको ब्रह्मचर्य पालन करनेसे प्रतिवार अभयदान मिलता है। इतर शास्त्रकारोंने भी इसका बड़ा साहाय्य लिखा है।*

शील व्रतको स्वीकार करके वीर्य (आत्मशक्ति) का रक्षण करता हुआ गर्भादिके जन्ममरण संबंधी कष्टोंसे मुक्त होजाता है, और मानो वह अपने को भी अभयदान देता है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि शीलमें भी दान ही गर्भित है।

तपमें भी दानधर्मका अन्तर्भाव-

शीलकी तरह तपधरण करनेमें भी दानधर्मकी आराधना छुपी हुई है। वह सब जानते हैं कि-छः कायकी विराधना (हिंस्र या आरभ) के बिना भोजनका मनना असंभव है। परन्तु साधक उपवासादि तप करनेपर इच्छाओंको रोकतेहुए छःकायका आरभ रोककर उस दिन अनन्त जीवोंसे अभय दान देता है, अतः तप करनेसे भी दान धर्मका अनायासही पालन हो जाता है।

* पुरात्रोपितस्यापि, या गतिब्रह्मचारिणः ।

न सा ऋतुसहस्रेण, प्राप्नुं शक्या युधिष्ठिर ! ॥

..(मार्कण्ड, ऋषिः)

भाषार्थ—एक रात भर ब्रह्मचर्य पालन करने से भी जो उत्तम गति तथा धेष्ट फल उस ब्रह्मचारी को मिलता है वह है युधिष्ठिर ! हजार वर्षोंसे भी अप्राप्य है।

भावधर्म तो दान धर्म है ही-

भाव प्रकृतिको रोक कर करुणा पैदा करनेका नाम है । तथा जीव और अजीवकी अप्रमत्तयोगसे रक्षाकरना भाव है, वहाँ भी सबको भावकी दृष्टिसे अमयदान ॥ मिलता है । अतः प्राणीरक्षाका नाम ही भाव या भावशुद्धि है ।

क्या साधु भी दान देता है ?

जैन मुनि भी प्रतिदिन उपदेशदान, ज्ञानदान, शिक्षादान, रुचिच्छेदक शिक्षा दान देकर मानव समाजपर महान् उपकार करते हैं । इसपर लोक कभी यह भी कह देते हैं कि-साधुको अन्नदाता न कहकर दानी या राजाको ही अन्नदाता कहना चाहिए । साधु क्या कभी किसीको रोटी पानी दे सकता है ? मगर इतना तो अवश्य समझ लेना चाहिए कि-क्या भोजन अन्न ही हो सकता है ! और कोई वस्तु नहीं, क्या अन्नसे ही तृप्ति होती है ! यदि सब पूछा जाय तो आत्माकी सुराक अन्न पानी नहीं है । यह तो परब्रह्म तथा शरीरको पोषण करनेवाली पौद्गलिकवस्तु है । और आत्माकी निजी सुराक तो उसका ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप, धर्म, संवेद, निर्वेद, अनुकम्पा आस्तिक्य ही है । इस आत्मविक सुराकको प्राप्त करनेपर आत्माकी सहाके लिए तृप्ति हो जाती है । अतः पूज्य मुनिवर्य ज्ञान, दर्शन चरित्रकी आत्मीय सुराक देनेके नाते अन्नदाता भी हो सकते हैं । और इस दानके सुन्दर कार्य भारके संचालक मुनि ही होते हैं जोकि दोनों प्रकारसे निर्द्वन्द्व हैं ।

शील, तप और भाव गुप्त रीतिसे दानमें ही छुपे हुए हैं । अत एव चारों धर्मोंमें पहले दानको प्रमुखस्थान प्राप्त है । परन्तु दान, शील, तप भी भावके सद्भावसे अर्थात् पवित्रभावरूपी सुन्दरलहरके आनेपर सफल हो सकते हैं अन्यथा नहीं ।

धर्मरत्न-

चतुर्विध अमूर्त्य धर्मरत्न पाकर येषुकुलक्षिप्रार्थि, समस्त इन्द्रियादिक की अनुकूल सामग्री युक्त मानवका कर्तव्य है कि-यह अनेकान्तवादकी शैलीको समझकर जिनेन्द्रके धर्मतरवका वाच्य पाकर आठकर्मरूप पदार्थको तोड़नेका प्रयत्न करे ।

कर्म नाश करनेकी फसौटी-

कर्मोंका नाश त्याग, वैराग्य, संयम, निवृत्त, तपकी अभिर्मे आत्मासे इस

प्रकार होता है जैसे अभिमें सुवर्षका मल नाश होता है अतःउपरोक्त साध-
नोंको साधकका कर्तव्य है कि उन्हें समझनेकेलिए सर्वज्ञप्रभुका उपदेश सुनना
चाहिए। और आत्मका रहस्य जानना चाहिए। यह निस्संदेह है कि आत्म
अन्तरह दोषों से रहित होते हैं। वे चार धनघातिक कर्म क्षय करके अनन्त
चतुष्टय अर्थात् अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और वह अनन्तसुख
बेहावस्थामें भी प्राप्त कर सकते हैं। वे साधु, साध्वी, धावक, धाविकारूप
चार धर्मतीर्थ स्थापन करनेके नाते तीर्थकर कहलते हैं। और धर्मका व्याप
प्रयत्न करनेसे तथा अनन्त विभूति प्राप्त करनेपर वे सर्वज्ञ देव और इन्द्रधि
सेवा के योग्य होते हैं अतः अर्हन् भी हैं। और इस वर्तमान अवसरिणी-
कालके चतुर्थ-आरकमें हमारे इस भारत वर्षमें २४ अर्हन् हो गए हैं
जिनमें अन्तिम अर्हन् महावीर प्रभु हुए हैं।

धीर प्रभुकी स्तुति-

ज्ञातुप्र महावीर प्रभुका हमपर पूर्ण उपकार है। उनके उपकारों
का भूलजाना कृतघ्नता है। उन्हें निर्माण हुए यद्यपि २४६५ वर्ष होगए हैं
तथापि उनका अनुकरण करनेके लिए उनके गुणोंका स्मरण करना, तथा
उनकी स्तुति करना हमारा परम कर्तव्य है, अतः आज उनकी स्तुतिरूप
व्याख्या करनेकेलिए प्रयत्नशील हुआ हूँ।

उनकी अनेक स्तुतिपर और मेरा असामर्थ्य-

तत्वके अभ्येताओंमें मुख्य विद्वानोंने उनके अनन्तगुणोंका अनेक
उत्तम घन्दोंमें वर्णन किया है, परन्तु मैं भी अपने सम्यग्दर्शनके बलसे
एक स्तुति करूँ मुझे ऐसी सूझ पैदा हुई है। यद्यपि मुझमें उन विद्वानों जैसी
गतिभा तो नहीं, मगर मेरा उत्साह और भक्तिनिर्भरता मुझसे ब्यक्त्यार
रेणा कर रही है। कारण जिस रास्तेसे यहूद अपनी चण्डगतिसे उडकर
नेकल गया हो क्या उसके पीछे एक छोटीसी सितबीम्बे जानेकी इच्छा
नहीं होती! भवदय होती है।

इसी प्रकार अल्पज्ञप्रयः मैं भी ज्ञानस्रोतमुक्ता से भरपूर होकर ज्ञातुप्र
महावीर स्वामीकी स्तुति 'वीरस्तुति' स्वयङ्कृत्यांग नाम्या सूत्रके छठ्वें अध्यायकी
व्याख्याके बहाने अवश्य करसकता हूँ। मुझे आशा है कि उसने मुझे सफलता

अवश्य प्राप्त होगी। क्योंकि मणिमें जोय पिरोने की अपेक्षा उत्तम वेध करना कठिन होता है। अतः उनकी स्तुति रूप कृति तो यहलेंगे ही विराजमान है किन्तु मैं तो उनकी स्तुतिरूप मणिको अपनी अननुभूत टूटी फूटी लोक भाषाके जोरमें ही पिरोनेका सतत प्रयत्न करूंगा। और यह मेरी अनल्पीयसी भक्तिके कारण अधिक कठिन नहीं है। परन्तु यह सब प्रभुकी कृपा ही है। मेरी इसमें कुछ विशेषता नहीं है। क्योंकि उन्होंने २५०० वर्ष पहले आत्म-ज्ञानका मार्ग भगव्यात्माओंकेलिए परिमार्जित कर दिया है। इसमें मुझ सन अल्पमतिकी मजाल नहीं कि-कुछ विशेषता पैदा कर सकूँ, यह सब प्रक्रिया उनकी ही बताई हुई तो है।

**वीर प्रभु का गुण मान करते समय-
आरंभमें गुरु और शिष्यकी बातें ।**

अन्तिम तीर्थंकर ज्ञातनन्दन-महावीर प्रभुके गुणोंको जाननेकेलिए जिहासु जम्बू ने जोकि एक सुसुधु अन्वेषासी शिष्य थे, वे बहुतका निश्चय करनेमें सदैव सचेष्ट रहते थे, वे तत्वको पाकर असीम भ्रडा और प्रतीति के साथ मनन करनेवाले महापुरुषों में से एक थे;

आचार्य और उसकी पहिचान

वे भगवान् सुधर्माचार्यकी सेवामें सदाकाल तत्पर रहते थे। सुधर्मा एक विशेष आचार्य तथा समस्तदार जैनममाजके सभे नेता थे। वे चतुर समाजको हमेशा संगठन और सचरित्री रहनेका पूर्णतया प्रभावोत्पादक उपदेश कियाकरते थे। वे स्वयं भी विनयशील और आचारयुक्त थे। क्योंकि जो स्वयं परिशुद्ध और गुणसमन्वित होता है वही चरित्रार्काधीकी अध्यात्म-मनोरथ माला को गूँथ सकता है अतः वही आचार्य होनेका सर्वाधिकारी है। कहा भी है कि-“जो सूत्र और अर्थका जाननेवाला है, आत्माके ज्ञानलक्षणको मांजकर जिसने चमकील्य कर दिया है। चारोंसंपकेलिए जो (पृथ्वी की भान्ति) अवलम्बनभूत है, संपकी अशान्तिका नाश करदेता है, आत्म-तत्व का उपदेशक है, वही आचार्य होता है”,

यह पांच प्रकारके आचारोंका स्वतः पालन करता है। आपकी देखा देखी संप भी सदाचारका अनुकरण करता है। इस प्रकारसे आचारका शान्तात्म्य उपदेश आचार्यके द्वारा ही मिलता है। क्योंकि—

“जो पांच प्रकारके आचारोंका स्वयं समाचरण करता है, अध्यात्म-ज्ञानका प्रकाशक है, चरेत्रको प्रगटमें पवित्र दृष्टिसे भावके रूपमें भर देता है, वही आचार्य होता है।”

आचार्य के छत्तीस गुण-

पांच इन्द्रियोंको बन्ध करते हैं, नववादविशुद्ध ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, क्रोध, मान, माया, लोभको दूर करते हैं, पांच महामर्तोंका पालन करते हैं, पांच आचारोंका समाचरण करते हैं, पांच समिति, तीनगुप्ति इन आठ प्रवचनोंको धारण करते हैं, ये छत्तीस-गुण उत्पन्न होनेपर आचार्यकी योग्यता आ सकती है अन्यथा नहीं।

आचार्य को चतुर गोपाल की उपमा-

चतुर ग्वाल सब पशुओंको अपनी विचारदृष्टिमें रखता है। उन्हें किसीके छेतमें नहीं घुसने देता। इसीप्रकार आचार्यभी अपने संपको अशान्ति, कुसम्प, कपाय, रुढिवाद और वैपम्यकी ओर नहीं जाने देता, समाजमें क्लेश होते ही आचार्य तुरन्त मिटा देते हैं। या भग्यात्माओंके जन्म जन्मान्तरोंके क्लेश मिटा देते हैं। उन्हें सन्मार्ग-भग्यदर्शनका राह सुझा देते हैं, युक्त, अयुक्त, संसार-मोक्ष, हित-अहित, धर्म-अधर्मका रहस्य निज निज करके समझा देनेका उपकार प्रस्तुत करते हैं।

उन्हें नमस्कार करने का प्रयोजन-

आचार विषयक उपदेश उन्हीं से प्राप्त होता है, इसलिए सीसरे पदमें उनकोभी नमस्कार किया है, क्योंकि उन्होंने चरित्रोपदेशकताद्वारा हम पर खूब प्रभाव डाला है, हम उन्हें उपकारकी दृष्टि से निरहंकार होकर नमस्कार करते हैं और द्वादशांगी-शास्त्र वाणीके पूर्णपाठी तथा औरोंको पढानेका कार्य भी इन्हींके हाथ है।

आचार्य की विशेषता-

“ज्ञान, दर्शन, चात्रि, तप रूप उग्र मन्त्रकी उत्तम श्रेणी से वे ही व्याख्या करते हैं।”

“ये मोक्ष शालके उपदेशक हैं ।”

“शिष्योंको सदाचारमें स्थपन करते हैं ।”

“निष्ठाके पूर्ण-स्वागी होते हैं ।”

“आत्मयोग-सिद्धिचर्य मार्ग इन्हीं से मिलता है ।”

श्रीमान् सुधर्म-आचार्य-आचार्यके समस्त गुणों से मण्डित हैं ।

जम्बू अन्तेवासी का सुधर्माचार्य से प्रश्न ।

अपाध गुणसमुदरूप सुधर्माचार्यसे जिज्ञासु शिष्य जम्बूने अंतिम-तीर्थकर भगवान् शत्रुघ्न-महावीरस्वामीके गुणोंका परिचय प्राप्त करनेके लिए यह पूछा कि वे प्रभु कैसे थे । धर्म-वर-वस्तु संसारमें कलनेवाले कर्मोंका अन्त उन्होंने किस प्रकार किया । जिसमार्गका अनुसरण उन्होंने किया था यदि हम भी उसी मार्गका आश्रय लें तो हमारा प्रभुके साथ कैसे साम्य हो सकता है ? नरकके दुःखोंको मुनकर जिनका मन अत्यन्त उदास हो गया है, त्याग और वैराग्यसे जो समलंकृत होना चाहते हैं, वे धमणादि सुसंघे पृच्छते हैं कि-संसारसे पार करनेवाला धर्म किसने प्रतिपादन किया है ? संसारमें विचरण करते समय बहुतसे धमण भी यही प्रश्न करेंगे । वे धमण-साधु होते हैं । परिग्रह प्रन्थीके काटनेवाले हैं । निष्काम तप करते हैं । वे दूसरेके दुःख सुखको अपनी तरह समझनेके कारण खेरल भी होते हैं ।

ब्राह्मण—

इसके अतिरिक्त मुझसे कई ब्राह्मण भी यही पूछेंगे । और वे ब्रह्मचर्यपालन करने से, सिद्ध-परमात्माका ज्ञान-मार्ग मुननेसे, परका आत्मा अपने सदृश जाननेसे, ब्रह्मके नामसे प्रसिद्ध हैं ।

वृद्ध पुरुषों के यथाप्य ब्राह्मण लक्षण-

जिसमें सहनशीलता, निरीहता, अहिंसकता, उदारता, सत्य, शौच, पांच अणुप्रत, विद्या, विनय सम्पन्नता है उस पुरुषमें ब्राह्मणका पहला लक्षण है ।

जो शान्त है, इन्द्रियोंको अपने वशमें करता है, पवित्र और दृढ ब्रह्मचारी है । सब प्राणियोंके हित और कल्याणमें सदैव लगा रहता है । जो कभी भी क्रोधके आवेशमें नहीं आता । यह ब्राह्मणका दूसरा लक्षण है ।

जो निर्लोभी है, अभिमानसे रहित है, सर्वथा पापको त्याग चुका है, राग, द्वेष और मोहसे मुक्त है, यह तीसरा लक्षण है।

मार्गमें, जंगलमें, या किसीके घरमें पर वस्तुको देख कर जिसका चोरी करनेको जी नहीं चाहता, चोरी करके परवस्तु नहीं लेता है वह ब्राह्मणका चतुर्थ लक्षण है।

जो मांस, मदिरा, मधुका कभी सेवन नहीं करता है; गूलर, अंगीर आदि गले ससे छोड़ोपाळे फल नहीं खाता है, तथा रातको भोजन नहीं करता है, यह पांचवां लक्षण है।

किसीने ब्राह्मण के १० प्रकार भी कहे हैं।

देव, द्विज, मुनि, राजा, वैश्य, शूद्र, बिल्व, गधा, म्लेच्छ, चाण्डाल, इन भेदोंसे ब्राह्मण १० प्रकार के होते हैं।

वैश्य-

जो एक वक्त्र भोजन करता है, मांस, मदिरा नहीं खाता पीता, तत्व ज्ञानके पारको पहुँच गया है, यह देव ब्राह्मण है।

द्विज-

महाप्रती-नियमयुक्त-संयम पालक इन्द्रियविजेता-समतोलन वृत्ति बाल, आत्मा और मनश्च विजेता-क्षमा और सहिष्णु ब्राह्मण द्विज कहलाता है।

मुनि-

जो रुखा, सूखा खाकर सन्तोष कर लेता है, दिन में भोजन करता है, सदैव वनमें रहता है, दिन, रात आत्म-ध्यान में लगा रहता है। योगाभ्यासके साधनमें संलग्न है, यह मुनि-ब्राह्मण है।

नृप-

जो हाथी पोटोंपर चढ़नेकी इच्छा रखता है, समर भूमि में जाकर युद्ध करता है, अपने देशको दासत्व की शंखला से मुक्त करके स्वतन्त्रता दिलाता है। जिसे अन्यायका नाश करते दया न आती हो, न्यायके शासन चलयता हो, साम्यवादकी स्थितिपालकतामें शूर वीर हो, जिसमें कायरता का नाम तक नहीं है। यह ब्राह्मण राजाके समान होता है।

वैश्य-

जो खेती करता है, न्याय नीतियों व्यापार करता है, पशु पालन करता है, सदैव न्यायका पक्ष लेता है, जन समाज की सेवा में तत्पर है, जो दानके अर्थ सब प्रकारके धातुओंका अनुकूल-आर्थ वृत्ति से संप्रद करना जानता है, वह ब्राह्मण वैश्यके समान है ।

शूद्र-

जो खर और तैलका क्रय, विक्रय करता है, म्याज खाता है; मांस, मदिरा बेचता है, वह शूद्र ब्राह्मण है,

विलास-

जिसे भक्ष्याभक्ष्यका ज्ञान नहीं है, जो गाने बजानेका काम करता है, परकी गामी है, वह ब्राह्मण विलास प्रकृति का है ।

म्लेच्छ-

बावडी, कुँवा, ताल्पसे जो अनछना पानीका व्यवहार करता हो, परके आत्मसंबन्धी दुःखको न जानता हो, वह म्लेच्छ ब्राह्मण है ।

चाण्डाल-

जो जंगलमें आग लगा कर खेती करता है, जो हरेक जीवको मार डालता है, अहिंसा धर्म से अनभिज्ञ है, वह विप्र चाण्डाल है ।

खर-

शास्त्र अध्ययन और जप तप आदि अध्यात्मीय पद कर्म करना नहीं जानता है, मृतक के घर आहार करता है, उसे खर-ब्राह्मण समझना चाहिए ।

अयोम्य ब्राह्मण-

जो भन्वके दोषोंको प्रगट करता है, और अपने पापको गुपा देता है, वह ब्राह्मण धर्मके अयोम्य है, उसका जीवन कुपे की पूँछ की तरह न्यर्थ है ।

ब्राह्मण-परम्परा-

जन्म कालमें वह शूद्र रहता है, शुभ वृद्धि पाकर द्विज होता है, शास्त्र-भ्यास करनेसे विप्र है, और वह अध्यात्मयोग तथा ब्रह्मज्ञान पाकर ब्राह्मण हो जाता है ।

अब्राह्मण- जो क्रोध और मान तथा प्राप्ति-हिंसा करता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है, प्रतिग्रह-तृष्णा युक्त है। वह ब्राह्मण जाति और विद्यासे हीन तथा पतित है, वही अब्राह्मण और पाप क्षेत्र कहल्यता है।

ब्राह्मणोचित-सर्वश्रेष्ठ यज्ञ-

जो पांच संवर भाषोंसे आसवद्वारा आनेवाले पापको रोकता है, जिसे जीवित रहनेकी आकांक्षा नहीं होती; जो कायोत्सर्ग द्वारा आत्म-चित्तनमें लगा रहता है, मन, वाणी तथा कार्यके पापविकारोंसे अलग हटकर जो सर्व्वेया पवित्र हो गया है। जिसने देहका मोह त्याग दिया है, वह महाजय पानेका उत्तम अधिकारी है, वही श्रेष्ठ यज्ञ करता है।

ब्राह्मणोचित तीर्थज्ञान-

धर्मरूपी ब्रह्म है, ब्रह्मर्च्य घान्तितीर्थ है, आत्माका प्रसन्न लेया रूप पवित्र जल है, इसीमें ज्ञान करनेसे कर्मरहित और निर्मल होकर जन्म मरणसे मुक्त होता है। उसमें सदाके लिए अपुनरावृत्तिरूप पवित्रता आ जाती है। अध्यात्म दोषोंका सर्व्वेया अभाव तब ही होता है ॥ ४६ ॥

यह ज्ञान आत्मज्ञानके मर्मज्ञाने देखा है, ऋषियोंका श्रेष्ठतम और महाज्ञान (महामत) ही है। जिसमें ज्ञान करनेवाले, पवित्र और कर्मरहित, होनेवाले महर्षिगण उत्तम मोक्ष स्थानको प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार उपरोक्त लक्षणवाले ब्राह्मणोंकी तरह गृहवासी, क्षत्रियादिक तथा परमतावश्रमी भी यही पूछेंगे कि साधु और गृहस्थके भेदसे जो धर्म दो प्रकार का है वह किसने बताया है? उसका प्रणेता कौन है? जो धर्म दुर्गतिमें पडनेसे धारण करके आत्माको बचानेवाला है, समदृष्टिसे एकान्त कल्याण और हित करनेवाला है। जिसकी महिमा अतुल और अपार है। उसे किस प्रणेताने समतापूर्वक कहा है? जिसमें विषमता और पूर्वापर विरोधका नाम तक भी नहीं है ॥ १ ॥

गुंजराती अनुवाद—आ संसाररूपी गहन वनमां भ्रमण करता प्राप्तिओने गाटे दक्ष दृश्यन्ते दुर्लभ एव मनुष्य जन्मनी प्राप्ति धवी अति कठण-
छे, तदुपरान्त आर्यदेस, [आर्यभोजन, आर्यवृत्ति, आर्यवेध, आर्यसहवास]

वैश्य-

जो खेती करता है, न्याय नीतियों व्यापार करता है, पशु पालन करता है, सर्वत्र न्यायका पक्ष उठाता है, जन समाज की सेना में तत्पर है, जो दानके धर्म सब प्रकारके धातुओंका अनुकूल-आर्य्य श्रुति से संग्रह करना जानता है, वह ब्राह्मण वैश्यके समान है ।

शूद्र-

जो लाल और तैलका क्रय, विक्रय करता है, व्याज खाता है; मांस, मदिरा बेचता है, वह शूद्र ब्राह्मण है,

विलास-

जिसे भक्ष्याभक्ष्यका ज्ञान नहीं है, जो गाने बजानेका काम करता है, परकी गानी है, वह ब्राह्मण विलास प्रकृति का है ।

श्लेच्छ-

बाबरी, कुंवा, तालाबसे जो धनउना पानीका व्यवहार करता हो, परके आत्मसंबन्धी दुःखको न जानता हो, वह श्लेच्छ ब्राह्मण है ।

चाण्डाल-

जो जंगलमें भाग रुमा कर खेती करता है, जो हरेक जीवको मार डालता है, अहिंसा धर्म से अनभिज्ञ है, वह विप्र चाण्डाल है ।

खर-

शास्त्र अभ्ययन और जप तप आदि अध्यात्मीय पद कर्म करना नहीं जानता है, मृतक के घर आहार करता है, उसे खर-ब्राह्मण समझना चाहिए ।

अयोग्य ब्राह्मण-

जो धन्यके दोषोंको प्रगट करता है, और अपने पापको छुपा देता है, वह ब्राह्मण धर्मके अयोग्य है, उसका जीवन कुत्ते की पूंछ की तरह व्यर्थ है ।

ब्राह्मण-परम्परा-

जन्म कालमें वह शूद्र रहता है, गुण वृद्धि पाकर द्विज होता है, शास्त्राभ्यास करनेसे विप्र है, और वह अध्यात्मयोग तथा ब्रह्मज्ञान पाकर ब्राह्मण हो जाता है ।

अब्राह्मण-

जो क्रोध और मान तथा प्रसि-हिंसा करता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है, परिग्रह-तृष्ण युक्त है। वह ब्राह्मण जाति और विद्यासे हीन तथा पतित है, वही अब्राह्मण और पाप क्षेत्र कहल्यता है।

ब्राह्मणोचित-सर्वश्रेष्ठ यज्ञ-

जो पांच संवर भावोंसे आसन्नद्वारा आनेवाले पापको रोकता है, जिसे जीवित रहनेकी आकांक्षा नहीं होती; जो कायोत्सर्ग द्वारा आत्म-चित्तनमें लगा रहता है, मन, वाणी तथा कर्माके पापविकारोंसे अलग हटकर जो स्वर्गवा पवित्र हो गया है। जिसने देहका मोह त्याग दिया है, वह महाजय पानेका उत्तम अधिकारी है, यही श्रेष्ठ यज्ञ करता है।

ब्राह्मणोचित तीर्थज्ञान-

धर्मरूपी ग्रह है, ब्रह्मचर्ये शान्तितीर्थ है, आत्माका प्रसन्न लेखा रूप पवित्र जल है, इन्हींमें ज्ञान करनेसे कर्मरहित और निर्मल होकर जन्म मरणसे मुक्त होता है। उसमें तदाके लिए अपुनरावृत्तिरूप पवित्रता आ जाती है। अध्यात्म दोषोंका सर्वथा अभाव तब ही होता है ॥ ४६ ॥

यह ज्ञान आत्मज्ञानके मर्मज्ञाने देखा है, ऋषियोंका श्रेष्ठतम और महाज्ञान (महाव्रत) ही है। जिसमें ज्ञान करनेवाले, पवित्र और कर्मरहित, होनेवाले महापिंगण उत्तम मोक्ष स्थानको प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार उपरोक्त लक्षणवाले ब्राह्मणोंकी तरह गृहवासी, क्षत्रियादिक तथा परमतावलम्बी भी यही पूछेंगे कि साधु और गृहस्थके नेदसे जो धर्म दो प्रकार का है वह किमने बताया है? उसका प्रणेता कौन है? जो धर्म दुर्गतिमें पडनेसे धारण करके आत्माको उचानेवाला है, समष्टिसे एकान्त कल्याण और हित करनेवाला है। जिसकी महिमा अतुल्य और अपार है। उसे किम प्रणेताने समतापूर्वक कहा है? जिसमें विपमता और पूर्वापर विरोधका नाम तक भी नहीं है ॥ १ ॥

गुर्जराती अनुवाद—आ संघाररूपी गहनं वनमा धर्मणं धरता प्राणिओने माटे दस दृष्टान्ते दुर्लभ एवा मनुष्य जन्मभी प्राप्ति यवी अति कठण-छे, तदुपरान्त आर्यदेश, [आर्यभोजनं, आर्यवृत्ति, आर्यवेद, आर्यसहवास]

આર્યભાષા, આર્યજીવન,] ઉત્તમ કુલ, ઘીર્ષ આયુષ્ય, આરોગ્ય શરીર, સમલ શન્દ્રિયોને ઇચ્છાનુકૂલ સામગ્રીનો સંયોગ અને અધ્યાત્મિકજીવન માલનાર સાધુપુરુષોનો સત્સંગ એ તેનાથી વધુ કઠણ છે । પણ વીતરાગ પ્રણીત ધર્મમાં પ્રયત્નશીલ થનવું, એ સૌથી વધુ કઠણ છે । જગતના જીવોને કલ્યાણકર સર્વેજ કથિત ધર્મજ છે, આ ભાવ ઔષધિના સેવનથી ઘાટીરિક તેમજ માનસિક સર્વે રોગો નાશ પામે છે, તે ધર્મ જ્ઞાતપુત્ર ધીમહાવીર, પ્રભુએ દાન-શીલ-તપ-ભાવ એ ચાર પ્રકારે સતાવેલો છે. ।

દાન ધર્મની વિશેષતા—દાનને સૌથી પ્રથમ એટલા માટે કહેવામાં આવેલ છે કે દાન ધર્મનો પાછલના ત્રણે પ્રકારોમાં પણ સમાવેશ થયેલ છે, જગતમાં આ લોકે કયા પરભેકની ધાર દાન દેવાની પ્રમાણી સૌથી પુરાણી છે । ધીર્ષીર્ષકર ભગવાન્ સૌથી પહેલાં વરસીદાન આપીને પછી ઘીર્ષા અંગીકાર કરે છે ।

શીલમાં દાન ધર્મનો સમાવેશ—શીલ ધર્મમાં પણ દાનધર્મનો સમાવેશ થાય છે, બ્રહ્મચર્ય પાલનથી દરેક વયને અસંહ્ય વેદન્દ્રિય અસંહ્ય સન્મૂર્તિમપંચેન્દ્રિય તથા નવ લાલ ગર્ભજ પચેન્દ્રિય જીવોને અભયદાન મળે છે । અન્ય શાલકારોએ પણ આ વ્રતનું મહુ જ માહાત્મ્ય દર્શાવેલ છે ।

एकराश्रोपितस्यापि, या गतिर्ब्रह्मचारिणः ।

न सा क्रतुसहस्रेण प्राप्तुं शक्या युधिष्ठिर ॥

[માર્કણ્ડ શ્લોક]

ભાવાર્થ—એક શાશ્રિના પણ બ્રહ્મચર્ય પાલનથી જે ઉત્તમ ગતિ તથા ધેષ્ટ ફલ બ્રહ્મચારીને મળે છે, તે દે શુધિષ્ટિર । હજાર મહોથી પણ મળતાં નથી ।

શીલવ્રતનું પાલન કરીને ઘીર્ષ (આત્મશક્તિ) નું રક્ષણ કરનાર ગર્ભ, જન્મ મરણાદિ દુઃખોથી મુક્ત થાય છે । એટલે કે તે પોતાને પણ અભયદાન આવે છે । આથી શીલમાં પણ દાન ગર્ભિત હોવાનું સ્પષ્ટ જણાય છે ।

તપમાં પણ દાનધર્મનો અન્તર્ભાવ—શીલની માફક તપધર્મમાં પણ દાનધર્મની આરપના સુપાયેલી છે । આ વાત સર્વે કોઈ જાણે છે કે છદાયની વિરુધ્ધના [હિંસા યા આરમ્ભ] વપર મોજન વૈયાર થઈ શકતું નથી । પરન્તુ

इच्छानिरोधरूप उपवासादि तप करवाशी छक्यनो आरम्भ बंध धतो ते दिवसे अनन्त जीवोने अभयदान मले छे, तेथी तप करवाशी पण दानधर्मनुं अनायासे पाल्न थई जाय छे ।

भाव धर्म तो दानधर्म छेज-

प्रवृत्तिने रोक्री करुणा राखवी तथा अप्रमत्तयोगशी जीव तथा अजीवनी रक्षा करवी, तेनुं नाम भाव छे, ह्या पण भावनी दृष्टिए बंधाने अभयदान मले छे, तेथी प्राणीरक्षानुं नामज भाव अथवा मानशुद्धि छे ।

शुं साधु पण दान दे छे ?

हा, जैन मुनि पण हमेशा उपदेशदान, ज्ञानदान, शिक्षादान, रुडि-दृष्टेदक दान दे छे, अने तेथी मानवसमाजपर महान् उपकार करे छे, कोई बखते लोकौ एम पण कहे छे, के साधुने नहि पण दानी अथवा राजानेज अन्नदाता कहेवा जोइए, साधु शुं कोइने भोजन पाणी आपी शके छे ? पण एदळुं तो जरूर समजी लेवुं जोइए के शुं अनाज मात्र भोजन कहेवाय छे ? बीजी कोई बस्तु नहि, तसि शुं मात्र अनाजधीज धाय छे ! खरी रीते आत्मानो खोराक अन्न पण नधी, ए तो पर बस्तु तथा मात्र देहजुंज पोषण करनारी पौद्रलिक बस्तु छे. पण आत्मानो पोतानो खोराकतो ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप, दाम, सवेद, निवेद, अनुकंपा, आस्तिक्य छे । ते वास्तविक खोराकनी प्राप्तिशी आत्मानी हमेघने माटे तसिज थई जाय छे । तेथी पूज्य मुनिवर ज्ञान, दर्शन चरित्ररूपी आत्मीय खोराक आपता होवाशी सेभोने अन्नदाता पण कही शक्य, अने आ दानरूपी सुन्दर कार्यना संचालक मुनिज होय छे, के जे बने प्रवारे निर्द्वन्द्व होय छे ।

शील तप तेमज भाव गुप्तरीते दानमां समायेल्य छे तेथी चारे धर्ममां दानने प्रथम स्थान आपवामां आवेल छे, परन्तु दान, शील, तप पण भावन सद्भावशी एदळे के पवित्र भावरूपी सुंदर रहर आववाशी सफल बनी शके छे, बीजी रीते नहि ।

धर्मरत्न-

चतुर्विध अमृत्य धर्मरत्न मेळवीने श्रेष्ठकुल तेमज इन्द्रिमादिकनी अनुकूल सामग्री प्राप्त भयेत, मनुष्यनुं कर्तव्य छे के अनेअन्तवादीनी शैलीने समझीने

જિનેન્દ્ર કથિત ધર્મતત્વનો આશ્રય લઈને આટકર્મરૂપી જ્વલને તોડવાનો તેને અવશ્ય પ્રયત્ન કરવો જોઈએ ।

કર્મનાશનો ઉપાય—

જેવી રીતે આગ્રિથી મુવર્ણનો મેલ નાશ પામે છે તેવીજ રીતે જ્વાળા, વૈરાગ્ય, સંયમ, નિયમ, તપરૂપી અગ્રિથી કર્મોનો નાશ થઈ જાય છે । સાધકનું એ કર્તવ્ય છે કે ઉપરોક્ત સાધનોને સમજવાને માટે તેને સર્વેજ પ્રભુની વાણીરૂપ ઉપદેશ સાંભળવો જોઈએ અને આત્મ [સર્વેજ] કોને કહેવાય તે સમજવું જોઈએ ।

આત્મ અઘાર રોપ રહિત છે, ચાર ઘનઘાતી કર્મનો ક્ષય કરી અનન્ત શત્રુદ્રવ્ય [અનન્તજ્ઞાન, અનન્ત દર્શન, અનન્ત મુક્ત, અનન્ત શક્તિ] ને વરેલા છે સાધુ, સાધ્વી, ધાબક ધાત્રિકા એ ચાર તીર્થના સ્થાપક હોવાથી તીર્થકર કહેવાય છે । ધર્મની આદિ કરવાથી તેમજ અનન્ત વિભૂતિમય હોવાથી તેઓ અસંખ્ય દેવ તેમજ હિન્દોથી સેવવા યોગ્ય છે । તેથી અર્હત-પણ કહેવાય છે । વર્તમાન અવસર્પિણી કાલના ચોથા આરામાં આ ભારતવર્ષમાં ૨૪ તીર્થકર, એટલે આત્મ પુરુષો થઈ ગયા છે । જેમાંના અન્તિમ તીર્થકર શત્રુપુત્ર મહાવીર પ્રભુ છે ।

વીરપ્રભુની સ્તુતિ—

શત્રુપુત્ર મહાવીર પ્રભુનો આપણાપર અત્યન્ત ઉપકાર છે । તેમના ઉપકારોને મૂલી જવામાં કૃતગ્રતા છે, તેથી જોકે તેમનું નિર્વાણ થયા ૨૪૬૫ વર્ષ થઈ ગયા છતાં તેમના ગુણોનું સ્મરણ કરવું તથા તેમની સ્તુતિ કરવી, એ આપણું પરમ કર્તવ્ય છે, તેથી આજે હું તેમની સ્તુતિરૂપ વ્યાખ્યા કરવા પ્રયત્નશીલ બન્યો છું ।

તેમની અનેક સ્તુતિ અને માર્ગ અસામર્થ્ય—

તત્વતોમાં મુખ્ય વિદ્વાનોએ અનેક ગુણોનું અનેક ઉત્તમ શબ્દોમાં વર્ણન કરેલું છે, પરન્તુ હું પણ પોતાના સમ્યક્દર્શનના ચલથી અંધક સ્તુતિ કરું, એવી ઉચ્ચ અને પવિત્ર અભિલાષા પ્રગટ થઈ । જો કે મારામાં તે વિદ્વાનો જેવી પ્રતિભા નથી, છતાં મારા ઉત્સાહ અને શક્તિ મને નિઃશયરે પ્રેરણા કરી રહેલ છે, કારણ કે જે રસ્તે મહાદેવ પોતાની પ્રચંડ શક્તિથી ડહીને પસાર થઈ ગયેલ હોય છે, તે રસ્તે તેની પાછલ એક નાના પરીને જવાની ઇચ્છા શું નથી થતી ? જરૂર ધ્યમ છે ।

ए रीते अल्पज्ञ प्राय-हुं पण मानवोचित उल्लुक्तापी भरपूर बनीने 'वीरस्तुति' नामे श्रीमूत्र कृताज्ञान पष्ठम अध्यायनी व्याख्यारूपे ज्ञातपुत्र श्रीमहावीर प्रभुनी स्तुति करुं हुं मने आशा छे के तेमा मारी प्रसन्न मकरिहूप सफलता जरूर थसे ।

मणिमां दोरो परोववा करता तेने वींधुं बहु कठण छे, तेमनी स्तुतिरूप कृति तो प्रथमथी ज छे पण हुं तो तेमनी स्तुतिरूप मणिमां मारी वीनअनुभवी तूडीतूटी बालभाषारूपी दोरो परोववानो सतत प्रयत्न करीछ, अने ते मारी अल्पप भक्तिना कारणे अबिक मुश्केल नथी । पण ते वथी प्रभुनी कृपाज छे । तेमां मारी कष्टी विशेषता नथी । कारण के तेओधीए २५०० वर्ष पहेल्य भव्या-त्माओ माटे आत्मज्ञाननो मार्ग सरल करी दीधेत्ये छे तेमा विशेषता उत्पन्न कर-वानी मारी अल्पजनी कष्टी दाफि नथी । आ सर्व प्रक्रिया तेमनीज बतावेली छे ।

वीरप्रभुना गुणगान करतीवस्तते प्रारंभमां गुरुशिष्य संयाद्-

जिजामु जंगुस्वामी मुमुक्षु तेमज मुख्य अन्तेवासी शिष्य हुता, तेओ वस्तुनो निर्णय करवामा सदा तत्पर रहेता हुता । तेओ तत्वने प्राप्त करीने असीम भद्रा तेमज प्रतीति साध मनन करवावाळा महापुरुषोमाना एक हुता, तेओ भगवान् मुधर्माऽऽचार्यनी सेवामा सदा तत्पर रहेता हुता ।

आचार्यनी औलख-

ते बखते मुधर्मा एक विशेष आचार्य तेमज समजदार जैनसमाजना माचा नेता हुता, तेओ चतुरममाजने सगठित तथा सबरिधवान् बनाववानो पूर्ण प्रभा-वशाळी उपदेण आप्या करता हुता । तेओ पोते पण विनयशील अने आचारयुक्त-हुता, कारण के जे पोते विधुद्ध तेमज गुणी होय छे तेज वीजाओ माटे चारित्रा-कांशीनी अध्यात्म मनोरथमात्त मुंधी शके छे, तेथी आचार्यपणामाटे पूर्ण अधिकारी छे । कसुं पण छे के "जे सूत्र तेमज अर्थना जाणकार छे, आत्माना ज्ञानलक्षणने निर्मल बनावीने जेमणे प्रकाशित करेल छे, चारे प्रकारना संघने जेओ पृथ्वीनी पेटे आधारभूत छे । सधनी अशान्तिनो नाश करे छे, आत्मतत्त्वनुं उपदेष्टा छे, ते आचार्य होई शके" ।

तेओ पाच प्रकारना आचारोनुं पोते पालन करे छे, तेमनी देखादेखीवी संघ पण सदाचारनुं अनुसरण करे छे, आ रीते आचारनो बधातथ्य उपदेश आचार्य द्वाराज मळी शके छे । कारणके तेओ अध्यात्मज्ञानना प्रकाशक छे ।

आचार्यना छत्रीश गुण-

पांच इन्द्रियोने वश करे छे, नव काड विशुद्ध प्रह्लाचर्यनुं पालन करे छे । क्रोध-मान-माया-लोभ दूर करे छे । पांच महाव्रतनुं पालन करे छे, पांच आचार्यनुं समाचरण करे छे, पांच सभिति-त्रणणुति ए आठ दया माताना प्रवचनने धारण करे छे । ए छत्रीश गुणवाला आचार्य बड़ी श्रेष्ठ, बीजा नहीं ।

आचार्यने चतुर गोपालनी उपमा-

चतुर गोपाल बधा पशुओ पर पोतानी दृष्टि रखे छे, तेमने कोईना खेतमर्मा दाराल बधा देतो नहीं, तेबीज रीते आचार्यदेव पण पोताना संघने अशान्ति-कुसम्प-कषाय-स्वद्विवाद-विषमता-तरफ बधा देता नहीं, क्लेश धतां नेतज आचार्य तरल तेने दमावी दे छे, भव्यात्माओना जन्म जन्मान्तराओना क्लेशने मटाही दे छे, तेमने सन्मार्ग-सम्बन्धदर्शनओ सरल रखो धतावे छे । योग्य-अयोग्य, संसार-मोक्ष, हित-अहित, धर्म-अधर्म-विगेरेनी समझण आपे छे । एवा आचार्यप्रभु वादवा योग्य छे ।

आचार्यने नमस्कार करधानुं प्रयोजन-

आचार्य सम्बन्धी उपदेश तेओनी पासेधी मळे छे, सेधी तेमने प्रीजा पद्मों नमन करैजे छे, कारणके चरित्रोपदेशनओ आपणा पर तेओ प्रभाव पाडे छे, आपणे तेमने उपकारनी दृष्टिधी निरुभिमानी बनीने नमस्कार करैए छीए । द्वादशांगी- [शास्त्र-] वाणीना तेओ पूर्णपाठी छे, तेमज बीजाओने भणाववाहुं कार्य पण तेमने हाथ छे ।

आचार्यनी विशेषता-

ज्ञान-दर्शन-चरित्र-तप रूप गुण भंयनी उत्तम शैली थी तेओ व्याख्या करेछे, तेओ मोक्ष प्राप्तना उपदेशक छे, शिष्योने सदाचारमां स्थिर करे छे, शिक्षाना पूर्ण स्वामी छे, आत्म-योग-शिद्धिओ मार्ग तेमनी पासेधी प्राप्त थाय छे, धीमान् सुधर्माचार्य आचार्यना बधा गुणोधी विराजमान हता ।

अन्तेवासी अंबूनो सुधर्माचार्यने प्रश्न-

अगाध गुण समुद्ररूप सुधर्माचार्यने विज्ञानु अंबूए अन्तिम तीर्थकर भगवान् ज्ञानपुत्र महावीर स्वामीना गुणोओ परिचय प्राप्त करवाने माटे प्रभु कर्यो छे "तेओ केवा हता ? ए धर्मवर-चक्रवर्तीए पोताना धर्मचक्रधी संसारना रण्डा-

वनारां कर्मोन्नो अन्त तेओए कइ रीते क्यो ? जे मार्गनुं अनुसरण तेओए क्युं, ते मार्गनो आधय जो अमे लइए तो प्रभु साथे अमारुं साम्य केवी रीते थई शके ? नरकनां दुःखो सांभळीने जेमनुं मन अलन्त उदास थई गयुं छे, ह्याग भने वैराग्यथी जेओ अलंङ्गन बनवा इच्छे छे, ते धमणादि मने पूछे छे के "संसार रूप समुद्रथी पार उतारनार धर्मनुं प्रतिपादन कोणे करेलं छे ?" संसारमां विचरता घना धमणो आ प्रथ पूछथे, ते धमण-साधु छे, परिग्रह धन्थीने कापनारा छे, निष्कम तप करे छे, तेओ पोतानी माफक बीजाभोनां मुल दुःख समजे छे, सेथी ते जेदज्ञ पण होय छे ।

ब्राह्मण-

सदुपरांत मने कोई ब्राह्मणो पण पूछथे, ब्रह्मचर्यनुं पालन करता होवाथी, सिद्ध-नरमात्माना ज्ञान-मार्गनुं धवण करता होवाथी, अन्य-आत्माभोने पोताना समान जाणता होवाथी, ते ब्राह्मण नामथी प्रसिद्ध छे ।

बृद्ध पुरुषोप वताथेला ब्राह्मणना लक्षणो-

जेनामा सहनशीलता, निरासक्ति, अहिंसकता, उदारता, सत्य, धैर्य, पांच अणुव्रत, सात शिखाव्रत, विद्या विनयसम्पन्नता होय छे, वेनां ब्राह्मणनुं पहेंलं लक्षण छे । जे दान्त होय छे, इन्द्रियोनुं दमन करे छे, पवित्र अने दृढ ब्रह्मचारी छे, बधा प्राणिभोना कल्याण-कार्योमां जे हमेशा तत्पर रहे छे, जे क्रोध धरता नथी, ते ब्राह्मणनुं बीजुं लक्षण छे । जे निर्लेसी छे, निरभिमानी छे, सर्वथा पापना त्यागी छे, राग-द्वेष अने मोहजाळथी मुक्त छे, ते त्रीजुं लक्षण छे । मार्गमां, जंगलमां, अधवा कोईना घरमा पर वस्तुने जोईने चोरी करवानी इच्छा सरखी जेमने नथी धती, तेमज चोरी करीने पर वस्तुनुं ग्रहण जेओ करता नथी, ते ब्राह्मणनुं चोपुं लक्षण छे । जे भास, मदिरा, मधुनुं क्यारे पण सेवन करता नथी, गुलर-अजीर विगरे अभक्ष्यफळ तथा गन्धेय-सन्धेय फळ खाता नथी, तथा रात्रिभोजनना त्यागी होय छे, ते पाचमुं लक्षण छे ।

कोईप १० प्रकारना ब्राह्मण कहेला छे-

देव, द्विज, मुनि, राजा, वैश्य, शूद्र, बिल्व, गधा, म्हेच्छ, चाण्डाल ए जेदोथी ब्राह्मण दस प्रकारना होई शके छे.

देव ब्राह्मण—जे एक वरत भोजन करे छे; नास, मदिरानुं सेवन करता नथी, तत्वज्ञानना पारने पहुँची गया छे, ते देव ब्राह्मण छे ।

દ્વિજ દ્રાહ્મણ—મહાપતી, નિયમયુક્ત, સંયમપાલક, હિન્દિયવિજેતા, સમ-
તોલનવૃત્તિવાદી, આત્મા અને મનના વિજેતા, ધર્માવાન્, અને સહિષ્ણુ છે તે દ્વિજ
દ્રાહ્મણ છે ।

મુનિદ્રાહ્મણ—જે છૂટો મુક્તો આહાર સહીને પણ સન્તોષ માને છે, માત્ર
શિવસેવ. મોજન કરે છે, હમેશાં વનમાં વસે છે, દિનરાત આત્મધ્યાનમાં મગ્ન રહે છે,
શ્લોગાન્યાસની સાધના કરે છે, તે મુનિદ્રાહ્મણ છે ।

નૃપદ્રાહ્મણ—

જે દાષી, ઘોડા પર સ્વારી કરવાની રુચ્છા રાણે છે, રણ ભૂમિમાં જઈ યુદ્ધ
કરે છે, સ્વદેશને ગુલામીની જંઝીરથી મુક્ત કરી તેને સ્વતંત્ર પચાવે છે, અન્યાયનો
નાશ કરવાને જે પ્રયત્નશીલ છે, ન્યાયથી શાસન ચલાવે છે, સામ્યવાદની સ્થિતિ-
પાલકતામાં શૂરવીર છે, અચરતાનો અંતમાત્ર જેનામાં નથી, તે નૃપદ્રાહ્મણ હોય છે ।

વૈદ્ય દ્રાહ્મણ—જે છેતી કરે છે, ન્યાયનીતિથી વેપાર કરે છે, પશુનું
પાલન કરે છે, હનેશા ન્યાયનો પક્ષ ત્યે છે, જનસમાજની સેવામાં તત્પર રહે છે,
જે દાન દેવા અર્થે સર્વ પ્રકારની ધાનુઓનો આર્યવૃત્તિથી સંગ્રહ કરવાનું જાણે છે,
તે વૈદ્ય દ્રાહ્મણ છે ।

શૂદ્ર દ્રાહ્મણ—જે ભાગ, તેમજ તેઓને વેપાર કરે છે, બ્યાજ ચામ છે,
માંસ મદિય વેચે છે, તે શૂદ્ર દ્રાહ્મણ છે ।

ચિલાય દ્રાહ્મણ—જેને ભક્ષાભક્ષનું જ્ઞાન નથી, જે ગાવા વજાવવાનું
કાર્ય કરે છે, પરજીગામી છે, તે દ્રાહ્મણ ચિલાય પ્રકૃતિનો છે ।

મ્લેચ્છ દ્રાહ્મણ—શાવ-કુવા-તઢાવમાથી જે અપગલ પાણીનો ઉપયોગ
કરે છે, પરના ડુલોનો જે વિચાર કરતો નથી, તે મ્લેચ્છ દ્રાહ્મણ છે ।

ચાણ્ડાલ દ્રાહ્મણ—જે જંગલમાં આગ લગાડીને છેતી કરે છે, જે
શરૂક જીવને મારી નાણે છે, અહિંસા ધર્મથી અજ્ઞાત છે, તે ચાંડાલ દ્રાહ્મણ છે ।

ચર દ્રાહ્મણ—શાસ્ત્ર નું અધ્યયન કરતાં છતાં અધ્યાત્મ-પદ્ધત્ત કરવાનું
જે જાણતા નથી, પ્રેમમોજન કરે છે તે ચર દ્રાહ્મણ છે ।

અયોગ્ય દ્રાહ્મણ—જે અન્યનાં શોષો પ્રગટ કરે છે, અને પોતાનાં પાપોને
છુપાવે છે, તે દ્રાહ્મણ ધર્મ માટે અયોગ્ય છે, તેનું જીવન કુતરાની પૂછડી માફક
નર્થ છે । . . .

ब्राह्मण परम्परा—

जन्मकालमां ते शूद्र होय छे, गुण वृद्धि पामीने द्विज बने छे, शास्त्रान्नाम करवाधी विप्र धाय छे, अने अप्वात्मयोग तेमज ब्रह्मज्ञान प्राप्त करीने ते ब्राह्मण धाय छे ।

अब्राह्मण—जे क्रोध-मान-प्राणी हिंस-करे छे, असत्य बोले छे, चोरी करे छे, परिग्रह राखे छे, तृष्णा युक्त छे, ते ब्राह्मण जाति अने विद्याधी हीन तथा पतित छे । अने ते पापक्षेत्र कहेवाय छे ।

ब्राह्मणोचित श्रेष्ठ यज्ञ—पाच इन्द्रियोनुं नियमन करनारा, जीवितव्यनी पग परवा नहि करनारा, सद्योत्सर्ग द्वारा आत्मचिन्तवन करनारा; मन, वाणी, तथा कायना पाप विकारोधी दूर रहेनारा, अने कायनी आसक्तिधी रहिन, एवा महापुरुषो बहारनी घृदिनी दरकार न करतां उत्तम अने महाविजयी भावयहने ज आदरे छे ।

ब्राह्मणोचित तीर्थज्ञान—धर्मरूपी कुंड छे, ब्रह्मचर्यरूपी पुष्पतीर्थ छे, आत्मानी प्रसन्नलेद्वारूप पवित्र जल छे, तैमां ज्ञान करवाधी कर्मरहित अने जन्ममरणधी मुक्त धाय छे, हमेदाने माटे अपुनरागृतिरूप पवित्रता आवी जाय छे, दोषोनो सर्वथा अभाव स्थारेज धाय छे ।

एवुं ज्ञान आत्म कुशल पुरपोए कर्तुं छे, अने ऋषिओए तेज महाज्ञानने बलाप्युं छे, जेमां ज्ञानकरेला पवित्र महर्षिओ निर्मल भईने [कर्मरहित परीने] उत्तमस्थान (मुक्ति) ने पाय्या छे ।

उपरोक्त लक्षणवाच्य ब्राह्मणोनी पेटे गृहस्थो, धृत्रियो, अने परधर्मिओ पग मने पूछे छे के एकरत द्वितकारी अने अनन्य धर्म यथास्थित कोणे कयो छे ? ते धर्म दुर्गतिमा पडता जीवोने धरी राखे छे, बधातुं एकन्त कल्याण करे छे, ते अपार महिनामय छे ॥ १ ॥

मूल

कहं च णाणं कहं दंसणं से,

सीलं कहं णायसुपस्स आसी ?

जाणासि णं भिक्खु ! जहातहेणं,

अहासुयं बूहि जहा णिसंतं ॥ २ ॥

संस्कृतञ्जाया

कथञ्च ज्ञानं कथं दर्शनं तस्य, शीलं कथं ज्ञातसुतस्याऽऽसीत् ?
जानीये भिक्षो ! यथातथ्येन, यथाश्रुतं ब्रूहि यथानिशान्तम् ॥२॥

सं० टीका—तथैव तस्य भगवतो ज्ञातसुतस्य महावीरस्यान्तिम-
तीर्थकृतः सम्यग्ज्ञानादिगुणावाप्तये प्रक्षयवाह—कथं केन प्रकारेण
स वीरो “वि=विशिष्टां, ई=ईश्वरीं, राति=ददातीति सः । अथवा
विशेषेण ईर्ते=सकलान् पदार्थान् जानातीति वीरः, यद्वा वि=विशिष्टा
इरा=वाग्दिव्यध्वनिरूपा, इरा=पृथ्वी-ईपत्प्राग्भारा स्वरूपाऽस्ति
यस्यासौ वीरः, अथवा वीरयति, वीर इवाचरतीति वा वीरः । वीर-
सपूर्णतामासाद्य कामराज-यमराज-मोहराजान् निराकरोतीति वीरः ।
यद्वा वि=विशिष्टा इरा गगनगमनं अपुनरावृत्तिरूपं यस्यासौ वीरः ।”

तस्य भगवतो, ज्ञानं “हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो
ज्ञानमेव तत्” “तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वाद्नुमानवत्”

अथवा—

“त्रिकालगोचरानन्त-गुणपर्य्यायसंयुताः,

यत्र भावाः स्फुरन्त्युच्चैस्तज्ज्ञानं ज्ञानिनां मतम् ।

भ्रौव्यादिकलितैर्भावनिर्भरं कलितं जगत्,

चिन्तितं युगपद्यत्र, तज्ज्ञानं योगिलोचनम् ॥”

पुनश्च—

“अनेकपर्य्यायगुणैरुपेतं, विलोक्यते येन समस्ततत्वम् ।

तदिन्द्रियानिन्द्रियमेदभिन्नं, ज्ञानं जिनेन्द्रैर्गदितं हिताय ॥

रत्नत्रयीं रक्षति येन जीवो, विरज्यतेऽत्यन्तशरीरसौख्यात्,

रुणद्धि पापं कुरुते विशुद्धिं, ज्ञानं तदिष्टं सकलार्थवद्भिः ॥

क्रोधं धुनीते, विदधाति शान्तिं, तनोति मैत्रीं, विहिनस्ति मोहम् ।
पुनाति चित्तं, मदनं लुनीते, येनेह बोधं तमुशन्ति सन्तः ॥”

तथाच—

“आत्मानमात्मसंभूतं, रागादिमलध्वजितम् ।

यो जानाति भवेत्तस्य, ज्ञानं निश्चयहेतुजम् ॥”

अथवा ज्ञायते सदसदनेनेति ज्ञानम् । “मोक्षे धीर्ज्ञानमित्यमरः” ।
अवासवान्, किंभूतं भगवतो ज्ञानम् । विशेषावबोधकम्, लोकालोकावबोधकं-सर्वभावग्राहकं लोकालोकविषयं, नातः परं ज्ञानमस्ति ।
न च केवलज्ञानविषयात्परं किञ्चिदन्यज्ज्ञेयमस्ति । तत्केवलज्ञानं,
केवलं परिपूर्णं समग्रमसाधारणं निरपेक्षं विशुद्धं सर्वभावज्ञापकं लोका-
लोकविषयमनन्तपर्य्यायमित्यर्थः । शुद्धात्मोत्थसहजपरमानन्दरूपमती-
न्द्रियसुखं च केवलज्ञानादेवावाप्नोति । अनेन केवलज्ञानचेतनामयत्वेन
केवलं ज्ञातृत्वादन्येषां कर्मबन्धं वाधवा कर्मफलं च शुभाशुभं केवल-
ज्ञानेनैव ज्ञायते, सूक्ष्मभादरं चराचरं वा पूर्णसर्वज्ञत्वमिति भावः ।
किंभूतं तस्य दर्शनं, सामान्यार्थपरिच्छेदकं दर्शनावरणरहितं चेति ।
“निर्वर्णनं तु निर्घ्यानं, दर्शनालोकनेक्षणमित्यमरः ।” अथवा इशोर-
व्यभिचारिणी सर्वेन्द्रियानिन्द्रियार्थप्राप्तिस्तत्सम्यग्दर्शनमिति । मद्यस्य
दर्शनं सम्यग्दर्शनम् । संगतं वा दर्शनं सम्यग्दर्शनम् । वाधवा जीवादीनि
तत्त्वानि त एवार्थास्तेषां श्रद्धानं तेषु प्रत्यवधारणं, तदेवं प्रथमसंवेद-
निर्वेदानुकम्पास्त्रिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सम्यग्दर्शनम् । यस्य मोहनीय-
सप्तकक्षयेन दर्शनं विशुद्धं तदेव सावरणं केवलं दर्शनं भवसंभूत-
क्लेशप्राग्भारभेजमनेन चरणज्ञानयोर्बीजं महाप्रतविशुद्धभावजीवितं
भवति । एतत्सद्दर्शनरत्नं मुक्तिदं विश्वलोकैकभूषाभणिसदृशं । एवमेव

तच्छीलं चरित्रं यमनियमरूपं “शुचौऽनु चरिते शीलमित्यमरः” ।
 अतस्तत् स्वात्मभावेऽपि, यदाह मेदंती कोपे,—“शीलं स्वभावे
 सद्बुद्धे योगान्तरे सिते” इति । “शीलं स्वभावे सद्बुद्ध” इत्यमरोऽपि ।
 तत्कीदृक् । ज्ञाताः क्षत्रियास्त्रैपां पुत्रो ज्ञातपुत्रः । “राजन्यः क्षत्रियो
 ज्ञात इति कोपः” । “णायपुत्रे विसोगे” “गच्छति णायपुत्रे असणाए”
 “इत्याचाराङ्गसूत्रे नवमाध्याये” । ज्ञातपुत्रो भगवान् महावीरप्रभुरिति ।
 तस्मासीदिति । यदेतन्मया पृष्टं तच्च हे मित्रो ! “भिक्षुः परिव्राद्
 कर्मन्दीत्यमरः” । सुधर्मस्वामिन् ! याथातथ्येन सम्यक्प्रकारेण जाना-
 स्ववगच्छसि । तत्कृत्स्नं त्वया यथा श्रुतं कर्णगोचरी [यथा भवति
 तथा] कृतं, यथा निशान्तं नितरामतिशयेन शान्तं श्रुत्वाचक्ष्वेति भावः ।
 “निशान्तमित्यवधारितं यथा दृष्टं तथेति केचित् ।”

अन्वयार्थ—(हे) उस (णायपुत्रस्व) ज्ञातपुत्र-महावीर भगवान् (घ
 (णायं) ज्ञान (कर्णं) कर्ण था, (दंसणं) दर्शन (कर्णं) कर्ण था, और (शीलं)
 चरित्र (कर्णं) कर्ण था, [भिक्षु !] हे सुधर्मस्वामिन् ! आप [जहातहेणं]
 अच्छे प्रकार [जानासि] जानते हो अत एव [अहासुयं] आपने जैसा मुना है
 एवं [जहाणिसंतं] जैसा निर्धारण किया है उसी प्रकार [बुद्धि] फर्माइए ।

भावार्थ—आर्य जम्बू नामक विशाल-विष्वक्ने निवेदन किया कि-हे
 सुधर्मस्वामिन् ! गुह्यवर्ष्य ! आप सब कुछ अच्छीतरह जानते हैं अत एव कुछ
 फरिए और यह फर्माइए कि-भगवान् ज्ञातपुत्र महावीरका ज्ञान कैसा था ?
 उन्होंने उस सम्यग्ज्ञानको किस प्रकार प्राप्त किया ? और उनका दर्शन सामान्य
 प्रतिभाय तथा यम-नियम और संयमादि शील-चरित्र किसभान्तिके थे ? ॥ २ ॥

भाषाटीका—मोक्ष लक्ष्मीके प्रदाता, सर्वदार्थोंके ज्ञाता, जिगरी वाणी
 विनश्य और अमोघ है, जो अष्टम पृथ्वी [मोक्ष] को प्राप्त कर नुसदें, वीर
 रक्ष पूर्ण है, वीरता पूर्वक जिनने कामराज, मृन्वराज और मोहराजको
 जीत लिया है, जिसका अतिरिक्त ज्ञानमें विशेष गमन अर्थात् प्रवेश है, वह वीर

रूपसे मंत्री भाव पैदा करनेका स्वभाव होजाता है। इसके अनन्तर मोह, अवि-
वेक, चित्त विकारके पदें तोड़ डालता है। मोहका सर्वथा नाश होनेपर चित्त
निर्मल और पवित्र हो कर स्थिर होता है, पवित्र चित्तवाला कामदेवका
नाश करता है। जिसके ज्ञान-आत्माका उदय होगया हो उसमें इतनी क्रियाओं-
का भी मननात्मक उदय हो जाता है, इससे ज्ञानी अटल मुखके पदको पानेका
पूर्ण साधक बन जाता है।”

‘जो आत्माको राग द्वेषसे निकालकर निधय हेतु बन जाता है बुद्धि-
मानोंने उसे भी ज्ञान कहा है।’

‘जिससे सत् अर्थात् उत्पाद, व्यय, प्राम्ब्यका और असत्का विवेक हो
उठता है, उसे भी ज्ञान ही कहा है।’

ज्ञान विशेष वस्तुका बोध कराता है, लोक और अलोकके परदे खुल जाते
हैं। हथेली पर रखले हुए आमलेकी भांति सत्कारका सब स्वरूप और घटनात्मक
भाव जानने लगता है। वह संपूर्ण ज्ञान केवलज्ञान या ब्रह्मज्ञान है। इससे
बढकर ज्ञान-ज्ञी और बोधे भूमिक नही है। केवल नाम भी पूर्णताका है, वह
ज्ञान असाधारण है, निरपेक्ष और परमसुन्द है, सब पर्यायों और भावोंका
ज्ञापक है। इससे लोक और परलोक अवगम्य हैं। ज्ञानसे सहज और उत्कृष्ट
अनन्त आनन्द मिलता है। यही ज्ञान प्राणिजोंके कर्मबन्धना समय, तथा उनके
शुभाशुभ फलका बोध कराता है। तथा सूक्ष्म-वाक्तर, चर-अचरकी पूरी
खबर रखने वाला सर्वज्ञ कहलाता है।

दर्शन-

जिसमें किसी प्रकारका व्यभिचार नहीं पाया जाता; संशय, विषय, नि-
व्यात्व-या अनध्यवसाय आदि दोषों से रहित हो, इन्द्रिय और मनके विषय
भूत समस्त पदार्थोंकी दृष्टि-अद्वारूप प्राप्तिसे, अथवा संगत युक्तिसे विद्व दर्शनको
सम्यग्दर्शन कहते हैं। तथा जीव आदि नव पदार्थोंके भावों पर ध्यान पूर्वक
यथातुल्य धारण करना; जिससे क्रि-समता भाव, अस्थिर वस्तुओंके चिरक
दिलानेवाला वैराग्य, कर्म बन्धसे मुक्त होने की निरन्तर अभिलाषा, शत्रु
मित्रके जटिल प्रश्नको उदाकर अभेद रूप अनुकम्पा और आत्मीय कर्मोंका उदय
होने पर ही सुख दुःख होता है इस रीतिक आत्मिक्यादि लक्षणोंका अनुदय

होता है। त्याग, वैराग्य तथा विनेक शुद्ध होनेसे वही मुक्तिका अंग है। संसारके क्लेशरूपी रोगोंके भारको मिटानेमें आप्त रूप सम्यग्दर्शन ही है। जोकि ज्ञान और चरित्रका बीज रूप है। इसीसे महान्तोंके पालन करते २ परम आत्मामें स्थिर रहनेकी भावना जागृत होती है। ज्ञानात्माओंका विश्वमें सर्वांगपरिभूषण रूप है। इस श्रेष्ठ सम्यग्दर्शनसे निःसंशय मोक्ष पाता है जिसके निघंटुसे लगाकर प्रभावना तक आठ अंग हैं।

चरित्र-

उत्तराध्यायन सूत्रके २८ वें अध्यायमें वीरप्रभुने स्वयं प्रतिपादन किया है कि मिथ्यात्व, अमृत, कषाय, प्रमाद और मन बचन कायके अशुद्ध विचारोंसे जो पाप कर्म बांधे गए हैं, जिनका कि शुभाशुभ फल परिवर्तन करना अपने अधिकारमें अब न रह गया है उन कर्मोंको जिस पुरुषार्थ-बलसे नष्टकरके आत्माको कषयात्मा, योगात्मासे रिक्त करदेना चरित्र कहलाता है, चरित्रसे भविष्यके लिए प्रवृत्ति मार्गका अवरोध करके तपसे उसे अग्रिमं सुवर्णकी भांति मल शोधन करता है। जिससे जन्मान्तरके कर्मोंका ध्वय होनेसे सब दुःखोंसे रहित हो जाता है।

और यह चरित्र अणुप्रत और महाव्रतके भेदसे दो प्रकारका है। जिससे अपने भावोंको कषाय रहित करनेपर मूलगुण और उत्तरगुणरूप चरित्र एक देश या सर्वथा संयम गुण प्राप्त करता है।

अतः भगवान् ज्ञातनन्दन महावीरका चरित्र कैसा था ?

ज्ञातपुत्र-

वे ज्ञात-वंशके क्षत्रियोंके कुलमें उत्पन्न होनेसे ज्ञातपुत्र कहलाते थे। मुनि बनकर ज्ञातपुत्र कभी किसी वस्तु की वियोग दशामें शोक प्रगट न करते। ज्ञातपुत्र किसीके शरण नहीं जाते, तथा सदैव स्वावलम्बी रहते थे। उनकी भावना राग और द्वेषसे रहित-मध्यस्थ थी। वे अनुकूल, प्रतिकूल प्रसंगों पर लक्ष्य न देकर समय मार्गमें स्थिर बुद्धिसे अपनी धर्मप्रतिज्ञाओंमें सदा प्रवृत्त एवं दृढ रहते थे।

अतः गुरो ? मैंने उनके ज्ञान, दर्शन और चरित्रके विषयमें जो कुछ पूछा है। उसका आपने यथानुरूप अनुभव कर लिया है, अतः जो कुछ मुझा देखा है, वह शान्त चित्त होकर मुझसे कहिएगा ?

ગુજરાતી અનુવાદ—વીરભગવાનનાં રક્ષણ સમ્યન્ધી પ્રશ્નો—

મોક્ષલક્ષ્મીના દાતા, મર્થે પદાર્થોના જ્ઞાતા, જેમની વાણી અમોઘ અને વિલક્ષણ છે, જે અટકમ પૃથ્વી મોક્ષને પ્રાપ્ત કરીચુક્યા છે, વીર રત્ન મરપૂર છે, વીરતાથી જેમણે કામરાજ મૃત્યુરાજ અને મોહરાજને જીતી લીધેલ છે, તે વીર કહેવાય છે, મહાવીર પ્રભુ મહાવીરજ હતા, તેમનામાં આ ચર્ચી વાતો હતી ।

જ્ઞાન—

તેનનું જ્ઞાન કેવું હતું ? ફરણકે પ્રમાણજ હિનની પ્રાપ્તિ અને અહિનનો લ્લાગ કરવામાં મમર્થ છે, તેથી જ્ઞાનજ પ્રમાણ હોઈ શકે છે ।

વડી જ્ઞાનજ વસ્તુ તત્વનો નિર્ણય કરાવે છે, મેથી જ્ઞાનજ પરમ ઉપદેશી છે ।

ગુન. વર્તુ છે કે—જેમા પ્રણે ક્ષલ ગોચર અનન્તશુભ પર્યાય સયુક્ત પદાર્થ અતિશય સાધ પ્રતિભાષે છે, તેને જ્ઞાનીજનો એ જ્ઞાન વહેતું છે, આ પામાન્યપણે પૂર્ણ જ્ઞાનનું સ્વરૂપ છે, આશ્વસાદ્રવ્ય અનન્તપ્રદેશી છે તેના મધ્યમાં અસંભ્યાત પ્રદેશી શ્લેષકાશ છે, તેનાં જીવ-અજીવ-પુત્રલ-ધર્માસ્તિશ્વ-અધર્માસ્તિકામ અને પાલ એ અનન્તદ્રવ્ય છે । તેના પ્રણ ક્ષલ સમ્યન્ધી બિહાનિષ્ઠ અનન્ત પર્યાય છે, તેં મધાને યુગપન્ [એક સમવમા] જાણવાનો પૂર્ણજ્ઞાન આત્માનો નિધય સ્ભાવ છે ।

ઉત્પાદ-મ્યય-પ્રોવ્ય સ્વભાવશાસ્ત્ર પદાર્થોથી આ જગન્ અતિશય મર્યું પમ્નું છે, જે જ્ઞાનમા આ મર્યું એકદમ પ્રતિભિમ્વિત ધાય છે, તે જ્ઞાન પરમ યોગીશ્વરોને માટે તો નેત્ર સમાન છે ।

તતુપરાન્ત વળ વસ્તુ છે કે—“જેની દ્વારા વર્ષા તત્વોને વિચાર ધેલિથી આત્મા સ્પટ રૂપે જુએ છે, જે તત્વમાં અનન્ત પર્યાય-શુભની મસા છે, તેને સમ્યક્ પ્રકારે જાણવાને માટે જ્ઞાનજ હિતકર અને પ્રથમ સાધન છે, તેનાથી આત્મા જ-સસારથી અલગ થઈ શકે છે ।”

આત્માનો કન્યાપ કરવાવાટાનો માટે જ્ઞાનનું આગધન સૌથી પ્રથમ એટલામાટે હ્ય છે કે તેનાથી જીવ પાંડુલિક તેમજ શાંતિરૂ મુપદી વિરુદ્ધ વની જાય છે । પોતાના આત્મીય શુભરક્ષની રક્ષા તેની છત્ર છવાનાં થઈ શકે છે । વડી તેનાથી પ્રકૃતિ-પાપદાર જે શેડીને આમશોધનાં જામી જાય છે ।

જ્ઞાનની પૂર્ણ માપાના પ્રભાવથી શ્લેષ શાન્ત થઈ જાય છે । તેનાથી આત્માને અર્પું સમભાવની ક્ષાંતી ધાય છે । જ્ઞાન્તિના વારણે સર્વપ્રાણિઓનાં અનેદરૂપે

मैत्रीभाव पेदा करवानो स्वभाव थई जाय छे । मोह अविवेक अने चित्त विकरनो पडदो तूटी जाय छे । मोहनो सर्वथा नाश थई जवाधी चित्त निर्मल अने पवित्र बनीने स्थिरता प्राप्त करे छे । पवित्र चित्तवाळो कर्मदेवनो नाश करे छे । जेनामां ज्ञानात्मानो उदय भएलो छे, तेनामां आटली क्रियाओनो उदय थई जाय छे, तेनाधी अटल मुखना पदने प्राप्त कराववानुं ते साधन बनी जाय छे ।

जे आत्माने राग-द्वेष अने मोहमांशी बहार काढवामां निधय हेतुरूप छे तेने पण बुद्धिमानोए ज्ञान कहेछं छे ।

ज्ञान विशेष वस्तुनुं बोधक छे, स्त्रोकालोकनुं प्रगट स्वरूप समजाय छे हस्तामलकवत् संसारना सर्व स्वरूपनुं तथा घटनात्मक भावनुं जाणपणुं थाय छे । ते सम्पूर्ण ज्ञान केवलज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान छे । तेनाधी अधिक ज्ञाननी बीजी कोई भूमिका नथी । केवल एटले पूर्णता, ते ज्ञान असाधारण, निरपेक्ष अने परम शुद्ध छे, सर्व पर्याय तेमज भावोनुं ज्ञायक छे । तेनाधी स्त्रोकालोकनुं ज्ञान थाय छे । तेनाधी सहज तेमज उत्कृष्ट अनन्त आनन्द मळे छे । ते ज्ञान प्राप्तिओना कर्मबन्धनो समय तथा तेना शुभाशुभ परिणामोनो बोध करावे छे । सूक्ष्म-बादर-चराचरनुं पूर्णज्ञान सर्वज्ञने होय छे ।

दर्शन-

जेना कोई प्रगारनो स्वभिचार नथी होतो; सशय, विपर्यय, मिथ्यात्व अथवा अनध्यवसाय आदि दोषोधी जे रहित छे, इन्द्रिय अने मनना विषयभूत सर्व पदार्थोनी दृष्टि-श्रद्धारूप प्राप्तिने सम्यग्दर्शन कहे छे, जीवादि नवतत्वना भावोपर श्रद्धानपूर्वक तैतुं यथानुरूप धारण करवुं, जेनाधी समता भाव अस्थिर वस्तुओनी विरक्ति रूप वैराग्य, कर्म बंधधी मुक्त होवानी निरन्तर अभिलाषा, शत्रु मित्र पर अनेदरूपे अनुकम्प, आर्त्माय कर्मोनो उदय थवाधीज सुख दुःख थाय छे, ते जातना आस्तिक्यादि लक्षणोनो उदय थाय छे, लाग-वैराग्य तथा विवेक शुद्ध थवाधी जे मुक्तिनुं अग छे, संसारना क्लेश रूपी रोगोनो समूहने मटाडवामा जे औषधरूप छे, ते सम्यग्दर्शन छे, ज्ञान अने चरित्रना बीजरूप छे, तेनाधी महाव्रतोनुं पालन करतां करता स्थिरतानी भावना जागृत थाय छे, ज्ञानीओनुं विश्वमा ते सर्वोपरि भूषण छे, ते श्रेष्ठ सम्यग्दर्शनधी निःशंसय मोक्षनी प्राप्ति थाय छे, तेना निःशंकधी मांसीने प्रभावना सुधीन आठ अय छे ।

ચરિત્ર-

ઉત્તરાધ્યયનના ૨૮ માં અધ્યાયમા ધ્રીવીરપ્રભુણ સ્વયં પ્રતિપાદન કરેલું છે કે મિથ્યાત્વ, અવ્રત, ક્રમાગ, પ્રમાદ અને મન-વચન-કાચના અશુદ્ધ યોગથી જે પાપકર્મ વંધાણુ છે કે જેનાં શુભાશુભ ફલમાં પરિવર્તન કરવાની સત્તા આપણા હાથમાં નથી રહી, તે કર્મોનો પુરુષાર્થબઢથી નાશ કરીને આત્માને કયાયાત્મ અને યોગાત્માથી અલગ કરી દેવો, તેનું નામ ચરિત્ર છે, ચરિત્રથી ભવિષ્યની પ્રવૃત્તિમાર્ગનો અવરોધ કરીને જેમ અગ્નિથી મુશળનો મેલ દૂર થાય છે, તેમ તપથી જન્માન્તરના કર્મોનો નાશ કરીને આત્મા સર્વ દુઃખોથી રહિત થાય છે ।

આ ચરિત્રના અણુમત તથા મહામત એ બે મેદ છે, પોતાના ભાવોને કપાયરહિત કરવાથી મૂલ ગુણ તથા ઉત્તરગુણ રૂપ ચરિત્ર એક દેશ અથવા સર્વથા સંયમ ગુણ પ્રાપ્ત કરે છે ।

જન્મુનિ મુખર્માચાર્યને પૂછે છે કે મમવાન જ્ઞાતૃપુત્ર-મહાવીરજી રાત્રપ્રય કેયું હતું ?

જ્ઞાતૃપુત્ર-

તેઓ જ્ઞાતૃ વંચના છત્રિય કુલમાં જન્મ્યા હોવાથી જ્ઞાતૃપુત્ર કહેવાતા હતા, મુનિ યનીને જ્ઞાતૃપુત્ર કોઈ વસ્તુની વિયોગ દશાના શોક નહોતા કરતા, જ્ઞાતૃપુત્ર કોઈને વશ ન થતા, પણ સર્વદ સ્વાર્થથી રહેતા, તેમની ભાવના રાગદ્વેષ રહિત મધ્યસ્થ હતી । તેઓ અનુદ્વલ પ્રતિકૂલ પ્રસંગો પર ધ્યાન આપ્યા વગર સંયમ માર્ગમાં સ્થિર રહીને પોતાની ધર્મપ્રતિજ્ઞાઓમા હમેશાં પ્રવૃત્ત રહેતા હતા ।

તેથી હે આચાર્ય મમવાન ! મેં તેમનાં જ્ઞાન-દર્શન અને ચરિત્ર તમ્બન્ધી જે પ્રશ્ન કર્યો છે, તેનો આપે યથાનુભવ અનુભવ પ્રાપ્ત કર્યો છે તે જેમ તમે સાંમશ્યું હોય અને પાર્યું હોય તે જ્ઞાન્ત ચિત્ત મને વદો ।

મૂલ

લેયન્નણ સે કુસલે મહેસી,

અણંતનાર્ણીય અણંતદંસી ।

જસંસિણો ચક્કુપહે ઠિયસ્સ,

જાણાહિ ધમ્મં ચ ધિહં ચ પેહિ ॥ ૩ ॥

संस्कृतच्छाया

खेदज्ञः [क्षेत्रज्ञः] स कुशलो महर्षिः,

अनन्तज्ञानी च अनन्तदर्शी ।

यशस्विनः चक्षुःपथे स्थितस्य,

जानीहि धर्मं च धृतिं च प्रेक्षस्व ॥ ३ ॥

सं० टीका—स ज्ञातनन्दन-महावीरो भगवान् चतुस्त्रिंशदतिशय-समेतः, पंचत्रिंशद्वाणीगुणोपपेतः “उप अप इतः ‘शकन्धादिषु पर-रूपं वाच्यमिति वासिकेन’ पररूपत्वे उपपेत इति” । खेदं संसारान्त-र्यतिजीवानां कृतकर्मविपाकजं शारीरिकं मानसिकं च दुःखं क्लेशं, आत्मीयज्ञानेन जानातीति खेदज्ञः—सदयः । “खेदज्ञः सदयो वीर इति कोपः” । तं परकीयात्मदुःखं विज्ञाय समस्तप्राण-भूत-जीव-सत्वानां दुःखापनोदनसमर्थोपदेशदानादियुक्त इति । अथवा ‘खेयन्नप’ इत्यस्य ‘क्षेत्रज्ञ’=इतिच्छाया तत्रायमर्थः क्षेत्रमाकाशं तद्वक्षणया तन्म-ध्यवर्ती धर्माधर्मात्मकालपुद्गलसमूहस्तज्जनातीति क्षेत्रज्ञः । लोकलोक-स्वरूपपरिज्ञातृत्वादिति । पुनश्च वा यथाऽवस्थितात्मस्वरूपपरिज्ञानादनुभ-वनादात्मज्ञ इत्यपि साधुरेव । अथवा क्षेत्रं=शरीरं तदसारतया जाना-तीति (दर्शयतीति) वा, क्षेत्रं स्त्रीविषयदोषं तद्रमणानुरक्तजं तज्जाना-तीति क्षेत्रज्ञः । “क्षेत्रं नारीशरीरयो” रित्यमरः । कुशलो=निपुणः, सदसज्ज्ञानप्ररूपकत्वात् । “प्रवीणे निपुणाभिज्ञविज्ञनिष्णातशिक्षितः । वैज्ञानिकः कृतमुखः कृती कुशल” इत्यमरः । अथवा तानष्टकर्मकुशान् लुनातीति कुशलः । प्राणिनां कर्मोच्छिद्ये निर्जरार्थाय निपुणः समर्थः । “पर्यासिक्षेमपुण्येषु कुशलं शिक्षिते त्रिष्वित्यमरः” । अथवा प्राणिनां भावुको भद्रकारको मङ्गलपदः । “श्वः श्रेयस शिवं भद्रं कल्पार्ण मंगलं शुभम् । भावुकं भविकं भव्यं कुशलं” इत्यमरः । ‘आहुपत्ते’

इति पाठान्तरं तस्याऽयमर्थः । आमुपन्ने=आशु शीघ्रं प्रज्ञा यस्यासावा-
 शुप्रज्ञः, सर्वत्र सदोपयोगत्वात् [न तु छद्मस्यः शाब्दोऽल्पज्ञ इव
 विचिन्त्य जानातीति भावः । छद्मनि शाब्दोऽल्पज्ञत्वे तिष्ठतीति
 छद्मस्यः । “कपटोऽस्त्रीव्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे, कुसृतिर्निवृत्तिः
 शाब्दमित्यमरः ।” छाद्यते स्वरूपमनेनेति छद्म, कपटे, छले, व्याजे,
 अपदेशे, स्वरूपाच्छादने, रजते, नवनीते, शुद्धे, ऽक्षिरोगभेदे च,]
 महर्षिः=महार्हासावृषिश्चेति महर्षिरित्यत्यन्तोऽप्रतपश्चरणानुष्ठायित्वाऽनु-
 कूलमतिकूलपरिपहोपसर्गादिमहातितिक्षासहनाच्चेति वा, याथातथ्येन
 तत्त्वानां प्रकाशकत्वात्सत्यवाकत्वान्महर्षिः । “ऋषयः सत्यवचस इत्य-
 मरः” । अनन्तज्ञानी=अनन्तमवसानरहितमविनाश्यनन्तपदार्थपरिच्छे-
 दकं वा विशेषार्थग्राहकं ज्ञानमस्यास्तीति अनन्तज्ञानी । एवं सामान्या-
 र्थपरिच्छेदकत्वादनन्तदर्शित्यथवा विशेषार्थज्ञानमनन्तमनवधिकमपरि-
 च्छिन्नमित्यर्थः सर्वज्ञतेति भावः । सामान्यार्थग्राहकदर्शनं तै द्वे अपि
 यस्यानन्ते । “अनन्तोऽनवधावित्यमरः” तदेवं भूतस्य युक्तस्य, अनन्त-
 गुणसहितस्य भगवतो यशःसुरासुरनरातिशाम्यतुलं प्रमाणरहितं चास्त्रि
 यस्य स यज्ञस्त्री=तस्य यज्ञस्त्रिनो, लोकस्य=जगतश्चक्षुःपथे=नयनमार्गे
 भवनस्य कैयलावस्त्रायां विद्यमानस्य लोकाः सूक्ष्मव्यवहितपदार्थाविर्भ-
 वनेन च दृग्भूतस्य स्थितस्य जानीद्यवगच्छ । धर्म संसारोद्धरणस्वभा-
 वत्वावच्छिन्नं ध्रुतचारित्ररूपं । समतातपस्तुष्टियभार्जवोचमक्षमादिचि-
 हितात्मपुरुषार्थं वा । “धृतिः क्षमा दमोऽख्येयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
 धीर्विद्या सत्यमक्रोधं दक्षकं धर्मलक्षणमिति” स्मृतिः ।

तथा च—

धारणाद्धर्ममित्याह, धर्मो धारयते प्रजाः,

धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः ॥

देशकालवयोवस्वाबुद्धिशक्त्यनुरूपतः

धर्मोपदेशभैषज्यं, वक्तव्यं धर्मपारगैः ॥ इति वृद्धाः ।

निष्प्रकम्पां चारित्राचलनस्वभावं धृतिं संयमे धैर्यं, अथ वा प्रति-
ज्ञायाः पालने दृढत्वं धैर्यम् । “धृतिर्धारण-धैर्ययोरित्यमरः ।” संयमे
धृतिं रतिमेतीति, तत्प्रणीतां प्रेक्षस्व सम्यगवबुध्य पर्यालोचयेति
भावः । यदि श्रमणैस्तैः सुधर्मस्वामिभिः कथितस्तत्त्वं भगवतो यशस्वि-
नश्चक्षुःपथे स्थितस्य धर्मं धृतिं चावबुध्यसे तथैव रीत्यास्माकं कथयेति
संगतिः ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—[से] भगवान् महावीर [खेयजे] खेद अथवा क्षेत्र-
आत्माके जानने वालोंमें [पुम्ले] प्रतीण [महेवी] महर्षिं [अणंतनापी]
अनन्त-ज्ञानयुक्त [अणंतदर्शी] अनन्त-दर्शनममन्वित [य] और [जसंनिपो]
यशस्वी थे, अतः अर्हन्द्दशामें ही भगवान्को [चक्षुपुण्ड्रे] आँखोंके विषयरूपसे
[स्थित] स्थित [जाणाहि] जान । (च) और (धर्मं) भगवान्के प्रतिपा-
दित धर्मको (च) और (धिहं) संयमकी दृढतासे देख ।

भावार्थ—आर्ष्व-मुधर्माने आर्ष्वजम्बूसे प्रभुके ज्ञान-दर्शन-चरित्रके
तथा यद्यः कीर्तिके सम्बन्धमें यह वर्णन किया कि-वीरप्रभु जगत्के दुःखोंको
दर्शकोंके फलसे पैदा होना मानते थे, क्योंकि उनको आत्मासे अलग करनेका उप-
देश करते थे । आत्माके सत्-चित्त-सुरात्मक स्वरूपके ज्ञाता थे । कर्मरूपी
दुःखाको उराटनेमें उद्यमशील थे, महान् ऋषि थे, अनन्त-पदार्थोंको एक सम-
यमें जाननेके कारण अनन्तज्ञानी थे, अनन्तदर्शन-केवलदर्शनममन्वित थे, तथा
अखंडकीर्तियुक्त थे, इसलिए भगवान्को अर्हन्द्दशामें आँखोंके समान सूक्ष्म-
पदार्थ दीखते थे, अतः उनके कहे हुए धर्मको तथा चरित्र सम्बन्धी स्थिरताका
धृढायुक्त दृढविचार करो ॥ ३ ॥

भाषाटीका—ज्ञातनन्दन महावीर प्रभु शासनके प्रति ३४ अतिशय
युक्त और ३५ वाणीके गुणोंसे अलंकृत एवं शोभित थे ।

३४ अतिशय-

(१) केश तथा दाढ़ी मूछ के बाल बढ़ते नहीं, या अमुन्दर रीति से नहीं बढ़ते । (२) शरीर नीरोग रहता है । (३) उनके शरीरका छदिर तथा मांस दुग्धकी तरह सुन्दर और स्वच्छ होता है, आदिय होता है, धिनीना नहीं लगता । (४) मुखमें कमलकी सी सुगंधि रहती है, असल अथवा दुग्ध नहीं होती । (५) आहार और नीहारको चर्मचक्षुवाले नहीं देखते, क्योंकि ये क्रियाएँ गुप्त की जाती हैं । (६) आकाश गत छत्र रहता है, अर्थात् सिद्धों का स्मरण अभेद रूपसे करते रहते हैं । (७) आकाश गत चमर युग्म भुत, परित्र रूप धर्म ऊंचा रहता है । (८) आकाश गत स्पष्टिकमय सिंहासन, उनपर १२ बां गुणस्थान घोभित है । (९) पादपीठिक सहित ध्वजरूप तीर्थकर नाम कर्मकी कीर्ति आकाशमें गूंजती रहती है । (१०) प्रभु अशोकमय छायामें रहते हैं, वहा जानेसे औरोंका शोक निवारण करते हैं । (११) मार्गमें चलते समय बरदेकी तरह तीक्ष्ण और पंने हठवासी विनीत हो जाते हैं । (१२) प्रभु अर्थात् समय अनुकूल तथा धर्मकाल हो जाता है । (१३) १२ बोजन तक धाम्तिक्य वायु चलता है । (१४) ज्ञान धारा प्रवाहित होनेसे कर्म रजका अभाव हो जाता है । (१५) भगवान् के समवसरणमें समभावका साम्राज्य छा जाता है । (१६) ध्वन्द, रूप, रस, गंध, स्पर्शमें अनुकूलता और प्रतिफलता रूप प्रवृत्ति विवृति भाव जाता रहना है । (१७) निधय और व्यवहार नय रूपी चर्वर दुलते रहते हैं । (१८) प्रभा या अनन्तज्ञानप्रतिभास्य भानंबल पीठ आसन या आत्माकी घोभा युक्त हैं । (१९) उनकी मधुर भाषा एक योजन तक सुनदि पडती है । (२०) ली, पुष्ट, पशु, पशु उनकी सांकेतिक अर्थ मागधी भाषाको अपनी भाषामें समझते हैं । (२१) मर्त्य लेकर आत्रेवाले लोक प्रभुकी वाणीसे न्याय लेकर निरहंकर होजाते हैं । (२२) प्रभु जहां विचरते हैं वहासे १२५ योजन चारों ओर सात इतियोंमेंसे कोइंसी इति (भय) नहीं होती । (२३) मनुष्य और तिर्यच आपसका जातीय द्विष भाव तथा वैर विरोध छोड देते हैं । (२४) जनता मे किसी प्रकार का भय नहीं होता । (२५) मारि आदिक रोग नहीं होते । (२६) अतिदृष्टि नहीं होती । (२७) अनादृष्टि नहीं होती । (२८) दुर्भिक्ष नहीं होने पाता । (२९) स्वचक्र-अपने राजा या अशुभ कर्मोंका उपद्रव नहीं होता । (३०) पर चक्र-पर राजा या पुद्गल प्रपंचकर

विग्रहादि उपद्रव नहीं उठता । (३१) पहलेद्य फेला हुआ व्याधि रोगादिक नष्ट होजाता है । (३२) बलवान् दुर्बलको नहीं सताता । (३३) पुराण रोगकी उपशान्ति होजाती है । (३४) नवीन रोगको संवरण होजाता है ।

३५ वाणी गुण-

(१) सुन्दर संस्कारित भाषा होती है । (२) स्वर उच्च होता है । (३) भाषा प्रानीय और साधी होती है । (४) स्वर और भाषोच्चारणमें मंजीरता होती है । (५) बोलते समय ध्वनि निकलती है । (६) वाणी सरल होती है । (७) राग युक्त भाषा होती है । (८) मूत्र थोडा और अर्थ अधिक होता है । (९) वाणीमें पूर्वापर विरोध नहीं होता । (१०) सन्देह रहित निम्न २ अर्थ प्रकाशन होता है । (११) निरसंकित गुण दाता हैं । (१२) वाणी अक्रान्त युक्ति युक्त होती है । (१३) चित्त अन्यथा न होकर स्थिर होजाता है, अतः वाणी आकर्षक होती है । (१४) वाणी देश और कालसे उचित संबंध रखती है । (१५) अधिक विस्तृत होकर भी अनमेल या अरुचिकर नहीं होती । (१६) जीवादि वस्तु विचारका ज्ञान कराने वाली भाषा होती है । (१७) उपदेश करते समय किसीका मर्म प्रकाश नहीं करते । (१८) भाषा पूर्वापर मापेक्ष होती है । (१९) आख्यायिकाकी तरह वाणी मनको प्रेमास्पद बना देती है । (२०) भाषा मधुर और अनादिकालकी भूल मिटाने वाली होती है । (२१) उनकी श्रद्धेय भाषा स्वयं सिद्ध होती है । (२२) वस्तुका वास्तविक ज्ञान प्रकट कराती है । (२३) परनिन्दा रूप और अपनी प्रशंसा रूप भाषा नहीं होती । (२४) प्रशंसनीय भाषा होती है । (२५) बोलते समय अधिक कालक्षेप नहीं करते । (२६) चित्तमें सन्तोष होता है । (२७) व्याख्यान मध्यम गतिका होता है । (२८) धोता कर्म रोगसे मुक्त हो जाता है परन्तु मनन करने पर । (२९) वाणी अनादि कालकी भ्रमण मिटाती है । (३०) जिसका वर्णन करते हैं उसका संक्रमण उसी विशेष रूपसे करते हैं । (३१) उनकी भाषा वचनान्तर नहीं होती । (३२) पद, अर्थ अलग २ करके बोलते हैं । (३३) सत्व और साहस श्रोताओंको बढ़ जाता है । (३४) धर्मश्रवण करते हुए लोक अघाते नहीं । (३५) जीवादिक की अविच्छिन्न प्ररूपणा करते हैं ।

खेदज्ञ-

संसारके प्रणियों द्वारा अर्जन किए हुए मार्मिक दुःखविधाकको जानते हैं। कर्म विपाकमें उत्पन्न शारीरिक मानसिक क्रेशोंको प्रभु सदय होकर जानते तथा देखते हैं। उनको दुःखोक्त ज्ञान करानेके अनन्तर प्राण, भूत, जीव और सत्वकी अशान्ति दूर करनेके लिए अहिंसा, सत्य, निस्तृष्ण आदिक उपदेश करके संगारमें शान्तिकी स्थिति-स्थापना करते हैं। अतः खेदज्ञ हैं।

क्षेत्रज्ञ-

आकाशके अनन्त प्रदेशोंमें धर्म, अधर्म, जीव, फल और पुत्रलके अनन्त समूहको जाननेके कारण प्रभु क्षेत्रज्ञ भी हैं। क्योंकि लोक और अलोकके शुभ और प्रगट सब भाषों और विषयोंके ज्ञाता हैं। यथातथ्य स्व-स्वरूप और परस्वरूप जाननेसे आत्मज्ञ हैं। तथा इम नखर, शरीर क्षेत्र में आत्मा या धर्म रूप सार जाननेसे, तथा लोके विषय दोष और उसके रमण और अनुरक्त रहनेमें जो दोष हैं उसे जाननेके कारण क्षेत्रज्ञ हैं।

कुशल-

सत्य और असत्यको अलग करके बता देते हैं, अछ प्रकारके कर्मरूपी तीक्ष्ण कुशलको फाटनेमें कुशल हैं। निर्मलका पथ बतानेमें समर्थ हैं, धर्मोपदेश देनेमें मंगलप्रद हैं अतः कुशल भी हैं।

आशुप्रज्ञ-

आपका उपयोग अनन्त होनेसे आशुप्रज्ञ हैं, परन्तु वह उपयोग दृष्टस्वो-कासा नहीं है। [कहतो कुछ देर सोच विचार करनेके पश्चात् जानता है, कामाण्य वर्गणाओंद्वारा आत्म-स्वरूप पर पर्दा पड जाने के कारण उस कर्म सहित संसारी आत्मा की दृग्स्थ सज्ञा है। परन्तु भगवान् तो 'वियद दृग्माणे' इम दोषसे निवृत्त हैं]

महर्षिः-

अनन्त उग्र तपस्वी अनुष्ठान करनेसे, अलुकूल प्रतिकूल परिपद और उपसर्ग सहन करनेसे, नाना तितिक्षाओं को सहनेसे, तत्र वस्तुका बालाविक रूपमें प्रकाश करनेसे, सत्य वाणीका उच्चारण करनेसे महर्षिं थे।

अतीत, अनागत, वर्तमानका अबन्त स्वरूप जाननेकी दृष्टिसे अनन्तज्ञानी; तथा सामान्य अर्थका मित्र करण करनेसे अनन्तदर्शी थे।

उनके अक्षय और अतुल यश का गायन मनुष्य-असुर और देव सब मिल कर करते थे । संसारकी दो आंखों द्वारा प्रत्यक्षतया सूक्ष्म और बादर पदार्थोंका ज्ञान भलिभांति कर देनेसे उनके प्रतिपादित धर्मको तथा उनकी धीरताको देख !

धर्म-

संसारके प्राणिओंका दुःखोंसे उद्धार करना उसका स्वभाव है अतः वह धर्म है तथा ज्ञान और क्रियाके भेदसे धर्म दो तरहका है ।

“समता, तप, सन्तोष, सरलता, उत्तम क्षमा, आदिक विहित पुरुषार्थको भी धर्म कहा है ।”

“मनुने धैर्य रखना, शान्ति करना, अकिञ्चनइति रखना, इन्द्रिय दमन करना, आत्माको बुरे विचारोंसे हटा कर पवित्र करना, आत्मदोषका निग्रह करना, बुद्धि द्वारा सत्, असत् युक्त अयुक्तका निर्णय करना, निष्पाप तथा निस्पृह सत्य बोलना, आए हुए कोषको निष्फल करना, यह १० प्रकारका धर्म बताया है ।”

धर्मके पारको पानेवाले पुरुषोंने देश काल, अवस्था, बुद्धि, शक्ति, आदि के अनुरूपसे धर्मोपदेशको ही औपव रूप कहा है ।

हसके अतिरिक्त उनकी चरित्रमें निधत्तता धीरता देख ! क्योंकि वे अपनी प्रतिज्ञामें सदैव दृढ रहते थे । संयम के अतिरिक्त वे किसीमें अनुरक्त न थे ॥ ३ ॥

गुजराती अनुवाद—ज्ञाननन्दन शासनपति महावीर प्रभु ३४ अतिशय तथा ३५ प्रकारना वाणी गुणै करी अलंकृत हता ।

३४ अतिशय—(१) माथाना केस-दादीमूछ तथा शरीरना वाळ अने नख मर्यादित होय । (२) नीरोगी अने मेळ, रज आदिषी निलेप शरीर होय । (३) मास अने लोही गायना दूध जेवा उज्वळ अने भीळं होय । (४) शालो-दवास कमळ जेस मुगन्धित होय । (५) प्रभुना आहार अने निहार चर्चमु-ओधी अट्टय होय, चरणके से क्रियाओ शुभ करवामां आवे छे । (६) अघ-शर्मा धर्म चक्र चाळे । (७) आघशर्मा छत्र रहे । (८) आघशर्मा क्षेत्र-चामरो विंशायः । (९) आघशर्मा अत्यन्त खच्छ स्फटिक सिंहासन पदसीड सहित धरं आवे । (१०) आघशर्मा लघुपदाचओधी प्रसन्नित लुर्चर इन्द्र वीर. ४

ध्वज प्रभुनी आंगल चाले । (११) अशोकवृक्ष थई आवे, ह्या जवाभी बीजा-
ओना शोकतुं निवारण थाय । (१२) जरा पाछलना भागमां, मस्तक प्रदेशे
तेजोमंडल थई आवे, ते दसे दिशाओना अंधकारने दूर करे । (१३) पृथ्वी
बहु तपाद अने रमणीय बनी जाय । (१४) कांटा ऊंधां थई जाय, तेनी
माफक बहु हठवासी विनीत थई जाय, (१५) विपरीत ऋतु सुखस्पर्शां थई
जाय, समय अनुकूल तथा धर्म माटे योग्य थई जाय । (१६) क्षीमल-मुलकर-
सुगन्धयुक्तवायु एक योजन क्षेत्रमां बहे । अने सर्व प्रकारनी अशुचि दूर करे ।
(१७) सुगन्धि वृष्टि थाय तेथी आकाशनी रज अने भूमि ऊपरनी रैण ढंकाई
जाय, ज्ञानधारा बरसवासी कर्म रज दूर थई जाय । (१८) रमणीय पंचवर्ण
फूल प्रगटे । (१९) अमनोह (अशुभ) शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गन्ध उपग्रामे
अर्थात् भाग पावे । (२०) मनोह शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध उत्पन्न थाय ।
(२१) चारे वाजुए बेठेओ परिपद भगवान्को योजनातिक्रमी कर बराबर
ध्वन करी शके अने ते शब्दो श्रोताओने प्रिय लागे । (२२) प्रभु अर्धमागधी
भापामां धर्मवेदाना आपे । (२३) आर्य अनार्य देवाना मनुष्यो-पशुओ-पक्षीओ
विगरेने आ भाषा पोछानी भाषामा परिणमे, ते हितकर-मुलकर-आनन्दकर अने
मोक्षदायी लागे । (२४) जन्मवेर, जातिवेर, शान्त थायः । (२५) भगवान्ने
देखतां अन्ध दर्शन-मताभिमानी हठ छोडी मन्न पने छे । (२६) प्रतिवासी
निहत्तर बने । (२७) प्रभु विचरे छे त्यांथी २५ योजन चारे दिशाभा दुष्कल-
उंदर-तीड विगेरेनो उपद्रव रहे नहि । (२८) महामारी मरकी पैग न होय ।
(२९) स्वचक्रनो मय नहीं थाय । (३०) घर लरकरनो भय न होय । (३१)
अति वृष्टि न थाय । (३२) अनावृष्टि न थाय । (३३) दुकाल न पडे ।
(३४) उत्पातो अने व्याधिओ तुरत क्षमी जाय ।

सत्यवाणीना ३५ गुण-

(१) भगवान्नी वाणी संस्कार—लक्षण युक्त होय । (२) बुलंद
आवाज वाली वाणी । (३) सादी । (४) गंभीर । (५) पदबंधा युक्त ।
(६) सरल । (७) उपनीत रागत्व-धोताओ धारे के भगवान् मने उदेशीनेज
उपदेश आपे छे । (८) महार्थ—सूत्र योजने अर्थ षणो । (९) पूर्वापर वाक्यनी
अविरोधी । (१०) शिष्ट । (११) असंदिग्ध, (१२) वाणीमां-अर्थमां दूषण
रहित । (१३) हृदयप्राही, (१४) देश कालने अनुकूल । (१५) तत्वनी.

અર્થ સ્વરૂપ દર્શક । (૧૬) જે સમ્બન્ધ ચાંતવો હોય તેની વિદિ પુરુંજ કહેવું તે । (૧૭) પદ વાચ્યનું પરસ્પર સાપેક્ષ પળું । (૧૮) ઇષ્ટ રીતિનું તત્વનું કહેવું । (૧૯) અલ્પન્ત મધુર-મુશ્કર । (૨૦) પરના રહસ્ય વિગેરેને પ્રકટ નહિ કરનારી । (૨૧) વસ્તુના અર્થ તથા ધર્મ સહિત । (૨૨) અર્થનો જ્ઞાનકાંડ ઉઠે એવાં પદો સહિત । (૨૩) પર નિન્દા અને આત્મપ્રશંસા સહિત । (૨૪) કહેલા ગુણોના યોગથી પ્રશંસા કરવા લાયક । (૨૫) વ્યાખરણના દોષ સહિત । (૨૬) થોસાઓને યોનાના વિષયનો જવાબ મલકવાથી આશ્ચર્ય અને વૈરાગ્ય ઉત્પન્ન કરનારી । (૨૭) અદ્ભુત । (૨૮) અલ્પન્ત વિભ્રમ સહિત । (૨૯) મનની આનંતિ તથા વાચ્ય બોલવાની અશક્તિ વિગેરે દોષ સહિત । (૩૦) સર્વે મુર-અમુર-નર-અને તિર્યંચ પોતાની માપામાં સમજે તેવી । (૩૧) ધીંજા પુરુષોની અપેક્ષાએ શિષ્યોને વિષે વિશેષ યુદ્ધિને પેદા કરનારી । (૩૨) પદો, વાચ્યો સ્પષ્ટ રીતે સમજાય તેવી ચોષ્ણી । (૩૩) પરાક્તમવાદી અનાયાસે વાણી પ્રકાશ્યે જાય । (૩૪) કહેવા ધારેલા અર્થોની સારી રીતે વિદિ ધાય છાં મુધી અવિચ્છિન્ન શામ્ભારણે ચોલ્યા જવામ તેવી ।

સેદ્દહ-

સંસારના પ્રાણિઓએ સચ્ચ કરેલા માર્મિક કર્મના ડુ સવિપાકને તેઓ જાણે છે । કર્મના પરિણામે ઉત્પન્ન શારીરિક તથા માનસિક ક્લેષોને પ્રમુ દયાર્થ બનીને જાણે છે તેમજ દેહે છે । તેમનાં ડુ યોગું જ્ઞાન કરાવવાને તથા પ્રાણ-મૂત-જીવ-સત્વની અશાન્તિ દૂર કરવાને તેઓ અહિંસા-સત્ય-નિસ્તુષ્ણ વિગેરેનો ઉપદેશકરીને સંમારમાં શાન્તિની સ્થાપના કરે છે । તેથી ભગવાન્ શેદસ છે ।

ક્ષેત્રજ્ઞ-

આકાશના અનન્ત પ્રદેશોમાં ધર્મ-અધર્મ-જીવ-ચલ અને પુદ્ગલના અનન્ત સમૂહને તેઓ જાણે છે । તેથી ક્ષેત્રજ્ઞ પણ છે । અથવા લોક-અલોકના ગુપ્ત અને પ્રગટ સર્વે માય અને વિષયના જ્ઞાતા છે । યયાતપ્ય સ્વસ્વરૂપ તથા પરસ્વરૂપના જ્ઞાતા હોવાથી આત્મજ્ઞ છે । આ નચ્ચર શરીર ક્ષેત્રમાં તેમના આત્માના અથવા ધર્મરૂપ સારના જાણકાર હોવાથી, તેમજ છીના વિષય દોષ અને તેમાં રમણ કરવાથી જે દોષો ઉત્પન્ન થાય છે, તેના પણ જાણકાર હોવાથી તેઓ ક્ષેત્રજ્ઞ છે ।

કુશલ-

સત્-અસતને મિષ્ટ મિષ્ટ કરીને વતાવે છે । આઠ પ્રચરના કર્મરૂપી લીણ

કુચને કાપવાનાં કુચલ છે । નિર્જરાનો માર્ગ ચતાવવામા સમર્થ છે, ધર્મોપદેશ
દેવામાં મંગલપ્રદ છે ।

આશુપ્રહ-

તેઓનો ઉપયોગ અનન્ત હોવાથી આશુપ્રહ છે । પરન્તુ તે ઉપયોગ છદ્ધ-
સ્થોના જેવો હોતો નથી । [છદ્ધસ્થ તો થોડો સમય વિચારણા કર્યા બાદ જાણે છે ।
કાર્મણ વર્ગનાઓ દ્વારા આત્મ સ્વરૂપ પર પડદો પડતાં કર્મ સહિત સંસારી આત્માને
છદ્ધસ્થ કહે છે । પરન્તુ ભગવાન્ તો “વિચદ્ધ છદ્ધમાર્ગ” એ દોષ થી મુક્ત છે ।

મહર્ષિ-

અત્યન્ત વમ તપશ્ચર્યા કરવાથી અનુકૂલ પ્રતિકૂલ પરિપદ્ધ તથા ઉપસર્ગ
સહન કરવાથી નાના પ્રચરવા દુ.સ્તો સહવાથી તત્ત્વગત્તું શાસ્ત્રવિક રૂપ પ્રગટ
કરવાથી, સહવાણી ચોલતા હોવાથી, તેઓ મહર્ષિ હતા ।

મૂલ-ભવિષ્ય અને સર્વમાનના અનન્ત સ્વરૂપ જાણવાની અપેક્ષાએ તેઓ
અનન્તજ્ઞાની તથા સામાન્ય અર્થેનું નિષ્કરુણ કરવાથી અનન્તદર્શી હતા ।

તેમના અધ્યવ અને અતુલ મઘનું ગાન મનુષ્ય-મુર-અમુર વિગેરે સર્વે મઢીને
કરતા હતા ।

લોકને ચક્રુમૂલ એવા ધીમહાવીરદેવના પરુપેતા ધર્મને તથા તેમની ધીર-
જને જાણ અને દેશ ।

ધર્મ-

સસારના પ્રાપ્તિઓને દુ.ચમાંથી ઉદ્ધાર કરવાનો તેનો સ્વભાવ છે । જ્ઞાન
અને ક્રિયા એ બે પ્રચરનો ધર્મ છે । સમતા-તપ-સન્તોષ-ચરહતા-ઉત્તમ કામા-
વિગેરેને પણ ધર્મ કહેવામાં આવે છે । ધીરજ રાજવી-જ્ઞાન્તધારણ કરવી-અર્કિ-
ચનકૃતિ, મજવી-શૂદ્ધિય દમન-આખાને ચરાવ વિચારોથી હટાવીને પરિપ્રચનાવધો-
આત્મદોષનેમહ-સુદ્ધિ દ્વારા મનુ-અમનુ-યુક્ષ-અયુક્ષનો નિર્ગંચ, નિષ્પાપ-નિષ્ટૃહ-સજ,
ક્રોધ નિષ્ફલ કરવો-એમ દશ પ્રચરનો ધર્મ મનુએ પણ ચતારેલી છે ।

ધર્મ પારંગત પુરુષોએ દેશ-ચલ અવસ્થા-શુદ્ધિચાકિને અનુરૂપ ધર્મોપદેશ
આપ્યો છે ।

મહાવીરપ્રમુની ચારિત્રનો નિષ્કલતા, ધીરતા ઇટલે તેઓ પોતાની પ્રતિજ્ઞાનો
દનેચ દંડ રહેતા હતા, સર્વ સંચમનાંચ તેઓ મમ રહતા ।

मूल

उहं अहेयं तिरियं दिसासु,
तसा य जे थावर जेय पाणा ।
से णिचणिचेहि समिक्ख पत्ते,
दीवेव धम्मं समियं उदाहु ॥ ४ ॥

संस्कृतच्छाया

ऊर्ध्वमधस्तिर्यङ्क्षु दिक्षु,
प्रसाध ये श्याघरा ये च प्राणिनः ।
स नित्यानित्याभ्यां समीक्ष्य प्रायः
दीप [द्वीप] इव धर्मे समितमुवाह ॥ ४ ॥

सं० टीका—अधुना सुधर्माचार्यस्तद्गुणान् स्फुटं प्रकटनचिकी-
पुराह—ऊर्ध्वमधस्तिर्यङ्क्षु दिक्ष्वथवा चतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके ये जीवाः
“शुद्धनिश्चयनयेनादिमध्यावसानवर्जितस्वपरप्रकाशकाविनश्वरनिरुपाधि-
शुद्धचैतन्यलक्षणनिश्चयप्राणेन यद्यपि जीवन्ति, तथाप्यशुद्धनिश्चय-
नयेनानादिकर्मबन्धवशादशुद्धद्रव्यभावप्राणैर्जीवन्तीति जीवाः । ‘उप-
योगमयाः’ शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन यद्यपि सकलविमलकेवलज्ञानदर्श-
नोपयोगमयास्तथाप्यशुद्धनयेन क्षायोपशमिकज्ञानदर्शननिवृत्तत्वाग्ज्ञा-
नदर्शनोपयोगमया भवन्ति । “अमूर्तयः” यद्यपि व्यवहारेण मूर्त-
कर्माधीनत्वेन स्पर्शरसगन्धवर्णवत्या मूर्त्या सहितत्वान्मूर्तास्तथापि
परमार्थेनामूर्तातीन्द्रियशुद्धबुद्धैकस्वभावत्वादमूर्ताः । “कर्तारः” यद्यपि
मूर्तार्थनयेन निष्क्रियटंकोल्कीर्णज्ञायकैकस्वभावोऽयं तथाऽप्यमूर्तार्थ-
नयेन मनोवचनक्रायव्यापारोत्पादककर्मवीजसहितत्वेन शुभाशुभकर्म-
कर्तृत्वात् कर्तारः । “सदेहपरिमाणा” यद्यपि निश्चयनयेन सहजशुद्ध-
लोकाकाशप्रमितसंख्येयप्रदेज्ञास्तथापि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धाधीन-

त्वेन शरीरनामकर्मोदयजनितोपसंहारविस्ताराधीनत्वात् घटादिभाजन-
 स्थप्रदीपवत् सदेहपरिमाणाः । “भोक्तरः” यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थि-
 कनयेन रागादिविकल्पोपाधिरहितस्वत्मोत्थमुखामृतभोक्तरस्तथाऽप्य-
 शुद्धनयेन तथाविधसुखामृताभावाच्छुभाशुभकर्मजनितमुखदुःखभोक्तृ-
 त्वाद्भोक्तरः । “संसारस्वाः” यद्यपि शुद्धनिश्चयनयेन निस्संसारनि-
 त्यानन्दैकत्वभावास्तथाप्यशुद्धनयेन द्रव्यक्षेत्रकालभावभवपञ्चप्रकारसं-
 सारे तिष्ठन्तीति संसारस्वाः । “सिद्धा” व्यवहारेण स्वत्मोपलब्धि-
 लक्षणासिद्धत्वप्रतिपक्षभूतकर्मोदयेन यद्यप्यसिद्धास्तथापि निश्चयनयेना-
 नन्तज्ञानानन्तगुणस्वभावत्वात् सिद्धाः । त एवंगुणविशिष्टा जीवाः ।
 “विस्रसोर्द्ध्वगतिकाः ।” यद्यपि व्यवहारेण चतुर्गतिजनककर्मोदय-
 वशेनोर्द्ध्वपक्षिर्यमातिस्वभावास्तथापि निश्चयेन केवलज्ञानाद्यनन्तगु-
 णावासिलक्षणमोक्षगमनकाले विस्रसा स्वभावेनोर्द्ध्वगतिकाश्चेति । अत्र
 शुद्धाशुद्धनयद्वयविभागेन नयार्था अप्युक्ताः । आगमार्थः पुनः
 “अस्त्यात्माऽनादिवद्धः” इत्यादिप्रसिद्ध एव शुद्धनयाश्रितं जीवस्व-
 रूपमुपादेयं शेषं च हेयम् । एवंविधा जीवास्तस्यन्त्युद्वेगं भयं प्राप्नु-
 वन्ति यद्वा नरन्ति चेतस्ततो गच्छन्तीति व्रसाः । “चरिष्यु जंगम-
 चरं त्रसमिगं चराचरमित्यमरः ।” ते त्रसास्तु द्वित्रिचतुःषष्ठेन्द्रिय-
 भेदाच्चतुर्धा । तथा ये च स्वावराः पृथिञ्जन्तुतेजोवायुवनस्पतिभेदा-
 त्पंचधा । तिष्ठन्तीति स्वावरा भूताः सत्त्वाश्चापि, यथा च—

“प्राणा द्वित्रिचतुःश्लोका मृतास्तु तरवः स्मृताः ।

जीवाः पंचेन्द्रियाः प्रोक्ताः शेषाः सत्त्वा उदीरिताः ॥”

“स्वावरो जंगमेतर इत्यमरः ।” एते प्राणानां धारकत्वात्प्राणितो
 भवन्ति । प्राणास्तु दशधा यथा—“पंचेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं

च, हुच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः, प्राणा दक्षैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोगीकरणं हि हिंसा ।” एते विद्यन्ते यस्य ते प्राणिनो, जीवस्याधुना तु बाह्यप्राणधनपराक्रमत्वात् “शक्तिः प्राणः पराक्रम इत्यमरः ।” चार्वाकशाक्यादिमतनिराकरणेन पृथ्व्याद्येकेन्द्रियाणामपि जीवत्वमित्यावेदितम् । तान् जीवाभित्यानित्याभ्यां ध्रुवव्ययाभ्यां समीक्ष्य—ज्ञात्वा केवलज्ञानित्वात्मकत्वेण जानातीति प्राज्ञः । द्रव्याधिक-पर्यायाधिकनयाधयणादावेधेति भावः । स ज्ञातुपुत्रो महावीरो भगवान् तत्त्व-पदार्थ-स्वरूपाणां ज्ञापकतया दीपवदीपः प्रकाशकत्वात् यथार्थधर्ममाह—उक्तवान् । सम्यक्तया समतया श्रुतचरित्रारमकं धर्मं वीतरागभावेन रागद्वेषरहितत्वेन सद्गुणानितया चेति । परमकारुणिको हि भगवान् लोकाननुग्रहीतुमेव धर्ममावेदितवान्ननु निजोत्कर्षप्रकाशनार्थमपीति सहृदयैर्ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

अन्ययार्थ—[से] उस [पक्षे] आत्मग्रह केवलज्ञानी प्रभुने [उद्ध] ऊपर [अह्वय] नीचे और [तिरिय] तिरछी [दिसाधु] दिशाओंमें [जे] जो [तसा] प्रस-हिलने सरकनेवाले (य) और [धावर] स्थावर [पाणा] प्राणी हैं, उनको [पिषाणिकेहि] निल और अनित्यदृष्टिसे [समिप्य] जान कर [दीवे व] दीवेकी सदृश अथवा विधसागरमें डूबते जीवोंकेलिए टापूकी तरह (धम्मं) धर्मको [समियं] समानभावसे [उग्रहु] बताया ॥ ४ ॥

भावार्थ—आर्य्य सुधर्म फिर्यों बोले कि-भगवान् महावीर व्रत और स्थावर जीवोंको जोकि-ऊपर-नीचे और इधर उधर भरे पडे हैं, सब जगह वियमान हैं, और जीवोंको उन्होंने पर्यायकी दृष्टिसे अनित्य और द्रव्यकी दृष्टिमें निल्य बताया है । और उनके उत्तम धर्मका उद्देश्य जगत्-सागरमें डूबते हुए प्राणिओंको टापूके समान सहाय देते हैं, और अज्ञानताके अधेरेको मिशनके लिए दीवेके समान है । इस प्रवचनसे अनात्मवादका खण्डन हो जाता है

एवं वृक्ष-वायु-पृथ्वी आदिमें जीव है यह सिद्ध किया है, और जैनदर्शनके प्राप्तिभूत स्याद्वाद-विद्वान्त्वच्च सम्यक् दिग्दर्शन कर दिखाया है ॥ ४ ॥

श्रीसुधर्माचार्य वीर प्रभुके गुणों को प्रकट करते हैं !

भाषा-टीका—सर्वज्ञ-वीर भगवान्ने ऊर्ध्वलोक, मानवलोक, अधो-न्योक के सब जीवोंका स्वरूप इस भान्ति वर्णन करके बताया है कि—“जीव” यद्यपि जीवसमूह शुद्ध निश्चयनयसे आदि, मध्य और अन्त से रहित, अपने और परके गुणोंपर प्रयत्नरहित, उपाधिरहित और शुद्ध चैतन्य (ज्ञान) रूप निश्चय प्राणसे ही जीवित है, तथापि अशुद्ध-निश्चयनयसे अनादि कर्मबन्ध के बशसे जो अशुद्ध इन्द्रियप्राण और भाव प्राण हैं उनसे जीवित रहने के कारण-यह जीव है ।

उपयोगमय—

यद्यपि शुद्धद्रव्याधिक्यनयसे परिपूर्ण तथा निर्मल ज्ञान और दर्शन ही उपयोग हैं इसी से जीवसंज्ञा है, तौ भी अशुद्ध-नयसे क्षायोपशमिकज्ञान और दर्शनसे बना हुआ है, इस लिए ज्ञानदर्शनोपयोगमय है ।

अमूर्त—

यद्यपि व्यवहारनयसे यह जीव मूर्त कर्मों के अधीन होने से स्पर्श, रस, गन्ध, बर्णवाली मूर्तिके द्वारा रचित रहनेके कारण मूर्त है तथापि निश्चय नयसे अमूर्त, इन्द्रियोंसे अगोचर, शुद्धरूप स्वभावका धारक होने से अमूर्त है ।

कर्ता—

यद्यपि जीव निश्चयनयकी दृष्टिसे क्रिया रहित, उपाधिरहित जाननेके स्वभावका धारक है । तथापि व्यवहारनयसे मन, बचन तथा कर्मके व्यापारको उत्पन्न करनेवाले कर्मोंसे युक्त होनेके कारण शुभ और अशुभ कर्मोंका करनेवाला है, अतः कर्ता है ।

सर्वेह परिमाण—

यद्यपि जीव निश्चयनयपूर्वक स्वभावसे उत्पन्न शुद्धलेख्यशकके समान है और असंख्य प्रवेशोंका धारक है, तथापि शरीर नाम कर्मके उदयसे उत्पन्न-संकोच तथा विस्तारके अधीन होने से घटे आदि पात्रोंमें रहे हुए दीपकी सदृश अपने देहके परिमाण जितना है ।

भोक्ता-

यद्यपि जीव शुद्धद्रव्याधिक्य न्यसे रागादिविकल्परूप उपाधिषोते शून्य है, और अपने आत्मसे उत्पन्न हुए अमृतको भोगनेवाला है, तथापि अशुद्ध-न्यसे उस सुखरूप अमृतपदार्थके अभावसे दुःख कर्मसे उत्पन्न सुख और अशुभ कर्मसे उत्पन्न दुःखको भोगता है अतः भोक्ता भी है ।

संसारस्थ-

सुखारमें स्थित रह कर अनेक पर्याय बदलता रहने के कारण संसारी है । यद्यपि जीव शुद्ध निश्चयन्यसे संस्वर रहित है और निश्च आनन्दरूप रूप एक स्वभावका धारक है तथापि अशुद्ध निश्चय न्यसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव इन भेदोंसे पांच प्रकारके संसारमें रहता है अतः यह आत्मा-जीव संसारस्थ भी है ।

सिद्ध-

यह आत्मा सिद्ध भी है । यथाह प्रज्ञापनायाम्—सितं बद्धं—
अष्टमकारं कर्मेन्धनम्, ध्यातं दग्धं जाज्वल्यमानशुक्लध्यानानलेन यैस्ते
निरुक्तविधिना सिद्धाः । अथवा 'पिधु गतौ' इति वचनात् सेधन्ति
स अपुनराष्टृत्या निवृत्तिपुरीमगच्छन्, अथवा 'पिधु सराद्धौ' इति
वचनात् सिद्धन्ति स निष्ठितार्था भवन्ति स । अथवा "पिधून्
शास्त्रे मांगल्ये च" इति वचनात् सेधन्ति स शास्त्रारोऽभूवन्, मांगल्य-
रूपतां चानुभवन्ति सेति सिद्धाः । अथवा सिद्धा नित्या अपर्यवसान-
स्वितिःकृत्वात्, प्रख्याता वा भव्यैरुपलब्धगुणसन्दोहत्वात्, आह च,

“ध्यातं सितं येन पुराणकर्म, यो वा गतो निर्वृत्तिसौधमग्निः;

ख्यातोऽनुशास्य परिनिष्ठितार्थो, यः सोऽस्तु सिद्धः कृतमंगलो मे”

अतः स सिद्धो नमस्करणीयधैर्यामविप्रणाशिज्ञान-दर्शन-मुक्त-
शक्त्यादिगुणयुक्ततया स्वविषयप्रमोदप्रकरोत्पादनेन भव्यनामतीवो-
पकारहेतुत्वादिति ।

भावार्य—“आठ प्रकारके कर्मरूपइन्धनके मुख्यानकी आंगसे जिसने जल दिया हो वह सिद्ध होता है, अथवा गत्यर्थक ‘विधु’ धातुसे सिद्ध अर्थात् अपुनरावृत्ति की अपेक्षा जो निश्चिन्तिपुरीमें पहुँच गए हैं वह सिद्ध हैं; अथवा निष्पत्यर्थक ‘विधु’ धातु द्वारा ‘सिद्ध’ यानी जिसने अपने अर्थको निष्पन्न किया है, और जो कृतकृत्य होगया हो, वह सिद्ध है; अथवा शास्त्रार्थक और नागस्यार्थक ‘विधून्’ धातुसे ‘सिद्ध’ यानी जो सासनकर्ता हो, अथवा जो मंगलत्वके स्वरूपका अनुभव कर्ता हो, या जो स्वयं मंगलरूप हो वह ‘सिद्ध’ है; अथवा नित्य कारण जिनकी स्थिति अविनाशी है, अथवा भव्य जीवोंको जिनके गुणममूह उपलब्ध होने से प्रसिद्धि प्राप्त है, या जिन्होंने बाधा हुआ पुराना कर्म जला दिया है, जो निश्चिन्तिरूप महलके शिपरके ऊपर जा पहुँचा है, जो प्रसिद्ध है, अनुशासन करनेवाला है, कृतार्थ है, यह सिद्ध प्रभु हमारे लिए कृत मंगल है नमस्कार करने योग्य है, इसीलिए कि—वे अविनाशी—ज्ञान, दर्शन, सुख, शक्ति, आदिकसे युक्त हैं और स्वविषय आनन्दोत्कर्ष के उत्पादक होनेसे भव्य जीवोंके ऊपर अप्रतिम उपकार करने से वे नमन करने योग्य हैं;” यद्यपि जीव व्यवहार नयके कारण अपनी आत्माकी प्राप्ति रूप उपरोक्त सिद्धत्व युक्त है, और उसके प्रतिपक्षी कर्मोंके उदयसे असिद्ध है, तथापि निश्चय नयसे अनन्तज्ञान और अनन्तगुण स्वभावका धारक होनेसे सिद्ध है;

ऊर्ध्वगामी-

इन कहे हुए गुणोंका धारक जीव स्वभावसे ऊर्ध्वगमनकरनेवाला है, यानी व्यवहारसे चार गतियोंको पँश करनेवाले कर्मोंके उदयसे ऊँचा, नीचा, तथा तिरछा गमन करनेवाला है, तथापि निश्चयनयसे केवलज्ञान, आदि अनन्त-गुणोंकी प्राप्ति स्वरूप मोक्षमें चला जानेके कारण स्वभावसे ऊर्ध्वगमन करने वाला है, इन प्रकार जीवका स्वरूप शुद्ध और अशुद्ध नयरी दृष्टिसे सम्झाया गया है । और अनादि कालसे कर्मोंद्वारा आत्मा स्वयं बंधनर संसारमें दल रहा है इत्यादि आगमका अर्थ तो प्रसिद्ध ही है । और शुद्ध नय के आधित जीवका स्वरूप उपादेय यानी ग्रहण करने योग्य है और बाकी सब ह्य है तथा उनके त्रय और स्थावर ये दो नेद हैं ।

प्रस-

प्रय प्राणी वे हैं जो किसी के द्वारा भय, डार, और उद्वेग पाकर, या

सताया जाकर अपने बचनेके लिए जो इधर उधर भ्रम फिर सकते हैं, जिनके दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पांच इन्द्रिय, ये चार प्रकार हैं।

स्थावर-

पृथिवी, पानी, आग, हवा, वनस्पतिके भेदसे पांच स्थावर हैं। ये अपने ऊपर आए हुए संकट से बचनेके लिए उद्यम करनेमें सर्वथा अशक्त हैं, बहुत धोसी समझ है, और जन्म मरण भी अधिक करते रहते हैं, पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु के जीव ४८ मिनट में १२८२४ बार मर कर जन्म लेते हैं, वनस्पतिमें निगोदजीवकी अपेक्षा ६५५३६ बार जन्मते मरते हैं। हमारा एक धाग मुससे भाता है और ये १७ बार जन्म कर मरते हैं। अतः ये सब स्थावर कहलाते हैं। इन्हीं में भूत सब भी हैं यथा-

२-३-४ इन्द्रियवालोंको प्राणी संज्ञक जानना चाहिए। वनस्पतिकी भूत संज्ञा है। पांच इन्द्रिय वालोंको जीव संज्ञक माना है। पृथ्वी, पानी, आग, हवाको सत्व संज्ञासे पहचानते हैं। इन सब जीवोंमें १० द्रव्य प्राण होते हैं। जिनकी गणना इस भाँति है।

१० द्रव्य प्राण—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय, मन, वचन, क्रय, आयुके प्रमाण, धास उच्छ्वासका लेना छोडना, इत्यादि १० प्राण हैं। यह प्राण धन सब जीवोंको अत्यन्त प्रिय है। जब इन पर मुसीबतका झुहाडा बजता है तब उस धनसे मोह एक दम हटा देता है। स्थावरोंमें जीव सिद्धि होनेसे चार्वाकदि का खण्डन हो जाता है। भगवान्ने इन सब जीवोंको इन्द्रियकी दृष्टिसे नित्य और पर्याय की दृष्टिसे अनित्य फर्माया है। इसे द्रव्याधिक और पर्यायाधिक नयके आधरसे भी समझाया है। प्रभु स्वयं टापू की तरह डूबते हुए सखारी जीवोंको सहायक भूत हैं, और उनका ज्ञान सत्व-परदार्य का पृथक् ज्ञान करनेके कारण दीपकके समान हैं। दीपककी तरह स्व-पर रूपका ज्ञान प्रकट हो जाता है। यही भगवान्का धर्म है, जिसे उन्होंने और तीर्थकरोंकी भाँति समता अर्थात् नुलनात्मक दृष्टिसे कहा है। इनका धर्मोपदेश करनेका आशय लोकोंको समभाव-उपशानभाव-अहिंसाभाव तथा सत्वका स्वरूप समझाकर सखारमें परीपकारिता फैलाना था इस जन्य उत्कर्ष प्रकट करनेका उद्देश नहीं ॥ ४ ॥

गुजराती अनुवाद—सुधर्मानर्चय वीप्रभुना गुणोनुं वनन करे ते।

સર્વેણ પ્રમુ ધીવીરભયવાને ઝર્ષલ્લોક અધોલોક અને ત્રિહાલોકના સનત્ત જીવોનું સ્વરૂપ આ રીતે વર્ણવેલું છે ।

જીવ-

જો કે જીવ સ્મુદ્ધ શુદ્ધ નિદ્યય નયથી આદિ-મધ્ય અને અન્ત રહિત, સ્ત તથા પર ગુણ પ્રક્રમશુદ્ધ, ઉપાધિ રહિત, અને શુદ્ધ ચૈતન્ય (જ્ઞાન) રૂપ નિદ્યય પ્રાણથી જીવિત છે । તો પણ અશુદ્ધ નિદ્યય નયે અનાદિ કર્મ બંધના કારણે જે અશુદ્ધ દ્રવ્ય પ્રાણ અને માવ પ્રાણ છે તેનાથી જીવિત રહેવાને કારણે જીવ છે ।

ઉપયોગમય-

જો કે શુદ્ધ દ્રવ્યાર્થિક નયે જીવ પ્રતિપૂર્ણ તથા નિર્મલ જ્ઞાન દર્શન મય છે, તો પણ અશુદ્ધ નયે ક્ષાયોપદામિક જ્ઞાન દર્શન શુદ્ધ છે, તેથી જીવ જ્ઞાનદર્શનોપ-યોગમયી છે ।

અમૂર્ત-

વ્યવહારનયથી આ જીવ મૂર્ત કર્મોને વશ હોવા થી સ્પર્શ-રસ-ગંધ-વર્ણ બાઢી મૂર્તિથી રચિત હોવાના કારણે મૂર્ત છે । પણ નિદ્યય નયે અમૂર્ત, ઇન્દ્રિયોથી અગોચર શુદ્ધરૂપ સ્વભાવનો ધારક હોવાથી અમૂર્ત છે ।

કર્તા-

જીવ નિદ્યયનયે ક્રિયા રહિત, ઉપાધિરહિત, જાણવાનો સ્વભાવનો ધારક છે; પણ વ્યવહાર નયે મન-વચન-કવચના વ્યાપારને ઉત્પન્ન કરવાવાઢી કર્મોથી સહિત હોવાના કારણે શુભાશુભ કર્મનો કર્તા છે ।

સદેહ પરિમાણ—જીવ નિદ્યય પૂર્વક સ્વભાવથી ઉત્પન્ન શુદ્ધ લોચનમય સમાન છે, તેમજ અસંકલ્પ પ્રવેશોનો ધારક છે, પણ ચરીર નામકર્મના ઉદયે ધઢા વિગેરે પાત્રમાં રહેલા લીલાની માફક સંકલ્પ વિકલેચમય હોવાના કારણે દેહપ્રમાણ રહે છે ।

મોષ્ટા—શુદ્ધ દ્રવ્યાર્થિક નયે જીવ રાગાદિ વિદ્યસ્વરૂપ ઉપાધિથી રહિત છે, તેમજ નિજાગ્મથી ઉત્પન્ન અમૂર્તનો મોષ્ટા છે, પણ અશુદ્ધનયે તે મુલરૂપ અમૂર્ત પદાર્થોના અભાવે શુભકર્મથી ઉત્પન્ન મુલ અને અશુભ કર્મથી ઉત્પન્ન ડુ.સનો મોષ્ટા છે ।

संसारस्थ—संसारमां रहींने पर्याय बदलता रहेवाने कारणे संसारी छे, जो के शुद्ध निश्चय दृष्टि जीव संसार रहित छे, तेमज नित्य आनंदधनरूप स्वभावनो धारक छे, तो पण अशुद्ध निश्चय नये द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-भव ए पांच प्रकारे संसारमां रहे छे, तेथी आत्मा-जीव संसारस्थ पण छे ।

सिद्ध—आठ प्रकारना कर्मरूप ईषणने शुद्धप्याननी आग वटे जेमे बाळी दीया होय, ते सिद्ध छे; अथवा मल्यार्थक “विधु” धातु थी सिद्ध अर्थात् अपुनरा-वृत्तिनी अपेक्षा जे निवृत्ति पुरीमा पहुँची गया छे, ते सिद्ध छे, अथवा निष्पत्य-र्थक “विधु” धातु थी सिद्ध एटके जेमे पोताना अर्थ निष्पन्न कर्ता छे, अने जे कृतकृत्य पर्यं गया छे, ते सिद्ध छे, अथवा चालार्थक तेमज मांगत्यार्थक ‘विधुम्’ धातुथी सिद्ध अर्थात् जे शासन कर्ता छे, अथवा जे मंगलरचना स्वरूपना अनुभव कर्ता छे, अथवा जे स्वयं मंगलरूप छे, ते सिद्ध छे; अथवा नित्य होवाना कारणे जेनी स्थिति अविनाशी छे, अथवा भव्य जीवोमां जे गुणसमूह उपलब्ध होवाना कारणे प्रसिद्धि पामेला छे, अथवा जेमे पूर्वे बाधेलां जुनां कर्मों बाढी नाख्या छे, जे निवृत्ति महेलना बिसर पर बिराजे छे, जे प्रसिद्ध छे, शासन कर्ता छे, कृतार्थ छे, ते सिद्ध प्रभु उदासीन रूपेण आपणां मंगलना करनार छे, नमस्कार करवा योग्य छे, एटला माटे के तैओ अविनाशी ज्ञान, दर्शन, सुख, शक्ति आदि थी युक्त छे, अने सविषय आनन्दोत्कर्ष उत्पादक होवाथी भव्य जीवो पर अप्रतिम उपकार करवाने लीधे नमन करवा योग्य छे, जो के जीव व्यवहार नये पोताना आत्मानो प्राप्तिरूप उपरोक्त सिद्धत्व गुणवाले छे, ने तेना प्रतिपत्ती कर्मोंना उदये असिद्ध छे, तो पण निश्चय नये अनन्तज्ञान अने अनन्तगुण स्वभावनो धारक होवाथी ते सिद्ध छे ।

ऊर्ध्वगामी—उपरोक्त गुणो धारण करनार जीव स्वभावथी ऊर्ध्वगमन करवा बाळो छे, अने व्यवहारे चतुर्गतिमां रखडावनार कर्मोंना उदयथी ऊँची, नीची तथा तिरछी दिशामां गमन करवाबाळो छे, तो पण निश्चय नये केवलज्ञानादि अनन्त गुणोनी प्राप्ति स्वरूप मोक्षमां जवाना कारणे स्वभावथी ऊर्ध्वगमन करवाबाळो छे, आ रीते शुद्ध अने अशुद्ध नये जीवुं स्वरूप समजावेळुं छे, अनादिकालथी कर्मबंधथी बंधाएलो आत्मा संसारमां रखडीव रझो छे, इत्यादि आगमथी प्रसिद्ध छे, शुद्ध नये जीवुं स्वरूप उपादेय अर्थात् ग्रहण करवा योग्य छे, अने बाकी जीवुं बधुं होय छे, तेना प्रस अने स्थावर एवा वे मेद छे ।

વ્રસ-ચોરે થી ભય, ત્રાસ, હરેગ પાનીને અથવા સતામણી પામતાં પોતાના બચાવ અર્થે જે અહીં તહીં હરી પરી કે માગી શકે છે, તે વ્રસ છે, તેના ચેન્દ્રિય, તેન્દ્રિય, ચૌરિદ્રિય અને પંચેન્દ્રિય એવા ચાર ભેદ છે;

સ્થાવર-પૃથ્વી-પાણી-અગ્નિ-વાયુ અને વનસ્પતિ એ પાંચ સ્થાવરના ભેદ છે । જૈઓ પોતાનાં પર આવી પડેલાં સંકટોમાંથી બચવાનો પ્રયત્ન કરવામાં સર્વથા અશક્ત છે, પાણીજ ઓછી મેમજવાણ છે, જન્મ-મરણ ઘણાં કરે છે; પૃથ્વી-પાણી-અગ્નિ અને વાયુના જીવો ૪૮ મિનિટમાં ૧૨૮૨૪ વાર જન્મે છે ને મરે છે, વનસ્પતિમાં નિર્ગોદના જીવો ૬૫૫૨૬ વાર જન્મે મરે છે, એક ધાતોદ્ધાસમાં તે એટલા ભદ્ર કરે છે, આથી આ યથા સ્થાવર કહેવાય છે । આ દરેકના જીવ છે, અને તે કેવા સ્વરૂપે છે તે નીચેની હપ્તીકલે સમજાણે તે તમામને શરીર છે, અને તેના શરીરને મનુષ્યના શરીર સાથે જુદી જુદી રીતે સરખાવવામાં આવે છે ।

પૃથ્વીકાય—જેમ મનુષ્યને ઘંઈ વાગેલું હોય અને ધા પડેલ હોય, તે સમાતા ધીમે ધીમે મરાઈ જાય છે, તેમ ધોદેલી યાળો પણ સ્વયં મરાઈ જાય છે, જેમ ઉષાકાળે ચાલનાર મનુષ્યના પગતું સલ્કિલું પસાય છે તેમ વધતું જાય છે, તેવીજ રીતે માળસો-પશુપક્ષી તથા વાહનોની આકાશ ધવાથી પૃથ્વી પથ્થરોજ પમાય છે, ને રોજ યથવા પામે છે, જેમ ચાલક વધે ॥ તેમ પર્વત પણ ધીમે ધીમે નિલ્ય વધે છે, માળસને લોટું પકડતું હોયતો માળસને લોટા પાસે જયું પડે છે, હારે લોહ પુષ્ક નામનો પથ્થર પોતાને સ્થાને રહીને પોતાની ચૈતન્ય શક્તિ થી શ્રેટાને પોતાની પાસે ધંચી લે છે, માળસના પેટમાં પથરીનો રોગ થાય છે તે સખેત પથ્થર હોવાથી નિલ્ય વધે છે, માછલીના પેટમાં રહેલ મોલી પણ એક જાતનો પથ્થર છે, અને તે પણ નિલ્ય વધે છે, જેમ માળસના શરીરમાંના હાડકામાં જીવ હોય છે, તેમ પથ્થરમાં પણ જીવ હોય છે ।

અપકાય—જેમ પૃથ્વીના હંડામાં રહેલ પ્રવાહી પદાર્થ પંચેન્દ્રિય પક્ષીના પિંડ સ્વરૂપે છે, તેમ પાણીના જીવો પણ તે એકેન્દ્રિય જીવોના પિંડ રૂપે છે, મનુષ્ય તથા તિર્યંક ગર્ભ અવસ્થામાં શરૂઆતમાં પ્રવાહી પાણી રૂપે હોય છે, તેમ પાણીમાં પણ જીવ સમજવા, જેમ ઝિવાઢામાં મનુષ્યના મુઠમાંથી વણક નીકળે છે, તેમ કુવાના પાણીમાંથી પણ વણક નીકળે છે, જેમ ઝિયાઢામાં મનુષ્યનું શરીર ગરમ હોય છે, તેમ ઝિયાઢામાં કુવાનું પાણી પણ ગરમ હોય છે, જેમ ગરવીમાં મનુષ્યનું શરીર શીતલ હોય છે, તેમ ઢનાઢામાં કુવાનું પાણી પણ શીતલ હોય છે,

જેમ મનુષ્યની પ્રકૃતિમાં પણ શરવી તથા ગરમી હોય છે, તેમ પાણી ની પ્રકૃતિમાં પણ શરવી તથા ગરમી હોય છે, જેમ મનુષ્યનું શરીર શિયાલામા અકઠાઈ જાય છે, તેમ શિયાલામાં તઢાવનું પાણી પણ અકઠાઈ જઈને બરફ બને છે, જેમ મનુષ્ય શ્વાત્વાવસ્થા, યુવાવસ્થાને વૃદ્ધાવસ્થા જેવાં નવાં રૂપ ધારણ કરે છે, તેમ પાણી પણ બરાઠ-બરફ ને વરસાદ આદિ રૂપ ધારણ કરે છે, જેમ મનુષ્યનો દેહ માતાના ગર્ભમાં પાકે છે, તેમ પાણી પણ છ માસ વાદલામાં ગર્ભ રૂપે પાકીને વેપાનું રૂપ ધારણ કરે છે, જેમ મનુષ્યનો કાચો ગર્ભ કોઈક ચાર ગઢી જાય છે, તેમ પાણીનો પણ કાચો ગર્ભ ગઢી જાય છે, જેને કરા પન્ના કહેવાય છે;

તેજસ્કાય—જેમ મનુષ્ય શ્વાસોશ્વાસ સિવાય જીવી ન શકે, તેમ અગ્નિ પણ શ્વાસોશ્વાસ સિવાય જીવી શકતો નથી, જેમ તાવમાં મનુષ્યનું શરીર ગરમ રહે છે, તેમ અગ્નિના જીવો પણ ગરમ હોય છે, ભરણ પામવાથી મનુષ્યનું શરીર ટંડુ પઠી જાય છે, તેમ અગ્નિના જીવો પણ મરી જવા થી ઠંડા પઠી જાય છે, જેમ આગીવાના શરીરમાં પ્રકાશ હોય છે, તેમ અગ્નિના જીવોમાં પણ પ્રકાશ હોય છે, જેમ માણસ ચાલે છે, તેમ અગ્નિ પણ ચાલે છે, એટલે અગ્નિ ફેલાઈને તે આગઠ થયતો જાય છે, જેમ મનુષ્ય ઑક્સીજન [પ્રાણવાયુ] હવા લે છે, ને કાર્બન [વિપવાયુ] બહાર કાઢે છે, તેમ અગ્નિ પણ ઑક્સીજન હવા લઈને કાર્બન હવા બહાર કાઢે છે ।

ધાયુકાય—હવા હજારો માઠ મુઠી સ્વતન્ત્ર રીતે ચાલી જકે છે, હવા પોતાના વૈતન્ય વઠથી મોટા વિજાઠ રૂક્ષ તથા મોટા મહેલોને પાઠી નાલે છે, હવા પોતાનું શરીર નાનામાંથી મોટું બનાવે છે, વર્તમાનકાઠમાં વિજ્ઞાનિઓએ શોધ કરી છે, કે હવામાં વેક્યુમસ નામનાં સૂક્ષ્મ જંતુઓ રહે છે ને તે એટલા સૂક્ષ્મ છે કે, સોયની અળી લેટલા માગમાં એક લાચ જંતુઓ મુલેથી આરામ પૂર્વક વેસી શકે છે ।

વનસ્પતિ કાય—મનુષ્યનો જન્મ માતાના ગર્ભમાં રહ્યા પછી થાય છે, તેમ વનસ્પતિના જીવો પણ પૃથ્વીમાતાના ગર્ભમાં અમુક સમય રહ્યા પછી બહાર નીકઢે છે, જેમ મનુષ્યનું શરીર નિલ્ય વધે છે, તેમ વનસ્પતિનું શરીર પણ નિલ્ય વધે છે, જેમ મનુષ્ય શ્વાત્વાવસ્થા-યુવાવસ્થા ને વૃદ્ધાવસ્થા મોગવે છે, તેમ વ્રણે અવસ્થા વનસ્પતિ પણ મોગવે છે, જેમ મનુષ્યના શરીરને કપવાથી લોહી નીકઢે છે, તેમ વનસ્પતિના શરીરને કપવાથી તેમાંથી પ્રવાહી પ્રદાર્થ વિવિધ રમના નીકઢે છે,

जेम खोराक मळवाधी मनुष्यनुं गरीर पुष्ट थाय छे, अने न मळवाधी मुकई जाय छे, तेम वनस्पति पण खातर तथा पाणीनो खोराक मळवाधी ते विकास पामे छे, अने तेना अभावे ते मुकई जाय छे, जेम मनुष्य श्वास ले छे, तेम वनस्पति पण श्वास ले छे, दिवसे चर्बन हवा लईने रात्रे वनस्पति ऑकसीजन हवा बाहर न्यडे छे, जेम केटलाक मनुष्यो माखाहारी होय छे, तेम वनस्पति पण माखी-पतंग आदि नाना जीवोना सत्कने पोतना पांदज बती चुसी ले छे, या खातर अने हवा द्वारा मांमाहार करे छे, चन्द्रमुखी पुष्प चन्द्रमानी सामे ने सूर्यमुखी पुष्प सूर्यनी सामे खीले छे, अने तेमना अन्न थवाधी बीगई जाय छे ।

तेमां भूत-सत्त्व पण छे, जेमके बे-अण-चार इन्द्रियवाळा जीवो प्राणी कहे-वाय छे, वनस्पतिने भूत, पांच इन्द्रियवात्मने 'जीव,' अने पृथ्वी-वाणी-अग्नि-वायुने 'सत्त्व' कहे छे, ए बधा जीवोमां १० द्रव्य प्राण होय छे, जेनी गणतरी नीचे मुजब नी छे ।

पांच इन्द्रिय, मन, बचन, कथ, आयुष्य, स्वासोस्वास, ए दश प्राण छे, आ प्राणधन सर्व जीवोने अत्यन्त प्रिय छे ।

स्वाधरोर्मा जीव होवानुं सामित थवाना पुष्ट करणे थार्वाक-नास्तिक आदिनुं खंडन धरे जाय छे, आ सर्व जीवो द्रव्य दृष्टिए नित्य अने पर्याय दृष्टिए अनित्य छे, एम महावीर भगवाने फरमावेलुं छे, प्रभु पोते बैठ गमान रूपता संसारी जीवोने सहायक छे, तेमज तेमनुं ज्ञान तत्वनो निर्णय करववाने करणे दीपरु समान छे, दीपरु समान स्वरूप-पररूपनुं ज्ञान प्रगट धरे जाय छे, आ भगवान्को धरने छे, के जे तेओए गुलनात्मक दृष्टि थी कहेल्ये छे । धर्मोपदेश फरवानो तेमनो उद्देश लोकोंने समभाव-दाम्नि-अहिंसा-रत्ननुं स्वरूप समजावीने परोपकार करवानो हतो, पण पोतानो उरुष्ये प्रगट करवानो न हतो ॥ ४ ॥

मूल

से सखदंसी अभिभूय नाणी,

णिरामगंधे धिङ्मं ठियप्पा;

अणुत्तरे सखजगंसि विज्जं,

गंधा अतीते अभए अणाऊ ॥ ५ ॥

संस्कृतच्छाया

स सर्वदर्शी अभिभूय घ्नाती, निरामगन्धो धृतिमान् स्थितात्मा ।
अनुत्तरः सर्वजगति विद्वान्, ग्रन्थादतीतोऽभयोऽनायुः ॥ ५ ॥

सं० टीका—स ज्ञातृपुत्रमहावीरो भगवान् सर्वदर्शी समासीत्, किं कृत्वा, अभिभूय=यावद्वाविंशतिपरिपहान् तिरस्कृत्य पराजयं कृत्वेति । पुनः केवलाख्यं ज्ञानमस्यास्तीति सः । “अत इनिठनौ ।” परतीर्थाधिपारधिकत्वमावेदितमित्यनेन ॥ अथ ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष इति तस्य भगवतो ज्ञानं प्रदर्श्य क्रियां दर्शयितुमाह ॥ निर्गतोऽपगत आमो विशोधिफोटिरूपो गन्धो यस्मात् सोऽस्ति निरामगन्धो=मूलोत्तरगुणसमन्वितां चरित्रक्रियां कृतवान् इति । धृतिमान् स्वैर्यसम्पन्नो निश्चलतया चरित्राराधकः । स्थितात्मा=निर्मलात्मा शुक्लध्यानीति, यावदथवा स्थित्यात्मा मर्यादान्वितात्मा, यथा “संस्वातुं मर्यादा धारणा स्थितिरित्यमरः ।” अशेषकर्मविगमात्स्थितो व्यवस्थित आत्मा यस्य स स्थितात्मा । परिणामद्वारेण विशेषणं ज्ञानक्रिययोरेतच्चेति भावः । अनुत्तर=उत्कृष्टः श्रेष्ठो नास्मादुत्तरं प्रधानं सर्वसिद्धिपि जगति विद्यते सोऽनुत्तरः । “अनुत्तर एषां विपर्यये श्रेष्ठ इत्यमरः” । विद्वान्=सर्वहैयोपादेयज्ञेयपदार्थवेत्ता, सकलद्रव्याणां करतलमलकवत्प्रत्यक्षदर्शीति भावः । “विद्वान् विपश्चिदोपज्ञः सन्मुषीः क्लोविदो बुधः, धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञ, इत्यमरः” । ग्रन्थादतीतो=ऽन्तर्बालपरिग्रहग्रन्थादतीतो रहितः, अथवा कर्मरूपाद्ग्रन्थादतिक्रान्तो रहितो निर्ग्रन्थ इत्यर्थः । प्रवृत्तिभावेऽथवा कर्मपर्वणोऽतीत इत्याशयः । “ग्रन्थिर्ना पर्वपहपी इत्यमरः” । अभयः=सप्त प्रकारकं भयं न विद्यते यस्यासावभयो भीतिरहितः । “दरस्त्रासो भीतिर्भीः साध्वसं भयमित्यमरः” । अनायुः=नारकतिर्य्यङ्मसुरायुररहितत्वात् । दग्धकर्मवीजत्वेन पुनर्-

त्पादस्याभावाच्चेत्यर्थः । “दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे, नारोहति मवांकुर इति” ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—[धे] वह [मन्वदंसी] सब कुछ देखनेवाले भगवान्
[अभिमूय] धायोपशमिक ज्ञानोंको जीतकर [नाणी] केवलज्ञान संयुक्त,
[गिरामगंधे] निर्दोष चरित्र पाउनेवाले [धिइमं] धीरता समन्वित [टिण्पा]
अपने आत्म-स्वरूपमें स्थिर-सत्य [सन्वजगंति] अधिल विध्वंस [अणुतरे]
समसे उत्कृष्ट [मिजं] पदार्थोंके जाननेवाले सर्वज्ञ-सर्वविषयज्ञ [गंधा] परिग्रह-
ग्रन्थीसे [अर्ताते] रहित [अभए] सात भयोंसे रहित [अनाड] और
आयु रहित धे ॥ ५ ॥

भावार्थ—भगवान् महावीर स्वामी सामान्यरूपसे पदार्थोंके जाननेवाले
तथा मति-श्रुति-अवधि और मन-पर्यव इन चार धयोपशमजन्य ज्ञानोंको लाप-
कर केवलज्ञानसमुत्पन्न धे; और उन्होंने यह भी बताया कि-ज्ञान और चरित्रसे
ही मोक्ष होता है अतः प्रभुके ज्ञानया वर्णन करके चरित्रका वर्णन करते हैं । भग-
वान्ने मूलगुण और उत्तरगुणोंका पूर्णतासे पालन किया तथा अनेक विप्र बाधा
और परिग्रह पड़नेपर भी स्वचरित्रमें निधल रहे । भगवान् तीनों लोकमें सबसे धेष्ठ
विद्वान् परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ और सातभयसे रहित तथा सब कर्मोंसे मुक्त धे ॥५॥

भाषा-टीका—प्रभु २२ परिग्रह और शारीरिक मानसिक कष्ट तथा रणा-
दिक एवं ज्ञानावरणीयादिक भ्रान्तरिक शत्रुओंको जीत कर केवल ज्ञानी होगए ।
आपने ज्ञानको प्रमुख पद देकर संसारको क्रियाका भी भ्रान कराया । और
यह सिद्ध कर दिखाया कि ज्ञान और क्रिया इन दोनोंका आध्य देनेसे मोक्ष
है । अतः धे स्वयं आत्मगन्ध-मूल गुण और उत्तर गुणरूपी दोदोंसे रहित
धे । आपने धीरतासे चरित्रका पालन किया, आत्माको शुद्धिपानमें स्थिर किया ।
यमोंका सर्वथा नाश करनेके लिए निरुत्तात्मा होकर स्थित रहे, स्थिरता उनका
प्रधान गुणथा । और ब्रह्मज्ञान-पाकर हाथ पर धरे धामटेकी तरह सब चरा-
चरको जान लिया । क्योंकि अन्तर और बाह्य परिग्रहसे रहित होकर कर्म
प्रभियका सर्वथा भेदनकर चुके धे अतः आप निर्ग्रन्थ धे । यही कारण है कि
बौद्धादिक आपको अब तक भी निगमण्टके नामसे स्मरणमें रखते हैं । आप
स्वयं धन्य रहकर औरोंको निर्भय बनानेके धर्म उपदेश देते और लोकोंमें

सखा वीर रस पैदा करते । देव, मनुष्य, पशु और नरकके आयुके लम्बे तारोंको तोड़ फोड़ कर नष्ट कर दिया । क्योंकि जब बीजको सँक भून दिया जाता है तब उसे बोया भी जान तब भी वह अंकुर नहीं देता अर्थात् उसकी सृष्टि अगादी नहीं बढ़ती, इसी प्रकार कर्मबीज नष्ट होने पर संसारका अंकुर अर्थात् जन्म और मरण नष्ट हो जाता है ॥ ५ ॥

गुजराती अनुवाद—२२ परिग्रह, शारीरिक तथा मानसिक कष्ट, शगादिक तथा ज्ञानावरणीयारिक आन्तरिक क्षत्रुओंने जीतीने प्रभु केवलज्ञानी भया, अने ज्ञानने प्रमुक्त पद आपीने संसारने क्रियानुं पण भान कटाव्युं, अने सिद्ध करी बतारुं के ज्ञान अने क्रियायी मोक्ष छे, मूल तथा उत्तरणने दोष रहित संयमना पाळनारा, धैर्यवान्, सबे कर्म नाश यवायी स्थित आत्मवान्, सबे जगतने विषे प्रधान ज्ञानवान्, बाह्य अने अभ्यन्तर परिग्रह रहित तेमज कर्म-धर्मधीनो सर्वथा नाश करवायी निर्मन्य भया आ कारणे वाँड्यादिक आपनुं 'निर्गम-गठ' (निर्मन्य) एवा नामधी स्मरण करे छे, आप सात भय रहित भया, अने बीजाओंने निर्भय बनाववाने माटे उपदेश देता, अने लोकोंमाँ खाचो वीर रस पैदा करता, चार पतिना आयुष्य रहित क्षत्रपुत्र धीमहावीर देव हता, कारणके ज्यादे बीजने शेकी नारायणमाँ आवे त्तारे तेने वाववामाँ आवे तो पण ते उगवुं नधी, आ पीते कर्मबीजनों नाश भई जवायी संसारना अंकुर जन्म-मरण नाश पामी जाय छे ।

मूल

से भ्रूहपन्ने अणिए अयारी,
ओहंतरे धीरे अणंतचक्खु ।
अणुत्तरे तप्पइ सूरिए वा,
वहरोइणिंदे व तमं यगासे ॥ ६ ॥

संस्कृतच्छाया

स भूतिप्रशोऽनियतचारी, ओघंतरो धीरोऽनन्तचक्षुः ।
अनुत्तरं तपति सूर्य इव, वैरोचनेन्द्र इव तमः प्रकाशः ॥ ६ ॥

सं० टीका—‘से इति’ । भूति शब्दो. वृद्धौ, सम्पदि, ऐश्वर्ये, भस्मनि वर्तते, भूतिप्रज्ञस्त्रय प्रवृद्धज्ञानोऽनन्तज्ञानवानिति, तथा च भूतो भस्मनि कर्मणां भस्मसात्करण इत्यर्थः कर्मक्षय इति यावत् प्रज्ञा यस्य स भूतिप्रज्ञः, तथा समग्रात्मैश्वर्योदयवान् च । “भूतिर्भस्मनि सम्पदि, इत्यमरः” । पुनस्तथा भूतिप्रज्ञो जगद्द्राविपयको भूतिप्रज्ञः । सर्वमंगलभूतिप्रज्ञ इत्यपि; । अनियतचारी=अप्रतिबन्ध-विहरमाणत्वात्, वायुरिवेतिभावः । ओषं संसारं तरितुं शीलमस्येति ओषतरः । उत्पादव्यययोः ओषं परम्परां तरतीति सः । “ओषो वेगे जलस्य च । वृन्दे परम्परायां च, द्रुतनृत्योपदेशयोरिति” मेदिनी । अथवा कर्मणामोषः समूहस्तं तरतीति सः । “ओषो वृन्देऽम्भसां रय इत्यमरः” । धीर्बुद्धिस्तया राजत इति धीरः,=परिपहोपसर्गेऽक्षोभ्यो दृढो वेति धीरः । “धीरोमनीषी ज्ञः प्राज्ञ इत्यमरः ।” अनन्तत्वा-श्चक्षुर्ज्ञानं तत्केवलज्ञानमेव तदेव चक्षुर्भूतः सोऽनन्तचक्षुरिति । यथाऋः सूर्योऽनुत्तरमुत्कृष्टं सघृतोऽधिकं तपति न तस्मादधिकस्तापे कश्च-नास्ति, तथैव भगवानपि ज्ञानेन सर्वोत्कृष्टः । पुनः कथंभूतो हि सूर्यो, विरोपेण रोचनो दीप्तिमान्, प्रकाशकाधिकत्वात्, इन्द्रोऽसौ यथा तमोऽपनीय-दूरीकृत्य प्रकाशयति, एवमसावपि भगवानज्ञानत-मोऽपहृत्य यथावसितपद्मार्थान्प्रकाशयतीत्यर्थः । ‘विरोचन इत्यत्र स्वार्थे-ऽणि, वैरोचनः सूर्योऽथवाग्निरिव कर्मन्धनं ज्वालयित्वा अकर्मकः परिशुद्धो जात इत्यपि । “विरोचनः प्रल्ह्लादस्य तनयेऽर्केऽग्निचन्द्र-योरिति मेदिनी ।” विरोचनो रविरेवेति बहुमतम्, यथा—“तरणि स्तपनो भानुर्गर्भः पूषार्थमा रविः, तिग्मः पतंगो शुभणिर्नातण्डोऽर्को महाधिपः इनः सूर्यस्तमोर्ध्वांतस्त्रिमिरारिर्विरोचनः । इति धनञ्जयना-

ममालायाम्" । "द्युमणिस्ररणिर्मित्रश्चित्रभानुर्विरोचन इत्यमरः" विरोचन एव वैरोचनः सूर्यः । स इव प्रकाशोऽतिप्रसिद्धो, जगद्विख्यातो ज्ञातपुत्र—महावीरप्रभुरित्यर्थः । "प्रकाशोऽतिप्रसिद्धोऽपीत्यमरः" । अथवा सः प्रभुर्ज्ञानात्पने महान् इति । "प्रकाशोद्योत आतप इत्यमरः ।" ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—[से] वे भगवान् [भूषण्ये] अनन्त बुद्धिमान् [अणिए अचाटी] विचरते समय प्रतिबन्ध रहित [ओहंतरे] संसार समुद्रसे पार होने-वाले [धीरे] धैर्यवान् [अणंतचक्रु] अनन्तज्ञानवान् [अणुगरे] सबसे अधिक पवित्र-धेष्ट [तपति] तपश्चरण करनेवाले [मूरिए या] सूर्यके समान तथा [वदरोयणिते व] वैरोचन नामक आग्ने के सदृश [तमं] अज्ञानान्धकारको नष्ट करके [पगासे] ज्ञानद्वारा तारकोंको प्रशशिन करते थे ॥ ६ ॥

भाषार्थ—भगवान् महावीरकी प्रज्ञा संसारका मंगल कल्याण एवं रक्षा करनेवाली थी, उनका भ्रमण अप्रतिबद्ध था, क्योंकि वे सर्वथा परिग्रहसे रहित थे, उनका चरित्र संसार समुद्रसे पार करनेवाला था, परिग्रह-घातुओंकी आक्रमण-समान भावसे सहन करते थे, इसीसे धीर एवं धी-बुद्धिसे राजित-शोभित थे, अनन्त ज्ञेय पदार्थोंके ज्ञाता थे, इसी-चरण अनन्त ज्ञान सहित थे, श्रियमें सबसे अधिक तप करते थे, और जिसप्रकार सूर्य अन्धकारको नष्ट करता है अथवा वैरोचन नामक आग्नेके जलनेसे अन्धकार या कष्टस नाश होता है उसी प्रकार महावीर भगवान् भी अज्ञान अन्धकार या कर्मकष्टके नाशक थे ॥ ६ ॥

भाषा-टीका—वीर भगवान्का ज्ञान शीघ्री भूमिचरसे बढकर अनन्त-बुद्धिसे प्राप्त होगया । यह अनन्तज्ञानमय ऐश्वर्य सर्वथा पातिया कर्म क्षयकरनेपर ही मिला । तब संसारके लिए आप मंगलभूत और रक्षक बने तथा आपका वायु-मि समान अप्रतिबद्ध विचरणथा । आपने संसारके समुद्रको पार किया । उपदेश दान देकर जीरोंको भी जन्म मरणसे मुक्त कर दिया, जिससे कहा जा सकता है कि-कर्मके समीपसे आप पार हुए । परिग्रह और उपसर्ग सहते समय किसी प्रकारका क्षोभ न होनेसे आप धीर थे । इसीके बाद आप अनन्त चक्षुष्यके कहलए । जिस तरह सूर्य वल्कट् चापसे तपता है

उसी तरह महावीर भगवान् भी ज्ञानकी अनन्तताकी अपेक्षा सर्वोत्कृष्ट थे । उस ज्ञानसे भगवान् जनताके अज्ञानांधकारको अपहरण करके यथार्थ रीतिसे ज्ञानका आविर्भाव-प्रकट करनेवालोंमेंसे थे । प्रभुने अमिकी तरह कर्म रूप ईंधनको भी जलकर अनन्त संसारकी अज्ञान आत्माओंकी प्रकट रीतिसे परिशुद्ध किया । और सूर्यकी सदृश भगवान् महावीर-प्रभु अखिल विधमें अद्वितीय प्रसिद्धि प्राप्त महापुरुष थे । अधिकतर संसारमें उन्दिनों प्रभुकी ज्ञान-क्रान्ति ही गय ओर चमक रही थी ॥ ६ ॥

गुजराती अनुचाव्—वीर परमात्मानुं ज्ञान चोधी भूमिचधी यधीने अनन्तताने प्राप्त धयुं, कर्मोने क्षय यवाधी भगवान् अनन्तज्ञानवाळा यया, ह्यारे संसारना मंगळ समान तेमज रक्षक तेओ यया, बायु समान अप्रतिबंध विहारी, संसार समुद्रने तारनार भगवान् हता, बीजाओने उरदेश दान करीने जन्म मरणकी मुक्त करावनार हता, परिपह तेमज उपसर्ग सहती बछते आपने कोई पण प्रकारोने क्षोभ न यवाना कारणे भीरजवान्, अनन्तज्ञानरूप चप्रवाळा, तथा सूर्य जेम सूर्यधी अधिक तपे छे, तेन प्रभु ज्ञाने करी सयौतन छे, विरोचन अग्नि जेम मळगवाधी प्रकष करे तथा इन्दनी पेठे अन्धकारने दूर करी प्रकाश करे छे, तेम थीमहावीर देव पण अज्ञानरूप अन्धकार दूर करी प्रकष करे छे, अग्निनी माफक कर्मरूप ईंधणने गाढी अवन्त संगारना अज्ञान आत्माओने प्रकट रीते परिशुद्ध कर्मा, अने सूर्यनी पेठे प्रभु अखिल विधमां अद्वितीय प्रसिद्धिने पामेल महापुरुष हता, ते दिरसोमां प्रभुनी ज्ञान-शक्ति अधिकतर प्रकषती हती ॥ ६ ॥

मूल

अनुत्तरं धम्ममिणं जिणाणं,
णेया मुणी कासय आसुपण्णे;
इंदेव देवाण महानुभावे,
सहस्सणेता दिवि णं विसिट्ठे ॥ ७ ॥

संस्कृतच्छाया

अनुत्तरं धम्ममिमं जिनाणां, नेता मुनिः काश्यप आशुपण्डः ।
इन्द्र इय देवतां महानुभावः सहस्रनेता दिवि विसिष्टः ॥ ७ ॥

सं० टीका—अनुत्तरं० इति—अनुत्तरमुत्कृष्टं प्रधानं धर्म
 नेनानामृषभादितीर्थकृतां सम्बन्ध्यं 'मुनिः, 'मनेरुचेत्युणादिसूत्रेणे
 त्यये कृते चोपधोत्वे जाते 'मुनि'रिति सिद्धं, परन्वत्र लघूपधगुणा-
 श्चः प्राप्तस्तथापि तपरोच्चारणासामर्थ्यात् किदित्यनुवर्तनाच्च न भव-
 तेति भावः । "वाचं यमो मुनिरित्यमरः" । "मुनिर्भिक्षुश्च संयमीति,
 ज्ञेयः" । श्रीज्ञातृपुत्रमहावीराख्यः सुमुनिः, काश्यपो=गोत्रेण, आशु-
 श्चः=केवलज्ञानी उत्पत्तदिव्यज्ञान इत्यर्थः । नेता,=प्रणेता चतुर्विधस्य
 षस्य धर्मप्रणेता, चतुष्प्रकारधर्मोपदेष्टा दानशीलतपोभावभेदाद्वा ।
 अथवा साधुसाध्वीश्राद्धश्राविकारूपचतुर्विधसंघस्य प्रभुत्वादापि नेता=
 अयकः । ताच्छीलिकस्तृन् । "अधिभूर्नायको नेता प्रभुः परिवृढोऽ-
 नेपः" इत्यमरः । धर्ममित्यत्र कर्मणि द्विर्तायैव । ताच्छीलिकस्तृन्
 योगे 'न लोकाव्ययनिष्ठेत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् । यथेन्द्रो दिवि=देव-
 गेके=स्वर्गे महानुभावो महाप्रभावः । एवमेव याथातथ्येन सम्यक्प्रकारेण
 मल्लिच्छद्व्यपदार्थनिश्चयकर्ता महावीर इति । "अनुभावः प्रभावे च
 तां च नतिनिश्चय इत्यमरः" । प्राकृतशैल्या णमिति वाक्यालंकारार्थे ।
 महसनेत्रो=विलक्षणसहस्रनयनयुक्तोऽसाविन्द्रः । विशिष्टो रूपबलव-
 र्णादिकैर्विशिष्टो युक्तो हि प्रधानस्तथैव भगवानपि सर्वेभ्योऽपि विशिष्टः
 णायको महानुभावश्चेति सर्वं पूर्ववृत्तान्तं संयोज्यमिति भावः ॥ ७ ॥

अन्ययार्थ—[जिणानं] जिन भगवानके [इणं] इस [अनुत्तरं]
 एवं श्रेष्ठ [धम्मं] धर्मके [नेया] नेता [मुणि] मुनि [काश्यप-
 गोत्रीय] महाप्रभावे] महाप्रभावशाली भगवान् महावीर [दिवि] स्वर्गमें
 सहस्र] हजारों [देवाण] देव समूहके [इंद्रे व] इन्द्रके समान [विशिष्टे]
 रूप और गुण आदिमें सबसे उत्तम और प्रधान [नेता] नेता अर्थात् संपूर्ण
 जिनयुक्त ईश्वर वे ॥ ७ ॥

आत्माने माटे उद्धत मार्ग चतावनार हता, ते धर्म ऋषभादि २३ तीर्थं करोए चतावेत धर्मधी भिन्न न हतो, देव कालने अनुमार संघोधन अवश्य करेलुं हतुं, पण तेओ जैनधर्मना आदि प्रवर्तक न हता, ते प्रभु काश्यप गोत्रीय क्षत्रियोमानी विमल विभूति हता, दिव्य ज्ञान प्राप्त करीने चतुर्विध सधने धर्म पथ चतावनार होवाधी तेओ नेता पण हता, कारणके सधने तेओएज ज्ञान-दर्शन-चरित्र-अहिंसा-सत्य-तप-त्याग-सयमादिमां प्रवृत्त क्यो हतो, संसारना कल्याणार्थे तेओए सधने ज्ञान-शील-तप-भाव एम धर्मना चार भेद चताव्या, साधु-साध्वी-धार्मिक-धाविकारूप संघनी स्थापना करीने तेओए तेमने संगठननी परम धाकिजुं तत्व चताव्युं हनुं, देवलोकेने विपे इन्द्र जेम देवोमां महाप्रभावान्, हजारो देवोनो नायक अने सर्वोत्तम छे, तेम पदार्थ विज्ञाननो निश्चय प्रगट करवावाळा तत्ववेत्ताओमां महावीरप्रभु ऐश्वर्यछाळी हता, संसार अने मोछ तेमज खारभूत तत्वोने प्रगट करवामां प्रजर प्रकाशक हता । सात तत्व-नव पदार्थ आदि महान् तेमज गंभीर पदार्थोनो सरळ भाश्य निपुणताधी जनतामां तेओए प्रगट क्यो हतो । जे तरफ इन्द्रनी दृष्टि रहे छे, तेज तरफ तेना ५०० प्रधानोनी नजर पण रहे छे, तेज सीते अनेछान्त पर तेओनी दृष्टि हती । तेज मार्गजुं संसारे पण अनुसरण क्युं । जेथी तेओ पण सहस्रनेत्र गणाया । रूप-बल-वर्ण-वीर्य विगेरेमां तेओ सर्वोत्तम हता । मुनिगणरूपी ताराओमां तेओ मुनिचन्द्ररूप ईश्वर हता ॥ ७ ॥

मूल

से पद्मया अक्षयसागरे वा,
महोदही वा वि अणंतपारे ।
अणाइले वा अकसायी मुक्के,
सक्य देवाधिचई जुईमं ॥ ८ ॥

संस्कृतच्छाया

स प्रसयाऽक्षयसागरो वा, महोदधिरिव अनन्तपारः ।
अनाविलो वा अकपायी मुक्तः, शक्र इव देवाधिपतिर्द्युतिमान् ॥८॥

सं० टीका—स इति, पुनरसौ मगवान् प्रज्ञयाऽक्षयोऽशीपज्ञानः,
प्रज्ञायत अनयेति प्रज्ञा तयाऽक्षयो, ज्ञातव्येऽर्थे तस्य बुद्धिर्न मक्षीयते

न प्रतिहन्यते वेति, “बुद्धिर्मनीषा धिपणा घीः प्रज्ञेत्यमरः” । अथवा तस्य बुद्धिः केवलज्ञानाख्या सा साधनन्ता-साध्यपर्यवसाना कालतो, द्रव्यक्षेत्रभावापेक्षयाऽप्यनन्ता तथाऽक्षयः, यथा सागरो महोदधिः स्वयंभूरमणः समुद्रः स इवानन्तपारः । यथासौ विस्तीर्णा गंभीरज-लोऽक्षोभ्यस्तथैव तस्य भगवतो विस्तीर्णा प्रज्ञाऽनन्तप्रज्ञा, स्वयंभूरमण-समुद्रादनन्तगुणितो गंभीरोऽक्षोभ्यश्च, अनाविलोऽकलुपजलः, “फलु-पोऽनच्छ आविल इत्यमरः” । नाविलोऽनाविलो निर्मलस्तथैव कर्म-लेशाभावादकलुपज्ञानो निर्मलज्ञान इति । न कषायी-अकषायी ज्ञानावरणीयादिकर्मवन्धनवियुक्तत्वात् । मुक्तःकर्मरहितोऽपुनरावृत्तिं प्राप्तः । सर्वलोके पूज्यत्वेऽपि, निश्शेषान्तरायक्षयेऽपि निरवद्यभिक्षा-मात्रोपजीवित्वाद्भिक्षुः । पुनश्च स ज्ञातृपुत्रीयो महावीरो भगवान् दीप्तिमान्, शक्र इव देवाधिपतिरिव क्रान्तिमानिति, “शक्र इन्द्रः सुता-सीरः शतक्रतुरिति धनञ्जयः” । “जिष्णुर्लेखर्षभः शक्र इत्यमरः” ॥ ८ ॥

अन्ययार्थ—[से] वे भगवान् महावीर [पक्षवा] बुद्धिधी अपेक्षा अनन्तपारवाले तथा [अणाइले] पवित्र जलसे भरपूर [महोददीवादि] स्वय-म्भूरमण समुद्री तरह [अक्खयसायरे] अधीण समुद्र थे तथा [अकसाइ] चार कषायसे रहित [मुके] आठ कर्मोंसे रहित [देवाहिबद] अखण्ड देवोंके अधिपति [सकेव] इन्द्रकी तरह [इहंमं] दीप्तिमान्-चमकीले थे ॥ ८ ॥

भावार्थ—भगवानको किसी अन्य पदार्थसे उपमा न दी जा सकनेके कारण समुद्रसे ही एक देशीय उपमा दी गई है । अर्थात् जिसप्रकार स्वयंभूर-मणसमुद्र अनन्तपार युक्त है उसी प्रकार भगवान् भी द्रव्य क्षेत्र-काल और भावधी अपेक्षा अनन्त ज्ञानवान् थे, समुद्रके निर्मल जलके समान उनका ज्ञान भी स्पष्ट और आवरण रहित था, इसी प्रकार कषायसे रहित तथा आठ कर्मोंके बंधसे मुक्त थे, जैसे इन्द्रका प्रभाव देवोंपर होताही उसी प्रकार प्रभुका प्रभाव भी प्राणीमात्र पर था ॥ ८ ॥

भाषा-टीका—प्रभुका ज्ञान कोप अक्षय था, क्योंकि उनकी बुद्धि भी केवलज्ञानरूपा थी । जो कि आदि-अनन्त थी । जिसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी पूर्ण अनन्तता थी । विस्तीर्ण और खञ्ज तथा गंभीर स्वयम्भूरमण समुद्र की सदृश प्रभु गंभीर तथा अक्षोभ्य और पवित्र गुणोंमें उससे भी अनन्तगुण अधिक थे । आपका अनुभव, विचार तथा ज्ञान जल अनाविल-गानी काल्प्यता-पूर्वापर विरोधरहित था, जिसमें कर्म मलका छेड़ छोड़ें छोजेसे भी न पा सके । ज्ञानावरणीयादिक आठ कर्म-बन्धनसे रहित होनेके कारण आपमें कपाय कहाँ हो । इसीसे आप जीवन मुक्त थे । आप तीनों लोकोंके पूज्य होने पर भी निरवय भिक्षा लेते । आप शूरीर शक्रेकी तरह द्युतिमान् और प्रतापी-महापुरुष थे । और यह बात विश्व विख्यात थी ॥ ८ ॥

गुजराती अनुवाद—प्रभुनो ज्ञान भण्डार अष्ट हतो, कारणके तेमनी बुद्धि पण केवलज्ञान रूपे हती, जे सादि-अनन्त हती । जेम स्वयंभूरमण नामे मोटो समुद्र अनन्त-अपार अने निर्मल जलवाळो छे, तेमज प्रभु गंभीर-अक्षोभ्य-अने पवित्र गुणोमां तेनाकी पण अनन्तगणा अधिक हता । तेओतुं अनुभव-विचार तथा ज्ञान जळ अत्यन्त निर्मल हतुं । शोधका छतां पण कर्म-रूप मेल तेमां मळी शके नहि । ज्ञानावरणीयादिक कर्मबन्धनकी रहित थयाने कारणे तेओ अकपायी=कपाय रहित हता । सेधी आप जीवन्मुक्त हता, त्रिलोक पूज्य होवा छतां आप निरवय भिक्षाए आजीविक करजार हता । देवोना स्वामी शक्रेन्द्रनी पेठे तेओ तेजस्वी तथा अनन्त प्रतापी अने महापुरुष हता ॥ ८ ॥

मूल

से वीरिएणं पडिपुण्णवीरिए,
सुदंसणे वा णगसत्त्वसेट्ठे ।
सुरालयवासि मुदागरे से,
विरायए णेगगुणोपपेए ॥ ९ ॥

संस्कृतच्छाया

स वीर्येण प्रतिपूणेवीर्यः, सुदर्शन इव नगसत्त्वश्रेष्ठः ।

सुरालयवासिमुदाकरः स, विराजतेऽनेकगुणोपपेतः ॥ ९ ॥

सं० टीका—स इति, वीर्यान्तरायस्य निःशेषतः क्षीणत्वात्
 स भगवान् वीरो वीर्येणौरसेन धृतसंहननादिवलेन प्रतिपूर्णवीर्यः,
 अनन्तशक्तिमानित्यर्थः । अथवोत्कर्षवत्तया प्रतिपूर्णप्रभाववान् अथवा
 सर्वशक्तिमान् । “सवीर्यमतिशक्तिभाक्” इति । “वीर्यं बले प्रभावे
 चेत्यमरः” । नगानां पर्वतानां मध्ये यथा, “क्षैलवृक्षौ नगावगावित्य-
 मरः” “नगः क्षिलोच्चयोऽद्रिश्च क्षिस्वरीति धनंजयः” । सुदर्शनो मेरुः
 केवलकल्प्यजम्बूद्वीपमध्ये श्रेष्ठस्तथैव गुणैर्भगवान् श्रेष्ठः । यथा सुरा-
 लयः स्वर्गस्तन्निवासिनां देवानां मुदाकरो हर्षकर आनन्दजनको मनो-
 ऽनोकूलवर्णगंधरसस्पर्शप्रभावादिगुणै राजते । एवं भगवानप्यनन्त-
 गुणैः शोभते, विराजतेऽनेकैर्गुणैरुपेतो भगवान् वीर इति ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—[से] वे भगवान् [वीरिएण] बल-वीर्यसे [पञ्चिगुणवी-
 रिए] प्रतिपूर्ण शक्तिबाले से, तथा [वा] जिसप्रकार [सुदर्शणे] सुमेरु पर्वत
 [णगसम्बन्धे] सब पहाडोंमें अवलोकनीय और महान् एवं श्रेष्ठ है, उसी
 प्रकार महावीर प्रभु भी सर्वश्रेष्ठ थे, और सुमेरु पर्वत जिसप्रकार [सुगण-
 वासिसुदागरे] देवोंको प्रसन्नता उत्पादक होता है उसी प्रकार भगवान् सब
 प्राणीवर्गकेलिए हर्षदायक थे, तथा जैसे सुमेरु [नेगशुभोववेए] अनेक गुणोंसे
 शोभित है वैसेही भगवान् भी अनन्त उत्तमोत्तम गुणोंसे समलङ्कृत थे ॥ ९ ॥

भावार्थ—भगवान्का वीर्यान्तराय कर्म रित्कूल नष्ट हो गया था, अत-
 एव उनमें अनन्तवीर्य-अनन्त बलका प्रादुर्भाव हो गया था, जैसे सुमेरु-पर्वत
 सब पहाडोंमें श्रेष्ठ है उष है उसी प्रकार भगवान् भी शक्ति आदि गुणोंमें उष
 और सर्वश्रेष्ठ थे । तथा जिस प्रकार स्वर्ग देवोंकेलिए हर्षोत्पादक है उसी प्रकार
 सुमेरु भी हर्ष जनक है वैसे ही भगवान् भी प्राणीमात्रकेलिए हर्षको उत्पन्न
 करनेवाले थे । सुमेरु जैसे अनेक गुणोंसे—गुणहरी रंग और चन्द्रनादि गन्ध
 तथा उत्तम फलोंसे शोभित होता है, भगवान् भी ज्ञान-शक्ति-भुसादि गुणोंसे
 विराजमान थे ॥ ९ ॥

भाषा-टीका—वीर्यान्तरायका सर्वथा क्षय होनेसे भगवान् अनन्त
 शक्तिमान् वीर, धैर्य, शौर्य, सद्भिष्णुतादि सारिरिक बलसे बलिष्ठ थे,

प्रतिष्ठाशालिओं में भगवान् अद्वितीय प्रभाववाले थे । जहाँ जीवोंको केवलज्ञान प्राप्त होता है उस जम्बूद्वीपके मध्यमें जिस प्रध्वर सुमेरु पर्वत दृढ, अचल, और श्रेष्ठ है इसी प्रध्वर प्रभुकी वाणी भी अनेकान्त रूप सकल श्रेष्ठ है तथा वे स्वयं भी पर्वतकी तरह दृढ थे । सुमेरुपर्वत स्वर्गवासियोंको बड़ा सुहावना लगता है और हर्ष पैदा करता है इसी भान्ति प्रभु भी ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति आदिक अनन्त गुणोंसे युक्त और भव्य आत्माओंके लिए अनुपम आनन्ददायक थे ॥ ९ ॥

गुजराती अनुयाय—वीर्यान्तरायने संवशा नाश थवाधी भगवान् अनन्त-शक्तिमान् हुता, तेमज धैर्य-धैर्य-सहिष्णुतादि शारीरिक बले करी प्रतिपूर्ण बलवान् हुता । प्रतिष्ठा शालिओमां भगवान् अद्वितीय प्रभाव वाला हुता, ज्या जीवोने केवलज्ञान प्राप्त थाय छे ते जंबूद्वीपमां मेरु पर्वत जेम दृढ-अचल-अने श्रेष्ठ छे, तेम भगवान् पण वीर्यादिक गुणे करी श्रेष्ठ तथा दृढ हुता । मेरु पर्वत जेम स्वर्गवासी देवोने हर्ष उत्पन्न करे छे तथा अनेक गुणोए करी घोभित छे, तेमज प्रभु पण ज्ञान-दर्शन-सुख अने शक्ति आदिक अनन्त गुणोए करी घोने छे, तेमज भव्यामाओने आनन्द प्रद छे ॥ ९ ॥

मूल

सयं सहस्राणां उ जोयणाणं,
तिकण्डगे पंडगवेजयंते ।
से जोयणे णवणवति सहस्से,
उद्गुस्सितो हेट्ट सहस्समेगं ॥ १० ॥

संस्कृतच्छाया

शतं सहस्राणां तु योजनानाम्, त्रिकण्डकः पण्डकवैजयन्तः ।
स योजने नवनवतिसहस्रे ऊर्ध्वोच्छ्रितोऽधः सहस्रमेकम् ॥१०॥

सं० टीका—पुनश्चापि मेरुवर्णनायाह, 'सयं इति,' स सुमेरुर्व्यो-
जनसहस्राणां शतमुच्छ्रितोऽस्ति "मेरुः सुमेरुर्हेमाद्रिः रत्नसानुः सुरालयः
इत्यमरः ।" तथा त्रीणि कण्डकानि यस्य स त्रिकण्डकः । भीमं-

जाम्बूनदं-वैदूर्यं चेति मेदात् । स किं भूतः, पण्डकवैजयन्तः,=पण्ड-
 कवनं शिरसि व्यवस्थितं, वैजयन्तीकल्पं पताकामूलं यस्य स तथोक्तः ।
 “पताका वैजयन्ती स्यात्केतनं ध्वजमस्त्रियामित्यमरः” । असौ मेरुर्न-
 वनवतिसहस्रे योजने ऊर्ध्वोच्छ्रितः=भूतलदुपरि प्रवृद्ध उन्नतो वा
 “उच्चप्रांशून्नतोदग्नोच्छ्रितास्तुङ्ग” इति, “जातोन्नद्ध प्रवृद्धाः स्यु-
 र्च्छ्रिता इति चामरः” । अयः=भूमेरधस्तादेशे एकं-सहस्रं योजन-
 मवगाढ इत्यर्थः । एकसहस्रोनलक्षयोजनं पृथिवीत ऊर्ध्वं, सहस्रमेकं
 च योजनं भूमाविति भावः ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—[से] यह सुमेरु पर्वत [सर्व सहस्राण] एक लाख
 [जोयणार्ण] योजनका है, [तिकंडके] उसके तीन भाग हैं, [पंडकवैजयन्ते]
 पाण्डक वन जिसकी ध्वजाके समान है, तथा [नवनवते] ११ नितानवे
 [सहस्रे] हजार [जोयणे] योजन [उदुस्विते] ऊंचा है, और [एगं] एक
 [सहस्र] हजार योजन [हेतुं] धुनियादमें नीचा है ॥ १० ॥

भावार्थ—इम गाथामें भगवान्की उपासना भूत सुमेरुनिरिका वर्णन किया
 है, सुमेरु एक लाख योजन ऊंचा है, नितानवे हजार योजन जमीनसे ऊपर
 तथा एक हजार योजन जमीनमें है, इसके तीन कंडक-भाग हैं, उन तीन
 कण्डिकाओंमें सबसे ऊपरकी कण्डिका पर पाण्डक वन है । और मानो वह
 ध्वजाकी तरह जान पड़ता है, जिसप्रकार यह सुमेरु पर्वत तीनों लोकोंमें व्याप्त
 है उसी भांति भगवानके भी ज्ञान-दर्शन-चरित्रादि गुण समस्त लोकलोचमें
 व्याप्त हैं ॥ १० ॥

भाषा-टीका—यह सुमेरु पर्वत ऊंचाईमें एक लाख योजन है, जिसके
 तीन कण्ड-भाग हैं । जिनके क्रमसे भौम-जाम्बूनद-वैदूर्य नाम हैं । उस पर
 पण्डकवन लंचाईमें सबसे अधिक होनेके कारण सुन्दर ध्वजाकी तरह उसकी
 सुधोभाकी और भी बढ़ाकर मानो चार चांद लगा रहा है । जिस मेरुकी जड़
 जमीनमें १००० योजन तक पाई जाती है । और वह १९००० योजन पृथ्वीके
 ऊपरी भागमें आकाशकी चोटीकी तरह घोषित है । उसके तीनों भाग तीनों
 लोकोंमें अवकाश पाए हुए हैं । इसी तरह प्रभुके कवन किए हुए तीनों रत्न

सुमेरु की भांति विशाल और महान् हैं, तथा तीनों लोकके भव्यप्राणिओंके मन-वचन-काय योगमें समाविष्ट-ओत-प्रोत हैं ॥ १० ॥

गुजराती अनुवाद—ते मेरु पर्वत उंचाइयां एक लाख योजनमे छे, तेना एक भूमिमय, बीजो सुवर्ण मय अने प्रीजो वैदूर्य रत्न मय एवा त्रण कांड (भाग) छे, तथा ते मेरु पर्वतनी टोच ऊपर पंडम वन ध्वजानी माफक घोभी रह्युं छे । ते मेरु पर्वत नवत्युं हजार योजन ऊंचो अने एक हजार योजन नीचे जमीनमा छे । तेना त्रणे भाग त्रणे लोकमा अवकाश प्राप्त छे । तेबीज रीते प्रभुना कृतावेला ज्ञान-दर्शन-चरित्र रूपो त्रणे रत्न सुमेरुनी पेठे विशाल छे, अने त्रणे लोकना भव्योना मन-वचन-काय मां सम्पूर्ण रीतिधी समाविष्ट छे ॥ १० ॥

मूल

पुढे णभे चिहृइ भूमिवट्टिण,
जं सूरिया अणुपरिवट्टयंति ।
से हेमवणे बहुनंदणे य,
जंसि रइं वेदयती महिदा ॥ ११ ॥

संस्कृतच्छाया

स्पृष्टो नमसि तिष्ठति भूम्यवस्थितः,
यं सूर्याः अनुपरिवर्तयन्ति ।
स हेमवर्णो बहुनन्दनश्च,
यस्मिन् रतिं वेदयन्ति महेन्द्राः ॥ ११ ॥

सं० टीका—स्पृष्टः संलग्नो नमस्काकाशेऽथवा नमो व्याप्य तिष्ठति स मेरुः, “स्पृष्टिः पृक्कावित्यमरः” । तथैव भूमिं पृथिवीं चावगाद्य स्थितः । ऊर्ध्वावस्थिर्यक् संस्पर्शीति भावः । यथा च यं मेरुं सूर्यादयो ज्योतिष्का अंगारकादिग्रहा व्यप्यनुवर्तयन्ति यस्य पार्श्वतः परिभ्रमन्तीत्यर्थः । हेमवर्णो वा कनकामो निष्टप्तकाञ्चनसदृशस्तथा बहूनि चत्वारि नन्दनवनानि यस्य स बहुनन्दनवनः । भूमौ तु भद्रशालवनं ततः पञ्चयोजनशतान्यारुह्यातिक्रम्योत्तंध्य मेखलायां शैलः

नितम्बदेशे मध्यभाग इत्यर्थः । “भैरवस्य सङ्घवन्ये स्यात्काशी शैल-
नितम्बयोरिति मेदिनीकोशः” । नन्दनवनमायाति । तथा द्विषष्टि-
योजनसहस्राप्यधिकान्यतिक्रम्य सौमनसवनम् । ततः पद् त्रिंशत्सह-
स्राप्यारुह्योर्लुङ्घ्य त्रिसरे षण्डकवनमिति मेरोश्चत्वारि वनानि । यस्मिन्
मेरौ महेन्द्रा त्रिदशाल्यात् स्वर्गात्समागत्य रमणीयतमशब्दादिगुणेन
रतिं रमणक्रीडां वेदयन्त्यनुभवन्ति । अतश्चतुर्नन्दनवनाद्युपेतो पिचि-
त्रक्रीडास्थलसमन्वितः स मेरुः ॥ ११ ॥

अन्यपार्थ—[से] वह सुमेरु [जमे] आकाश को [उठे] छूट
[चिट्ठ] ठहरा हुआ है, तथा [भूमिबट्टिए] भूमिये छूटकर स्थित है, [जं]
जिसकी [सुरिया] सूर्य [अणुगरेवद्वंति] प्रदक्षिणा करते हैं, और जो [हेम-
वन्ने] सोनेके समान परम पाग्नि युक्त है, जिनमें [बहु] बहुत अर्थात् चार
[नंदने] नन्दनादि वन हैं [जंसी] तथा जिनमें [महिदा] महेन्द्र आकर
[रति] सुरास [वेदवती] अनुभव करते हैं ॥ ११ ॥

भाषार्थ—वह सुमेरु पर्वत ऊपरके भागमें आकाशमें स्थित करके
तथा नीचे भूमिमें स्थित करके स्थित है, इसलिए वह ऊर्ध्वलोक-अपोलोक और
तिर्यक् लोकमें स्थित करता है । उमोतिष्क मिमान उमकी प्रदक्षिणा करते हैं ।
उत्तम रंग गुणकी तरह पीला है । उसके ऊपर चार वन हैं; उत्तम भूमिमें
भद्रकाल वन है, उसके पांचवें योजन ऊपर नन्दन वन है, उगके बागड
हजार योजन ऊपर सौमनस वन है, उसके छतिया हजार योजन ऊपर पाण्डुर
वन है, इस प्रकार वह अनेक क्रीडास्थलमें युक्त है, और उगमें देव तथा
देवेन्द्र आकर रति-क्रीडा अनुभव करते हैं ॥ ११ ॥

भाषा-टीका—उस सुमेरु पर्वतने ऊर्ध्व लोक-अपोलोक और तिर्यक्-
लोक इस प्रकार तीनों लोकोंके आकाशमें ही स्थित है । त्रिषष्टि तपकी
जगह सूर्य आदि तथा महान् पापों और परिक्रमा देते रहते हैं । वह वह लोके
हुए सोनेकी तरह चमकनाट करने लगता है । उसके चारों ओर के बहुतसे
वनोंने चार सुन्दर गुन्दर वन हैं । और प्रथम समस्त भूमि पर भद्रकाल
वन है । उस जगहसे ५०० योजन ऊपर जानेसे मानो उसकी तपकी

जगह नन्दन वन आता है । उससे ६२००० योजन ऊपर सौमनस वन है । उससे ३६००० योजन ऊपर शिखरके पास पंडकवन है । ये सुमेरुके चार सघन वन हैं । यहाँ पर बड़े २ महेन्द्र और देव यण आकर मनोहर खेल कूद करते हैं । उसका सौन्दर्य निहारनेके लिए स्वर्गसे चढ कर आते हैं । इसी भाँति भगवान् भी सुवर्णके रंग जैसे सुन्दर हैं । इनके पास ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप तथा तत्व, पदार्थ, नय, निक्षेपादि चार सुन्दर विचार स्थल हैं, जिनमें आत्माका अनुपम आनन्द आता है । और इस क्रोडास्थली पर भ्रम्य जन स्वावलम्बी होकर सहजानन्द छूटते हैं ॥ ११ ॥

गुजराती अनुवाद—ते मेरु पर्वत ऊर्ध्व दिशामां आकाशाने स्पर्शा रणो छे, एउठे ऊर्ध्वलोक-अधोलोक अने मनुष्यलोकने स्पर्शा रणो छे, जे मेरु पर्वतनी आसपास सूर्यप्रमुख उद्योतिषी-देवो प्रदक्षिणा करी रणो छे । ते मेरु-पर्वत सुवर्णना जेवी कान्तिवाढो छे । तेनी चारे बाजुए घणा धनोमां चार सुख्य सुंदर वन छे । समसल भूमिपर भद्रशाल वन छे, स्वाधी ५०० योजन ऊपर जतां नन्दनवन आवे छे, स्वाधी ६२००० योजन ऊंचे सौमनस वन छे । स्वाधी ३६००० योजन ऊंचे शिखरनी पासे पंडकवन छे । मेरु पर्वतना आ चार नन्दनवनमां मोटा इन्द्रो पण आवीने इच्छानुसार मनोहर क्रीडा करे छे । तेतुं मनोजोहक सौन्दर्य जोवाने स्वर्गमां भी आवे छे । ते रीते भगवान् महावीर प्रभु पण सुवर्ण समान सुंदर छे । तेमनी पासे ज्ञान-दर्शन-चरित्र तथा तप तेमज तत्व-पदार्थ-नय-निक्षेपादि चार सुन्दर विचार स्थल छे । जेमां आत्माने आनन्द आवे छे । तेमज ते क्रीडा स्थल पर भ्रम्य जनो स्वावलम्बी वनीने सहजानन्द छूटे छे ॥ ११ ॥

मूल

से प्रवृष्ट सद्महत्पगासे,

विरायई कंचणमट्टवने ।

अणुत्तरे गिरिसु य पवदुग्गे,

गिरिवरे से जलिष्य भोमे ॥ १२ ॥

संस्कृतच्छाया

स पर्वतः शब्दमहाप्रकाशो, विराजते कञ्चनमृष्टवर्णः ।

अनुत्तरो गिरिषु च पर्वेदुर्गो, गिरिवरः स ज्वलित इव भौमः ॥१२॥

सं० टीका—स मेरुनामापर्वतः सुदर्शनः शोभनदर्शनः सुगिरि-
र्मन्दरो हेमाद्रिरित्यादिभिःशब्दैःपर्यायवाचकैर्महान् प्रकाशः प्रसिद्धि-
मानीतः । “प्रकाशोऽतिप्रसिद्धेऽपीत्यमरः” । यः, स शब्दमहा-
प्रकाशो विराजते=शोभते, वा सुरासुरकिन्नरादिगन्धर्वगायनशब्दै-
र्महाप्रकाशो दीप्यमानः । काञ्चनस्येव मृष्टः शुद्धो, “निर्णिकं शोधितं
मृष्टं निश्शोध्यमनवस्करमित्यमरः” । वर्णो यस्य स काञ्चनमृष्टवर्णः ।
अनुत्तरः प्रधानस्तथा गिरिषु पर्वतेषु मध्ये पर्वभिर्मैत्रलादिभिः सन्धि-
भिर्वा “पर्वं क्लीवं महे ग्रन्थौ, प्रस्तावे लक्षणान्तरे, दर्शः प्रतिपदोः
सन्धाविति मेदिनी फोपः” । अथवा च दंष्ट्रापर्वतैर्वा दुर्गो दुर्गमः,
“दुर्गो मानित्योः स्त्री दुर्गमे त्रिष्विति मेदिनी” । सामान्यप्राणिनां
दुरारोहो गिरिरिति भावः । स गिरिवरः पर्वतप्रधानो मणिभिरौषधिभिश्च
ज्वलितो दीप्यमानो भौम इव मंगलग्रह इवाथवा भूदेश इवेति भावः ।
“भौमः कुजे च नरके पुंसि भूमिभवे त्रिष्विति मेदिनी” ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—[से] वह [पर्वत] सुमेरु पर्वत [सप्तमहस्पगासे] अनेक
सुशब्दोंसे गुंजता है, तथा [कञ्चनमृष्टवर्णे] सोनेकी तरह पीले वर्णसे [विरा-
जते] शोभा प्राप्त है, [गिरिषु] सब पर्वतोंमें वह [अनुत्तरे] सर्व्वेष्ट है,
[पर्वदुर्गो] वह पर्वत मेखल्य आदिके कारण दुर्गम है, और [से] वह [गिरी-
वरे] सबमें प्रधान सुमेरु [भौमे च] मंगल ग्रह तथा पृथ्वीकी तरह [जलित]
चान्तियुक्त है ॥ १२ ॥

भावार्थ—शब्दच समाव गुंजनेकाहै, छोटे पर्वत और गुंजनेमें
आवाज करनेपर उसमें प्रतिध्वनि हो उठती है और वह पहाड़ी आवाजसे नी

अधिक गंभीर होती है, इसीप्रकार सुमेरु पर्वत देवोंका श्रीडाखल है और वह भी उनकी प्रतिध्वनिओंसे गूंज उठता है तथा वह गूंज सबसे प्रबल है; इसी प्रकार महावीर-परमात्माकी दिव्यध्वनि सबसे प्रबल और जोरदार है, यही कारण है कि—भगवान्‌के सदुपदेशका प्रभाव अमिट और शीघ्र होता है। पर्वतके मुनहरी रंगके समान प्रभुय पीतवर्ण युक्त शरीर दर्शनीय और मनोहर था। जिस-प्रकार सुमेरुपर चढ़ना कठिन है उसीप्रकार भगवान्‌की सर्वज्ञताको जीतना भी दुष्कर है ॥ १२ ॥

भाषा-टीका—वह सुमेरु पर्वत अंधिराज है, दर्शनमें सौन्दर्यशाली है। बुद्धिमान् अच्छी २ शब्दोपमाएँ देकर प्रख्यात कर चुके हैं। जिसपर गान्धर्वोंका मनोमोहक गायन होता है, सोनेसे लीप पोत कर मानो अभी शुद्ध किया गया है इसीसे सब पर्वतों में उसे प्रधानता दी गई है, उसकी उंचाई और अधिक संधियोंके कारण उसपर मनुष्योंको पैरोंसे चढ़ना सांस होकने जैसा है। अतः सामान्य प्राणी उसे चढ़ कर पार नहीं पासकते। इसी लिए उसे प्रधानता दी गई है। उस पर मणिमालिक्य जैसे बहुमूल्य रत्न और कई भौतिकक जड़ी बूटियाँ भंगलप्रह की तरह चमकती हैं। इसी भाँति वीर भगवान्‌का दर्शन अनेकान्त है, परम सुन्दर है। जिसकी अकाश तर्कमयता प्रसिद्ध है। जिसकी गीतम जैसे दार्शनिकोंने प्रशंसा की है। उस दर्शनका सुन्दर वर्ण अर्थात् शब्दों में निर्माण हुआ है। तथा वह सब दर्शनोंमें प्रधान है। साधारण तथा अनुभव शून्य मानवोंके लिए अव्यय और दुरारोह है। बिनकी २८ लक्षिरूप औपधियोंकी चमक विलक्षण है। जो धर्मकी प्रभावनारूप आरो-प्यता प्रदानकरनेके अर्थ काममें खड़े जाती हैं। इसीसे दुराग्रहरूपी रोम शान्त होते हैं ॥ १२ ॥

गुजराती अनुवाद—बड़ी ते मेरु पर्वत मंदर १, मेरु २, मनोरम ३, सुदर्शन ४, स्वर्णप्रम ५, गिरिराज ६, रत्नोच्चय ७, तिलकोपम ८, लोक-मध्य ९, लोकनाडि १०, रत्न ११, सूर्यावर्त १२, स्वर्वरण १३, उत्तम १४, दिशादि १५ और अवतंस १६, ए सोळ नामे कयी महा प्रकाश (प्रसिद्ध) चान् थई शोभे छे। जेना पर गान्धर्वोना मनोमोहक गायनो थाय छे। सुवर्णनी पेटे शुद्ध वर्णवाळो सर्वे पर्वतोमां प्रधान छे। तेनी उंचाई अने अधिक संधियोने लीपे मनुष्योने माटे तेना पर चढुं पण अशक्य छे। बळीं ते गिरिराज मणि

अने औपधिओए कती देखीप्यमान छे, तेज रीते वीर भगवाननुं अनेछन्दा
दर्शन परम सुंदर अने मनोहर छे । जेनी अछद्म तर्कमयता प्रसिद्ध
छे । जेनी गौतम जेवा दार्शनिकोए पथ प्रशंसा करेछी छे । ते दर्शननुं सुन्दर
वर्ण अर्थात् चन्द्रोमां निर्माण यएतुं छे । तथा ते सर्व दर्शनोमां प्रधान अने
सर्वोत्तम छे । माभारत तथा अनुभव शून्य मनुष्योने माटे अयम्य तथा अग्नि
दुष्टोद ॥ । जेनी ३० खन्धिरूप औपधिओनी चमक छहुसी शिखर छे ।
के जे धर्मनी प्रभावना करवामां उपयोगमां व्यवहारां आवे छे । तेबासी दुष्टोद
दोष जबनुठवी नष्ट यरने छान्त यरं जाय छे ॥ १२ ॥

मूल

महीइ मज्झंमि ठिते णर्गिदे,
पचायते सूरिपसुद्धलेस्से;
एवं सिरीण उ स भूरियण्णे,
मणोरमे जोयइ अचिमाली ॥ १३ ॥

संस्कृतच्छाया

महां मध्ये स्थितो नगेन्द्रः, प्रचायते सूर्ययज्जुद्धलेद्यः ।

एवं धिया तु स भूरियणं, मनोरमो घोटपत्यार्चमाठी ॥१३॥

सं० टीका—महां मध्यदेशेऽन्तर्भागे यो जम्बूद्वीपस्तथापि बहु-
मध्यदेशे ॥ नगेन्द्रः स्थितः । पुनश्च सौमनस, विशुद्धम, गन्धमा-
दन, मात्स्यवंतद्रंष्ट्रापर्वतचतुष्टयोपशोभितः समभूभागे दशसहस्रयोजन-
पिस्तीर्णः, शिरसि सहस्रमेकमथस्तादृशि दशसहस्राणि नवति योजनानि
योजनैरुद्देशभागेर्दशभिर्भागैरपि कानि विशीर्णश्चत्वारिंशद्योजनोच्छ्रि-
तचूरोपशोभितो नगेन्द्रः पर्वतप्रधानो मेरुः । प्ररुषंयच्छा जगति सूर्य-
यज्जुद्धलेद्यो निर्मलद्वान्त्रिः सूर्यसन्पथ इति । एवमनन्तरोच्छ्वा धिया
तु शब्दाद्विशिष्टतरया कान्त्या समेरुभूरिवर्णोऽनेहवर्णोऽनेकरंगासुपेतः

“वर्णो द्विजादौ शुक्लादावित्यमरः” वीरपद्ये भूरि=प्रभूतं बहुलं “प्रचुरं प्रभूतं प्राज्यं मदभ्रं बहुलं बहु, पुरुहः पुरुभ्यष्टं, स्फारं भूयश्च भूरि चेत्यमरः” । वर्णः परिस्त्रोमो यस्य स भूरिवर्णः, दीर्घसिंहासनस्य प्रवेणीति । “प्रवेण्यास्तरणं वर्णः परिस्त्रोमः कुथो द्वयोरित्यमरः” । अथवा भूरिः स्वर्णं काञ्चनं तस्मेव वर्णो (कान्तिः) यस्य ॥ तथा । “स्वर्णेऽपि भूरित्यमरः” । अथवा भूरिर्बहुलो, वर्णःस्तुतिर्यस्य स तथा । “स्तुतिर्वर्णं तु वाऽश्वर इत्यमरः” । “वर्णः स्तुतौ ना इति मेदिनी” । अथ किं भूतः स मेरुर्मनोरमश्चारुःशोभनः, “सुन्दरं रुचिरं चारु, सुपमं साधुशोभनम्; कान्तं मनोरममित्यमरः” । एवमेव वीरोऽप्येवं विधो जगति मनोरमः । पुनश्च=अर्चिःकिरणस्तस्य माला विद्यते यस्य सोऽर्चिमाली सूर्य इव द्योतयति दिश इति शेषः । “दीधितिर्भानुरुक्तो-ऽशुर्गभस्तिः किरणः करः । पादो रुचिर्मरीचिर्मा तेजोर्चिरिति धनं-जयः” ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—[महीइ] पृथ्वीके [मज्जाम्मि] बीचमें [टिवे] स्थित [णगिदे] पर्वतोंमें प्रधान सुमेरु [पद्मपते] लोकमें उत्कृष्ट रूपसे जाना जाता है, तथा [सूरियसुदडेस्से] सूर्यके सदृश शुद्ध तेजवाला [एवं] इसी भाँतिकी [चिरीए] लक्ष्मीसे [उ] अधिकअधिक [भूरिवे] विचित्र रत्नोंसे शोभित रहनेके कारण नानावर्ण शुक्ल और [मणोरमे] मनके मोहित करने वाले [अर्चि-माली] सूर्यकी तरह [जोयइ] दशों दिशाओंको प्रसन्नित करता है ॥ १३ ॥

भावार्थ—रत्नप्रभा पृथ्वीके मध्यभागमें जम्बू द्वीप है, और इसके बीचमें सब पर्वतोंमें प्रधान सुमेरु पर्वत है, यद्यपि सुमेरु पर्वत दोनों भातृ खंड और दोनों पुष्करद्व द्वीपों में भी हैं, किन्तु उनकी लंबाई ८५ हजार योजन ही है, और जम्बूद्वीपके मध्यभागस्य सुमेरु एक लख योजन कंचा है, अतः यह सबमें प्रधान गिना जाता है । इसी प्रकार ऋषि-मुनि और महात्माओंमें महावीर प्रधान थे, सुमेरु पर सूर्यकी कान्ति पड़ने पर जैसे वह चमकने लगता है वैसे ही

भगवान्का शरीर भी प्रभाशाली था, वे अज्ञानान्धकारके नाशक थे, भगवान्का शरीर स्वयं प्रकाशित था, तथा औरोंको ज्ञान का प्रकाश भी देता था ॥ १२ ॥

भाषा-टीका—पृथ्वीके विचले प्रदेशमें जम्बूद्वीपके मध्यस्थलमें यह मेरु पर्वत समस्त पहाड़ोंके राजाकी तरह स्थित है । सौमनस, विद्युत्प्रभ, गन्धमादन, माल्यवन्त इन चार दादापर्वतोंसे वह बड़ा मनोहर लगता है, वह पृथ्वीके सब भाग में दशहजार योजन विस्तीर्ण है, ग्यारह २ हजार योजन पर एक २ हजार योजन घट कर शिखर पर एक हजार योजन रह जाता है । वह जगत्में सूर्यकी तरह शुद्ध अग्नि और निर्मल आकृति युक्त है । और जिसमें अनेक बहु मूल्य धातु और उत्तमरत्न पाए जाते हैं ।

वीर पक्षमें—सोनेकी तरह जिनके शरीरकी चमक इतक है । जिनके गुण शान्दकी तरह स्वच्छ हैं । जिनकी छुट्टिएँ महती हैं । जिन्हें अपुनराद्यति रूप अक्षर—मोक्ष प्राप्त है । जिनका सत्संग अनन्त सुख दाता है । सुमेरुकी तरह मनोरम हैं, जो सूर्यकी किरणोंकी तरह तेजसी हैं ॥ १३ ॥

शुजराती अनुवाद—पृथ्वीना मध्य भागमां सर्व पर्वतोजो इन्द्र मेरु पर्वत सूर्यनी पेंठे शुद्ध अग्नि अने निर्मल आकृतिवाळो छे । सौमनस, विद्युत्प्रभ, गन्धमादन, माल्यवान, ए चार दादाओषी पर्वत बहु सुन्दर देखाव छे । ते पृथ्वीना समभागमां १०००० योजन पहोळो छे । अग्यार अग्यार हजार योजन पर एक एक हजार योजन घटतां शिखर पर एक हजार योजन पहोळ्ये छे । तेमां अनेक बहुमूल्य धातुओ एवं रत्नो मळी आवे छे । वीर पक्षे—

सुवर्णसमान जेना शरीरनी सोभा छे, जेना गुणो बन्धरमानी पेंठे लच्छ छे । जेणे अपुनराद्यतिरूप अक्षर—मोक्ष करेल छे, जेमनो सत्संग अनन्त सुख दाता छे । सुमेरु नी पेंठे जे मनोहर छे, ते सूर्यना किरण समान तेजसी छे ॥ १३ ॥

मूळ

सुदंसणस्सेव जसो गिरिस्स,

पकुचई महतो पद्यस्स ।

एतोवमे समणे नायपुत्ते,

जाईजसोदंसणनाणसीळे ॥ १४ ॥

संस्कृतच्छाया

सुदर्शनस्येव यशो गिरेः, प्रोच्यते महतः पर्वतस्य ।

पतदुपमः धमणो ज्ञातपुत्रो, जातियशोदर्शनमानशीलः ॥ १४ ॥

सं० टीका—भगवतो वीरस्यैतदशः कीर्तनं महतः पर्वतस्य सुदर्शनस्य मेरुगिरिरिव प्रोच्यते, महतः पर्वतस्यैतदुपम एतत्तुल्यः । साम्प्रतमेतदेव भगवति दार्ष्टान्तिके योज्यते । एषः=अनन्तरोक्तमेरुगिरिरित्यर्थः, उपमा=उपमानं सादृश्यप्रतियोगी यस्य स पतदुपमः । कः । श्राम्यति=तपस्यतीति श्रमणः । तपोनिष्ठसदेहो ज्ञातपुत्रः श्रीमहावीरममुर्जात्या=“जातिर्जातं च सामान्यमित्यमरः ।” यदसा=कीर्त्या “यशः कीर्तिः समज्ञाचेत्यमरः ।” सकलदर्शनज्ञानचरित्रवर्तामघ्ये श्रेष्ठः प्रधानः । जात्यादीनां कृतद्वन्द्वानामतिशायने ‘अर्श आदित्वादच्’ मत्ययविधानेनाक्षरघटना विधेयेति भावः ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—[महतो] महान् [पर्वतस्य] पर्वत [सुदर्शनस्येव] सुदर्शन [गिरिस्त] मेरु पर्वतश्च [जसो] यशः कीर्ति जैसे प्रतिपादित है उसीप्रकार [पयुच्य] भगवान्की कीर्ति करते हैं [एतोवमे] पूर्वत्रयित उपमासे अलंकृत [समणे] श्रमण [नामपुत्रे] ज्ञातपुत्र-महावीर भगवान् [जाइजसोदर्शननाण-शीले] जाति, यश, दर्शन, ज्ञान और शीलमें सर्वश्रेष्ठ थे ॥ १४ ॥

भाषार्थ—भगवान्की एक देशीय उपमा तो सुमेरु पर्वतसे हीगई, और इसी प्रसंगको लेकर सुमेरुत्रय यशोगायन क्रियाहै, और अब फिर उपमेयका-भगवान् महावीरका वर्णन करते हैं । वे ज्ञात वंशके क्षत्रिय पुत्रमें उत्पन्न भगवान् समस्त जातिवालोंमें और अखिल यशसियोंमें, समस्त ज्ञानियोंमें तथा दर्शनवालोंमें और सब चरित्रनिष्ठोंमें श्रेष्ठ थे ॥ १४ ॥

भाषा-टीका—भगवान्वीरका यश सुमेरुकी सदृश महान् था, यह उपमा उनके ही ऊपर भलि भाँति घटती है । वे श्रमण थे, तपसे शरीरको सोनेकी तरह तथा डाल था, ज्ञात वंशके क्षत्रिय पुत्र थे । जिनकी जाति-यशः कीर्ति-समस्त ज्ञान, दर्शन और चरित्र समन्वित है । श्रेष्ठतर तथा प्रधानतर है ॥१४॥

गुजराती अनुवाद—भगवान् शतनन्दन वीरप्रभुनो अगुपम वस
मुमेरु पर्वत समानं महान् छे । ए पूर्वोक्त उपमाए धर्मण भगवान् महावीरदेव
जातिए-यद्ये-दर्शने-ज्ञाने-अने आचारे सर्वोत्तम छे ।

मूल

गिरिवरे वा निसहाययाणं,
रूपए व सेठ्ठे बलयायताणं ।
तओवमे से जगभूइपन्ने,
मुणीण मज्झे तमुदाहु पण्णे ॥ १५ ॥

संस्कृतच्छाया

गिरिवरो वा निषध आयतानां, रुचको वा श्रेष्ठो बलयायतानाम् ।
तदुपमाः स जगद्भूतिप्रज्ञः, मुनीनां मध्ये तमुदाहुः प्रज्ञाः ॥ १५ ॥

सं० टीका—दृष्टान्तद्वारेण पुनरप्याह, निषधः=तक्षामा पर्वतो
यथा गिरिवराणामायतानां=दीर्घाणां, “दीर्घमायतमित्यमरः” । मध्ये,
जम्बूद्वीपेऽन्येषु वा द्वीपेष्वपेक्षया देव्येण श्रेष्ठ उत्तमः । पुनश्च बलया-
यतानां कटक्यायतानां मध्ये “आवापकः पारिहाय्यः कटको बल्योऽ-
स्त्रियाम्” इत्यमरः । रुचकः पर्वतः श्रेष्ठोऽन्येभ्यो बलयाकारत्वेनेति
भावः । हि रुचको द्वीपान्तर्गतमानुषोत्तरगिरिवि वृषायतो वर्तुलायतः,
“वर्तुलं निस्तलं वृत्तमित्यमरः” । असंख्येययोजनपरिक्षेपेण परिधि-
नैति । तथा स वीरोऽपि तदुपमाः । यथा वायुवृत्तताम्बा प्रधानधेति ।
तथैव भगवानपि जगति संसारे भूतिप्रज्ञः प्रभूतज्ञतपरिज्ञया श्रेष्ठ
इत्यर्थः । परमुनीनामपेक्षया प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञः सर्वज्ञधेति ।
तदेवं स्वरूपविद—आहुः, उदाहृतवन्तः कथितवन्तः ॥ १५ ॥

धन्यपार्थ—[व] जंछे [निषध] निषध पर्वत [आवापक] उद्वे
पर्वतोमे [गिरिवरे] श्रेष्ठ पर्वत हे, तथा [व] जंछे [रूपए] रुचक पर्वत
[बलयायतानां] गोत्वकार पर्वतमे [सेठ्ठे] श्रेष्ठ हे, [तओवमे] इनकी तरह

[छे] भगवान् महावीर भी [जगभूईपन्ने] संसारमें प्रभूतप्रज्ञा-अनन्त ज्ञान-युक्त हैं। अतः [पन्ने] प्रकृष्ट ज्ञानवालोंने [तं] उन्हें [मुषीण] सब मुनिराजोंके [मज्जे] बीचमें [उदाहु] उत्कृष्ट कहा है ॥ १५ ॥

भावार्थ—हरिवर्ष क्षेत्रके पर्वतका नाम निपथ पर्वत है, वह लम्बाईमें सभसे बड़ा है, तथा रुचक नामक पर्वत गोल्लईमें अद्वितीय है जिसके समान अन्य दूसरा नहीं है। उसी प्रकार भगवान् महावीर भी ज्ञानमें अद्वितीय थे, उनके समान पूर्णज्ञानी उस समय कोई और नहीं था, अत एव बुद्धिमान् अन्य दार्शनिकोंने उनको उत्कृष्ट कहा है ॥ १५ ॥

भाषा-टीका—निपथ पर्वत सब लम्बे पहाड़ोंमें श्रेष्ठ है, चूटीकी तरह गोल पहाड़ोंमें रुचक पर्वत सर्वाधिक सुन्दर है, इसी तरह वीरप्रभु भी जगत्में भूतिप्रज्ञ-अध्यात्म विद्यामें अद्वितीय है। और वह अन्य मुनिओंकी अपेक्षासे है। उनके स्वरूपको जाननेवालोंने यथार्थतया कहा है कि वह सर्वश्रेष्ठ हैं ॥ १५ ॥

गुजराती अनुवाद—लंबा पर्वतोमां निपथ नामक पर्वत भोटो छे। गोल्लकार पर्वतोमां रुचक पर्वत श्रेष्ठ छे। ते उपमाए श्रीमहावीर दासनपेज्ज जगत्मां प्रहाए करी श्रेष्ठ कखा छे, अध्यात्म विद्यामां अद्वितीय अने सर्वमान्य छे। तथा सर्व मुनिओने विपे प्रज्ञावन्त कखा छे। तेमना स्वरूपने जाणवावाळा-ओए यथार्थ कखुं छे के तेओ सर्वश्रेष्ठ छे ॥ १५ ॥

मूल

अणुत्तरं धम्ममुईरइत्ता,
अणुत्तरं ज्ञाणवरं क्षियाई ।
सुसुक्कासुक्कं अपगंडसुक्कं,
संखिंदुएगंतवदातसुक्कं ॥ १६ ॥

संस्कृतच्छाया

अणुत्तरं धर्ममुदीर्य्यं, अणुत्तरं ध्यानवरं ध्यायति ।

सुशुक्लशुक्लमपगण्डशुक्लं, संखेन्द्रेकान्तावदातशुक्लम् ॥ १६ ॥

सं० टीका—अणुत्तरं प्रधानमुत्कृष्टं धर्ममुत्पावस्येनेरयित्वा= कथयित्वा प्रकाश्य च, “प्रोक्ते प्रेरिते, क्षिप्त इति शब्दार्थचिन्ता-

वा *गंडमुदकफेनं बुद्बुदं तद्वन्निरमलं चेति, निर्दोषार्जुनसुवर्णव-
च्छुक्लम्, तथा च शंखेन्दुवदेकान्तावदातं शुभ्रं शुक्लं शुक्लध्यानोचरं
मेदद्वयं ध्यायतीति भावः । “गण्डः कपोले, पिटके, दोषजनके, जल-
बुद्बुदे, इति शब्दार्थचिन्तामणिः” ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—[अणुतरं] सबसे उत्तम [धम्मं] धर्मको [उईरहा]]
कहकर भगवान् [अणुतरं] प्रधान [ज्ञानवरं] व्युपरत-क्रिया-निर्गति नामक
ध्यानको [शियाइ] चिन्तन करते हैं, अर्थात् [सुसुद्धसुक्लं] उत्तम श्वेतवर्णकी
तरह शुद्धनामक श्रेष्ठ और पवित्र ध्यान जोकि—[अपमंडसुक्लं] अर्जुन संज्ञक
सुवर्णकी तरह अथवा जलके फेनकी तरह या [संखिंदु एगंतऽवदातसुक्लं] शंख
और चन्द्रमाकी तरह एकान्त सफेद है उसका भगवान्ने ध्यान किया ॥ १६ ॥

भाषार्थ—भगवान् महावीरने ऐसे धर्मका पूर्ण उपदेश किया है, जोकि
समस्त धर्मोंमें प्रधान है तथा शुद्धध्यानको धारण किया, वह शुद्धध्यान अर्जुन
नामक सुवर्णके समान और जलके फेनकी तरह तथा संखकी तरह और चन्द्रमाके
समान स्वच्छ है । भगवान् सूक्ष्मव्यययोगका निरोध करते हुए शुद्धध्यानके तीसरा
मेद-सूक्ष्मक्रियाप्रतिपात्ति नामक ध्यानग्रन्थ विषय चिन्तन करते हैं, तथा फिर जब
योगका निरोध करते हैं तब व्युपरतक्रियानिर्गति नामक शतुर्थ शुद्धध्यानके विष-
यको धारण करते हैं ॥ १६ ॥

अत्रोदाहरणं यथा—

वैरिप्रामयिघाताय, केपि पट्पुरुषाः पुत्र । चरित्याः समुदायेन, तेष्वेक इदम-
ब्रवीत् ॥ १ ॥ सर्व्वं हन्तव्यमेवात्र, द्विपदं वा चतुष्पदम् ॥ अन्यः प्राह मनुष्याण्यं
यथोऽस्तु पशुभिः किमु ?— ॥ २ ॥ तृतीयः प्राह हन्तव्या नरा एव नहि श्रियः ॥
तृप्येणाभानि हन्यंता, पुरुषेष्वपि सायुषाः ॥ ३ ॥ पचमोऽप्याह ये प्रन्ति ते
कथाः गापुषेष्वपि, पट्टस्वाह विना शत्रून्, पातः कर्म्यो न कस्तचित् ॥ ४ ॥ इति
मिश्रं मनसोपानभृद्देव्याविशेषतः । ताः कृष्णनीलशपोत, वेवः पद्मसिताभिधाः
॥ ५ ॥ तदेवं तारताभ्येन, विशुद्धपरिष्कृतः । येन सर्व्वे रिपुभ्योऽन्ये, रक्षिताः स
हि सततः ॥ ६ ॥

* गंडो पोट्टे कपोलसि* इल्लनिधानपपीषिय ।

भाषा-टीका—जिसमें राग, द्वेष्य त्याग हो और ज्ञान पूर्वक त्याग, वैराग्य, संयम, स्वामिमान, सहायुभृति आदि गुण पाए जायें तथा मानव जीवनमें उन्नत बनानेकेलिए और संसारमें उत्कृष्ट धर्मकी प्रकट करनेके लिए प्रभुने उपदेश किया, जो कि—अमेद रूपमें या, और वह धर्म प्राणी मात्रके लिए कहा था । इसकी स्वयमेव सिद्धिकेलिए उत्कृष्ट ध्यानका आशय लिया; उस ध्यानके प्रबल प्रतापसे उस पावन पुरुषको फलस्वरूप केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ । इसके अनन्तर भी मन, बचन, कायके योगोंका निरोधन करनेके फलमें सूक्ष्मकाययोगको रोककर शुद्धध्यानके तीसरे पदको प्राप्त करना आरम्भ किया; जिस स्थितिमें मन और बचनके व्यापारको रोक दिया जाता है तथा काययोगका भी आधा भाग रुक जाता है । यह शुद्धध्यानका तीसरा चरण वैरहर्षं गुणस्थानपर वर्तमान सूक्ष्म क्रिया रूप होजाता है ।

और जिस स्थितिमें मन, बचन, कायकी अप्रतिपाति रूप निवृत्ति होती है यह शुद्धध्यानका चौथा पाद है । अर्थात् कर्मरहित केवलज्ञानरूपी सूर्यसे पदार्थोंका प्रकाश करनेवाले सर्वज्ञ भगवान् जब अन्तरमुहूर्त प्रमाण आयु षाकी रह जाता है तब सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति नामक शुद्धध्यानके योग्य बन पाते हैं, उस समयकी चेष्टा अचिन्त्य होती है, बादरकाययोगमें स्थिति करके बादरवचनयोग और बादरमनोयोगको वे सूक्ष्मतम करते हैं, गुणः भगवान् काययोगके अतिरिक्त बचनयोग मनोयोगकी स्थिति करके बादरकाययोगसूक्ष्म करते हैं, तत्पश्चात् सूक्ष्मकाययोगमें स्थिति करके क्षणमात्रमें उसी समय बचनयोग और मनोयोग इन दोनोंका सम्यक् प्रसरसे निग्रह करते हैं, तब यह सूक्ष्म क्रिया ध्यानको साक्षात् ध्यानके करने योग्य बना लेती है, और वे वहा एक सूक्ष्म काययोगमें स्थित होकर उसका ध्यान करने हैं । इस तरह प्रभुका यह सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति ध्यान है ।

और अयोग गुणस्थानके उपान्त्य अर्थात् अंत समयके प्रथम समयमें देवाधिदेवके मुक्तिरूपी लक्ष्मीकी प्रतिबन्धक कर्मोंकी प्रवृत्तिएँ क्षीणमेव नष्ट होजाती हैं । भगवान् अवोगी परमेष्ठीको उसी अयोगगुणस्थानके उपान्त्य समयमें साक्षात् रूप और निर्मल "समुच्छिन्न क्रिया" नामक चौथा शुद्ध ध्यान प्रकट हो जाता है ।

भगवान्का यह प्रकट और शुद्धसे भी अधिक शुद्धध्यान है । देवकी दृष्टिसे महान् शुद्धदेव्य हैं । "देवा आत्मामें पुण्य पापको क्लिप्त करके जब अपने

जैसा बनालेती है अतः उसे लेदया कहते हैं," यह दो तरहकी है। प्रश्रुति और यौगिकी ये दो भेद हैं। प्रश्रुति क्यायके रंगमें रंग लेती है। भावसे असत् परिणति या परपरिणति रूपा है। योग, अविरति, मिथ्यात्व, कषाय, जन्म, कर्म, संस्कारोसे भावलेदया होती है। जोकि पण और आस्रवका कारण हैं।"

कापोती तीव्र भाव है, नीला तीव्रतर और कृष्णा तीव्रतम भाव है, यह अशुद्ध विचारोंका क्रम है। पीता उस पापकी मन्दताका नाम है, पद्मा मन्दतर है, शुक्ला मन्दतमको कहते हैं; अशुभ भावलेदया निर्म्मलताका नाश करती है, शुभभावलेदया कर्म कलिमाको प्रवृत्त कर देती है। अन्तिम लेदया सहजानन्द-निर्लेदय पद देनेमें निमित्त भूल है।

कृष्णलेदया-

आत्मा इस दुर्भाषके फंदमें पड़ कर राग, द्वेषके ग्रहसे प्रसा जाता है, परपरिणति और जड पूजाका दुराग्रह इसीसे आता है, मन दुष्ट और म्लान रहता है, अनन्तानुबन्धीके तीव्र क्रोध, मान, माया, स्नेह क्यायसे प्रसित होता है, सदैव भावोंमें निर्दयता बनी रहती है निकल नहीं जाती, यह पापका समाचरण करके उसका कर्म पछतावा नहीं करता, यह भास मदिराका लम्पट होता है, कुत्सित कर्ममें आसक्ति बनी रहती है। इन लक्षणोंसे सम्न्वित मनुष्य कृष्णलेदयायुक्त समझना चाहिए।

नीललेदया-

जिसमें स्नेह, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, शोक हो। नृशंसता, क्रूरता, हिंसकता रहती हो, चाण्डाल वृत्ति हो; चोर, मूर्ख, स्वप्न, आँतोंका तिरस्कार करता हो, नीन्दकी अधिकता, अमुकता, मन्दबुद्धि, जडता तथा सत-भसतमें अविवेकी हो, महा आरम्भ, महामूर्ख्य-मोह हो तो समझो कि—इसमें नीललेदया है।

कापोतीलेदया-

शोक, भय, ईर्ष्या, मत्सरभाव, आँतोंकी निन्द, अपनी प्रशंसा करना, कोड़े अपनी स्तुति करे तो प्रसन्न होना, हावित्यभक्तो न जानना स्व और परमें विपर्यय विवेचना हो, अहंकार-ग्रह प्रसन्न हो; अच्छी, बुरी सब प्रकारकी कियामें कर डालता हो, अपनी प्रशंसा मुनकर अन्यको सर्वस्व तक अर्पण कर डालता हो, लड़ाईमें मरनेकी इच्छा रखता हो, अन्युद्धि यथाः कीर्तिके नाश कर डालता हो, इन लक्षणोंसे कापोतीलेदया समझनी चाहिए।

तेजोलेख्या-

यह पुरुष समदृष्टि होता है, अधिकमात्रमें द्वेष नहीं रखता, औरोंके कल्याण और अहितको सोचता है, अपने बुद्धि बलसे युक्त और अयुक्तका ज्ञान कर लेता है, किसी अन्यकी सोचनीय दशा पर उसे दया आजाती है, चातुर्घ्यता पूर्ण और अग्निव्य व्यवहार है, ये तीजलेख्याके लक्षण हैं ।

पद्मलेख्या

कर्मकी निर्जरा करके पवित्र होनेकी प्रवृत्त इच्छा हो, मुसात्रोंमें सात्विक ज्ञान वितरण करके सहजानन्द सृष्टता हो, जिसका अन्तर और बाह्य भ्रमन्त सृष्ट और सरल हो, आत्मामें सदैव विनय और नम्रता रहती हो, शत्रुओंका प्रेमसे आदर करता हो, आत्म ज्ञानको उदयमें रचना ही जिसका ध्येयहो, सचरित्र पालक चाणु हो तो समझो कि इसमें, नीति युक्त किया है, यह पद्मलेख्याका लक्षण है ।

शुक्ललेख्या

अभिमानका लेश तक न हो, अपने चरित्रका फल मांगनेकी अभिलाषासे निदान न करता हो, पक्षपातका अत्यन्त अभाव हो, सम्यग्ज्ञानकी पूर्णता हो, रागद्वेषका अत्यन्तभाव हो, समाधि और अध्यात्मिकतामें स्थायी भाव हो, आत्मिकता हो, ये लक्षण शुक्ललेख्याके हैं ।

तेजोलेख्या, पद्मा और शुक्ला ये तीन प्रशस्त लेख्या हैं, क्रमसे संवेगको सत्तम रीतिसे बढानेमें सहायिनी हैं,

इन्हें उदाहरणसे समझाते हैं,

चौरोंका एक समुदाय किसी ग्रामको छूट कर भाग गया, तब उस बस्तीके व्येकभी उनसे बदला लेनेकी इच्छासे अपने समुदायको संगठित बनाकर चले जा रहे थे उनमें छः आदमी अलग २ छः प्रकृतिके थे । रस्तेमें चलते २, पहले ने यह कहा कि—

[१] हम सब यहाँ जाकर सारे ग्रामके जीवोंको मार देंगे, उनकी पत्नी हुई विधिया तबसे भी न छोडेंगे ।

[२] दूसरेने कहा हम उनके पञ्च पक्षियोंको कुछ न कहेंगे ।

[३] उनकी स्त्रियोंको कुछभी चष्ट न देंगे । क्योंकि औरोंकी बहु चेटिते अपने जैसी ही होती हैं ।

[४] पुरुषोंमें भी उनको मारना चाहिए जिनके हाथोंमें शस्त्रहों, निदशस्त्र शत्रुका मारना नीतिविरुद्ध है ।

[५] उसी शस्त्र-धारीको मारा जायगा जो हम पर आक्रमण करेगा,

[६] शत्रुको छोड़कर भूलकर भी किसी निरपराधके ऊपर हाथ न डाल जाय ।

इस प्रकार मित्र २ विचार मित्र २ छेद्योंओंके द्वारा होते हैं, अनुक्रमसे पवित्रविचारों द्वारा जो कर्मरूपी शत्रुके अतिरिक्त अन्य सबकी रक्षाकरता हो वही नरपुंगव सबमें प्रधान और उत्तम है ।

इसी प्रकार भगवान् वीर प्रभुका भी शुक्रेत्या युक्त ध्यान है, जिसमें निर्दोष ईशान द्रव्य अर्थात् आत्माका अन्तरंग भाव स्वच्छ है । जिनका पवित्रध्यान चन्द्रमा और घंघकी तरह उज्वलवर्ण है, इस प्रकारके शुक्रेध्यानका उपदेश संसारकी आत्माओंके हितार्थ प्रभुने स्वयं किया है ॥ १६ ॥

गुजराती अनुवाद-जेमां राग द्वेपनो स्थान होय, एवा ज्ञानपूर्वक ध्याग, वैराग्य, संयम, स्वामिमान, सहानुभूति विगरे गुणो होय, एवो धर्म मानव जीवने उन्नत बनाववा माटे संसारमा सर्वोत्कृष्ट गणाय छे ते धर्मने प्रगट करवाने माटे प्रभुए उपदेश आप्यो के जे अमेद रूपे हतो । वडी ते धर्म प्राप्तिमात्रने माटे कहेले हतो । तेनी सिद्धिने माटे तेओए उत्कृष्ट ध्याननो आधय छीयो । तेना फल स्वरूपे तेमने केवलज्ञान प्राप्त धर्युं । ते पछी पण मन, वचन, कथना योगोनु निरुधन करवाना समये सुद्धम कथय योगने रोकीने शुक्रेध्याननो प्रीजो पायो प्राप्त करवानो आरम्भ कर्यो, जे स्थितिमा मन-वचनना व्यापारोने रोकी देवामा आवेछे, तथा कथय योगनो पण अर्धो भाग रोकाई जाय छे । आ शुक्रेध्याननो प्रीजो पायो धैरमे गुणस्थाने वर्तता जीवोने होय छे । अने जे स्थितिमा मन वचन कथयनी अप्रतिपातिरूप निवृत्तिधई जाय छे ते शुक्रेध्याननो चोचो पायो छे ।

कर्मरहित केवलज्ञानरूपी सर्वेशी पदार्थोंनो प्रकट करवावाला सर्वज्ञ मनवानुं ज्यारे अन्तर्मुद्रित प्रमाण अगुण्य बाकी रहीं जाय छे, ल्यारे सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति नामे शुक्रे ध्यानने तेओ योग्य बनी जाय छे ते समयनी स्थिति अचिन्त्य होय छे । बादरकथय योगमां स्थिति करीने बादर वचनयोग अने बादर मनोयोगने ते सुद्धमतम करे छे । वडी भगवान् कथययोग सिद्धय वचनयोग, मनोयोगनी स्थिति सुद्धम करीने बादर कथययोग पण सुद्धम करे छे । ते पछी सुद्धमकथययोगमा स्थिति करीने क्षणमात्रमां तेज समये वचनयोग अने मनोयोग

ए बनेनो सम्यक् प्रकारे निग्रह करे छे । त्यारे ते सुझुम क्रिया ध्यानने साक्षात् ध्यान करवा योग्य बनावी छे छे । अने ते खां एक सुझुम कर्मायोगमां स्थिति करीने तेनुं ध्यान करे छे । आ रीते प्रभुनुं आ “सुझुमक्रियाअप्रतिपाति” ध्यान छे ।

अयोग गुणस्थानना उपान्त्स अर्थात् अन्तसमयना प्रथम समये देवाधिदेवनी मुक्तिरूपी लक्ष्मीने प्रतिबन्धक कर्मोनी प्रकृतिओ शीघ्र नाश पानी जाय छे भगवान् अयोगी परमेशीने ते अयोग नामा गुणस्थानना उपान्त्स समये साक्षात् रूप अने निर्मल “समुच्छिन्नक्रिया” नामे शुद्धध्याननो बोधो पायो प्रगट धाय छे ।

ते भगवान् प्रधान धर्म प्रकृतीने प्रधान-उज्वळमां उज्वळ, दोष रहित, उज्वळ शंस अने चन्द्रमानी घेठे एखन्त निर्मल सर्वध्यानमां सर्वोत्तम एवुं शुद्ध ध्यान ध्याय छे ।

छेदानी दृष्टि पण तेमनी महान् शुद्धलेखा छे ।

आत्मानां पुण्य पापने लिप्त करीने पोताना जेवां बनावी-त्ये, तेने लेखा कह्ते छे, ते ने जातनी होय छे । ते प्रकृति अने यौगिकी होय छे । प्रकृति कपायनां रंगमां रंगी त्ये छे । भावशी अमत् परिणति तथा पर परिणतिरूप छे । योग-अविद्वि-निध्यात्व-कपाय-प्रमादजन्य कर्मसंस्कारोशी भावलेखा होय छे । के जे पाप अने आसक्तुं कारण छे ।

कापोती तीव्र भाव छे, नीला तीव्रतर अने कृष्ण तीव्रतम भाव छे । अशुद्ध विचारोનો क्रम छे । पीता पापनी मन्दतातुं नाम छे, पद्मा मन्दतर अने शुद्ध मन्दतमने कहे छे । अशुभ भाव-लेखा आत्मानી निर्मलतानो नाश करे छे, शुभ भाव-लेखा कर्मभेलनो नाश करे छे, अन्तिम लेखा सहजानन्द-निर्लेखीपद्म अपाववामां निमित्तभूत छे ।

कृष्णलेखा-

आ दुर्भावनाना फंदमा पावीने जीवने राग-द्वेषना ग्रहणी प्रसाय छे, पर परिणति अने पुद्गलपूजा-जडपूजाओ दुरामह तेना शी आवे छे, मन दुष्ट अने म्छान रहे छे, अनन्तानुबन्धीना तीव्र क्रोध-मान-माया-ल्लोभशी घेरायेत्ये होय छे, भावोमां भी निर्दयता जती नशी, पाप कार्य करीने तेने कही पद्याओ भतो नशी । मांस मदिरानो भोगी होय छे, कुकर्ममां आसक्त होय छे । आ लक्षणो बाळो मनुष्य ‘कृष्णलेखा’ बाळो जाणवो ।

नीललेइया-

जेनामा क्रोध-मान-माया-ओम-राग-द्वेष-मोह-शोक-भय-जुगुप्सा होय, नृशंसता क्रूरता-हिसक्रता होय, चाण्डालवृत्ति होय, चोर-मूर्ख-स्तब्ध होय, बीजाथोनो विरस्कार करतो होय, निशानी अधिभूता-समासजि-मंद बुद्धि-जडता होय, सत् असत्मा अविवेकी होय, महाआरम्भ-महामूर्खी-मोह होय, आ लक्षणो वाळो जीव नीललेइया वाळो जाणवो ।

कापोती लेइया-

शोक-भय-ईर्ष्या-भस्तर-अन्यनी निन्दा, पोतानी प्रशंसा तथा पोतानी कोई प्रशंसा करे तो प्रसन्न थवुं, आत्माना हानि लाभने न समजे, स्व-परमां विपर्यय बुद्धि होय, अहंकारप्रस-सारी नरसी सर्व प्रकारनी क्रियाओ करी बेसे, पोतानी स्तुति सांभळीने सर्वस्व पण आपी दे, लडाईंमां मरवानी इच्छा राखे । आ लक्षणो वाळो जीव कापोती लेइया वाळो समजवो ।

तेजोलेइया-

आ लेइयावाळो समदृष्टि होय छे, अधिक मात्रामां द्वेष नशी करतो, अन्यना कल्याण अकल्याणनो विचार करे छे । पोताना बुद्धिबलधी युक्त अयुक्तनुं शान विचारे छे । कोई अन्यनी शोचनीय दगा पर तेने दया आवे छे । चातुर्य-तापूर्ण तेमज अनिष्ट व्यापार होय छे । आ पीतलेइयाना लक्षण छे ।

पद्मलेइया-

कर्मनी निर्जरा करीने पवित्र तथा कर्मरहित बनवानी इच्छा होय । सुपात्रे दान दईने सहजानन्द लूटे । आन्तर तेमज बाह्य व्यवहार जेनो अत्यन्त मृदु अने सरल होय । आत्मानां हमेशां विनय अने नम्रता होय । धत्रुपर पण प्रेम राखे । आत्मज्ञान प्राप्तिनो जेनो ध्येय होय । सधरित्र पालक साधक होय, नीति युक्त क्रियावन्त होय । आ पद्मलेइया वाळानां लक्षणो छे ।

शुक्ललेइया-

अभिमान ऐश्वर्यात्र पण न होय, पोताना चरित्रनुं फळ मागवानी अभिला-पारूप निदान न करे, निष्पक्षपाती होय, सम्यक् ज्ञाननी पूर्णता होय, राग द्वेषनो अत्यन्त अभाव होय, समाधि तेमज अप्यात्मिकतामा स्थिर होय, आस्तिक्य होय, आ लक्षणो शुक्ललेइयाना जाणवा ।

तेजो, पद्मा अने शुद्धा ए वृष प्रसन्न छेदवा छे, कर्म करीने संवेगने उत्त-
मरीते बधारवामां सहायरूप छे ।

लेइयाओने उदाहरणथी समजावे छे—

चोरोने एक स्सुहाय कोई गामने टुंटीने चाल्यो गयो त्तारे ते गामना
लोको तेनो बदलो देवानी इच्छाए संगठित बनीने चाल्यो जाय छे । ते मां छ
माणसो जुही जुही छ प्रकृति ना हुता, रक्तामां चाक्ता चाक्ता पहेलाए कहुं के-

(१) आपणे वधा त्या जईने आखा गामना जीवोनो नास करी नाखीछुं,
तेमना पाकेलां पक्षिओने पण नहि छोडीछुं

(२) बीजाए कहुंके आपणे तेमना पशु पक्षिओने कई देजा नहि करिए ।

(३) प्रीजाए कहुं के आपणे तेमनी बीमोनो कोई पण जातनुं कइ नहि
आपिए । कारणके अन्यनी बहु चीकरीओ आपणी बहु चीकरीओ जेवी छ ।

(४) चोथाए कहुंके पुहपोमां पण जेना हामना शत्रु होय तेनेज मारवा
जोहए, निरशत्रु शत्रुने मारवा नीति विरुद्ध छे ।

(५) पांचमाए कहुंके शत्रुधारिओमां पण जेओ आपणा पर आक्रमण
करे तेनेज मारवा ।

(६) छट्टाए कहुंके शत्रु सिवाय मूलथी पण कोई निरपराधीने न मराय ।

आ रीते जुदा जुदा विचारो जुही जुही छेइयाओ द्वारा वाय छे । अनुक्रमे
पवित्र विचारो द्वारा जे कर्मरूपी शत्रु सिवाय बीजा बधानी रक्षा करे ते नरपुं
गन चरैमां प्रधान अने उत्तम छे ।

आ रीते भगवान् वीरप्रभुनुं पण शुद्धलेइया युक्त ध्यान छे । तेमां आत्माना
अन्तरग भाव सख्त होय छे, तेमनुं पवित्र ध्यान संसनी पेठे उज्ज्वल वर्णनुं छे ।
आ रीते जगन् जीवोनो हितार्थे शुद्धध्याननो उपदेश पण वीर प्रभुथीए करेल छे १६

मूल

अणुत्तरगं परमं महेशी,
असेसकम्मं स विसोहइत्ता ।

सिद्धिं गते साइमणंतपत्ते,

नाणेण सीलेण य दंसणेण ॥ १७ ॥

(संस्कृतच्छाया)

अनुत्तराभ्यां परमां महर्षिः, अशेषकर्म स विशोध्य ।

सिद्धिं गतः साधनन्तप्राप्तः, ज्ञानेन शीलेन च दर्शनेन ॥ १७ ॥

सं० टीका—तथा चासौ भगवान् शैलेश्यवस्त्राऽऽपादितशुक्ल-
ध्यानस्य चतुर्थमेदानन्तरं साद्यपर्यवसानां सिद्धिं मोक्षं । “योम्यमे-
देऽन्तर्याने मोक्ष इति शब्दस्तोममहानिधिः” । “मोक्षो, निरोधो,
निर्वाणं, दीयो, तण्डकस्त्रयो, परं, । ताणं, लेणं, अरूयं च, सन्तं, सच्चं,
अनालयं । असंखतं, सिवं, अमतं, सुदुहस्सं, परायणं, सरणं, अनी-
तिकं, तथा । अनासवं, धुवं, अनिवस्सना, कता, अपलोकितं, निपुणं,
अनन्तं, अक्खरं, दुक्खक्खयो अव्यापञ्जं च, विवट्टं, खेम, केवलं, ।
अपवगो, विरागो, च, पणीतं, अब्भुतं, पदं । योगक्खेमो, पारं पि,
मुत्ति, सन्ति, विमुद्धि, यो । विमुत्त्य,ऽसंखताधातु, मुद्धि, निब्भुतियो
(सियुं)” इत्यभिधानप्यदीपिका । “मोक्षस्तु मुक्तिपाटलिमोचने”
इति मेदिनी” । गतिं मोक्षगतिं या पञ्चमी तां प्राप्तः । सिद्धिगति-
मेव विशिनष्टि, अनुत्तरा चासौ सर्वोत्तमत्वात्, अत्र्या च लोकाग्र-
भागे व्यवस्थितत्वादनुत्तराऽऽभ्या तां परमां प्रधानां गतिं चेति ।
महर्षिं=रसावत्यन्तोऽप्रतपो विशेषो वा सर्वज्ञः । “महर्षिः सर्वज्ञेषु,
विद्यासम्प्रदायप्रवर्तकेषु चेति, शब्दार्थचिन्तामणिः” । “महेस्ती, च
विनायको, समन्तचक्खु, सब्भु, इत्यभिधानप्यदीपिका” । निष्टदेह-
त्वादशेषं कर्म ज्ञानावरणादिकं विशोध्यापनीय दूरीकृत्य च विशिष्टेन
ज्ञानेन दर्शनेन शीलेन क्षायिकेण तां सिद्धिं गतिं प्राप्त इति, ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—[स] वे [महेस्ती] महर्षि भगवान् [असेतकर्म] सब
कर्मको [विशोदइत्य] भक्तिर्गति शय करके [अनुत्तरम्] सब प्रकारसे प्रधात

लोकके अग्रभागमें [गते] जा विराजे, [सद्मणंत] और आदि-अनन्त, तथा [परमं] उत्कृष्ट [सिद्धि] मोक्षके [नाणेण] ज्ञान [सीलेण] चरित्र [य] और [दंसणे] दर्शनके द्वारा प्राप्त हुए ॥ १७ ॥

भावार्थ—भगवान्ने धायिकज्ञान, धायिकदर्शन और धायिकचरित्र द्वारा सर्वोत्तम लोकप्रभागमें धारण करनेवाली युक्तिको सकल कर्मोंका अन्त करके उसे पाया, वह युक्ति सादि अनन्त है, कई लोक मोक्षसे वापिस आना मानने हैं; किन्तु वह युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि संसारमें रहनेवाले राग-द्वेष-कोप-मान-मायादि विकार हैं, जहाँतक ये विकारहैं वहाँतक मोक्ष नहीं, और मुक्तात्मामें कोई विकार नहीं है। अतः विकार रहित आत्मा संसारमें बयोकर पुनरुत्पन्न कर सकता है? यदि उसमें रागादिक सद्भाव मानाजाय तो वह मोक्ष नहीं, यदि मोक्ष होनेपर पुनः अवतारित होते हों तो वहभी ठीक नहीं, क्योंकि विकारोंके विकारही पैदा कर सकते हैं, जब मुक्तात्मा निर्विकार है तो विकारकी उत्पत्ति कयांकर हो सकती है ॥ १७ ॥

भाषा-टीका—भगवान् शैलेष्ठी अवस्थासे शुकृष्यानके चतुर्थ भेदको पानेके अनन्तर आदि अनन्त मोक्षरूप अपुनराश्रित धाममें जा विराजे। लोकके अग्रभागमें व्यवस्थित होनेसे वह परमप्रधान है, उसे उस सर्वेश-महर्षि ने देहको तपसे तपा कर ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मोंका विशोधन करके (वह भी अपने निजी पुश्र्वाय से,) फिर ज्ञान, दर्शन चरित्र के द्वारा सिद्धि मक्ति-मोक्षपथे पाया २

आकाश सबमें अनन्त है, उस पूर्ण लोकलोकेश्वरामें सिद्ध परमात्माका ज्ञान घनीभूत होकर भरा पडा है। उस सिद्धावस्थाके होने पर वे निद्रा, तन्द्रा, भय, भ्रान्ति, राग, द्वेष, पीडा, संशयसे रहित हो जाते हैं। तथा शोक, मोह, जरा, जन्म, मरण, आवि भी नहीं रहते हैं। धुषा, लुषा, खेद, मर, उन्माद, मूर्च्छा, मत्सर वा भी अल्पन्ताभाव है। इनकि आत्मामें अब घटावकी भी नहीं है, इनका आत्म वैभव कल्पनातीत है। सिद्ध भगवान् शरीर रहित हैं, इन्द्रिय रहित हैं, विकल्प, संकल्प नहीं हैं, अवन्तवीर्यत्व प्राप्त हैं, अपने स्वभावसे कभी स्तब्धित नहीं होते। सहज और नित्य आनन्दसे आनन्द रूप हैं। जिनके मुखमें कभी विच्छेद नहीं होता है। परमपद में विराजित हैं, ज्ञानके प्रकाशसे प्रमशित हैं। परिपूर्ण, सनातन, संसारकी रजपटसे रहित हैं एवं जिनको अब कुछ भी करना करना नहीं है, अचल स्थिति है, आत्म प्रदेशों की क्रियासे रहित हैं। सन्तुष्ट हैं,

सूष्णा रहित हैं, मदा तीन लोकके शिखर पर विराजित हैं । अनुपमेय हैं, आकाश और काल कि तरह प्रभु अनन्त हैं, और वचन अगोचर हैं ॥ १५ ॥

गुजराती अनुवाद—भगवान् शैलेष्ठी अवस्थाधी शुरुभ्याना चोधा भेदने प्राप्त कर्मा पछी आदि अनन्त मोक्षरूप अपुनरागृति स्थानमां जइ विराज्या, से मोदा ऋषीधर [महावीर देव] समस्त कर्म उपार्वाने पोतानाज पुरुषार्थधी ज्ञान, दर्शन, चरित्रे करी, सर्वोत्तम लोकने अग्र भागे उत्कृष्ट सिद्धगतिने पाप्मा ।

आकाश अनन्त छे, से पूर्ण लोकलोक-आकाशमां सिद्ध-परमात्मानुं ज्ञान भयुं पशुं छे, से सिद्धावस्थामां निद्रा, तन्द्रा, भय, भ्रान्ति, राग, द्वेष, पीडा, संशय नशी, शोक-मोह-जन्म-अरा-मरणादि पण नशी; ध्रुवा-तृषा-लेद-भव-उन्माद-मूर्छा-मत्सरानो भक्तन्त अभाव छे; तेमनो आत्मा अगुह लघुत्व गुणने प्राप्त भयो छे, तेमनो आत्मबैभव कल्पनातीत छे, सिद्ध भगवान् शरीर-इन्द्रिय-सकल्प-विकल्पधी रहित छे, अनन्त वीर्यवान् छे, स्व-स्वभावधी करी पण ह्यल्लित भता नशी, सहजानन्द प्राप्त छे, निराबाध सुखवाढा छे, परम पदमा विराजमान छे, ज्ञान-प्रकाशधी प्रकाशित छे, सर्व नित्य-परिपूर्ण छे, सनातन छे, समारना प्रपंचोधी रहित छे, कृतकूल छे, अचल छे, अहरज छे, अक्षय छे, आत्मप्रवेशोनी क्रियाधी रहित छे, सन्तुष्ट छे, सूष्णा रहित छे, अमलोकना अग्रभागे विराजे छे, अनुपमेय छे, आकाश भने कालनी येठे प्रभु अनन्त छे, तेमज वचनातीत छे ॥ १५ ॥

मूल

रुक्खेसु णाते जह सामली वा,

जस्सि रइं वैययंती सुवण्णा ।

वणेसु वा णंदणमाहु सेट्ठं,

नाणेण सीलेण य भूतिपत्ते ॥ १८ ॥

संस्कृतच्छाया

वृक्षेषु शातो यथा शास्मली वा, यस्मिन् रतिं वेदयन्ति सुपर्णाः ।

घनेषु वा मन्दनमाहुः श्रेष्ठं, ज्ञानेन शीलेन च भूतिप्रदः ॥ १८ ॥

सं० टीका—पुनरपि वीरस्य स्तुतिं दृष्टान्तद्वारेणाह, वृक्षेषु मध्ये

यथा ज्ञातः प्रसिद्धो देवकुसुम्यवस्थितः शास्मलीवृक्षः, ॥ च भुवन-

पतिदेवानां क्रीडास्थानम्, “शाल्मले शाल्मलीवृक्ष इति हैमः” ।
 यस्मिन् वृक्षे व्यवस्थिता अन्यतश्चागत्य सुपर्णा=भुवनपतिविशेषा देवा
 रति=रममाणा रति रमणं क्रीडां वेदयन्त्यनुभवन्तीति । वनेषु मध्ये
 नन्दनं=देवानां क्रीडास्थानं श्रेष्ठम् प्रधानं “नन्दनं, मिस्तकं, चित्तलता,
 फारसकं, वना इत्यभिधानपदीपिका” । एवं भगवान् वीरोऽपि केव-
 लाख्येन ज्ञानेन समस्तपदार्थाविर्भावकेन शीलैः=चारित्र्येण यथाख्यातेन
 स्वभावेन सहजधर्मविशेषेण सद्बुद्धेन साधुचरित्रेण प्रधानस्तथा भूति-
 प्रज्ञः=प्रवृद्धज्ञानोऽनन्तज्ञानो भगवान् इति भावः ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—[जह] जैसे [वक्ष्येत्] . वृक्षोंमें [सामकी] शाल्मली वृक्ष
 [वा] तथा [वनेषु] वनोंमें [नन्दनं] नन्दनवन [श्रेष्ठं] श्रेष्ठ [णाए] समता
 जाता है [जस्मिं] जिसमें कि- [सुपर्णा] सुपर्ण-कुमार नामक भुवनवासी देव
 [रति] आराम क्रीडाका [वेदयती] अनुभव करते हैं उसी प्रकार भगवान्
 [नाणेण] ज्ञानसे [य] और [शीलैः] चरित्रसे श्रेष्ठ तथा [भूषणैः] प्रभूत
 ज्ञानशाली [आहु] कहल्यते थे ॥ १८ ॥

भाषार्थ—वृक्षोंमें सेमलवृक्ष मुंदर सपन छया युक्त होता है, यह वृक्ष
 पृथ्वीकायिक और निलय है । तथा संसारके समस्त वनोंमें नन्दनवन खूबसूरत है,
 क्योंकि कथित दोनों स्थानोंमें रहनेवाले तथा बाहरसे आनेवाले सुपर्णकुमार
 जातिके भुवनवासी देव, आनन्दमें आमोदप्रमोदसे अनेकप्रकारका विलास करते हैं,
 उसीप्रकार भगवान् महावीर प्रभु भी सबमें उत्तम थे, कारण उस समय प्रभुके
 सुखबलेमें उनके ज्ञान और चरित्रकी बराबरी करनेवाला कोई भी व्यक्ति न था,
 इसीलिए सेमल और नन्दनवनकी उपमा देकर भगवान्की स्तुति की गई है ॥ १८ ॥

भाषा-टीका—शाल्मली वृक्षकी शीतल छाया होनेसे वह सब वृक्षोंमें
 श्रेष्ठ है, और वह भुवनवासी देवोंका क्रीडा स्थल है, । वनोंमें जिसप्रकार
 नन्दनवन उत्तम वन है, इसी प्रकार भगवान् महावीर प्रभु भी केवलज्ञानके
 कारण श्रेष्ठ हैं, जिससे सर्वपदार्थोंका उन्हें प्रत्यक्ष आविर्भाव है । ज्ञानके साथ
 साथ उनमें यथाख्यात चरित्रमें भी पूर्णश्रेष्ठता प्राप्त है । जोकि आत्माका सहज
 स्वभाव समन्वित गुण है ॥ १८ ॥

गुजराती अनुवाद—शीतल छाया होवाने जीधे शात्मली वृक्ष सर्व वृशोधी भेष्ट छे, ते भुवनवासी देवोर्नु मीदा स्थान छे, बनोमां जेम नन्दनवन भेष्ट छे, तेमज भगवान् महावीर पण केवलज्ञाने करी सर्वोत्तम छे, जेनाधी सर्व पदार्थोनो प्रत्यक्ष आविर्भाव तेमने भाव छे, ज्ञाननी साथे यथाख्यात चरित्रमां पण तेओ भेष्ट छे के जे आत्म्यानो सहज स्वभाव छे ॥ १८ ॥

मूल

धणियं च सद्गण अणुत्तरे उ,
चंदो च ताराण महानुभावे ।
गंधेषु वा चंदणमाहु सेट्टं,
एवं मुणीणं अपडिन्नमाहु ॥ १९ ॥

संस्कृतच्छाया

स्तनितं वा शब्दानामनुत्तरं तु, चन्द्रो वा ताराणां महानुभावः ।
गन्धेषु वा चन्दनमाहुः श्रेष्ठम्, एवं मुनीनामप्रतिष्ठमाहुः ॥ १९ ॥

सं० टीका—यथा च शब्दानां मध्ये स्तनितं मेघगर्जितं “स्तनितं गर्जितं मेघनिर्घोषो रसितादि चेत्यमरः” । तदनुत्तरं प्रधानं तुशब्दो विशेषणार्थः, आह च, “समुच्चयेऽवधारणे, नियोगे, मर्शसायां, उक्तशंक्रानिवृत्तौ, पादपूरणे, विशेषणार्थे चेति कोपः” । तथा च तारकाणां=नक्षत्रगणानां मध्ये चन्द्रो महानुभावः, “नक्त्वचं, जोति, भं, चारा, (अपुमे) तारको इत्यभिधानप्यदीपिका” । सकलरजोनिवृत्तिकारिण्या कान्त्या मनोरमः श्रेष्ठः । गन्धेषु चेति गुणगुणिनोरमेदान्मत्तुल्लोपाद्वा, गन्धवत्सु मध्ये यथा चंदनं मलयजं गोशीर्षकाख्यं “चन्नं (निस्थियं) गंधसारो मलयजो (प्यथ)” “गोसीसं तलप्यणिकं, (पुमे वा) हरिचंदनं” “इत्यभिधानप्यदीपिका” । मलयजं मलयपर्वतादौ-जायते तद् वा तज्ज्ञाः श्रेष्ठमाहुः । एवं मुनीनां महर्षीणां च मध्ये भगवन्तं । पुनश्च नास्य प्रतिज्ञा इहलोकपरलोकानां संसिनी

विद्यत इत्यप्रतिज्ञः, इहलोकपरलोकाशंसारहितप्रतिज्ञस्त्वमेवंभूतं महा-
वीरम् श्रेष्ठमाहुरिति ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—[व] जैसे [चणिय] मेघनी गर्जना [सहाण] सबशब्दोंमें
[अणुत्तर उ] प्रधान है—सबसे बढकर है, और [व] जैसे [चंदो] चन्द्रमा
[ताराण] सब तारोंमें [महाणुभावे] उज्वल और मनोहर है, [या] इसीप्रकार
[गणेषु] सब मुगन्धित पदार्थोंमें [चंदर्ष] चन्दनको [सेठ्ठं] अच्छा [आहु]
कहा है [एवं] इसी प्रकार भगवान् को भी [मुणीषं] सब मुनिओंमें [अपडिण्णं]
इस लोक और परलोककी प्रतिज्ञा-कामनासे विरक्त [आहु] कहा है ॥ १९ ॥

भावार्थ—जैसे सब शब्दोंमें मेघकी गर्जनाका शब्द बडा प्रबल होता है,
सबके सब शब्द उससे नीची कक्षामें हैं, तथा सब मक्षत्र मण्डलमें चांद सबमें
उज्वल और सुन्दर है, और समस्त मुगन्धित पदार्थोंमें मलयज चन्दन मुनि
और उत्तम है, उसी प्रकार समस्त मुनिओंमें भगवान् महावीर उम समय
सबमें प्रधान थे, क्योंकि उनमें आत्मासे भिन्न इसलोक और परलोक संबंधी
किसी भी विषयकी कामना न थी ॥ १९ ॥

भाषा-टीका—शब्दोंमें मेघकी गर्जनाका शब्द सबसे बडा होता है,
असंख्य तारों और नक्षत्रोंमें चन्द्रमा तेजस्वी शीतल और महाणुभाव है, मुगन्ध
वस्तुओंमें मलयजचन्द गोक्षीपे चन्दन श्रेष्ठ होता है । इसी प्रकार मुनि महर्षि-
गणोंमें भगवान् सबमें विलक्षण भेदतापूर्ण थे । उनकी सब प्रतिज्ञाएँ इस लोक
और परलोक सम्बन्धी विषयकार्क्षाओंसे रहित थी ॥ १९ ॥

गुजराती अनुवाद—शब्दोंमें जेम मेघनी गर्जनाने शब्द, ताराओंने
विषे जेम चन्द्रमा, अने मुगंधीओमा जेम गोक्षीपे चन्दन श्रेष्ठ छे, तेम मुनि
महर्षिगणोमा भगवान् श्रीमहावीर श्रेष्ठ छे, तेमनी सब प्रतिज्ञाओ आ लोक अने
परलोक सम्बन्धीनी वांछना रहित छे ॥ १९ ॥

मूल

जहा सयंमू उदहीण सेठ्ठे,

नागेषु वा धरणिदमाहु सेठ्ठे ।

खोओदण् वा रसं वेजयंते,

तवोवहाणे मुणि वेजयंते ॥ २० ॥

संस्कृतच्छाया

यथा स्वयम्भूरुदधीनां श्रेष्ठः, नागेषु वा धरणेन्द्रमाहु श्रेष्ठम् ।
क्षोदोदकं वा रसं वैजयन्तः, तप उपधानेन मुनिर्वैजयन्तः ॥ २० ॥

सं० टीका—यथा स्वयं भवतीति स्वयंभुवो देवास्तत्रागत्य रमन्त
इति, स्वयंभूरमणस्तदेवोदधिः समुद्राणां मध्ये यथा स्वयंभूरमणः समुद्रः
समस्तद्वीपसागरपर्यन्तवर्ती श्रेष्ठः प्रधानो महत्तरः । नागेषु च भुवन-
पतिविशेषेषु मध्ये धरणेन्द्रं नागानामिन्द्रं यथा श्रेष्ठमाहुः । तथेक्षुरस
इवोदकं जलं यस्य सः इक्षुरसोदकः, ॥ यथा रसमाश्रित्येति वृद्धाः,
वैजयन्तःप्रधानः । स्वगुणैः समुद्राणां पताकेवोपरि स्वयंभूर्धरणेन्द्रो
रसश्च प्रधानः समन्वितस्तथैव तप उपधानेन विशिष्टतपोविशेषेण मनुते
जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिर्भगवान् वैजयन्तः प्रधानः समस्तलोकस्य
महातपसा वैजयन्तीव सर्वोपरिव्यवस्थितः ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—[जग] जैसे [स्वयंभू] स्वयंभूरमण समुद्र [उदहीण] सब
समुद्रोंमें [श्रेष्ठ] श्रेष्ठ है [वा] तथा [धरणिदं] धरणेन्द्र [नागेषु] नागउम्मार
जातिके भवनवासी देवोंमें [सेष्ठ] अच्छे हैं [वा] और [रसो ओदक] इक्षुरस
[रसवैजयन्त] सब रसोंमें मुख्य है, उसी प्रकार [तवोवहाणे] उत्तम तपके तपने-
वालोंमें [मुनि] भगवान्को [वैजयन्ते] उत्तम [आहु] कहते हैं ॥ २० ॥

भावार्थ—सब समुद्रोंमें, स्वयंभूरमण प्रधान है, क्योंकि वहाँ अनेक प्रकार-
के देव आकर श्रद्धा करते हैं, तथा अपने चित्तसे प्रमत्त करते हैं, उसी प्रकार
सब ऋषि-मुनिओंमें भगवान् सर्वोत्तम थे, क्योंकि वे अज्ञात विषयोंका विशेष
ज्ञान करके लोगोंका चित्त सन्तुष्ट करते थे । तथा नागउम्मार-भुवनपतिओंमें
धरणेन्द्र प्रधान है अथवा समस्त रसोंमें इक्षुरस अच्छा है उसी प्रकार भगवान्
मुनि-सभमें अच्छे थे ॥ २० ॥

भाषा-टीका—सर्कार भरके समुद्रोंमें स्वयंभूरमण समुद्र-सबमें
प्रधान है, जिसके तटपर देवगण बस्येवन करने आते हैं । भुवनपति
देवोंमें, धरणेन्द्र देवराज-प्रधान है । नीचे और सरस पदार्थोंमें इक्षुरस

शान्तिकर और खादिष्ट वस्तु है, इसी प्रकार विशेष तपसे जगत्की तीनों कालकी अवस्थाओंको निल्व और परिवर्तन शील माननेवालोंमें मुनि-भगवान् महावीर प्रभु श्रीध्वजाकी तरह समस्त लोकमें महान् तपसे तप कर निकले हुए कुन्दनी तरह सुशोभित थे ॥ २० ॥

गुजराती अनुवाद—सर्व समुद्रोमा स्वयंभूरमण समुद्र मोटो छे, तेन क्रीडा पर देवताओ वायुसेवन करवाने आवे छे, भुवनपति देवोमां धरणेन्द्र देवरज प्रधान छे, मीठ अने सरस पदार्थोमां शेरमीना रस शान्तिकर तेमज मीठ तथा खादिष्ट छे, तेनीज रीते तप उपधानशी जगत्की प्रणे कालनी अवस्थाओने निल्व तेमज परिवर्तनशील माननाराओमां मुनींद्र श्री भगवान् महावीर प्रभु समस्त लोकमां छुद्र कुन्दनी माफक सुशोभित छे ॥ २० ॥

मूल

हृत्पीसु ऐरावणमाहु णाप,
सीहो मिंगाणं सलिलाण गंगा ।
पक्खीसु वा गरुले वेणुदेवो,
णिवाणवादीणिह णायपुत्ते ॥ २१ ॥

(संस्कृतच्छाया)

हृत्पिप्यैरावणमाहुर्घातं, सिंहो मृगाणां सलिलानां गंगा ।
पक्षिषु वा गरुत्मान् वेणुदेवो, निर्व्याणवादिनामिहसातपुषः ॥२१॥

सं० टीका—हृत्पिपु=हरिवरेषु मध्ये, यथैरावतं=शक्रवाहनं ज्ञातं प्रसिद्धं “ऐरावतोऽग्रमातंगैरावणाप्रमुवहभाः इत्यमरः” । “कुंजरो, वारणो हृत्पीत्यभिधानपदीपिका” । दृष्टान्तभूतं वा प्रधानमाहुस्तज्ज्ञाः, अथवा हस्त्रं रत्नं रत्नत्रयं तदस्मास्तीति हस्ती तेषु हृत्पिपु, “हृत्पी पाणिग्निह, रतने, गणे, सोण्डाय, मन्तरे; इति अभिधानपदीपिका” । ऐरावतो नागरंगस्तद्दृच्छोमनीयः । अथवा हस्तो नागस्रोत्रदस्तन्मध्य ऐरावत इत्येति । अथवा भूतवस्तुहृत्पिपु हि ऐरावतो नारंगो नारंगसदृशः

मुगन्धितरससमन्वितत्वात् । “ऐरावतो नागरंगो नादेयी भूमिजम्बुका इत्यमरः” । तथा मृगाणां हरिणादिवन्यजन्तूनां मध्ये यथा सिंहः केसरी, तथा भरतापेक्षया । सलिलानां नदीनां यथा गंगाजलं प्रधानभाव-मनुभवति नैर्मल्यत्वात् । पक्षिपु-पतत्रिपु यथा गरुडान् वेणुदेवाऽपर-नामाप्राधान्येन व्यवस्थितः कथितः । एवं निर्वाणं सिद्धक्षेत्राख्यं कर्म-णामत्यन्ताभावलक्षणं वा स्वरूपतस्तदुपायप्राप्तिर्हेतुतो वा वादितुं शीलं येषां ते तथा, तेषां मध्ये ज्ञाताः क्षत्रियास्तत्पुत्रोऽपत्यं ज्ञातपुत्रः श्रीम-न्महावीरप्रभुरेव प्रधान इति, यथावस्थितनिर्वाणत्वादिति भावः ॥२१॥

अन्वयार्थ—जैसे [हथीसु] सब हाथियोंमें [ऐरावत] ऐरावत हाथी [पायं] प्रधान है [मिणाणं] पशुओंमें [सीहो] सिंह जैसे प्रधान है, [सलिलाण] पानीकी जातिमें [गंगा] महागंगाका पानी निर्मलतामें प्रधान है [वा] और [पक्षीसु] उबनेवाले पक्षियोंमें [वेणुदेवे] वेणुदेव नामक [गरुडे] गरुड पक्षी प्रधान है, उसी प्रकार [इह] समस्त संसारमें [निष्क-षवादीण] मोक्षके माननेवालोंके अन्तर्गत [पायपुत्रे] ज्ञातपुत्रमहावीररत्नामीको प्रधान । आहु] कहते थे ॥ २१ ॥

भाषार्थ—ऐरावत हाथी सब हाथियोंमें प्रधान है, उसका सुन्दर धैर्य है, भीरुदि करता है, जब भगवान् गर्भमें आये थे तबसे ही महाराजा सिद्धार्थके घर श्रीर्षुदि हुई थी जिससे प्रभुका नाम वर्धमान रक्खा गया था, अतः सब हाथियोंमें ऐरावत हाथीके समान, पशुओंमें सिंहके सदृश, जलोंमें महागंगाके पानीकी तरह और पक्षियोंमें गरुड पक्षीकी भांति भगवान् समस्त मोक्षवादिओंमें प्रमुख थे, क्योंकि भगवान्ने ही मोक्षका यथार्थ स्वरूप और उसका उपाय तथा मार्ग बताया था ॥ २१ ॥

भाषा-टीका—जैसे कंचे तथा सुन्दर हाथियोंमें ऐरावत हाथी निष्कलं और अच्छा होता है, और वह इन्द्रकी सवारीके काम आनेवाली सुन्दर वस्तु है । इसी प्रकार प्रभु भी ज्ञान दर्शन, चरित्ररूप जो तीन राज हैं उनमें हाथीकी तरह कंचे हैं । या वे तीनों राज आत्माको नरंगीकी तरह मनोहर और उपादेय हैं, अथवा इस्ती नाम वादक भी है, अथवा जिनकी अमोघ वाणीकी वरुण

ऐरावतकी तरह उच्च कोटि की है। अथवा हाथमें जिस प्रकार नारंगी सुन्दर लगती है उसी तरह प्रभु भी जगती-तल पर नारंगी की तरह भव्य प्राणिओके हृदयोंमें सुन्दर लगते हैं। हरिणादिक जंगली जीवोंमें सिंह बलिष्ठ होता है, इसी तरह भारत क्षेत्रकी अपेक्षा मानवशक्तिमें वीर प्रभु सिंहकी तरह आत्म-बलसे बलवान् थे, जैसे सब प्रकारके जलोंमें गंगाजल अनेक औषधियोंसे मिश्रित होनेके कारण निर्मल है, ऐसे ही प्रभु भी कर्म-लेपसे अलिप्त होनेसे अत्यन्त स्वच्छ हैं। और पश्चिमोत्तम गहड़ नामक वेणुदेव प्रधान है, इसी प्रकार निर्वाण भयान् जो सिद्धक्षेत्र है जहाँ कर्मों-मलका अत्यन्त अभाव है, उसका स्वरूप मतानेमें तथा उसके पानेके उपाय मतानेमें ज्ञातपुत्र महावीर प्रभु सर्वोपरि हैं। उनका निर्वाण नबने उच्चकोटिका और अकल्प्य है ॥ २१ ॥

गुजराती अनुवाद—जेम जंचा तथा सुन्दर हाथिओमा ऐरावत हाथी निष्कलंक अने उत्तम छे, केमके तेनापर इन्द्र तवारी करे छे, अथवा ज्ञान-दर्शन-धारित्ररूप जे प्रग रज्जो छे, तेमां प्रभु पण हाथीनी पेटे जे ऊंचा छे, अथवा ते रत्नप्रय मनोहर तेमज उपादेय छे, अथवा हस्तिने अर्थ वादळ पण धाय छे, जेमनी घाणी ज्यमोघ वाणी छे, अने ऐरावत हाथीनी पेटे उच्च कोटिनी छे, अथवा जेम नारंगी हाथमां सुंदर लागे छे तेम प्रभु पण भूतल पर नारंगीनी जेम भव्य प्राणीओना स्वच्छ हृदयने सुंदर लागे छे, मृगादिक जनावरोमां सिंह बलिष्ठ होय छे, तेन भारतक्षेत्रनी अपेक्षाए मानव शक्तिमां धीवीरप्रभु कर्मरूप मृगाने जीतवा ताह सिंह समान आत्मबलमां बलवान् छे, अनेक प्रकारनी औषधि-युक्त होवाने छीधे गंगाजल सबे जलमा निर्मल छे, तेमत्र प्रभु पण कर्म लेपनी अलिप्त होवाने छीधे अत्यन्त विशुद्ध छे, पश्चिमोत्तमे विषे गहड़ [वेणुदेव] प्रधान छे, तेचीज पीते निर्वाण (सिद्ध) क्षेत्र के ज्या कर्ममलनो अत्यन्त अभाव छे, तेनुं स्वरूप मतानेमां तथा तेनी प्राणिनो उपाय मतानेमां ज्ञातपुत्र महावीर प्रभु सर्वोपरि छे ॥२१॥

मूल

जोहेसु णाए जह धीससेणे,
पुप्फेसु वा जह अरविंदमाहू ।
खत्तीणसेठ्ठे जह दंतवक्के,
इसीण सेठ्ठे तह वदमाणे ॥ २२ ॥

भावार्थ—कृष्ण-वासुदेवसे बढकर अन्य कोई योद्धा नहीं है, गन्धयुक्त फूलोंमें कमल अच्छा होता है, समस्त भूमिके क्षत्रियोंमें चक्रवर्ती मुख्य कहलाता है, उसी भांति भगवान्-महावीर उस समयके सब ऋषि-गुणियोंमें सर्वश्रेष्ठ थे ॥ २२ ॥

भाषा-टीका—दडाके वीरोंमें पुच्छल हाथी, घोड़े रथ पैदल आदि चतुरनीकता आधिपत्य भोग्य अर्धचक्री वासुदेव कृष्ण प्रधान होता है । फूलोंमें हजार पंखुडियोंवाला अरविन्द नामक कमल श्रेष्ठ है । सत्ताए गए वे मनुष्य जिसके कि-शत्रुओंने हृदयके सैकड़ों टुकड़े कर जाले हैं । तथा उन (कर्म ह्यपी) शत्रुओंसे जो मुरझित रखनेवाला हो बड़ी क्षत्रिय होता है । उन्हींको वीरिमान् राजा कहा जाता है । उनमें उपरान्त शुण प्रधान होता है जिसके कथन मात्रसे शत्रु शिथिल पड़ जाते हैं वही चक्रवर्ती भी होता है अत एव वह सबमें मुख्य है । इसी प्रकार इन सुन्दर दृष्टान्तोंके त्रिनपर अनायासमें ही पढाया जाता हो ऐसे थे हमारे परम पवित्र वर्धमानस्वामी अन्तिम जित-भगवान् सब ऋषिमहर्षियोंमें श्रेष्ठ थे ॥ २२ ॥

गुजराती अनुवाद—योद्धाओंमां गज-अश्व-रथ-यायदल, ए चतुरंगी-वेनानो अधिपति अर्ध चक्रवर्ती वासुदेवकृष्ण सर्वोत्तम छे, फूलोंमां हजार पांखडी-खलुं अरविन्द कमल श्रेष्ठ छे, शत्रु (कर्मह्यपी शत्रु) भी रक्षा करनार क्षत्रिय कहेवाय छे, तेने वीरिमान् राजा कहे छे, तेनामां उपरान्त रथ प्रधान होय छे, जेना कथन मात्र थी शत्रु शिथिल धई जाय छे, ते चक्रवर्तीज होय छे, ते सर्वोत्तम छे, तेवीज रीते आया सुन्दर-दृष्टान्तो जेवा पर पढी जाके ते भगवत परम पवित्र, पतित पावन, जगदुदारक वर्धमान भगवान् अन्तिम जित सर्व ऋषिओंमां श्रेष्ठ छे ॥ २२ ॥

मूल

दाणाण सेहं अभयप्पयाणं,

सत्तेसु वा अणवज्जं वपंति ।

तवेसु वा उत्तमवंभचेरं,

लोगुत्तमे समणे णायपुत्ते ॥ २३ ॥

संस्कृतच्छाया

दानानां श्रेष्ठं अभयप्रदानं, सत्पेषु वाऽनवद्यं वदन्ति ।

वपस्सु वोत्तमं ब्रह्मचर्यं, लोकोत्तमः श्रमणो ज्ञातपुत्रः ॥ २३ ॥

सं० टीका—तथा च स्वपदानुग्रहार्थमर्थिने दीयत इति दानं, अथवा स्व-स्वत्वनिवृत्तिपूर्वक परस्वत्वोपादानं दानं, यद्वा अद्वा भक्तिस्त्रया परिग्रहमत्वत्यागभावेन कर्मनिर्जराऽर्थं चानुकम्पया यदीयते तद्दानं;* तच्चतुर्था वाऽनेकधा, परन्तु तेषां दानानां मध्ये प्राणिनां जीवानां

* नृशिश्रद्धाविनयभजना लुब्धता क्षान्तिसत्वप्राणत्राणव्यवसितपुण्यज्ञान-
कालज्ञताद्वयः । दानासाधिकाजर्जननृतिमिधासिद्धौ मरुपरिष्यो, दक्षात्मा यो भवति स
नरो वानुमुख्यो जिनोकः ॥ अलेऽनस्य शुभमबहितो दिस्वमानो विपूत्र, नो भोक्तव्यं
प्रथममतिवेर्यसदा विष्टीति । तस्याप्रासादपि गतमलं पुष्यराशिं धवन्तं, तं दातारं
जिनपतिमते मुख्यमाहुर्जिनेन्द्राः ॥ सर्व्यामीष्टा शुभजननुता धर्मकर्मार्थमोक्षाः,
संसंख्यानां वितरणप्रारु दुःखविष्वंसदक्षाः । लज्जुं सत्या जगति नयतो जीवितम्यं
थिनैव, तरानेन धुषममुभृतां किं न दत्तं ततोऽत्र ॥ कृत्वाकृष्ये फलयति यतः
घामकोपो लुनीते, धर्मं श्रद्धां रचयति परं पापकुदिं धुनीते । अशार्थेभ्यो विरमति
रजो हन्ति वित्तं पुनीते । तद्दातव्यं भवति विदुषा क्षात्रमयं प्रतिभ्यः ॥ भाष्या-
त्रानृत्तजनतनयान्याभिमितं स्वजन्ति, प्रज्ञासत्त्वन्तसमितयो यद्विना यान्ति नाद्यम् ।
शुद्धुत्तेन स्वपितवपुषो भुञ्जते च त्वभर्तुं, तद्दातव्यं भवति विदुषा संयतामाज-
शुद्धम् ॥ सम्यग् विद्यासमदमत्तपोभ्यानमौनप्रताप्यं, धेयोहेतुर्गतज्ञि तनीं जायते
येन सर्वम् । तत्साधुनां व्यथितवपुषां तीव्ररोगप्रपथेस्त्रदक्षार्थं वितरत जनाः प्राशु-
क्षान्यौषधानि ॥ सावयत्कान्महदपि फलं नो विभानुं समर्थं, कन्यास्वगोद्विपद्दय-
रागोमहिष्यादिदानम् । लज्जवा दद्याजिनमतदयामेपजाहारदानं, भूत्याऽप्यग्नं
विपुलफळदं दोषमुक्तं वियुक्तम् ॥ नीतिश्रीतिश्रुतिमतिश्रुतिज्योतिरक्तिप्रतीति, प्रीति-
शातिरुतिरतिमतिरिष्यातिशक्तिप्रमीति । यस्मादेही जगति लभते नो विना भोजनेन
तस्मादानं सुखिदं ददता ताः समस्ताः प्रशस्ताः ॥ दर्पेन्द्रियसतनमथनकोपयुद्ध-
प्रवाधा पापारम्भश्रितीहृत्थिवां जायते तथिमित्तम् । वत्संपृष्टा धयति विषयान्
दुःखिनं यत्स्वर्गं स्वाद्यःस्वार्थं प्रभवति न तच्छुष्यतेऽत्र प्रदेवम् ॥ साधू रक्षात्रि-
तयनिरतो जायते निर्जिताशो, धर्मं दत्ते व्यपगतमलं सर्व्वकल्याणमूत्रम् । राग-
द्वेषप्रवृत्तिमपनं यद्गृहीत्वा विघ्नते, तद्दातव्यं भवति विदुषां देवसिद्धं तदेव ॥
धर्मव्यानप्रतनमितिभृत्संयतधारु पात्रं, न्यावृत्तात्मात्रसहन्नतः धावको मध्यमं
तु । मन्थरदृष्टिर्भतनिरहितः धावकः स्याज्जघन्यमेव त्रेधा जिनपतिमते पात्रमाहुः

“सद्य जीवा वि इच्छन्ति जीविकं न मरीजिकं” वा जीवो जीवितु-
मिच्छतीत्युक्तत्वाज्जीवितार्थिनां वाऽभयदानं त्राणकारित्वाच्च श्रेष्ठं ।

श्रुतज्ञः ॥ यो जीवानां जनकसदृशः सत्यवाम्दत्तभोजी, संप्रमत्तीनयनविशिखाभिन्न-
चित्तः स्थिरात्मा, द्वेषा धन्यादुपरममना सर्व्वेषा निर्विताश्रो, दारुं पात्रं व्रतपति-
मसुं बर्षमाहुर्जिनेन्द्रः ॥ यद्दत्तोयं निपतति घनादेकरूपं रवेन, प्राच्यापारं सगुण-
मगुणं याति नानाविधित्वम् । तद्दानं सफलमफलं प्राप्यमप्येति गत्वा, देवं दानं
समयननृता सद्यतना यतीनाम् ॥ यद्दत्तिसं गच्छति सद्यं तिष्ठुके घटेऽम्भस्ति-
फालाबुनिहितमहितं जायते दुग्धमद्यम् । अमामत्रै रचयति मिशं तस्य नार्शं च
याति, तद्दानं विगन्तसद्ये केवले भवंसेति ॥ शश्वच्छीक्यतविरहिताः क्रोधलोभा-
दिवन्तो, नानारम्भप्रहितमनसो ये मदप्रमथयन्तः । ते दातारं कथमसुखतो रक्षितुं
सन्ति दृष्ट्वा, नावा लोहं न हि जलनिधेस्ताप्यते लोहमप्या ॥ क्षेत्रद्रव्यप्रभृतिस-
नयान् वीक्ष्य धीवं यथोक्तं, दत्ते सस्यं विपुलममलं चाखंस्वरयोगात् । दत्तं पापै
गुणपति तया दानमुक्तं फलम, सामप्रतो भवति हि जने सर्व्वकार्यप्रसिद्धिः ॥
नानादुःखव्यसननिपुणार्शाशिनोऽस्तुतिहेतुः, कर्म्मारादिप्रचयनरास्तत्वतो वेत्तभो-
गान् । मुक्त्वाकाशां विषयविषया कर्म्मनिर्नाशनेच्छो, दद्यादानं प्रगुणमनसा संम-
तायापि विद्वान् ॥ अस्मै गत्वा विषयमपर वीक्षते पुष्यञ्छि, पात्रं तस्मिन् गृह-
मुपगते सयनाधारभूते ॥ नो यो मूढो वितरति धने विद्यमानेऽप्यनल्पे, तेनात्माप्र
खयमपधिया वयितो मानवेन ॥ वीर्यगुणैः सशिक्षितयशोव्यापदिक्चक्रवाकः,
सद्विद्याधीकृतबलधनप्रीतिकीर्तिप्रसापः । शूरो धीरः स्थिरतरमना निर्भवथादस्य
स्वामी भोगी भवति भविना देहाधीतिप्रदायी । कर्म्मारेण्यं दहति विदिवम्भानु-
वत्पाविदुःखात्सम्भन्नीतिं यदति गुरुवत्सामिवद्विभर्ति । तत्वात्त्वप्रकटनपटुस्पर्श-
भाप्रोति पूतं; तत्त्वज्ञानं विगलितमलं ज्ञानदानेन मलैः ॥ दाता भोक्ता बहुधनयुतः
सर्व्वसत्वात्सम्भी, असौभाम्यो मपुरवचनः कामरूपातिशायी; शश्वद्रज्या कुपय-
नशतैः सेवनीयाद्वियुग्मो; मर्त्याः प्राज्ञो व्यपगतमदो जायतेऽजस्य दानात् ॥ रोगैर्वाक-
प्रभृतिजनितैर्वै-हभितोम्बुमग्नः सर्वाङ्गोषण्ययनपटुमिर्बाधितुं नो स शक्यः । आज-
न्मान्तः परमसुखिनां जायते औषधाना, दाता यो निर्नरकुलवपुःस्थानयन्तिप्रसापः ॥
दत्त्वा दानं विनमतदक्षिः कर्म्मनिर्नाशनाय, मुक्त्वा भोगांश्चिदश्वरती दिव्यनापीमनापः
मर्त्यावापे वरकुलवपुर्जेनधर्मं विभाय, हत्वा कर्म्मं स्थिरतगीपुं मुक्तिरुस्यं प्रयाति ॥

यतः

“यथा मम प्रियाः प्राणास्तथाऽन्यस्यापि देहिनः ।

इति मत्वा न कर्तव्यो, घोरप्राणिवधो बुधैः ॥”

अन्यत्र—

“अहिंसा परमो धर्मो, हिंसा सर्वत्र निन्दिता”

इति श्लोकमर्धमभ्यस्य स्वमनसि सदैव दयैव धारणीया, यदि कोऽपि लोभावेशेन रसनातृषये धनार्जनाशया विजयाभिलाषेण च आमोदप्रमोदार्थं जन्तून्निहन्यात्तदा तेषां नरकपतनमवश्यं भावि । पातञ्जलयोगदर्शनादावपि चाहिंसायामेव प्रमुखत्वम्, यथाह—

“अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः”

अहिंसा—सत्यमित्यादियमास्तेषां मध्येऽहिंसैव प्राथमिकी;

पुनश्च—

“वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्”

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदु-
मध्याधिनात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ।

तथा चान्यदपि—

“अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधाने वैरत्यागः ।” तद्विपक्षिणी हिंसा
तस्य लक्षणं यथा—

“प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा”

प्रमत्तो यः कायवाच्यनोयोगैः प्राणव्यपरोपणं करोति सा हिंसा ।
हिंसा, मारणं, प्राणात्तिपातः, प्राणवधो, देहान्तरसंक्रामणं, प्राणव्यपरोप-
पणमित्यनर्थान्तरम् । न हिंसाऽहिंसा । इति तत्त्वार्थसूत्रम्, तथा च
योगसूत्रस्य व्यासकृतभाष्येऽपि ‘तत्राऽहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूता-
नामभिद्रोहः ।’

तथैव याज्ञवल्क्यसंहितायाम्—

“कर्मणा मनसा वाचा, सर्वभूतेषु सर्वदा,
अक्लेशजनन प्रोक्तमहिंसत्वेन योगिभिः ।”

तस्या स्मृतावाचाराध्याये—

“अहिंसा सत्यमस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह ।

दान दया दम शान्ति, सर्वेषा धर्मसाधनम् ॥

“मा हिंसीऽपुरुष जगदिति” यजुर्वेदसंहिताया षोडशोऽध्याय-
स्तृतीयमन्त्रः ।

मा हिंसात् सर्वाभूतानीति ‘शतपथे’ ।

तथा च मनुः—पंचमाध्याये

“धोऽहिंसकानि भूतानि, हिनस्त्यात्महितेच्छया,

स जीवैश्च मृतश्चैव, न क्वचित्सुखमेभते” ॥ ४५ ॥

पुनश्च मनुः—

“धृति क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह ।

अहिंसा सत्यमक्रोधो, दक्षक धर्मलक्षणम् ॥”

तथा च महामारते—

“अहिंसा परमो धर्मो हिंसाऽधर्मस्तथाविध ।

सत्य तेऽहं प्रवक्ष्यामि, यो धर्मं सत्यवादिनाम् ॥”

धार्मिजनानामुत्कृष्टं आधमिकं धर्मन्त्वहिंसैवेति यथा—

“अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परो दम ।

अहिंसा परम दानमहिंसा परम तप ॥”

“अहिंसा परमो यज्ञस्तथाऽहिंसा परं फलम् ।

अहिंसा परम मित्रमहिंसा परम सुखम् ॥”

“सर्वयज्ञेषु वा दानं, सर्वतीर्थेषु वा स्तुतम् ।
सर्वदानफलं वापि, नैव तुल्यमहिंसया ॥”

तथाहि नियमसारे—

कुलजोगिजीवमगण-ठाणाइसु जाणऊण जीवाणं ।
तत्सारंभनियत्तणपरिणामो होइ पदमवदं ॥ ५६ ॥
कुलयोनिजीवमार्गणास्थानेषु ज्ञात्वा जीवानाम् ।
तत्सारंभनिवृत्तिपरिणामो भवति प्रथमप्रथमम् ॥ ५६ ॥

कुलविकल्पो योनिविकल्पश्च जीवमार्गणस्थानविकल्पाश्च प्रागेव
प्रतिपादितास्तत्रैव तेषां भेदान् बुध्वा तद्रक्षापरिणतिरेव भवत्यहिंसा ।
तेषां मृतिर्भवतु वा न वा, प्रयत्नपरिणाममन्तरेण सावद्यपरिहारो
नास्ति । अतः प्रयत्नपरेऽहिंसाव्रतं भवतीति ।

तथा चोक्तं श्रीसमन्तभद्रस्वामिना—

“अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं,
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ।
तत्तत्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं,
भवानेवात्याक्षीन्न हि विकृतिवेषोपधिरतः ॥”

मुनीनामहिंसा सर्वथा पालनीया-हिंसायाः फलं दुष्परि-
णामात्मकं परिजानीहि यथा—

“पशुकुष्ठिकुणित्वादि, दृष्ट्वा हिंसाफलं मुषीः ।
निरागन्धसजन्तूना, हिंसा सकल्पतस्त्यजेत् ॥”
“आत्मवत्सर्वभूतेषु, सुखदुःखे प्रियाप्रिये,
चिन्तयन्नात्मनोऽनिष्टां, हिंसामन्यस्य नाचरेत् ॥”

यदाहुर्लोकिका अपि ।

“श्रूयतां धर्मसर्वस्वं, श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।

आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत् ॥”

राज्यादधिकं प्राणाः प्रियाः । यथा—

“प्राणी प्राणितलोभेन, यो राज्यमपि मुञ्चति ।

तद्वधोत्थमघं सर्वोर्वादानेऽपि न शम्भति ॥”

“मार्यमाणस्य हेमाद्रिं, राज्यं वाऽथ प्रयच्छतु ।

तदनिष्टं परित्यज्य, जीवो जीवितुमिच्छति ॥”

“दीर्यमाणः कुशेनापि, यः स्वांगे हन्त दूयते ।

निर्मन्तून् स कथं जन्तुनन्तयेनिक्षितासुधैः ॥”

तथोक्तं—

“रसातलं यत्तु यदत्र पौरुषं, क्व नीतिरेपाऽश्चरणो ह्यदोषवान् ;

निहन्त्यते यद्दलिनातिदुर्बलो, हहा महाकष्टमराजकं जगत् ॥”

पुनश्च—“अियत्वेत्युच्यमानोऽपि, देही भवति दुःस्वितः ।

मार्यमाणः प्रहरणैर्दारुणैः स कथं भवेत् ॥”

पुनरपि हिंसकाभिन्दति—

“कुण्ठिर्वरं वरं पंगुरशरीरी वरं पुमान् ।

अपि सम्पूर्णसर्वगो, न तु हिंसा परायणः ॥”

स्वार्थिकी हिंसाऽपि हानीया, यथा—

“हिंसा विनाय जायेत, विप्रशान्त्यै कृतापि हि ।

कुलाचारधियाऽप्येषा, कृता कुलविनाशिनी ॥”

“अपि वंशक्रमायातां, यस्तु हिंसां परित्यजेत् ।

■ श्रेष्ठः मुलस इव, कालसौकरिकात्मजः ॥” .

॥ हिंसां कुर्वन्न विशोधयति, निजात्मानम् ॥

“दमो देवगुरूपास्त्रिर्दानमध्ययनं तपः ।

सर्वमप्येतदफलं, हिंसां चेन्न परित्यजेत् ॥”

॥ शास्त्रे सूक्ष्महिंसां धर्मार्थं प्ररूपकोऽपि कुशास्त्रः ॥

“विश्वस्तो सुग्धधीर्लोकः, पात्यते नरकावनौ ।

अहो नृसंसैल्येभान्धैर्हिंसाशास्त्रोपदेशकैः ॥”

अहिंसामाहात्म्यम्—

“मातेव सर्वभूतानामहिंसा हितकारिणीः ।

अहिंसैव हि संसारमरावमृतसारिणिः ॥”

“अहिंसा दुःखदायामिमावृष्यघनावली ।

भवन्नमिरुगार्तानामहिंसा परमौषधिः ॥”

अस्याः फलम्

“दीर्घमायुः परं रूपमारोग्यं श्लाघनीयता ।

अहिंसायाः फलं सर्वं, किमन्यत्कामदेव सा ॥”

अत्रान्तरे—

हेमाद्रिः पर्वतानां हरिरमृतमुजां चक्रवर्ती नराणां,

शीतांशुर्गोतिपां स्वस्तरुवनिरुद्रां चण्डरोचिर्ग्रहाणाम् ॥

सिन्धुस्तोयाशयानां विनपतिरसुरामर्त्यमर्त्याधिपानां,

यद्वचद्वद्गतानामधिपतिपदवीं यात्यहिंसा किमन्यत् ॥

अत एव प्राणवियोगानुकूलो व्यापारो हिंसा सर्वशास्त्रे निषिद्धः । जैरपि प्राणिनामतिपातो दुःखं प्राणातिपातो विरतिरूपः सर्वतः शून्यां, देशतः श्रावकाणां चेति भावः । जीवानां जीवनवद्भवत्वात् यथाऽऽह—

“दीयते म्रियमाणस्य, कोटिर्जीवितमेव वा,

धनकोटिं परित्यज्य, जीवो जीवितुमिच्छति ॥”

अत्राभयदानप्रदानप्राधान्यख्यापनार्थमुदाहरणं चेदम् ।

वसन्तपुरेऽरिदमननाभा राजाऽऽसीत् स कदाचित्मासादस्यो
हि चतुर्वधूसमेतश्च कीडति स्म । तागिरपि स्वस्वकलाभिर्महीपं
प्रमोदयित्वा वरो लब्धः । पुनश्च राज्ञीर्मां राज्ञि स चरो न्यासीकृतः ।
एकदा कश्चिच्चौरो रक्तश्यामकरवीरकृतमुण्डमालो रक्तपरिधानः प्रहत्-
वध्यडिण्डिमो राजमार्गेण नीयमानः राजपत्नीभिर्दृष्टो नृपेण सह दृष्ट्वा
च पृष्टं, ‘किमनेनाकारी’ति तदैकेन राजपुरुषेणावेदितं, यथानेन परद्र-
व्याघपहारेण राजविरुद्धं धर्मविरुद्धं च कर्म कृतं तस्य परिणामस्वरूपो
राज्ञा प्राणदण्डो दत्तश्चास्ते, ततस्तन्मध्य एकया महत्या राश्या नृप-
पार्श्वे पूर्वदत्तो वरो याचित एकदिनं चोरोऽयं मोच्यो, यथाऽहमुप-
करोमीति । वरं प्राप्य च भोजनादिना स्वागतं कृत्वा स्वर्णलण्डसहस्र-
दानैस्तुष्टीकृतः सः । द्वितीयदिने द्वितीयया लक्षधनैः सत्कृतः । तृती-
यया कोटिमितैः स्वागतीकृतः । चतुर्थ्यां तु राजानुमत्याऽऽमरणाद्र-
क्षितः । अभयवचनं दापितमभयदानेन ततस्तास्तामुपहत्स्यादुः । त्वयास्य
किं दत्तम् । तयोक्तं मया यद्वत्तं तत्काभिरपि न दत्तं । एवं तासां
पारस्परिकेऽधिकोपकारविषये विवादे न्यायार्थं राजाऽऽकारितस्ततो
राज्ञोपगम्य ॥ कलहकारणं पृष्टं, सदा ताभिरावेदितं, अस्माकं मध्ये
केनाधिकमुपकृतम् । राज्ञा स एव चोर आहृतः पृष्टश्चेति यथा त्वया-
कस्या उपकारोऽस्मानितः । तेनाऽभाणि, ‘चतुर्थ्यां मात्राऽभयं दापयित्वा
निर्भयः कृतः’ । अतस्तस्या बहूपकारं मन्ये, सर्वदानानां मध्येऽभय-
दानस्यप्रधानत्वात् ।

तथा च सत्येषु चाक्येषु यदनवद्यं पापरहितं परपीडाऽनुत्पादकं
वचनं तच्छ्रेष्ठं वदन्ति । यथाह दशवैकालिके—

“तदेव काणं काणेति, पंडगं पंडगं ति वा
वाहियं वावि रोमिचि; तेण चोरेति नो-वण् ।”-

तथा च मनुः ।

“सत्यं श्रूयात्प्रियं श्रूयान् श्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं तन्नानृतं श्रूयादिति” ।

एवमेव तत्त्वार्थसूत्रे—

असदभिधानमनृतम् ॥ ९ ॥ ७ ॥

असदिति सद्भावप्रतिषेधोऽर्थान्तरं गर्हा च । तत्र सद्भावप्रति-
षेधो नाम सद्भूतनिन्दवोऽभूतोद्भावनं च । तद्यथा नास्त्यात्मा,
नास्तिपरलोकः, इत्यादि भूतनिन्दवः । श्यामाकतण्डुलमात्रोऽयमात्मा
अंगुष्ठपर्धमात्रोऽयमात्मा, आदित्यवर्णो, निष्क्रिय इत्येवमाद्यमभूतो-
द्भावनम् । अर्थान्तरं यो गां ब्रवीत्यधमश्वं च गामिति । गर्हेति हिंसा-
पारुष्यपैशुन्यादियुक्तं वचः सत्यमपि गर्हितमनृतमेवास्तीति भावः ।

एतन्मध्य एतत्प्रमाणानि—यथा—

“क्रोधलोभमदद्वेषरागमोहादि कारणैः, असत्यस्य परित्यागः
सत्याणुव्रतमुच्यते ।” “हासकर्कशपैशुन्यनिष्ठुरादिवचो मुचः । द्विती-
याणुव्रतं पूतं, लमंते देहिनः स्थितिम् ॥”

“यद्वदन्ति शठा धर्मं, यन्लेच्छेप्यपि निन्दितम् ।

; वर्जनीयं त्रिधा वाक्यमसत्यं तद्वितोद्यते ॥”

पुनर्यत्रासत्यप्रसंगः समञ्जनि तत्र भौनं कार्यं परमसत्यं न
वाच्यं, यथा हि सागारधर्मावृत्तेः—

“आवश्यके मलक्षेपे, पापकार्ये च वान्तिवत्,
मौनं कुर्वीत शुद्धात्, मूयो वाम्दोषविच्छिदे !”

मौनमाहात्म्यं यथा—

“सन्तोषं भाव्यते तेन, वैराग्यं तेन दृश्यते ।

संयमः योष्यते तेन, मौनं येन विधीयते ॥”

“लौह्यत्यागात्तपोवृद्धिरभिमानस्य रक्षणम् ।

ततश्च समवाप्नोति, मनः सिद्धिं जगत्रये ॥”

“वाणी मनोरमा तस्य, शास्त्रसन्दर्भगर्भिता ।

आदेया जायते येन, क्रियते मौनमुज्ज्वलम् ॥”

“पदानि यानि विघ्नन्ते, घन्दनीयानि कोविदैः ।

सर्वाणि तानि लभ्यन्ते, प्राणिना मौनकारिणा ॥”

“न सार्धकालिके मौने, निर्वाहव्यतिरेकतः ।

उद्योतनं परं प्राज्ञैः, किञ्चनापि विधीयते ॥”

सत्याणुव्रतरक्षणार्थमाह—

“कन्यागोक्षमालीककूटसाक्ष्यन्यासापलापवत् ।

स्यात्सत्याणुव्रती सत्यमपि स्वान्यापदे त्यजन् ॥”

नियमसारेऽप्येवम्—

“रागेण वा दोसेण वा मोहेण वा मोसभासऽपरिणामं ।

जो पञ्चहृदि साहु सया विदियवयं होइ तस्सेव” ॥ ५७ ॥

{ रागेण वा द्वेषेण वा मृषाभाषा परिणामं ।

{ यः प्रज्जहति साधुः सदा द्वितीयव्रतं भवति तस्सेव }

अत्र मृषापरिणामः सत्यप्रतिपक्षः, स, च, रागेण वा द्वेषेण वा

मोहेन वा जायते तदा यः साधुः आसन्नमव्यजीवस्त्रं परिणामं परित्यजति तस्यैव द्वितीयं व्रतं भवतीति ।

“व्यक्तिव्यक्तं सत्यमुच्चैर्जपन् यः । स्वर्गस्त्रीणां भूरिभोगैकभाक् स्यात् ॥
अस्मिन् पूज्यः सर्वदा सर्वसद्भिः, सत्यात्सत्यं चान्यदस्ति व्रतं किम् ॥”

अलीकफलमुपदर्शयति यथा—

“मन्मनत्वं काहलत्वं, मूकत्वं मुखरोगिताम् ।

वीक्ष्यासत्यफलं कन्यालीकाघसत्यमुत्सृजेत् ॥”

“मूकाजडाश्च विकला, वाग्धीना वाञ्छुगुप्सिताः ।

पूतिगन्धमुखाश्चैव, जायन्तेऽनृतभाषिणः ॥”

पुनश्च प्रतिषेधमाह—

“सर्वलोकविरुद्धं यद्यद्विधिसितघातकम् ।

यद्विपक्षश्च पुण्यस्य, न वदेत्तदसूतम् ॥”

पुनश्च—

“असत्यतो लघीयस्त्वमसत्याद्ब्रुवनीयता ।

अथोगतिरसत्याच्च, तदसत्यं परित्यजेत् ॥”

“असत्यवचनं प्राज्ञः, प्रमादेनापि नो वदेत् ।

श्रेयांसि येन भज्यन्ते, वात्यथेव महाद्रुमाः ॥”

॥ यदाहुर्महर्षयः सद्यम्भवाः, दशवैकालिके ॥

“अहमस्मि य कालस्मि, पञ्चुप्पण्णगणाणए,

जमहं तु न जाणेज्जा, एवमेअं ति णो वए ॥”

{ अतीते च काले, प्रत्युत्पन्नमनागते,

{ यमर्थं तु न जानीयात्, ‘एवमेत्त्वं’ इति नो वदेत् । }

“अहज्जि य कालम्भि, प्पञ्चुप्पण्णमणागए ।
 जत्थ संका भवे तं तु, एवमेअं ति णो वए ॥”
 “अतीने च काले, प्रत्युत्पन्नमनागते, ॥
 यत्र शका भवेत्तु, ‘एवमेतत्’ इति नो वदेत् ॥”
 { अहज्जि य कालम्भि, प्पञ्चुप्पण्णमणागए
 निस्संकिअं भवे जं तु, एवमेअं तु निदिसे । }
 “अतीति च काले, प्रत्युत्पन्नमनागते ॥
 निश्शंकितं भवेत्तु, ‘एवमेतत्’ तु निदिसेत् ॥”

पुनरप्यैहिकान् दोषानाह—

“असत्यवचनाद्वैरविपादाप्रत्ययादयः ।
 प्रादुःषन्ति न के दोषाः, कुपध्याद्याधयो यथा ॥”
 “निगोदेप्त्रापि तिर्य्यक्षु, तथा नरकवासिषु ।
 उत्पद्यन्ते मृषावादमसादेन शरीरिणः ॥”
 “अत्यादपि मृषावादाद्रौरवादिषु संभवः ।
 अन्यथा वदतां जैर्नी, वाचं त्वहह का गतिः ॥”
 “ज्ञानचारित्रयोर्मूलं, सत्यमेव वदन्ति ये ।
 धात्री पवित्री क्रियते, तेषां चरणरेणुभिः ॥”
 “अलीकं ये न भाषन्ते, सत्यवतमहाधनाः ।
 नापराद्भ्रमलं तेभ्यो, मृतमेतोरगादयः ॥”
 “शिली मुण्डी जटी नम्रधीवरी यस्तपस्यति ।
 सोऽपि मिथ्या यदि श्रूते, निन्द्यः स्यादन्त्यजादपि ॥”
 “एकत्रासत्यजं पापं, पापं निश्शेषमन्यतः ।
 द्वयोस्तुल्याविष्टयोरापनेवातिरिच्यते ॥”

“पारदारिकदस्यूनामस्ति काचित्प्रतिक्रिया ।

असत्यवादिनः पुंसः, प्रतीकारो न विद्यते ॥”

“कुर्वन्ति देवा अपि पक्षपातं, नरेश्वराः शासनमुद्बहन्ति ।

शीती भवन्ति ज्वलनादयो यत्तत् सत्यवाचां फलमामनन्ति ॥”

तथा च ज्ञानार्णवेऽप्याह—

“यः संयमधुरां धत्ते, धैर्यमालम्ब्य संयमी,

स पालयति यत्नेन, वाचने सत्यपादपम् ॥”

“अहिंसाप्रतरक्षार्थं, यमजातं जिनैर्मतम् ।

नारोहति परां कोटिं, तदेवासत्यदूषितम् ॥”

“असत्यमपि तत्सत्यं, यत्सत्त्वाशंसकं वचः ।

सावद्यं यच्च पुष्याति, तत्सत्यमपि निन्दितम् ॥”

“अनेकजन्मक्लेशानां, शुद्ध्यर्थं यस्तपस्यति ।

सर्वं सत्वहितं शश्वत्स मृते सूनृतं वचः ॥”

“सूनृतं करुणाक्रान्तमविरुद्धमनाकुलम् ।

अग्राम्यं गौरवाश्लिष्टं, वचः शाल्मे प्रशस्यते ॥”

“मौनमेव हितं पुंसां, शश्वत्सर्वाथंसिद्धये ।

वचो वाचि प्रियं तथ्यं, सर्वसत्वोपकारि यत् ॥”

“असद्बुदनवल्मीके, विशाला विषसर्पिणी,

उद्वेजयति वागेव, जगदन्तर्विपोखणा ॥”

“पृष्टेरपि न वक्तव्यं, न श्रोतव्यं क्वचन ।

वचः शंकाकुलं पापं, दोषाढ्यं चाभिसूयकम् ॥”

“मर्मच्छेदि मनःशल्यं, च्युतसौर्यं निरोधकम् ।

निर्दयं च वचस्त्याज्यं, प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥”

“धर्मनाशे क्रियाध्वंसे, सुसिद्धान्तार्थविषुवे ।
अष्टैरपि वक्तव्यं, तत्त्वरूपप्रकाशने ॥”

“या मुहुर्नोहयत्येव, विश्रान्ता कर्णयोर्जनम् ।
विषमं विषमुत्सृज्य, साञ्चर्यं पन्नगी न गीः ॥”

“न तथा चन्दनं चन्द्रो, मणयो मालतीस्रजः ।
कुर्वन्ति निर्धृतिं पुंसां, यथा वाणी श्रुतिप्रिया ॥”

“अपि दावानलमुष्टं, शाङ्गं जायते वनम् ।
न लोकः मुचिरेणापि, जिह्वानलकदर्थितः ॥”

“सतां विज्ञाततत्वानां, सत्यशीलाबलम्बिनाम् ।
चरणस्पर्शमात्रेण, विशुद्भवति धरातलम् ॥”

“नृजन्मन्यपि यः सत्यप्रतिज्ञामच्युतोऽधमः ।
स केन कर्मणा पश्चाज्जन्मपश्चात्तरिष्यति ॥”

“खण्डितानां विरूपाणां, दुर्विधानां च रोगिणाम् ।
कुलजात्यादिहीनानां, सत्यमेकं विमूषणम् ॥”

“न हि स्वप्नेऽपि संसर्गमसत्यमलिनैः सह ।
कश्चित्करोति पुण्यात्मा, दुरितोत्सुकचञ्चया ॥”

“मुत्सन्नदारादिवित्तबन्धुकृतेऽथवा ।
आत्मार्थे न वचोऽसत्यं, वाच्यं प्राणात्ययेऽपि च ॥”

इत्यादिप्रमाणैः सत्यमनवयं पापरहितमेव श्रेष्ठम् ॥
(अथ ब्रह्मचर्यमाह—) . . .

तपस्तु चेच्छाया निरोधन्यापारेषु द्वादशप्रकारेषु मध्ये यथेवोत्तमं
नवविधब्रह्मचर्यगुप्त्युपेतं ब्रह्मचर्यं प्रधानं भवति । कमनीयकामिनी-
मनोहरात्ननिरीक्षणद्वारेण समुपजनितकौतूहलचित्तवान्छपरित्यागेनाथवा

स्ववेदोदयाभिधाननोकपायतीन्द्रोदयेन संज्ञातमैथुनसंज्ञापरित्यागदृक्षण-
शुभपरिणामेन च ब्रह्मचर्य्यं श्रेष्ठं भवति सर्वेषु तपस्त्विति भावः ।

आह च—

“भवति तनुविभूतिः कामिनीनां विभूति, सरसि मनसि कामिस्त्वं
तदा मद्रवः किम् ; सहजपरमतत्वं स्वस्वरूपं विहाय व्रजसि विपुलमोहं
हेतुना केन चित्तम् ।”

॥ अत्रह दोषा यथा— ॥

“सन्तापरूपो मोहांगसादतृष्णानुबन्धवृत् ।

स्त्रीसम्भोगस्तथाप्येष, सुखं चेत्का ज्वरेऽक्षमा ॥”

॥ परदाररतौ सुखाभावः, अनायुष्यकारित्वं च ॥ यथा—

“न हीदृशमनायुष्यं, लोके किञ्चन विद्यते ।

यादृशं पुरुषस्येह, परदाराभिमर्शनम् ॥”

अथ ब्रह्मचर्य्यमाहात्म्यमाह—

“स्वस्त्रीमात्रेऽपि सन्तुष्टो, नेच्छेद्योऽन्याः स्त्रियः सदा ।

सोऽप्यद्भुतप्रभावः सार्त्कि वर्ष्य वर्णिनः पुनः ॥”

॥ ब्रह्मचारिणीं सतीं दृष्टान्तेन स्पष्टयति— ॥

“रूपैश्वर्य्यकलावर्ष्यमपि सीतेव रावणम् ।

परपूरुषमुञ्जन्ती, स्त्री सुरैरपि पूज्यते ॥”

अन्यच्च तत्त्वार्थसूत्रे—

‘ स्त्रीमैथुनमब्रह्म— ॥ ११-७

स्त्रीपुंसयोर्मैथुनभावो मिथुनकर्म्म वा मैथुनं, . . .

तदब्रह्म—

अन्यथापि—

- “मातृस्वसृमुतातुल्या, निरीक्ष्य परस्योषितः ।
स्वकलत्रेण यस्तोपश्वतुर्थं तदणुव्रतम् ॥”
- “दुःस्नानां निधिरन्यस्त्री, मुस्नानां प्रलयानलः ।
व्याधिवहुःस्ववत्याज्या, दूरतः सा नरोत्तमैः ॥”
- “स्वभर्तारं परित्यज्य, या परं याति निस्वया ।
विश्वासं श्रयते तस्यां, कथमन्यः स्वयोषिति ॥”
- “किं सुखं लभते मर्त्यैः सेवमानः परश्रियम् ।
केवलं कर्म चक्राति, श्रमभ्रभूष्यादिकारणम् ॥”

यतः—

- “विन्दन्ति परमं ब्रह्म, यत्समालम्ब्य योगिनः ।
तद्गतं ब्रह्मचर्यं स्याद्दीरधीरेयगोचरम् ॥”
- “एकमेव मृतं श्लाघ्यं, ब्रह्मचर्यं जगन्नये ।
यद्विशुद्धिं समापन्नाः पूज्यन्ते पूजितैरपि ॥”
- तन्मते दशधा मैथुनम्—
- “आद्यं शरीरसंस्कारो, द्वितीयं वृष्यसेवनम्,
तौर्यत्रिकं तृतीयं स्यात्, ससर्गस्तुष्यमिष्यते ।
योषिद्विषयसंकल्पः, पञ्चमं परिकीर्तितम् ।
तदंगवीक्षणं षष्ठं, संस्कारः सप्तमं मतम् ॥”
- “पूर्वानुभोगसम्भोगस्तरणं स्यात्तदष्टमम् ।
नवमं भाविनीचिन्ता, दशमं चक्षिमोक्षणम् ॥”
- “किम्पाकफ़लसभोगसन्निभं तद्वि मैथुनम् ।
आपातभावरम्यं स्याद्विपाकेऽन्यन्तर्भातिदम् ॥”

- “विरज्यं काममोगेषु, ये ब्रह्म समुपासते ।
एते दश महा दोषास्तैस्त्याज्या भावशुद्धये ॥”
“सिक्तोऽप्यम्बुपरघातैः, श्लवितोऽप्यम्बुराशिभिः ।
न हि त्यजति सन्तापं, कामवह्निप्रदीपितः ॥”
“मूले ज्येष्ठस्य मध्याह्ने, व्यभ्रे नमसि भास्करः ।
न श्लोपति तथा लोकं, यथा दीप्तः सरानलः ॥
“हृदि ज्वलति कामाग्निः, पूर्वमेव शरीरिणाम् ।
भस्मसालरुहते, पश्चादंगोपाङ्गानि निर्दयः ॥”
भोगिदंष्टस्य जायन्ते, वेगाः सप्तैव देहिनः
“सरभोगीन्द्रवंष्टानां दश सुप्त भयानकाः ॥”

इमे ते दश—यथा—

- “प्रथमे जायते चिन्ता, द्वितीये द्रष्टुमिच्छति ।
‘तृतीये दीर्घनिधासाश्चतुर्थे भजते ज्वरम् ॥”
“पंचमे दहते गात्रं, षष्ठे भक्तं न रोचते ।
सप्तमे स्यान्महामूर्च्छा, उन्मत्तत्वमथाष्टमे ॥”
“नवमे प्राणसन्देहो, दशमे मुच्यतेऽसुभिः ।
एतेर्वर्गैः समाक्रान्तो, जीवसत्त्वं न पश्यति ॥”
“नासने शयने याने, स्वजने भोजने स्थितिम् ।
क्षणमात्रमपि प्राणी, प्राप्नोति सरशल्पितः ॥”
“दसो मूढः क्षमी क्षुद्रः, शूरो मूर्खलक्षुर्गुरुः ।
तीक्ष्णः कुण्ठो वशी भ्रष्टो, जनः स्यात्सरवंचितः ॥”
“यदि प्राप्तं त्वया मूढ !, नृत्वं जन्मोत्सङ्गमात् ।
तदा तत्कुरु येनेयं, सरज्वाला विलीयते ॥”

इदानीमामुष्मिकमैहिकं चात्रलफलमुपदर्श्य गृहस्योचितं
पुनरपि ब्रह्मचर्य्यव्रतमाह—

“यद्भ्रतवमिन्द्रियच्छेदं, रीक्ष्याऽम्बुफलं मुषीः ।

भवेत्स्वदारसन्तुष्टोऽन्यदारान् वा विवर्जयेत् ॥”

“रम्यमापातमात्रे यत्परिणामे प्रतिदारुणम् ।

किम्पाकफलसंकाशं, तत्कः सेवेत मैथुनम् ॥” ; ;

“यद्यपि निषेव्यमाणा, मनसः परितुष्टिकारका विषयाः ।

किम्पाकफलादनवद्भवन्ति पश्चादतिदुरन्ताः ॥”

“कृम्यः स्वेदः श्रमो मूर्च्छा, अमिर्गर्भनिर्वलक्ष्ययः ।

राजपक्ष्मादिरोगाश्च, भवेयुर्मैथुनोत्थिताः ॥”

“योनिघ्नसमुत्पन्नाः, सुसूक्ष्मा जन्तुराश्रयः ।

पीड्यमाना विषयन्ते, यत्र तन्मैथुनं त्वजेत् ॥”

योनौ जन्तुसङ्घावं वात्सायनः कामशास्त्रकारोऽप्याह ।

वात्सायनश्लोको यथा—

“रक्तजाः कृमयः सूक्ष्मा, मृदुमध्याधिश्चकयः ।

जन्मवर्त्मसु कण्ड्वृत्तिं, जनयन्ति तथाविधाम् ॥”

कामज्वरधिकित्साधर्मौषधमिव मैथुनसेवनमिति यो मन्येत
तं प्रत्याह—

“स्त्रीसम्भोगेन यः कामज्वरं प्रतिचिकीर्षति ।

स हुताशं घृताहुत्या, विष्यापयितुमिच्छति ॥”

इतर अप्याहुः—

“न जलु कामः कामानामुपभोगेन शान्त्यति ।

हविषा कृष्यवर्त्सेव, भूय एवाग्निवर्धते ॥”

॥ स्त्रियाऽपि परपुरुषो भुजग इव त्याज्यः ॥

“ऐश्वर्य्ये राजराजोऽपि रूपे मीनध्वजोऽपि यः ।

सीतया रावण इव, त्याज्यो नार्य्या नरः परः ॥”

पुनश्च—“प्राणभूतं चरित्रस्य, परब्रह्मैककारणम् ।

समाचरन् ब्रह्मचर्य्यं, पूजितैरपि पूज्यते ॥”

यतः—“चिरायुषः सुसख्याना, दृढसंहनना नराः ।

तेजस्विनो महावीर्य्या, भवेयुर्ब्रह्मचर्य्यतः ॥”

एतैर्ज्ञायते ब्रह्मचर्य्यमाहारम्यम् ॥

तथैव सर्वलोकोत्तमरूपसम्पदा सर्वातिशायिन्या क्षायकज्ञानदर्शन-
शीलैर्ज्ञातपुत्रो ज्ञातनन्दनोऽन्तिमजिनः श्रमणः प्रधानः ॥ यतो भगवतो
महावीरस्य बहूनि नामानि सन्ति । यथा—

“समणे भगवं महावीरे नाते, नातपुत्रे, नातकुलनिघत्रे,
विदेहदित्रे, विदेहजम्ब, समणे भगवं महावीरे, कासवगोत्रे, अम्मा.
पियुसंतिण् वञ्चुमाणे, सह सम्मुदिण् समणे, भीमभयनेरवं ओरालं
अचेल्यं परिसहं सहइत्तिकट्टु देवेहिं से नाम कयं समणे भगवं
महावीरे ॥ श्रीआचाराङ्गसूत्रम्—११, १५, १६-१७

“एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी, अणुत्तरदंसी अणुत्तरणाणदंसणधरे
अरहा णायपुत्रे भगवं, वेसालिण् वियाहिण्” ।

(श्री स्यगडांगसूत्रम् १-२)

भगवतो महावीरस्य ज्ञातवंशो यथाऽऽह सिद्धान्ते ।

“छविहा कुलारिया मणुस्सा प० तं० उम्मा, भोगा, राइण्णा,
इक्खागा, णाता, कोरखा” ॥ (श्री टाणांग सूत्रम् ४९७),

“जात्याय्यां, इक्ष्वाकवोः विदेहाः, हस्योऽश्याष्टा, शंताः कुरवो,
सुंयुनाला, उभा, भोगा, राजन्या इत्येवमादयः क्षत्रिया अर्यकुलोद्भवाः” ॥

(तन्त्रार्थसूत्रम् ३-१५)

ज्ञातस्वण्डोद्यानोऽपि ज्ञातवंशस्य परिचयमादेत्, यथा—

“बहिया यं ‘णायसंडे’ आपुच्छिताण णायए सरे ।

दियसे मुहुत्तसेसे कमाणामं समणुपत्तो ॥”

(आवश्यकचूर्णिं पृ० २६७)

पुनश्च—

“उत्तरस्वचित्तियकुण्डपुरसंनिवेशस्त मज्जेणं निगच्छति र वा जेणैव
‘णायसंडे’ उज्जाणे तेणे व ठवागच्छइ.....महारारे लोयं
करेइ ।”

(श्री आचारांगसूत्र २-१५-८)

श्रीहेमचन्द्राचार्योऽपि परिशिष्टपर्षणि ज्ञातनन्दनमिति शब्दप्रयोगं
कृत्वा प्रथमस्फुरोति, यथा—

कल्याणपादपारामं, श्रुतगंगादिमाधलम्,

विश्वाम्भोजरधि देवं, वन्दे श्रीज्ञातनन्दम् ॥

इत्यादिप्रमाणैर्भगवान् महारीरो ज्ञातवंशमलंकृतवान् ।

अन्वयार्थ— श्लो [दाणाप] दान-धर्मं [अभयप्यपामं] अभयदान
[घेठुं] घेठ दे, [वा] और [तपेयु] सलोमिं [अणरथं] पा रक्षि-रुगरोढी
पीय न देनेशत्य गरा-बचन [वा] और [तपेयु] मय तपोमिं [वंभपे]
प्रद्वनरथो [उत्तन] अघ्य [रदंति] करा दे, उखी प्रद्वर [गन्ते] दवाउ-
धनप [णायपुत्ते] ज्ञान-सुत्र-महारीर [श्लोपुत्ते] लोढनें] घेठ वे ॥ २१ ॥

भाषार्थ—य परकं हितंकेडिए किरीइलुइय निधयन अरंण करवा
दान दे, दान अनेक प्रद्वरइय होनेपर नी ‘अभयदान’ यव दानोने उत्तन दे,

इसी प्रकार सत्य भी अनेक प्रकारका है, तथापि दूसरेको जिस सत्यसे पीटा न हो ऐसा सत्य-प्रियसत्य उस सत्यसे अच्छा है जिससे दूसरोंको पीडा हो, और सब तर्कोंमें ब्रह्मर्ष्य तप सर्वोत्कृष्ट है, उसी प्रकार भगवान्-महावीर भी लोकमें सर्वोत्तम थे ॥ २३ ॥

भाषा-टीका—अपनी और औरोंकी उन्नति तथा भलाईके लिए जो परोपकारकी दृष्टिसे दिया जाय उसे दान कहते हैं। या अपने अधिकारको वस्तु-मेंसे हटा कर जिस वस्तु पर किसी अन्यको अधिकार दे देना भी दान कहा जा सकता है। परन्तु यहाँ तो भद्रा और प्रतीति के साथ भक्ति भाव पूर्वक, परिग्रहका ममत्व भाव छोड़कर कर्मोंकी निर्जराके लिए अनुकम्पासे तथा मन, वचन, कामकी दृष्टिसे फलकी इच्छा न रख कर दत्ता जिस पात्रमें कुछ पवित्र वस्तु देता है उसीका नाम दान है।

और वह अन्नदान, औषधदान, ज्ञानदान, अभयदानके भेदसे चार प्रकारका है। परन्तु उन सबमें प्राणियोंका भय हटा कर उन्हें सयथा निर्भय कर देना ही सर्वोत्तम दान अभयदान माना गया है। क्योंकि आत्मानें दश प्राण होने से प्राणी कहलाता है। जीवित रहनेकी इच्छा या जीवित रहना ही इसका सभाष रहनेसे इसकी 'जीव संज्ञा' है। दशप्राण 'द्रव्य प्राण' है और 'भाव प्राण' अनन्त चतुष्टय कहलाते हैं, वास्तवमें यह जीव तीनों कालमें इन्हीं प्राणोंसे जीवित रहता है। अतः सब जीव जीवित रहनेकी इच्छा रखते हैं मरना कोई नहीं चाहता, किसीको मरना अभीष्ट नहीं है। अतः जीवित रहनेके अभिलाषुओंको 'अभय' दान देकर उनका सब प्रकारसे रक्षण करना मनुष्यस्य श्रेष्ठतम कर्तव्य है।

कहा भी है कि—“जिस प्रकार मुझे अपने प्राण प्रिय हैं उसी प्रकार अन्य देह भातियोंको भी अपना जीवन प्रिय है। स्वर्गस्थ निवासी इन्द्र और विष्टोन्न कीटा, महत्में रहने वाला राजा और क्षौपदीमें रहने वाला गरीब शकटद्वारा समान जीवन चाहते हैं। यह समझ कर किसी भी प्राणीके 'मन' नामक प्राणको भी कष्ट न देना चाहिए।”

“क्योंकि अहिंसा परम धर्म है, हिंसा सब जगह पर निन्दित की गई है, यह स्वयंको प्रिय न होने के कारण औरों को भी अप्रिय है। क्योंकि अपनी और औरों की मनोदशामें कोई अन्तर नहीं है। अतः चतुर मनुष्य अपने मनमें

नियमसार—“कुलस्थान, योनिस्थान, जीवसमासस्थान, मार्गण स्थान इत्यादि भेदोंको भट्टि भान्ति जान कर जीव रक्षा करनेके भावको ‘अहिंसा’ कहते हैं। जीवोंकी मृत्यु होती है या नहीं इस प्रश्नके विचारमें लो हुए परिणामके सुधारके बिना पाप हिंसा रूप क्रियाका स्वाग होना कठिन है, अतः इन रक्षाके प्रयत्नमें सम्या ‘अहिंसा’ है।”

समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि—“जगत् में इसे सब जानते हैं कि—अहिंसा परब्रह्म स्वरूप है, अर्थात् आत्माकी वीतरागता ही अहिंसा है, जहा वीतरागता है, वही आत्मा का शुद्ध स्वरूप है, जिस आश्रमके चरित्रमें अणुज्ञाप भी आरंभ नहीं है वही यह पूर्ण अहिंसा प्राप्त होती है। आशय यह है कि आदर्श, पुरुषोक्त सचरित्र रूप आचरण ही अहिंसा है, अतः अहिंसानी सिद्धिके लिए ही परम दयालु प्रभुने आरंभ और परिग्रहके स्वाग दिया। प्रभु विकार क्षील वैश और परिग्रहमें अनुरक्त नहीं थे। क्योंकि जहां परिग्रहकी आसक्ति नहीं है वहां ही ऊंचे दर्जेका अहिंसा धर्म है। ‘जिनधर्म की जय’ इसी लिए बोलते हैं कि—इसमें पूर्ण ‘अहिंसा’ का फलन किया जाता है। यहीं धरा जीवजन्म घात करनेवाले विचारोंको उड़ भूलसे हटानेका कारण है। तथा ‘पंच शय’ रूप इकेन्द्रिय स्थावर जीवोंके नाना प्रकारके होनेवाले बधसे पुन विलज्जुल वृ है और वह सुन्दर मुससे भरपूर समुद्रके समान अगाध है।”

“सुनिर्भोज कर्मव्य है कि वे सर्वथा अहिंसाका फलन करें, क्योंकि हिंसाका परिणाम दुःखजनक है, जिसे महजपुस्सोंने महान अनुभवसे बताया है। जिनके ये वचनानृत हैं।”

“वैरसे लज्जार है, नरीरकी चमकीके फोड कर बोट बाहर टपकने लगा है, हाथ कटे हुए हैं, और भी अनेक रोगोंसे प्रस है। उठे देख कर समझ लेना चाहिए कि—उन्हें यह दारुण दुःख अन्य प्राणियोंकी हिंसा करनेसे भुगतना पडा है अतः चतुर पुरुषका यह कर्तव्य है कि—विरपराधरीवकी संकल्पमात्रसे कभी ‘हिंसा’ न करे।”

“सुरादुःखमें, अच्छे सुरेमें, दुक अयुक्तमें, अपनी आत्माधि तरह अन्य आत्माओंको समझ कर कभी किसीका हिंसा रूप अत्रिष्ट न करे।”

लोफोंका यह मन्तव्य है कि—“धर्मका सम्पूर्ण अंग सुन कर तथा मनमें विवेक रूप कर उसका निर्णय पूर्वक यह सार है कि जब मुझे अपने

प्रतिकूल कुछ अच्छा नहीं प्रतीत होता है, तब औरों को उनके प्रतिकूल आचरण कब दृष्ट है ।”

“सबको अपने प्राण ही प्रिय हैं, राज्य नहीं”-“प्राणी अपने प्राणोंकी रक्षाके लोभमें राज्य को भी, तृणकी तरह छोड़ देता है । अत एव किसीके प्राणोंका नाश करनेसे जो पाप होता है वह समस्त पृथ्वी दान कर देनेसे भी दूर नहीं होता ।”

“मरनेवालेको चाहे राज्य भी भ्रान्त करो, या सुवर्ण का पहाड़ अर्पण कर दो, परन्तु जीवनके सन्मुख वे वस्तुएँ उसे कुछ भी अच्छी नहीं लगतीं, इसी लिए वह उन सब को छोड़ कर जीवित रहनेकी ‘अपील’ करता है ।”

पीडा-“जरासा कंटा पैर में लग जाता है, मगर वह सारे अंगों में भारी पीडा उत्पन्न कर देता है, परन्तु जो निरपराध जीवोको तांशण शत्रुसे मौतके घाट उतार देता है, उस मरनेवालेके दुःखका क्या ठिकाना है । उसे तो अवश्य अनिर्वचनीय वेदना होती है ।”

“यह कहाँ की नीति है जो अपहरण, निरपराध, दुर्बल प्राणी बलवान् के द्वारा मारा जाता है, हाय ! हमें तो कष्ट के साथ कठना पड़ता है कि-जगत् में अराजकता छा गई है, अब यह न्यायको कहाँ स्थान रह गया है ।”

“यदि कोई किसीके कानोको यह सुनादे कि तू मरजा ! तब मरनेवाला यह सुनते ही कांप उठता है, शरीर भयभीत और दुःखी हो जाता है । जो पैने और कटोर शत्रुसे किसीको मारने लगता है तब उसकी क्या दशा होती होगी । उसके दुःख अनुभव सिवाय उसके भय और घेन कर सकता है ।”

“हाथका कट जाना अच्छा है; बिना पैर रहना भी कुछ घुरा नहीं, मगर सम्पूर्ण शरीरके अंगोंको पाकर हिंसा करनेवाला पुरुष सर्वथा निरम्मा है, अर्थात् वह किसी वयमव्य नहीं है ।”

मतलब साधने की हिंसा भी हानिकर है-“विप्रेकी शान्तिके लिए की गई हिंसा भी विप्रेके लिए ही होगी । बहुतेसे यह कह सकते हैं कि-हमारे कुलका यही ‘आचार’ चल आता है, मगर वह कुछ कुछ भलाईके लिए नहीं है, वह तो कुछ नाश के लिए ही होगा, शान्तिके लिए नहीं । अपने वंशमें, चली आनेवाली कुलसम्पत्ति, हिंसाके जो भी प्राणी छोड़ कर शुद्ध-हो

जाता है, वह शत्रु सूर कछाईके पुत्र 'मुञ्ज' की तरह सब मनुष्योंमें पवित्र और श्रेष्ठ मिला जाता है।"

"जो इन्द्रियोंको तो ब्रह्म रखना चाहता है, तथा देव और गुरु की आत्मीय सेवा करता है, यथा शक्य दान भी देता है, तत्वको पद कर पढ़ाता भी है, तप भी करता है, परन्तु जराही भी हिंसाको यदि धर्म मन्व्यतासे कर देता है सब तो उपरोक्त सबकी सब क्रियाएँ निष्फल हैं, अतः सिद्ध हुआकि धर्मके नाम पर की गई हिंसा भयंकर पापकारिणी है।"

"जिस शास्त्रमें धर्मस्य नाम लेकर हिंसा करनेका उपदेश किया हो वह शास्त्र न होकर कुशास्त्र समझा जाना चाहिए अर्थात् यह शत्रु है शास्त्र नहीं।"

"यह कितना आश्चर्य है कि—मनुष्य तक को मार देनेवाले, लोभान्ध होकर पथ भ्रष्ट होजाने वाले, हिंसा विधायक शास्त्र बनाकर, तथा पाप करनेका उपदेश देकर, लोकोंको मूर्ख बना रहे हैं, अन्ध विधायी बनाकर मानो नरकके कूडेमें डाल रहे हैं।"

अहिंसाका माहात्म्य—“अहिंसा माता की तरह सबकी पादिक्य और हितकारिणी है। अहिंसा ही शत्रुओंके मनमें अमृतका संचार करनेवाली है। अहिंसा दुःखहारी दवानलको बुझानेमें अमोघ और प्रधान मेघ है, संसार भ्रमणा दानी जन्म मरणके रोगसे पीड़ितोंके लिए तो आरोग्यता देनेमें सन्धि 'औषधि' है।"

अहिंसाका फल—“लम्बी आयु, स्वच्छ और सुन्दर रूप, भीरोगता, संसारमें निर्मल यशः कीर्ति, इत्यादि सामग्रिँ अहिंसा पालन करनेके उपलक्षमें ही तो मिली हैं। अधिक क्या कहा जाय अहिंसा सब मनोरथ पूर्ण करनेवाली है।"

किसीने ठीक ही कहा है कि—“पहाड़ोंमें मुमरु, अमृत पीने वालोंमें देवता, मनुष्योंमें चक्रवर्ती, ज्योतिष् चक्रमें चाद, ठंडी छाया देनेवालोंमें फलदार वृक्ष, ग्रहोंमें सूर्य, जलाशयोंमें समुद्र, गुरु-असुर-मनुष्य तथा चक्रवर्तियोंमें वीतराग के पदकी तरह सब जतोंमें 'अहिंसा' को सबमें बहष्मन तथा प्रधानता प्राप्त है। अर्थात् इससे बढ कर और बडा व्रत क्या हो सकता है।"

निष्कर्ष—शन सब शास्त्रोंका भीत्यन करनेसे यह शक्य सिद्ध हो जाता है कि—हिंसा सब शास्त्रोंमें वर्जित है; जैनेनि तो इसका नाम प्राणविपात कहा है,

जिस का आशय यह होता है कि-किसी के एक-प्राणको भी निरर्थक न दुखाना चाहिए। साधु मुनिराज इसका सम्पूर्ण अंग पालन करते हैं। और गृहस्थ जन इसका एक भाग ही निभा सकते हैं क्योंकि सबको अपना जीवन सब वस्तुओं से अधिक प्रिय है।

जैसे कहा है कि—“यदि मरनेवालेको यह कहा जाय कि—तुम सोनेके ‘एक कोड सिक्के’ लेकर हमें अपनी जान मारनेकेलिए कहदो, तब वह धनके डेरको छोड़कर जीवित रहनेकी आशा प्रगट करेगा। क्योंकि जान दे देनेपर उसकेलिए धन किस कामका है। अतः सबको अपना जीवन प्रिय है। इस लिए सब दानोंमें अभय दान श्रेष्ठ है।”

अभयदान पर उदाहरण—“अरिदमन वसन्तपुरका राजा है, वह अपनी चार रानियोंसे नित्य रंग रत्नियां करता है। एक दिन उन रानियोंने गान्ध, बजान्ध, नाचना आरंभ किया; राजा उनकी गान्धर्व विद्या पर लडू होकरा और बोला कि आज तुम जो कुछ मांगोगी वही दूंगा। रानियोंने कहा कि इस समय तो हमें किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है, कलान्तरमें मांग लेंगी, अब हमारा धर अपने पास जमा कर लीजिए; राजाने कहा अच्छा।”

एक बार रानियोंने एक चोरको देखा कि जिसे खाल कपडे, और जूतोंका हार पहिना कर नग्न भूमि ठे जाया जा रहा है। रानियोंके साथ राजा भी महल पर टहल रहा था, देखकर उन्होंने पूछा कि प्राणनाथ! इसने क्या अपराध किया है। राजाने उसी समय एक सिपाहीको बुलाकर पुछवाया, उसने कहा कि पृथ्वीनाथ! इसने चोरी जैसा अकार्य करके राज और धर्मके विरुद्ध कार्य किया है, अतः आपनेही तो इसको ‘प्राणदंड’ पानेकी आज्ञा दी है।

यह सुनकर उनमें से एक रानी ने कहा कि प्राणनाथ! आप मेरा ‘धर’ यह दें कि इसे एक दिनके लिये न मारें जिससे मैं इस पर कुछ उपकार कर सकूँ। राजाने कहा “तथास्तु”

रानीने उसे महलमें लिये कर कहा तुझे आजके लिए बचा दिया है, अतः आज सा पी और मौज कर। यह कह उसका खूब अन्न और वस्त्रसे स्वागत किया, सवेरा होने पर उसे एक हजार दीनार देकर अपने महलसे विदाकर दिया।

इसी प्रकार दूसरी और तीसरी रानीने भी एक एक दिन रक्सा और क्रमसे एक लाख और एक कोड सोनेके सिक्कोंका पारितोषिक दिया।

मगर चौथी रानीने उसे कुछ भी न देकर उसका वह प्राणदंड का अपराध राजासे कह कर क्षमा करा दिया। तब यह सुन उन तीनोंने कहा कि 'इसे तुने क्या दिया है? चौथी रानीने कहा कि मैंने उसे यह वस्तु दी है, जिसे तुम सब मिल कर शत्रुमें भी नहीं दे सकीं। यह गुनकर ने सब कुछ होकर उसके गले पड़ गई और बोली कि हमने तो उसे क्रोडपति बना दिया है और तुम कहती हो कि हमने इतना उपकार भी नहीं किया। चौथीने कहा कि धनसे भी अधिक सबको अपने प्राण प्यारे होते हैं। मैंने इसे प्राणदान दिला कर लहाने लिए सूची बना दिया है। अब इसे मरनेका भय नहीं है जिससे मैंने सबसे बड़ा उपकारका कर्म किया है। यदि मेरे कहेका विश्वास न हो तो राजासे इसका स्वाद कराया जायिए। इतना कहनेके बाद राजाको तुरन्त महलमें बुलाया गया, और रानियोंका वह सुकदमा सुन कर राजा ने चोरको बुलाया और पूछा कि भाई! सत्य कह तु किस रानीका अधिक उपकार मानता है।

उसने नम्रतासे फिर कुछ कर कहा कि-यों तो सबसे कुछ पर भारी उपकार किया है, मगर चौथी रानीका सबसे अधिक उपकार मानता हूँ, क्योंकि उसने अभयदान दिलाया है। तीनों रानियोंने क्रोडोंका धन भी दिया और एक एक दिन मरनेसे भी बचाया मगर मुझे तो सदैव यही भय बना रहता था कि धनका क्या करुंगा जब कि कल मर जाना है। मगर चौथी रानीने मुझे उसी मौतको सफटमे उबार दिया है। अतः मैंने सबसे बड़ा उपकारके लिए निर्भय हूँ। अतः इस उपकारको अपने तनका पुरस्कार देकर भी नहीं बुझाया जा सकता। क्योंकि सब दानोंमें अभयदान प्रधानतम है।

सर्वोच्च भाषा सत्य है-इसी प्रकार सत्य बचनोंमें निरवयव, पापराहित, दूरदोषी पीडाको हटानेवाली भाषा सर्वोत्तम है। क्योंकि काना, मनुसक, रोगी, चीरादिके नामसे पुकारनेपर भी उसके मनको आघात पहुँचता है।

मनुका मत-“सत्य, प्रिय, और अन्यके मनके अनुकूल वचन बोलो, असत्य और अप्रिय सत्य कभी मत बोलो।”

असत्य-असत् शब्दके तीन अर्थ हैं, सद्भावका प्रतिषेध, और अर्थान्तर तथा गहानिन्दक। वस्तुके स्वरूपका अपव्यय करनेसे सद्भावका प्रतिषेध कहते हैं। यह दो प्रकारका है। राजत पदार्थका निषेध-तथा अज्ञात पदार्थका

निरूपण। जैसे "नास्ति आत्मा" आत्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, अथवा "नास्ति परलोकः", परलोक-मरणके बाद जीवका अन्य भव धारण करना वास्तविक नहीं है। इत्यादिक भूतनिन्दव है। क्योंकि इससे सद्भूत पदार्थका अपलाप होता है। आत्माका परलोकमें भवान्तर धारण करना वास्तविक सिद्ध-पदार्थ है। युक्तियुक्त और अनुभवगम्य है। इसका निषेध करना सद्भूतका अपलापनामक मिथ्या वचन है। आत्माको श्यामाकतण्डुल-सामूहके श्वावल् की तरह छोटे प्रमाणमें बताना, अथवा भंगूठके पोरवे के धरावर समझना, या यह कहना कि-आदित्य वर्ण है, निष्किय है, इत्यादि सब वचन अभूतोद्भावन नामक असत्य वचन हैं। क्योंकि इस तरहके वचनों द्वारा आत्माका जो वास्तविक स्वरूप नहीं है, उसका उल्लेख किया जाता है।

अर्थान्तर शब्दका अर्थ है मित्र अर्थको सूचित करना, जो पदार्थ है उसको दूसरा पदार्थ ही बताना-वास्तविक न कहना अर्थान्तर है। जैसे कोई, गौको बहे कि यह घोड़ा है, अथवा पोढेको बहे कि यह गौ है, इस तरह के वचनको अर्थान्तर नामक असत्य कहते हैं।

गर्हा नाम निन्दा करनेका है, अतः जितने भी निन्द्य वचन हैं वे सब गर्हित नामके असत्य वचन समझने चाहिए। जैसे कि- 'इमको मार डालो' या 'मरजा', 'इसे कमाईको देदो', इत्यादि हिंसा विधायक वचन बोलना, तथा मर्म-मेही-मन दुखानेवाले अपशब्द बहना, गाली देना, कठोर वचन बहना, परप-रुक्ष शब्दोंका प्रयोग करना, एवं पैशुन्य किसी की जुगली करना, आदि गर्हित वचन कहलाते हैं। यदि वे गर्हित वाक्य कदापि सत्य भी हों तथापि असत्य माने जाते हैं। क्योंकि वे निन्द्य हैं। तथा प्रमादयुक्त जीवके वचन भी असत्य समझे जाते हैं। प्रमाद पूर्वक कहे जाने वाले वचन असत्य होते हैं। और प्रमाद को छोड़कर बहे गए असत्य वचन भी सत्य हो सकते हैं, जैसे किसी रोगी बालकको पताशमें दवा रख कर देते हैं और कहते हैं कि-ले यह पताश है।

सत् शब्दके दो अर्थ होते हैं, विद्यमान और प्रशंसा। अत एव असत् शब्दसे अविद्यमान और अप्रशंसाता ये दोनों ही अर्थ लेने चाहिए। सद्भूत निन्दन असद्भूतोद्भावन और अर्थान्तर ये अविद्यमान अर्थको सूचित करनेवाले होनेसे असत्य हैं। और जो गर्हित वचन हैं वे अप्रशंस होनेसे असत्य तथा प्रमादका सम्बन्ध भी दोनों ही स्थानों पर पाया जात है।

इसके अतिरिक्त असत्य की विवक्षा होने पर कथाय असत्य निमित्त बन जाता है, कथायक उदय अग्नेपर असत्यका प्रयोग अवश्य किया जाता है । अतः श्लेष-श्लेष-मान-राग-द्वेष-मोहादिके कारणसे असत्य बोलनेका त्याग करना अत्यागुप्यत कहलाता है ।

हंसीमें, कठोर शब्द का प्रयोग करते समय, युगस्थी करते समय, अप्र-
ज्ञान बचन कहते समय, झूठ कावच कहना अनिवार्य हो जाता है, और देह-
घाटीसे आत्म स्थिति उस समय प्राप्त होती है जब दूगरा अगुप्यत स्वीकार कर
लिया जा सके ।

फांसी ने कहा है कि—जिसे मूर्खता के कारण धर्म के नामसे पुका-
रता है, और जो श्लेषोंमें भी निन्द्य समझा जाता है, उस असत्य को मन,
बचन—कथयते त्याग देना ही उचित है, यदि हितको अपनानेकी अभिलाषा है
तो असत्य न कह कर मौनको स्वीकार करले । क्योंकि इतने स्थानों पर सब
मौन भाव भजते हैं,

जैसे—“प्रतिक्रमण करते समय, मतमूष्य त्यागते वक्त, पापके कार्यसे
छोड़ते समय, निरन्तर मौन रख लेवे, क्योंकि मौन कर लेनेसे बाणीके दोषोंका
नाश हो जाता है ।” ‘मौनसे क्लेश नष्ट होता है, सन्तोष भाव जागृत हो
जाता है, वैराग्यका प्रदर्शन होता है, संयमकी पुष्टि हो जाती है ।’ ‘जिह्वाके
स्वाद छोड़नेसे ही तपकी शक्ति होती है । अभिमानकी रक्षा होजाती है,
रामता आनेसे मनकी सिद्धि हो जाती है ।’ ‘बाणी मनोरमा बनजाती है, आदेश
होकर प्रवर्तता प्राप्त बन जाता है, मौन रखने वालेके कारणगुणत पद्मनीय
होते हैं । परन्तु मौन देस और बतको निवार कर करना चाहिए । यदि कहीं
बोलनेसे संसारको मद्दोष और अतिप्रका लाभ हो तो बड़ा शुभ न रहना चाहिए ।
नगर बाणी सदा सत्यकी होनी चाहिए ।’

गृहस्थके लिए त्याग्य असत्य क्या है ? “शुद्ध को इन्द्र,
पशु, पृथ्वी, के सम्बन्धमें असत्य कुछ भी न कहना चाहिए, न ही उन्हें कनी
शक्ति गवाही देनी चाहिए, कनी किसी की धारन-कनी पयोहर मार कर उसे
कोरा जराह न देना चाहिए, इन पाँच बातोंको ध्यानमें रखने बाप्य सत्यगु-
प्यती है । यदि अपने या अन्यके ऊपर सत्य कहनेसे अप्रति आ शक्य हो तो
उस समय सत्य न कह कर मौन कर लेना उचित है ।”

“और जो साधु-सज्जन पुरुष राग, द्वेष और मोहसे असत्य बोलनेके परिणामको जब छोड़ता है, तब ही दूसरा सत्याणुव्रत होता है, क्योंकि असत्य बोलनेका भाव सत्य भावसे विपरीत होता है, और यह असत्य भाव राग भावसे, द्वेष भावसे और मोह भावसे जीवमें पैदा होता है, अर्थात् यह मनुष्य इष्ट पदार्थोंमें व विषयोंमें राग द्वारा उनकी प्राप्ति और रक्षाके लिए असत्य कहता है, वह अनिष्ट पदार्थोंमें वा विषयोंमें द्वेषपूर्वक उनके दूर होनेके लिए या उनका सम्बन्ध न पानेके लिए असत्य कहता है, अथवा मिथ्या बुद्धिसे संसारमें मोहके कारण उस मिथ्या भावकी रक्षाके अर्थ असत्य बोलता है, जो कोई निष्ठ भव्य जीव साधु पुरुष इस प्रकारके असत्य बोलनेके परिणामोंको त्याग देता है उसी में सत्य व्रतकी योग्यता आती है।”

“जो सत्यभावके रंगमें रंग कर प्रगटमें सत्यका व्यवहार करता है वह सज्जनोद्धार आदर्शीय होता है, यह बात इष्ट लिए सर्वथा सत्य है कि सत्य से बड़ कर अन्य दूसरा कोई व्रत नहीं।”

असत्य बोलने का निरुद्ध परिणाम—“झूठ बोलनेवाला गूंगा बनता है, या उसे मूर्खगति का जीव बनना पड़ता है। वह स्पष्ट नहीं बोल सकता। किसीको उसकी सुन्दर सम्मति भी प्रिय नहीं लगती। मुखरोमसे पीड़ित रहता है। ये सब झूठ बोलनेके दुष्परिणाम जान कर कन्यादिके विषयमें असत्य कभी न बोलना चाहिए।” “झूठ बोलने वाले, मूर्ख, विकलांग, बाणीहीन रह जाते हैं। उनकी बातें सुन कर लोगों को घृणा हो उठती है। और उनके मुखसे दुर्गंध आया करती है।” “जो सर्वलोके से विरुद्ध है, जिस बाणीसे विश्वासघात हो जाता है, जो पुण्यका प्रतिपक्षी है वह ऐसा वाक्य कभी न कहे।” “जो झूठ बोलता है उसमें तुच्छता आजाती है, अपने आपको ठग लेता है, अधोगतिगामी होता है, अतः झूठ वर्जनीय है।” “झूठ प्रमादसे भी न बोलना चाहिए, क्योंकि कन्याणकार्यरूपी वृक्ष असत्यकी आंधीसे गिर जाते हैं।” “भूत, भविष्यत्, वर्तमानकी बातोंको यदि पूर्णतया न जानता हो तो न कहे, कि इस तरह होगा।” “तीनों चालकी बातोंमें शंका हो तो उसे न कहे।” “यदि तीनों चालकी बातें बिलकुल निःशंक हैं तब उन्हें लोगोंमें उपदेशके रूपमें सुना सकता है।” “असत्य बोलनेसे वैर विरोध बड़ जाते हैं, बोल सुल जाने पर पड़तावा होता है,

छोड़ उस पर विश्वास नहीं करता, बदनाम मुफ्तमें हो जाता है।' कुपथ्य करनेकी तरह न जाने क्या २ दुःख-दोष इन्हीं मनुष्यमें बढ जाते हैं।" "झूठ बोलने वाला नरक, निगोद, और पद्म योनिमें जन्म लेकर मरता रहता है।" "थोड़ा सा असत्य प्रयोग करनेवाला भी नरकमें उत्पन्न होता है।"

"ज्ञानिओंने ज्ञान और चरित्रका मूल तो सत्य ही बताया है, सत्यवादीके पैरोंकी धूलिसे पृथ्वी पवित्र हो जाती है।" "जो सदा सत्य बोलते हैं उनका भूल, प्रेत, सर्प, सिंह आदि कुछ भी नहीं विगाड सकते,।" "ठिर मुंडा कर, जंदा रखा कर, नम रह कर, कपड़े पहिन कर या तपको तप कर भी जो असत्य बोलता है सब तो उसे अप्रतुल्य भी बढ कर निन्द्य समझना चाहिए।" "एक तरफ तो असत्यका पाप है, दूसरी ओर संसारके सब पाप हैं, यदि इन दोनों पापोंको तोना भी जाय तो असत्यका पाप बढ निकलेगा।" "जजुओं और भ्यभिचारिओंके पापका प्रायश्चित हो सकता है, परन्तु असत्यवादीका प्रतिहार नहीं।" "सत्यवादीका ऐशोंको भी पथ होता है, राजा भी उस पर शासन नहीं चला सकता, उन पर अभिषेक उपद्रव नहीं होने पाता, क्योंकि सत्यकी महिमा अपार है।"

"सत्यका संसार भरके योगियोंने खूब ही गायन किया है, जिसमें शुभचक्राचार्यके कुछ बचनमृत आपके पठनार्थ सामने रखते हैं। उन्होंने कहा है कि—"जो सयमी मुनि धीरज रख कर संवकी रक्षा या मुनि वीर्याकी सुरासे धारण करता है, वह मुनि बचनके जंगलने सत्य रूपी पक्षका आरोप करता है।" "यमनिबन्धादिप्रतीका समूह एक मात्र अहिंसानी रक्षाके लिए कहा है, अहिंसा मत यदि असत्यसे दूषित होतो वह ऊंचे पदको कभी भी नहीं पासकता। असत्य बचनके होनेसे अहिंसाका प्रतिपालन अशक्य है।"

"जो बचन जीवोंका इष्ट हित करनेवाला हो तो वह असत्य भी मूल है। और जो बचन पाप सहित हिसारूप कार्यको पुष्ट करता है वह सत्य भी असत्य है और निन्द्य भी है।" "जो मुनि अनेक जन्मके उत्पन्न दुर्तोंकी शान्तिके लिए तपपरण करता है वह निरन्तर सत्यही बोलता है, क्योंकि असत्यबचन बोलनेसे मुनित्वका होना असम्भव है।" "जो बचन सत्य हो, कदगासे भरपूर हो, किरीके विरुद्ध न हो, आकुलता रहित हो, अशक्य या

गवाँरू भाषा में न हो तथा—आम्य नाम इन्द्रियों का भी होता है यानी इन्द्रियोंके विकारोंको पुष्टकर वचन न हो, औरवका बढ़ानेवाला हो; जिसमें किसीका हलकापन न बताया गया हो, वही वचन शास्त्रमें प्रशंसनीय है।”

निरन्तर-मौन करना भी पुरुषों के कल्याण के लिए है—
 “यदि बोलनेका काम पड़े तो सत्य और प्रिय तथा सब जीवोंके कल्याणके लिए बोलना चाहिए।” “मगर दुष्ट चरित्रोंके मुखकी भाँवीमें बड़ी भारी अमल-बाणीकी सापनी रहती है, जो जगत् भरको दुःखी कर देती है।” “जिस वातके सत्य होनेमें सन्देह है, पर पाप रूप भी अवश्य है, और दोषोंसे युक्त है, एवं ईर्ष्याको बढ़ानेवाली है, वह अन्यके पूछने पर भी न कहे।” “किसीका मर्म दुःखानेवाला, मनमें धाव करनेवाला, स्थिरताका नाश करनेवाला, विरोध सडा करनेवाला, तथा दया रहित वचन कण्ठमें प्राण आनेपर भी न कहे।” “जहाँ धर्मका नाश होता हो, चरित्रको धका पहुँचता हो, दैशाकी स्वतन्त्रता नष्ट होती हो, समीचीन सिद्धान्तका लोप होता हो, उस जगह देश, धर्म और जातिके उत्थानके लिए बिना पूछे भी विद्वानोंको अवश्य बोलना चाहिए। उस समय चुपचाप खड़े २ तमासा देखना सपुत्रोंका कार्य नहीं है।” “जो बाणी लोकोंके कानोंमें पुनः पुनः पड कर जहर उगलती है, जीवोंको मोहरूप कर डालती है। सम्मार्गको भुल देती है, वह बाणी, न होकर एक सापनी जैसी है, जिसके सुनते ही प्राणी उत्तम मार्गको छोडकर कुमार्गमें पड जाते हैं।” “कानोंको जितना सुख मनोहर बाणी देती है, उतना मुस चन्दन, चन्द्रमा, चन्द्रमणि, मोती, मालती, आदि शीतल पदार्थ नहीं दे सकते।”

“अग्निसे जला हुआ वन तो किसी समय हर भय हो जाता है, परन्तु जिह्वास्त्री भागसे भीडित होकर लोक कभी नहीं पनपता।” “जो सच बोलते हैं, तत्वके असली स्वरूपको समझ सके हैं, जिनको सत्य और शीलका ही अवलम्बन है, उनके पैरों से पृथ्वी पवित्र हो जाती है और वही लोक उत्तम हैं। जो असत्य बोलते हैं वे ही नीच होते हैं।” “जो नीच पुरुष मनुष्यजन्म पाकर भी सत्यकी प्रतिज्ञासे रहित है, वह संसार रूपी कीचडसे और क्या करनेसे पार हो सकेगा?” “जिनके हाथ नाक कान कटे, हों, रूप रंग नामको

भी न हो, दरिद्री और रोगी हो, कुल, जाति, वर्णसे हीन हो, तब क्या हुआ उनका भूषण सत्य है, सत्यसे पवित्र और सुखी हैं। उनकी शोभा सत्यसे है।” “जो पुरुष असत्यसे मस्तिन हैं, उनके साथ पाप रूपी कालिमाके भयसे कोई भी धर्मज्ञ पुरुष अपनेमें भी उसका साक्षात्कार नहीं करता।” “झूठेकी संगतिसे सचको भी कलंक लेना पड़ता है।” “पुत्र, सखन, धी, धन और मित्रोंके जाने या विमुख होने पर अथवा श्राण जाने पर भी झूठ नहीं बोलना चाहिए।”

इत्यादि वचनामृतोंको पीकर जो पाप रहित और भय सत्य बोलता है, वही जगत्में प्रधानपुरुष है।

सत्याकी तरह सब प्रकारके तपोंमें अर्थात् जिन तपोंमें इच्छाओंका रोकना अनिवार्य है वे तप १९ प्रकारके कहलाते हैं, उनमें उत्तम और नव विध ब्रह्म गुणसे गुप्त किया गया ब्रह्मचर्य नामक तप उत्तम है।

सुन्दर त्रियोंके मनोहर अंगोंको देख कर उनसे शीघ्र करनेकी जिसके चित्तमें इच्छा खमी होती है उसको त्याग देनेसे अथवा वेद नामक मोक्षपाथके सीत्र उदयसे मैथुन सेवनकी इच्छाका त्यागना ब्रह्मचर्यमत है, उसे स्पष्ट करनेके लिए सत्यपुरुष कहते हैं कि हे कर्मी पुरुष, ! अनुपम सखन, परम सत्यरूप, निजस्वरूपको छोड़ कर अति सुन्दर त्रियोंकी शरीर आदि विभूतियोंके मनमें कर्वाँ याद करता है, और उनके मोहमें किस लिए फँसा पड़ता है।

अग्रहस्तचर्य के दोष—जो सम्भोगसे सन्ताप पैदा होता है, पित्तको बढ़ाता है, क्रम प्तर फैल जाता है, हिताहितको नष्टकर मोहको बढ़ाता है। शरीर निःसत्व होता है; तृष्णामें जड़ता जाता है, अतः क्रमेच्छामें और उबरमें पुष्ट भी अन्तर नहीं रह जाता। और इन दोषोंको जान कर भी यदि कोई चर्यया मीलका पालन न कर सके तो गृहस्थका कर्तव्य है कि विवाहित पतिमें भवदय पन्तोप पैदा करे। क्योंकि इस प्रसिद्धमें भी अनेक तरह की इच्छाओंका मर्दन कर देता है।

कहा मी है कि—अपनी स्त्री मात्रमें सन्तोष करनेके अनन्तर जो अन्य स्त्री मात्रकी कर्मी इच्छा तक भी नहीं करता है, उसमें भी सुदुर्गम छेठ की तरह अद्भुत प्रमाण पैदा हो जाता है, तब ब्रह्मचारिके प्रभावकी प्रशंसा कर्वाँ कर की जासकती है, क्योंकि वह तो अवर्ण्य है।

इसी भाँति श्रीका भी परमधर्म है कि—पर पुरुष चाहे रूपमें, ऐश्वर्यमें, कलामें कितना भी बढा चढा क्यों न हो, उसे जहरका पुतला समझ कर त्याग देना चाहिए जिस प्रकार सीताने रावणको छोड दिया था । वही श्री देवीसे पूजित होती है जिसने मैथुनके विकार को जीता है ।

मैथुन नाम जोडे का है, प्रवृत्तिमें श्री पुरुषका ही जोडा समझा जाता है, दोनोंका परस्पर संयोग या सभोगके लिए जो भावविशेष उत्पन्न होता है अथवा दोनों मिलकर जो सभोग किया करते हैं उसको मैथुन कहते हैं, और उस मैथुनको 'भद्रद्वय' कहते हैं । इसमें भी प्रमत्तयोगका सम्बन्ध है, क्योंकि उस अभिप्रायसे जो भी किया की जायगी, फिर चाहे वह परस्पर दो पुरुष या दो स्त्री ही मिल कर क्यों न करें, अथवा अलग कोडा आदि ही क्यों न हो वह सब भद्रद्वय है, और जो प्रमादको छोडकर किया करते हैं उसको मैथुन नहीं कहते । जैसे कि पिता भाई आदि पुत्री भूमि आदिको जब गोदमें लेकर प्यार करते हैं तब वह भद्रद्वय नहीं कहला सकता, क्योंकि उनमें 'प्रमत्त-योग' नहीं है । इस प्रमत्तयोगकी यदि एक अधर्ममें निश्चिन्ता की जाय तो वह ब्रह्मचर्याश्रयत कहलाता है । जैसे कहा है—

“माता बहन बेटाकी तरह परस्त्रीको जानता हुआ जो अपनी विवाहिता स्त्रीमें ही सन्तोष करता है, वह चौथा अश्रयत कहलाता है ।” “उत्तम पुरुष परस्त्रीको व्याधि और दुखके समान समझ कर दूरसे ही छोड देते हैं, क्योंकि परस्त्री सदैव दुःखोंका घर है, और मुखोंका नाश करनेके लिए प्रलयकी आग जैसी तिष्ठ हुई है ।” “जो श्री अपने पतिको छोड कर परपुरुषमें रमण करने चली जाती है, उसे परले सिरेकी निर्लज्ब समझना चाहिए । जब इस आचरणसे अपनी स्त्रीका भी विश्वास नहीं है तब परस्त्रीका किस बात पर विश्वास किया जा सकता है ।” “परस्त्रीका सेवन करके पुरुष क्या धुल पाता है । केवल नरक निर्गोदमें रुलनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं । अतः मनुष्योंको 'ब्रह्मचर्य' मतका पालन करना चाहिए ।” “इस मतका आशय—लेकर योगीजन परब्रह्म परमात्माका और अपना स्वरूप अमेदरूपसे जान लेते हैं । उसीका अनुभव करते हैं, और इसे धीर धीर पुरुष ही धारण करनेमें समर्थ हैं । अल्पसत्ववाले, सीलरहित, इन्द्रियोंके दास, दुर्बल पुरुषतो इसका स्वप्न भी समाचरण नहीं करसकते, क्योंकि यह ब्रह्मचर्य अविघात महान्त है ।”

“इन तीनों भुवनोंमें ब्रह्मचर्य नामक मत ही प्रशंसनीय है, जो इसे निर्मलभावोंसे पालते हैं वे पूज्य पुरुषों द्वारा भी पूजित होते हैं।” “जो ब्रह्मचर्य पालनमें अनुरक्त रहते हैं वे दस प्रकारके मैथुनोंका सर्वथा त्याग कर देते हैं।” जैसे—

(१) शरीरका संस्कार-शंभारादिकरना । (२) पुष्ट रसका सेवन करना । (३) गाना-नजाना-देसना-मुनना । (४) स्त्रीका ससर्ग करना । (५) धर्ममें किसी प्रकारका संकल्प-विचार करना । (६) स्त्रीके अंग उपांगोंको देखना । (७) उसे देखनेका संस्कार बनाए रखना । (८) पूर्व कृत भोगोंका पुनः स्मरण करना (९) अगासीके लिए भोगनेकी चिन्तवना करनी । (१०) शुक्र (जीर्म)का क्षरण कर देना ।

ये दस भेद मैथुनके हैं, ब्रह्मचारीके लिए ये सर्वथा त्याग्य हैं ।

“जिस प्रकार किम्पाकफल (इन्द्रावण फल) देखने सुंघनेमें रमणीय है परन्तु विप्राक होनेसे तो इलाहल विपन्न काम का साक्ष्य है । इसी भांति यह मैथुन भी कुछ काल पर्यन्त रमणीक और सुन्दर तथा सुपदायक प्रतीत होते हैं, परन्तु निषाक समय बानी अन्त समयमें बहुत ही भयप्रद प्रतीत होते हैं।” “जो पुरुष काम और भोगोंमें विरक्त होकर सदा ब्रह्मचर्यका सेवन करते हैं उनको भावशुद्धिके लिए दस प्रकारका मैथुन त्याग देना चाहिए । क्योंकि इन दोषोंके त्यागे बिना भावोंमें निर्मलता नहीं आती । उत्तम भाव-ही कामके वेगको रोक सकता है।”

कहा भी है कि—“सर्पसे उसे गए प्राणीके घात वेग होते हैं, परन्तु कामरूपी सर्पके द्वारा उसे गए जीवोंके दस भयानक और बड़े वेग होते हैं, वे ये हैं।”

कामके उद्दीपनसे पहले पहल चिन्तामें घिर जाता है कि कामका सम्पर्क क्योंकर हो, दूसरे वेगमें उसे देखनेकी इच्छा हो जाती है, २ सर्प निश्चाय लेकर छोड़ता है, और कहता है कि हाथ उसे देख भी न सघ, ४ ग्वर हो आता है, ताप मान बढ जाता है, ५ बिना ही आगके चरित जलने लगता है, ६ भोजन नहीं दबता, ७ महा मूर्च्छ हो जाती है, कुछ भी चेत नहीं रह पाता । ८ उन्मत्त मानी पागल का बन जाता है, व्याय वाय बहने लगता है, ९ प्राणों का रखना दुसर हो जाता है तथा उसे यह संदेह हो जाता है कि मैं अब जीवित नहीं रहूंगा । और दसवां वेग ऐसा आता है कि जिससे

यह मर भी जाता है, इनमें व्याप्त होकर यह जीव यथार्थ तत्त्व अर्थात् वस्तु स्वरूप को नहीं देखता। जब लोकन्यवहार ही का ज्ञान विदा हो जाता है तब परमार्थका ज्ञान क्यों कर हो सकता है। क्योंकि सब बातोंमें वह बिलकुल अस्थिर बन जाता है।

“जिसको कामरूपी कांटा चुभता है वह प्राणी बैठने, सोने, चलने, फिरने, भोजन करनेमें तथा खजान पुष्पोंमें क्षण भर भी स्थिरताको प्राप्त नहीं होता। अर्थात् सब अवस्थाओंमें डिगमिगाया रहता है।” “कामसे ठगा जाकर मनुष्य चतुर होकर भी मूर्ख बन जाता है, धर्माशील-कोपी हो जाता है, शूर वीर कायर बन जाता है, बढप्पनसे गिर कर छोटा रह जाता है, दयमी पुरुष आलसी बन जाता है। और जितेन्द्रिय भ्रष्ट हो जाता है।” अतः मूर्खता न करके मनुष्यको मनुष्य जन्म सार्थक बनानेके लिए ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिए। क्योंकि तपोंमें उत्तम ब्रह्मचर्य ही तप है।”

कदाचारका परिणाम—बैलके नपुंसक बनानेकी क्रिया देखकर, संपटका राजा द्वारा इन्द्रिय छेदन देख कर, सुधीको कुलील आग कर खदार सन्तोष त्रत छेकर परदारका त्याग कर देना योग्य है। “मैथुनका सेवन किपाकफलकी तरह आरंभमें अदृष्ट लगता है परन्तु परिणाममें दाहण कष्ट होता है।” “शरीरमें कम्प, पछीना, बकान या विथिलता, चक्कर आना, शृणा होना, पौरुषेयका क्षय, तपविक क्षय—आदि रोग मैथुन सेवनसे होजाते हैं।” “योनि-यन्त्रमें असह्य जीवधारीकी उत्पत्ति हो जाती है, और मैथुन करते समय वे जीवित नहीं रह सकते।”

वात्स्यायनका मत है कि—“रक्तं कीडे हो जाते हैं, वे जीव सूक्ष्म होते हैं, और सम्यक्के समय मर जाते हैं।”

मैथुन सेवनसे काम ज्वर घट नहीं सकता—“अग्निमें घी डालकर अग्निको बुझानेकी शृङ्गाकी चेशकी तरह स्त्रीसंयोगसे काम ज्वर कभी शान्त नहीं हो सकता। अतः छिपे भी पर पुरुषको सर्पके समान समझकर उन्हें त्याग दें।” क्योंकि—

“ऐश्वर्यमें चाहे इन्द्रके समान हो और सुन्दरतामें कामदेवका धनतार हो तब भी सच्चारियोंकी दृष्टि में सीताने रावण का जिस प्रकार त्यागक्रिया इसी प्रकार पर पुरुष त्याज्य हैं।”

भगवान् महावीर का 'श्री आचारंग' और 'कल्पसूत्र' आदि सूत्रोंमें उनके जीवन चरितके अनुसार उनका जन्म क्षत्रियकुण्ड ग्राममें 'ज्ञातवंशीय' और 'काश्यपगोत्रीय' सिद्धायें क्षत्रिय राजाके घर त्रिशूल क्षत्रियाणीकी कुक्षिसे हुआ था ।

यह ज्ञातवंश उस समयके प्रसिद्ध ईश्वरकु, आदि क्षत्रियोंके विशाल कुलोंकी तरह प्रसिद्ध 'वंश' समझा जाता था । इस ज्ञातवंशके क्षत्रिय प्रायः 'ज्ञातृ' के नामसे पहचाने जाते थे । और उनके इस 'ज्ञातृ' कुलके सम्बन्धसे उनके नगरों के बाहर बनाए हुए खड्ड-उद्यानों के नाम भी 'ज्ञातृखड्ड' के नामसे प्रसिद्ध थे । भगवान् महावीर प्रभुने 'कुण्डग्राम' के समीपवर्ती 'ज्ञातृखड्ड' नामक बागमें दीक्षा ली थी । शास्त्र बचन तो इसकी रख ही पुष्टि करता है ।

जिनागममें 'ज्ञातृपुत्र' का प्रतिशब्द 'नाथपुत्र' या 'नाटपुत्र' के रूपमें और बुद्धागममें 'नाथपुत्र' या 'नाटपुत्र' के रूपमें जिस शब्दप्रयोगका उल्लेख देखनेमें आता है, वह भगवान् महावीर के 'ज्ञातृवंश' का ही अर्थसूचक नाम है, इसे मान लेनेमें हमको ऊपरके कारण मिलते हैं, 'नाथपुत्र' या 'नाटपुत्र' में दोनों नाम संस्कृत में 'ज्ञातृपुत्र' शब्दके ही प्राकृत रूप हैं, और 'नाथपुत्र' या 'नाटपुत्र' ये दोनों नाम भी इसी शब्दके 'पाली' रूप हैं । प्राकृत में 'त' को 'थ' और पाली में 'त' को 'थ' और 'थ' को 'ट' भी साधारणतया हो जाता है । दिग्म्बर सूत्रोंमें 'ज्ञातृपुत्र' का 'नाथपुत्र' इस शब्दको व्यवहृत होता देखा जाता है । इस प्रकार भाषा और भाषाही दृष्टिसे देखते हुए भी ये सब अलग २ नाम मूल 'ज्ञातृपुत्र' शब्दमें मिल जाते हैं । ये सब नाम 'ज्ञातृपुत्र' शब्दसे बनाए गए हैं । इसमें शंका करने के लिए जरासा भी स्थान नहीं है । प्राचीन कालमें वंशके नामसे परिचय करानेकी प्रथा होनेसे भगवान् महावीर प्रभुके जीवनविषयक परिचय श्रीजिनागमोंमें और बौद्धागमोंमें 'नाटपुत्र' या 'नाथपुत्र' शब्दसे और भगवान् महावीरके शिष्योंका परिचय 'नाटपुत्रीय' या 'नाथपुत्रीय' शब्दसे विशेषतः दिया गया है ।

श्रीजिनागमके १२ अंकोंमें छठवां अंग "नाथधम्मकहाओ" है, उसमें उपर्युक्त आया हुआ 'नाथ' शब्द भी भगवान् महावीरका वंशवाचक "नाथपुत्र" के साथ गहरा सम्बन्ध रखता है । प्राकृतमें 'न' को 'ण' हो जाना तो

एक साधारण नियम है। इस अंग का गुजरती अनुवाद भी 'भगवान् महा-
वीरनी धर्मकथाओ, नह करजेमें आया हे, इस अंगका परिचय भीष-
नवायांगसूत्रमें किया गया है, उसमें बताया है कि—“इए अंगमें ज्ञाताओं के
नगठोका, उद्यानोका, मातापिता का, “इत्यादि परिचय दिया जायगा” यह
छिया है, टीकाकारने ज्ञाताओंका उदाहरणभूत अर्थ किया हे, परन्तु
“ज्ञाता” अर्थात् ‘ज्ञानवंशी’ अत्रिय ही अर्थ पूर्वपर विचार करते हुए अधिक
निश्चय होता है।

भगवान् महावीरका परिचय धीजिनागमोंमें ‘नायपुत्र’-‘ज्ञातपुत्र’
के अतिरिक्त और नामोंसे भी दिया गया है, तथापि वहाँ पर ‘नायपुत्र’ शब्द
की ही विशेष प्रधानता रही है। बहुत से प्राचीनतम सूत्रोंमें भगवान् महावीर
प्रभुकी गुण गाथाका सूत्रन विशेषतः ‘नायपुत्र’ शब्दसे ही किया गया है—

यथा—

“न ते सन्नहिमिच्छन्ति, नायपुत्रवओरया” १८

“न सो परिग्गहो बुधो, नायपुत्तेण ताइणा
मुच्छा परिग्गहो बुधो इह बुधं महेसिणो” २१

“एवं च दोसं दहूणं, नायपुत्तेण भासियं
सजाहारं न भुंजति, निमांथा राइभोयणं” २६

“एवं च दोसं दहूणं नायपुत्तेण भासियं,
अणुमायं पि नेहानी, मायामोसं विचज्जण्” ४९

“एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी, अणुत्तरदंसी जणुत्तरनाणदंसणधरे,
अरहा नायपुत्ते भगवं वेसात्तिण वियाहिण्” १८

भाषार्थ—“जो भगवान् ‘अतपुत्र’ के बचनों पर पूर्ण विश्वास (मन्ये
हैं वे किसी वस्तु का सम्पन्न करने नहीं रखते ॥ १८ ॥

प्राचीनतम सूत्र करनेवाले ‘ज्ञातपुत्र’ महावीर प्रभुके वध पानके
परिमह न बताकर मूर्खों यानों मन्त्रक भावसे ही परिग्रह बताना दे, यह
महर्षिओंने कहा है; ॥ २१ ॥ (दत्तने० अ० १)

‘ज्ञातपुत्र’ महावीर प्रभुने कहा है कि मर्त्यादामें रहनेवाले साधु इस दोषको भलिमान्ति देखकर थोडासा भी कपट पूर्वक झूठ न बोलें ॥ ४९ ॥

इस दोषको देखकर निर्मन्थ रात्रि भोजन छोडदे, क्योंकि ‘ज्ञातपुत्र’ ने इसके दोष प्रत्यक्षमें बताए हैं ।

“इस प्रकार अनुत्तरज्ञानी अनुत्तरदर्शन युक्त अर्हन् प्रभु ‘ज्ञातपुत्र’ महावीर विशाला नगरमें इस प्रकार व्याख्यान करते थे ॥ १८ ॥”

इन प्रमाणोंके अतिरिक्त इस अध्यायमें तो २-१४-२१-२३-२४ की गाथाओंमें प्रभुकी स्तुति ‘ज्ञातपुत्र’ शब्दका ही संकेत रखकर की गई है। इस तरह श्रीजिनागमके प्रमाणभूत ग्रन्थोंमें ‘नाथपुत्त’ या ‘नातपुत्त’ को भगवान् महावीरके वंशवाची नामका उपयोग अनेक स्थलों पर पुष्कल रूपमें किया है, इन सब शब्दप्रयोगोंके उद्धरण करने की यहां जरासी आवश्यकता भी प्रसीत नहीं होती। मात्र हेमाचार्य ने परिशिष्टपर्वमें जो ‘ज्ञातनन्दन’ भगवान् महावीरको बंदन किया है उसीका यहां उद्धरण देकर अगामी बह चलेगे ।

उन्होंने भंगलाचरणमें कहा है कि-“जो कल्याण वृक्षोंका बगीचा है, श्रुतिरूप गंगाका हिमालय है, विश्वकमलके लिए सूर्यकी भाति है उस ज्ञातनन्दन महावीरको मैं नमस्कार करता हूं ।”

बौद्धपिटकोंमें भगवान् महावीर का अपना उनके शिष्योंको और उनके सिद्धान्तोंका परिचय उनके वंशवाची ‘नाथपुत्त’ या ‘नाटपुत्त’ के शब्द-व्यवहारसे ही दिया गया है। उनके धमण निर्मन्थोंके लिए ‘नाथपुत्तीय’ शब्द का उपयोग किया गया है। इस नामके अतिरिक्त भगवान् महावीरके जीवन सम्बन्धी परिचयके लिए अन्य किसी शब्दका प्रयोग किया हो यह देखने में नहीं आया, सिर्फ ‘नाथपुत्त’ के साथ ‘निगंठ’ शब्द का प्रयोग हुआ है। मगर वह शब्दतो उनकी साधु अवस्थाका सूचक है। और वह ‘नाथपुत्त’ शब्दका विशेष्य न हो कर एक विशेषण है।

इससे प्राचीन कालमें 'वंशवाचक' नामसे परिचय देनेकी प्रथा स्पष्ट जानी जा सकती है। महात्मा बुद्ध भी उनके मूल नाम "सिद्धार्थ" की अपेक्षा उनके 'गोत्रसूचक' नाम "गौतम" के नाम से और 'वंशसूचक' "शाक्यपुत्र" के नामसे अधिक प्रसिद्ध थे।

भगवान् महावीरका वंश 'ज्ञातृवंश' था और इस ज्ञातृवंशसे उनका 'वंशसूचक' नाम 'नायपुत्र' प्रसिद्ध हो गया, जिसे हम ऊपर देखा गए हैं। मगर इस वंशका अगली चतुरकर कितना विस्तार और कितना विनाश हुआ इसका इतिहास प्रायः छुप्त है। इस छुप्तप्रायः इतिहास का शोध करना 'अद्यावत्क' है। इस इतिहास को उल्लास करने के लिए हमारे पास बौद्ध साहित्य एक अनन्य साधन है।

भगवान् 'महावीर' और 'महात्मा बुद्ध' ये दोनों एक समयके समकालीन धर्मक्रान्तिकारी महापुरुष हो गए हैं। तदुपरान्त वे दोनों एक ही देशके निकटस्थ प्रान्तके निवासी राजवंशी पुरुष थे इन कारणोंको लेकर महात्मा बुद्धको एक प्रान्तसे दूसरे प्रान्तमें विहार करते हुए भगवान् महावीरकी जन्म भूमिमें जानेका और वहाँ भगवान् महावीरके वंश-सम्बन्धी लोगोंके साथ वार्तालाप करनेका प्रसंग प्राप्त होना यह एक स्वाभाविक बात है।

'बुद्धपिटक' के 'महायग्ग' नामक सूत्रमें म० बुद्ध भगवान् महावीरकी जन्मभूमि कुण्डग्राममें और उसके पासमें 'ज्ञातृवंश' के मामोंमें पूर्ण वैशालि नगर जानेका और वहाँ 'निर्मन्थ धावक' 'सिंह' सेनापतिके साथ घातचीत कामका उल्लेख मिलता है। इस उल्लेखके आधार पर भगवान् महावीर का 'ज्ञातृवंश' और उनकी जन्मभूमिके विषयमें हमको बहुत कुछ परिचय मिलेगा। इसी धारणासे ये उल्लेख उतारने उचित प्रतीत हुए।

*अथ भगवान् जहाँ कोटिग्राम था वहाँ गए, वहाँ भगवान् कोटिग्राम में विहार करते थे,

* देखो, विन्ध्यपिटक महायग्ग पृ० २५१-'कोटिग्राम,'

अम्बापाली गणिकाने मुना कि भगवान् कोटिग्राममें भागए । अम्बा-पाली गणिका सुन्दर-सुन्दर (भद्र) यानोंको जुडवा कर, सुन्दर यान पर चढ कर, सुन्दरयानों के साथ वैशाखिसे निकली । और जहाँ वह कोटिग्राम था वहाँ चली

तब वह 'लिच्छवी' जहाँ कोटिग्राम था वहाँ गए ।

“एक समय भगवान् बुद्ध नारिक (झारिका) के निजिकावसथमें विहार करते थे”

{ मज्झिमनिकाय पृष्ठ १२७ }
बुद्ध-गोसिग-सुत्तन्त्र
वैशाली

कोटिग्राममें इच्छानुसार विहार कर जहाँ पर वैशाली का महावन है वहाँ गए, वहाँ भगवान् बुद्ध वैशाली महावन की कूटागार शाला में विहार करते थे ।

उस समय बहुतसे प्रतिष्ठित 'लिच्छवि' संस्थागार-(प्रजातन्त्रसभागृह) में बैठे थे । वे सब मिलकर बुद्ध का गुण बखानते थे । धर्म का, संघ का, गुण बखानते थे, उस समय निगंठों का धायक (जैनो का धायक) सिंह सेनापति उस सभामें बैठे था ।.....

.....तब सिंह सेनापति जहाँ 'निगंठ नाथपुत्र' थे वहाँ गया, जाकर 'निगंठ नाथपुत्र' से बोले कि भंते मैं.....

सिंह ? तुम्हारा घर दीर्घकाल से निगंठों के लिए प्याऊ की तरह रहा है ।.....

..... उस समय बहुतसे

निगंठ (जैन साधु) वैशाली में एक

..... निरक्षरके
वह आयुष्मान् (निगंठ) बुद्ध..... हैं ।

'विनय पिटक' 'महावग्ग' तथा 'मज्झिम निकाय' में आए हुए इन उद्धरणोंसे हमें साफ़ २ मालूम हो जाता है कि 'महात्मा बुद्ध' 'नरकैरत्तन्त्र'

की जन्मभूमि 'कुण्डग्राम'—प्राची भाषामें 'कोटिग्राम' में गए थे । और कुण्ड-ग्रामके पासकी बसनेवाली वैशाली नगरीमेंसे वहाँ महात्मा-बुद्धको अम्बा-पाली नामक वेश्या और लिच्छवीक्षत्रिय मिलने आए थे । कोटिग्राम से म० बुद्ध जहाँ 'जातिका' 'ज्ञातृक' रहते थे कहा गए थे । और वहाँ 'जातिका' ज्ञातृकोंके 'मिजिक्कावसथ'—ईंटोंके घरमें ठहरे थे । इस स्थानके पास ही एक अम्बापालीवन नामक उद्यान भी रहा है जिसे अम्बापालीने बुद्ध और उनके संघको समर्पण कर दिया था । वहाँ से म० बुद्ध वैशाली गए और वहाँ सिंह नामक सेनापति जो कि निर्मग्न्योंका थावरु था, उसे अपना अनुयायी बनाया, सिंह सेनापति महात्मा बुद्धको मिलने जाने से पहले निर्मग्न्य ज्ञातृपुत्र महा-वीर भ्रभुके पास अनुज्ञा लेने आया था । तब भगवान् महावीरने सिंह सेनापति को "तू निवावाधी हो कर अकिथवाधी धमण गौतमके पास उसे मिलने क्यों जाता है ! यह कह कर न जानेकी सम्मति दी थी" । परन्तु वह अपनी हृच्छानुसार धमण गौतमके पास गया और वह वही धमण गौतम बुद्धका अनुयायी होगया ।

उपरोक्त उल्लेखसे हमारे विषयको पुष्ट करने वाली थार वार्ते जानने की विशेष तथा मिलती हैं ।

(१) बौद्धोंका कोटिग्राम* ही जैनोंका कुण्ड ग्राम मान्य होता है, इन दोनों नामोंमें शाब्दिक सादृश्यके अतिरिक्त उस ग्राम के पास 'ज्ञातृक'—ज्ञातृ-संघके क्षत्रियोंका निवास स्थान और वैशाली नगरीकी निकटता होनेके कारण ये दोनों बस्तुएँ 'कुण्डग्राम' और वही 'कोटिग्राम' होनेकी मान्यता पुष्ट हो जाती है ।

(२) कोटिग्रामके पास ज्ञातृकोष निवासस्थान, भगवान् महावीरका वंश 'ज्ञातृवंश' था यह और भी पुष्ट कर देता है, और साथ २ कुण्डग्रामके, आस पास 'ज्ञातृक'—'ज्ञानृवंश' के क्षत्रियोंके संघ—'उद्यान' थे, और वहाँ

* बौद्धग्रन्थोंमें कुण्डग्रामका नाम कोटिग्राम और म० म० को ज्ञातृ-पुत्रके स्थान पर नातिपुत्र लिखा है । देखो "भारतका अर्वाचीन-उत्खनन" पृष्ठ ४० से० विवेकानन्द राय ॥

'ज्ञातृवंशी' क्षत्रिय रहते थे। यह इस विचारको और भी दृढ़ कर देता है। यह "ज्ञातृक" का उल्लेख और ये 'ज्ञातृक' म० महावीरकी जन्म जातिवाले 'ज्ञातृ' क्षत्रिय ही होंगे यह कल्पना की और निर्देश करता है।

(३) 'ज्ञातृ' जाति लिच्छविओंकी एक शाखा थी* इस बातकी पुष्टिके लिए भी 'वैशाली के लिच्छवी क्षत्रिय महात्मा बुद्धको मिलने आए थे' इस उल्लेखसे पता चल जाता है कि भगवान् महावीर की माता भी लिच्छवि वंशकी ही थी और 'सिंह सेनापति' जोकि-भगवान् महावीर का भावक था वह भी लिच्छवि वंशका ही था। ये दोनों बातें ज्ञातृ जातिके लिच्छविओंकी शाखा का होना ही पुष्ट करती हैं।

(४) कुण्डग्रामके पास विदेहकी राजधानी वैशाली नगरी थी। इस नगरी का कुण्डग्राम एक शारदापुरके समान था। भ० महावीर प्रभुका "वैशालिक" नाम भी इस नगरके नाम से ही प्रसिद्ध था, विमाला नगरी में सिंह सेनापति नामका जो निग्रन्थ भावक लिच्छवी रहता था वह भगवान् महावीर की सफाहको न मानकर महात्मा बुद्धके पास गया था। इससे भी महारमा बुद्ध वैशाली नगरमें आया था तब भगवान् महावीर प्रभु भी उही नगरमें थे, यह स्पष्ट जान पड़ता है।

ऊपरके उल्लेख में जो 'जातिका' शब्द लिखा गया है, उस शब्दका मूल बहुतोंने 'नादिका' भी निकाल्य है, और उसका अर्थ 'इस नामके जलाशयके तट पर बसा हुआ एक ग्राम' किया जाता है। मगर यह भ्रमपूर्ण है। इस प्रकार हर्मन जेकोबी† उसका मूल शब्द जातिका ही बताता है। और वह शब्द 'ज्ञातृवंश' के क्षत्रियों का वाचक है यह कह कर समर्थन करता है।

* प्रसिद्ध जैन तीर्थंकर महावीरकी माता भी लिच्छवी वंश की ही थी। देखो 'भारतका प्राचीन राजवंश' पृ० ३७८ देखकर विवेचनवाच्य राम।

† हर्मन जेकोबी की 'Sacred Books of The East' नामक ग्रन्थमालासे प्रकाशित 'भाषाचरंग और कल्पसूत्र' नामक जैनसूत्रोंके अनुवादकी प्रस्तावना, पृष्ठ १०।

इस जातिकी शब्द पर त्रिपिटककार्यं धोयुत एहुलसंश्लेषन ने इस पर विशेष प्रकाश डाला है। उसने अपनी 'बुद्धचर्या' नामक हिन्दी पुस्तक में 'नादिका' का मूल शब्द "नाटिका"—ज्ञातुञ्ज, बताया है। और 'ज्ञातुञ्ज' शब्द ज्ञातुञ्जके क्षत्रियोंका सूत्रक है यह सप्रमाण बताया है। ये अगली धलहर यह भी बताते हैं कि-ज्ञातु जाति लिच्छवियोंकी शाखा थी। और वैशाली नगरीके आस पास ही रहने वाली थी। यह ज्ञातु जाति आज भी वैशाली नगरी (जिला मुङ्गफरपुरके अन्तर्गत है, बसाइके पास) के पास पास जयरिया नामक जातिसे पहचाना जाता है, यह जयरिया शब्द आजकी हांडियों भी 'ज्ञातु' शब्दके साथ गहरा संबंध रखता है।

जयरिया शब्द 'ज्ञातु' शब्दका अपभ्रंश शब्द प्रतीत होता है। 'ज्ञातु' शब्दमेंसे जयरिया शब्दका अवतरण किस प्रकार होयगा इसके निश्चयमें एहुलजीने भाषा वि हांडियों निम्न प्रमाणसे विचार किया है। ज्ञातु=नाटि, ज्ञातु-ज्ञातर-जातर-जतरिया-जयरिया-जैपरियाके रूपमें नादिका-ज्ञातुञ्ज-नादिका-जतरिया-जतरिया-रती जिसके नामसे वर्तमान रती पर्यन्त (जि० मुङ्गफरपुर) है। बुद्धचर्या २९ पृ० ।

इस प्रकार 'जयरिया' शब्द 'ज्ञातु'का अपभ्रंश है एहुलजी इस रती पर्यन्तका मूल नाम अपने उपरोक्त उद्देशमें आए हुए 'नादिका' शब्द से उत्पत्ति बताते हैं।

* उस समय बनी भाषी निगंठोंकी परिषद (जिन शास्त्रियोंकी समाधि के साथ निगंठ नेटपुत (महावीर) बाल्मिकीमें ही विनाश करते थे।

(१) 'नाटपुत'—'ज्ञातुपुत्र' लिच्छवियोंकी एक शाखा थी। जो वैशाली के आस पास रहती थी। ज्ञातुके ही वर्तमान जयरिया शब्द बना है। महावीर और जयरिया दोनोंका गोत्र कश्यप है। आज भी जयरिया भूमिहार प्रदेश इस प्रदेशमें बहुत संख्यामें हैं। उनका विनाश रती पर्यन्त भी ज्ञातु-नयी-नयी-रतीके बना है।

१११ पृष्ठमें निगंठ पुतत्र भी उल्लेख किया है जो कि सं० नि० ४०११६ से दृश्य किया गया है।

इस प्रकार 'जथरिया' और उसका वर्तमान निवास 'रती' ये दोनों शब्द 'ज्ञातृ' शब्दके साथ पनिष्ट संबन्ध रखते हैं और इस संबन्धसे 'जथरिया' 'ज्ञातृक'-ज्ञातृवंशी ही हैं, और उनका प्राचीन निवास स्थान जोकि 'नादिका' या 'नाटिका' के नामसे पहचाना जाता था वही वर्तमान रती परगना है यह राहुलजीका दृढ मन्तव्य है। इनके इस दृढ और पुष्ट मन्तव्यमें दृष्टी यह भी युक्ति है कि-इन 'जथरियोंका' मूल गोत्र काश्यप है। वही काश्यपगोत्र भगवान् महावीर और उनके ज्ञातृवंशी क्षत्रियोंका भी था।

इन जथरिया-ज्ञातृवंशी क्षत्रियोंके विषयमें सूचना करते हुए भी राहुलजी बताते हैं कि ये 'जथरिया' लोक वर्तमान समयमें अपनेको ब्राह्मण बताते हैं। ये दान नहीं लेते। पंजाब प्रान्तमेंगी जमना नदीके किनारे बतने वाली एक जाती रहती है। ये भी दान नहीं लेते। उस देशमें उनको लगा कहते हैं। शायद यह ल्यागीका अपभ्रष्ट होगया हो। हाँ तो इन 'जथरिया' जातिके लोकों को भूमिहार ब्राह्मण कहा जाता है। मगर और लोक इनको ब्राह्मण नहीं मानते। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि-वास्तवमें ये लोठ क्षत्रिय ही हैं। इसका दूखरा कारण यह भी है कि-ये 'जथरिया' नाम सिद्धान्त वाले हैं। जो क्षत्रियोंके नामके साथ आजकल पीछेसे लगाया जाता है और इनके नामके पीछे ठाकुर शब्द भी जोड़ा जाता है। यह भी क्षत्रिय सूचक ही है। इस संसारमें आजकल भी बहुतसे जमीनदार और राजा भी हैं। दर्भगा नरेश इसी जातिले अलंकृत मुने जाते हैं।

बौद्धसाहित्यके उल्लेखोंसे तथा राहुलजीके कथनसे इतना अवश्य माना जा सकता है कि भगवान् महावीरका वंश 'ज्ञातृवंश' था। और ये ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय कुण्डमाके पास रहते थे। और इन ज्ञातृवंशीय क्षत्रियोंके प्राममें महात्मा बुद्ध आए थे। वर्तमान समयमें ये ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय 'जथरिया' के नामसे प्रसिद्ध हैं। और ये प्रायः विहारप्रान्त के मुजफ्फरपुर जिलेके रती नामक परगनेमें रहते हैं। और ये 'जथरिया' अपने नामके पीछे सिंह और ठाकुर शब्दका उपयोग भी करते हैं। और काश्यप गोत्र होनेसे ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय हो सकते हैं। मगर ये लोक आजकल अपनेको भूमिहार ब्राह्मण कहते हैं। वस्तुतः इसके पीछे सत्य स्वरूप वहाँ ठकुर हुआ है इसे शोध करके प्रकट करनेकी वही ही आवश्यकता है, इस सत्य शोधसे भगवान् महावीर प्रभुके

ज्ञातृ-बंध और उनके जीवनके सम्बन्धमा बहुतसा अज्ञानान्धकार जो कि भरने
आतपास फैल गया है वह अन्धकार दूर हो जायगा ॥

१. गुजराती अनुवाद—पोतानी तेमज अन्यनी पूर्ण उचछि उपा
मर्यादने माडे जे परोपकार टिथी आपण्यमां भाजे तेने 'दान' कहे छे, अथवा
वस्तुपरशी पोतानो अभिहार छोडी दहने मीज्य कोहने अधिकार भापवो ते
पण 'दान' कहेवाय छे, परन्तु अही तो धरज अने प्रतीतिनी साथे भक्ति-भाव
पूर्वक परिग्रह परनो समत्व-भाव छोडीने कर्नोनी निर्जरा खातर अनुकम्पाशी
तथा मन-याणी-कायनी छुटि सहित फलनी इच्छा बगर दाता जे प्राणुक अने
पवित्र वस्तु आपेछे तेने 'दान' कहे छे ।

ते दानना चार प्रकार-अधदान-औपधदान-अभयदान अने ज्ञान-
दान, ए दानोंमा प्रथिमो भय दूर करी तेने गर्वना निर्भय करपा ऐ
सर्वोत्तम दान मनाय छे । अने आ मानवदेहमा दस प्राण छे, ऐधी 'प्राणी'
कहेवाय छे, जीवित रहेवानी इच्छा अथवा जीवित रहेवानो ऐनो लभाव
होवाधी तेनुं नाम 'जीव' पण छे, अने ए दस प्राण इन्द्र प्राण छे, अने
ज्ञान-दर्शन-मुख-शक्ति रूप अनन्त-चतुश्च भाष प्राण छे, वास्तविक रीते प्रणे
फलमां आ प्राणोशी सदा आ जीव जीवित छे, सर्व जीवो जीवपानी इच्छा
राखे छे, मरखुं कोई इच्छतो नही, ऐधी जीवित रहेवानी इच्छासद्यने अभय
दान दहने तेनुं सर्वप्रकारे रक्षक करखुं भेष छे । कोहने छाया दितधी
अभयदान पण भापुं होत हो आ जीवनी मोक्ष बह जात, परन्तु भाग्माने
ज्ञानदान न मळशशी पोताने जीववातुं स्वार्थ राखुं, बीज्य जीवोने पण
जीवतुं शिव छे ए भान भुलावी रीतुं । कोहए कसुं पण छे ई—

“जे रीते मने माई जीवन प्रिय छे, तेमज अन्य जीवोने पण पोततुं
जीवन प्रिय छे, सर्गमां रहिनार इन्द्र तेमज शिखानो बीजो, महत्तमां वसुनाए
भूपति तेमज सुंपदीनां रहिनार मरीच कटोआरो, ए दरेक जीवतु इच्छे छे, तेन
समर्थने कोई पण प्राणीअ नव नामा प्रापने पण निरर्थक कष्ट न देतुं कोहए” ।

अहिंसा परम धर्म छे—अहिंसा-परम धर्म छे, हिंसा पर्यं जगताए
निदान छे, छे पोताने पण बपारे अशिव छे, तो बीजाभांने पण अदर अशिव
छे, धारण के पोतानी तेमज परनी ननोश्यामां बह अन्तर नही, ऐधी चतुर
मनुष्योनी सदा आ भावना रहे छे के कोई पण प्रचारे जगत्मा जीवोतुं अनान

करं । भलाई करं, परोपकारमां हुं पोते लाम्यो बळम्यो रहुं ने बीजाओने लगा-
डवानो प्रयत्न करं । मारामां ऐशमात्र पण दोष न रहेवा दऊं ने बीजाओने
निर्दोष बनाववानो पण सतत प्रयत्न करं । आत्माना अनन्त सुखधी सुखी बनी
बीजाओने सुखना स्थान पर लई जाऊं ।

जो कोई प्राणी वा मावोधी विपरीत चालीने, लोभना दास बनीने,
जीभनी लालच जाळमां फसीने, द्रव्योपार्जननी इच्छाधी, लडाईमा विजय भेळ-
वानी इच्छा धी, पोताना मनने न्हेछाववाना हेतुए, निरपराध हीन-प्राणिओनी
'हिंसा' करे छे ल्यारे तेनाधी उपार्जन करेस्य पापधी दूषित धईने, ते स्वार्थाने
नरकमा अवश्य जवुं पडे छे, आ सिद्धान्त सर्व महापुरुषोंने मान्य छे, बधाए
तेने उबकोटिए पहुँचाडवानो प्रचार कर्यो छे, महर्षि 'पतंजलिए' तो तेने
सर्वधी मोटुं स्थान आप्युं छे, पाच यमोमां सीधी प्रथम 'यम' जीवरक्षा छे;

“क्रोध-लोभ-मोहने लीधे हिंसा करवी, कराववी, अने अतुनोदवी तेने
वितर्क कहे छे, अने ते पापनुं परिणाम तेमना मते अनन्त दुःख बताववामां
आप्युं ।”

कोई जरयाए तो अहिंसानी प्रसंसा एटले सुधी करवामां आवी छे के
प्राणिओनी साथे बैर भाव पण लागी देवो जोइए । ल्यारेज साधक अहिंसा
साधी शके छे ।

धीमद् उमास्वामीए—तत्त्वार्थसूत्रमां शकुं छे के “जे कोई जीव
प्रमाद अर्थात् असावधानता युक्त धईने मनो योग-वचन योग अने फाययोग
द्वारा प्राणोनी 'अतिपात' वा 'व्यपरोपण' करे छे तेने हिंसा करवुं कहे छे ।

हिंसा करवी-मारवुं-प्राणोनी अतिपात ह्याय अथवा शियोग करवो, प्राणोनी
बध करवो, जीवने क्यधी अलग करवो, भवान्तर अथवा मलन्तरमां पहुँ-
चादी देवो, अगर प्राणोनुं व्यपरोपण करवुं, ए बधा शब्दो एकार्यवाची छे ।

जो कोई जीव प्रमादी अर्थात् मद विषय-रूपाय-विश्र अने विद्वयाने बध
धईने एवुं व्यर्थ करे, पोताना वा परना प्राणोना व्यपरोपणमां प्रवृत्त बने, ल्यारे
ते हिंसक हिंसाना दोषनो भागी कहेवाय छे, प्रमादनो त्याग करीने प्रवृत्ति कर-
वावाळना घट्टिरादिकना निमित्तधी जो कोई जीवनो बध धई जाय तो ते दोषनो
भागी कहेवातो नधी । एटले 'अप्रमत्त' अवस्थानुं नीजुं नान 'अहिंसा' छे ।

तदुपरान्त 'योगशास्त्र' ना व्यासकृत भाष्यमा अहिंसानी व्याख्या जा प्रमाणे करवामा आवी छे । के "सर्वदा सर्वप्रसन्नता जीवोनी साधे कही पण श्रेष्ठ न करवो ते अहिंसा छे ।

याज्ञवल्क्य-स्मृतिमां क्युं छे के मन, वचन, कायधी कोइने पण क्रोध न पहुँचाइवो ते ज 'अहिंसा' छे ।

अहिंसा-सत्य-आज्ञा बिना पर वस्तु न लेवी, आत्माने पवित्र राखवो, इन्द्रियोनुं दमन करवुं, दया पाळवी, मनोबिचारना प्रवाहने रोखवो, शान्तिमय जीवन जीववुं, ए चपाने धर्मसाधन बताववामां भाष्युं छे ।

यजुर्वेद-तेमां पण उपदेश भाषवामां भाष्यो छे. के-हे पुण्य ! तूं जगदना कोइ पण प्राणीनी हिंसा करीछ नहि । "मित्रस्याहं यक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे" १८-२, पोतानी भांगोधी सर्वने मित्र दृष्टि जीवा जोइए । घानु जेवी दृष्टि कोइना पर पण न करवी ।

मनुषो पांचमो अध्याय-"जे मनुष्य गेताना कल्याणनी सो इच्छा प्रगटकरे छे, परन्तु प्राण-भूत जीवोनी हिंसा करे छे. ते जीव भा लोकमां, अने मरीने परलोकमां वयारे पण सुख भेळवी सक्छे नहि ।

दशधर्म-"धैर्य धारण करवुं, शान्ति राखवी, अहमने पापधी विरक्त बनाववो, चोटी न करवी, आन्तरिक पवित्रता राखी, इन्द्रियोने पछ करवी, सब बोळवुं, क्रोध न करवो, अहिंसानुं राखन करवुं, कारुण्य अने परिश्रमने मुक्ता ए प्रसारे धर्मना दण लक्षण बतावेज छे ।"

महाभारत-"आ तूं सब वहुं वुं के सबकारिओनो धर्म अहिंसा छे. अने ते प्रधान छे, अने हिंसा करवी, ए अधर्म छे, पाप छे ।

अहिंसायचनामृत-अहिंसा परम धर्म छे, अहिंसा उत्कृष्ट दमन छे, अहिंसा उत्कृष्ट दान छे, अहिंसा प्रधान तप छे, अहिंसा परम यज्ञ छे, अहिंसा परम पठ छे, अहिंसा परम मित्र छे, अहिंसा उत्कृष्ट मुग्ध छे अहिंसा एव उत्तम जीवन छे ।

"सर्व प्रसन्नता यज्ञोनां अनेक प्रसन्ननुं दान करवुं, सर्व दीपनी धनक स्तुतिओ गावी, सर्व दानोनुं फल अहिंसा करवां साकं नही, एटकेके ते को अहिंसानी साधे पचयवी कही सक्नुं नही ।"

नियमसार-कुलस्थान, योनिस्थान, जीवसमासस्थान, मार्गणास्थान, हृत्वादि भेदोने सारी रीते जाणीने जीवरक्षा करवाना भावने 'अहिंसा' कहे छे, जीवोनुं मृत्यु थाय छे के नहि, ए प्रकारना विचारमां व्यगेला परिणाम बगर पाप-हिंसारूप क्रियानो त्याग बचो कठिन छे, तेथी ते रक्षाना प्रयत्नमां लागवुं, ते 'अहिंसा' छे ।

समन्तभद्राचार्यजीनुं कथन छे के-जगत्मां आ सर्व जाणे छे के 'अहिंसा परमद्य स्वरूप छे, अर्थात् आत्मानी पूर्ण वीतरागताज 'अहिंसा' छे । ज्यां वीतरागता छे त्यां आत्मानुं शुद्ध-स्वरूप छे, जे आधमना चरित्रमा अणुमात्र पण आरभ नथी, त्यां आ 'अहिंसा' प्राप्त थाय छे । आशय ए छे के आदर्श पुरुषोनुं मुन्दर तेमज सचरित्र रूप आचरण 'अहिंसा' छे । तेथी अहिंसांनी सिद्धिने माटेज परम दयालु प्रभुए आरम्भ परिग्रहोने त्याग क्यों छे । प्रभु विचारशील बेश तेमज परिग्रहमा अतुरकत नथी । कारणके ज्यां परिग्रहनी आसक्ति नथी त्यांज ऊंचा प्रकारनी अहिंसा-धर्म छे 'जैन धर्मनी जय' ते माटे बोलवामां आवे छे के तेमा पूर्ण अहिंसानुं पालन करवामां आवे छे, ते प्रस जीवोनी घात करवावाळा विचारोने जडमूलधी नाश करवानुं कारण छे । तेमज पंचकायरूप एकैन्द्रिय जीवोनी घातशी पण तदन पर छे । अहिंसा प्रणे लोकना जीव समूहने सुख देनारी छे । तथा मुन्दर अने अक्षय सुखधी भरपूर समुद्र समान अगाव छे ।

सर्वथा अहिंसानुं पालन करवुं, ए मुनिओनो धर्म छे, कारणके हिंसानुं परिणाम दुःख जनक छे, एम महापुरुषोए महान् अनुभवधी बताव्यु छे ।

“पगे लंगडोछे, शरीरमाधी रक्त पित्त बहे छे, हाथ कपायेला छे, तेमज अन्य अनेक रोगधी भरपूर छे, सेने जोईने समजी लेवुं जोईए के आवुं दाहण दुःख अन्य प्राणियोनी हिंसा करवाधी तेने भोगववुं पडे छे । आधी निरपराध जीवोनी संकरपमात्रधी पण हिंसा न करवी । ए चतुर पुरुषोनु कर्तव्य छे ।”

सुप्त दुःखमां, भला वुरामां, युक्त अयुक्तमां, पोताना जेवा अन्य आत्माओने समजीने क्यारे पण कोईनुं 'हिंसारूप' अनिष्ट न करवुं ।

लोकोनुं मन्तव्य-लोकोनुं आ मन्तव्य छे के-धर्मना संपूर्ण अंगो सांभलीने, मनमां विवेक राखीने तेनो निर्णय पूर्वक आ सर छे के ज्यारे मने वीर. ११

નારાથી પ્રતિકૂળ સારું નથી થયું ત્યારે સીમાઓને તેમને પ્રતિકૂળ ક્યાંથી સારું લાગે ?

“વધાને પોતાનો પ્રાણ પ્રિય છે રાજ્ય નહિ”-પોતાના પ્રાણ પ્રચાલવાની યાત્રા રૂઢ મિત્ર અને રાજ્યને પણ તૃણની ધમાક ઠોમી દે છે, તેથી જ કોઈના પ્રાણનો નાશ કરવાથી જે પાપ થાય છે. તે સમસ્ત પૃથ્વીનું દાન કરવા છતાં દૂર થઈ ચલ્યું નથી ।

મરનારને મહે રાજ્ય આપો કે સુવર્ણના પહાડ અર્પણ કરો પરંતુ જીવ-તરની પાસે તે વસ્તુઓનો કંઈ હિસાબ નથી । તેથી તે સર્વને ઊંચીને જીવતા રહેવાની અપીલ કરે છે ।

“જરા કાંટો પગમાં લાગે છે તો તે આપણા શરીરમાં મારે પીઠા કરે છે તો જે નિરપરાધ જીવોને મોતને આરે પહોંચાડી દે છે, તે મરનારના દુઃખોની પેરના અનિર્વચનીય છે ।”

“અચરણ, નિરપરાધ, દુર્બલપ્રાણી સ્વભાવના હાથે મરણ છે, તે ક્યાંની નીતિ ? હાથ । કાઠની સાથે અમારે કહેવું પડે છે કે જગતમાં અરાજકતા આપી ગઈ છે, આ સ્થાનને સ્થાન ક્યાંથી મળે, જો કોઈ કોઈને સંભળાવે છે ‘તું મરી જા’ એ સંભળનાર પણ આ સંભળતાં જ કંપી ડાકે છે, શરીર અય-મીત અને દુઃખી થઈ જાય છે । તો જે સીમાને કઠોરતા પૂર્વક સાબળી મારે છે ત્યારે તેની છી દયા થતી હશે ? તેના દુઃખના અનુભવ વગર તેનું વર્ણન કોણ કરી શકે ?”

“દાપનું કપાનું સારું છે, પણ વગરના રહેવામાં પણ કંઈ સારાઈ નથી, પણ શરીરના સમ્પૂર્ણ અંગોને પ્રાપ્ત કરવા છતાં ‘હિનકપુર્ય’, કોઈ કામનો નથી ।”

સાર્થ સાધ્યાની હિંસા પણ દાનિધારક છે-“મિત્રની ઘાનિતને માટે કરેલી હિંસા પણ મિત્રને માટેજ થાય છે । પળાઓ એમ કરી છે કે-અમારા પુત્રનો આ રિવાજ ચામ્બો આવે છે । પરંતુ તે પુત્રનું જગમ મરું કરી શકતો નથી । તે પુત્રના નાશ માટેજ થાય છે ઘાનિતને માટે નહિ । પોતાના વંશમાં પરમ્પરાગત સ્વાલતી આવેલી હિંસાને જે પ્રાણી ઊંચી પે છે, અને શુદ્ધ અહિંસક બને છે, તે ‘અનમૂર કલાઈ’ ના શુદ્ધ ‘મુતશ્ર’ ની પેટે મરવે મનુષ્યોના પમિત્ર અને ખેડ બને છે ।”

“जे इन्द्रियोने तो वस्त्रमां राखे छे; देव-गुरुनी सेवा पण करे छे, यथा शक्ति दान पण आपे छे, तत्व भणे भणाने छे, तप पण करे छे, पूर्ण धर्म सुद्धिए जरा पण हिंसा करी बेसे छे त्यारे तो तेनी उपरोक्त सर्वे क्रियाओ निष्कल छे, तेथी साबित्त वयुं के धर्मना नामे करवामां आवेळी हिंसा बज्रछेप समान भयंकर पापकारिणी छे।” “अने जे शास्त्रमां धर्मना नामे हिंसानो उपदेश करवामां आच्यो होय ते शास्त्र नथी पण शस्त्र समान छे।” “ए केवुं आश्चर्य छे जे मनुष्य सुद्धाने मारवानो उपदेश देवावाळा, लोमान्ध बनी पण अष्ट बनवावाळा, हिंसा विधायकपात्र बनवावीने तथा पाप करवानो उपदेश आपोने लोकोने मूर्ख बनावी रखा छे, अन्वधदाह्य बनवावीने भानो नरकना कुंडमा नाखी रखा छे।”

अहिंसानुं माहात्म्य-“अहिंसा मातानी जेम सर्वनुं पालन करनारी अने हितकरिणी छे। अहिंसाज शत्रुभोना मनसा अमृतको संचार करावनारी छे। अहिंसा दुःख रूपी दावानछने वृत्ताववामां अमोल अने प्रधान बर्वा छे। संसार भ्रमण अर्थात् जन्म मरणना रोमधी पीडित जीवोने आरोग्यता अर्पनारी समर्थ औपधि छे।”

अहिंसानुं फल-“दीर्घायुष्य-पवित्र अने सुन्दर रूप-नीरोपता-संसारमां निर्मल यशः कीर्ति इत्यादि सामग्रीओ अहिंसा पालनधी ज मळे छे, अधिक हुं कहेवुं, अहिंसा सर्वे मनोरथ पूर्ण करवावाळी भादि शक्ति छे।”

फोर्डेण् ठीकज कह्युं छे के-“पर्वतोमां सुमेरु-अमृत पीनारामां देवता, मनुष्योमां चक्रवर्ती, ज्योतिष चक्रमां चन्द्र, वृक्षोमां ठंभी छाया आपनार फलदार अकोकरुछ, प्रहोमा सूर्य, जलाशयोमा समुद्र, घुर अमुद्र मनुष्य तथा चक्रवर्तिओमा वीतरागनी समान सर्वे व्रतोमा पण अहिंसा व्रत सर्वोत्तम छे। ते व्रत अनुपम छे।”

निरर्कपे-आ सर्वे शास्त्रोना विचार करतां ॥ स्वयमेव सिद्ध धाय छे के हिंसा सर्वे शास्त्रोमां वर्ज्य बनावी छे। जैनोए तो तेनुं नाम ‘प्राणातिपात’ कह्यु छे। तेनो आशय ए छे के कोहेना एक प्राणने पण निरर्थक दुःख नः देवुं जोइए। साधु मुनिराज तो तेनुं सर्वांशे पालन करे छे। अने गृहस्थ तेनुं अमुक अंशे पालन करी शके छे।

“पोतानुं जीवन सर्व कोईने बधी वस्तुओ करता अधिक प्रिय छे, जेम कयुं ॥ के-“जो मरनारने एम बहेवामा आवे के तुं एक करोड गोनामहोर सईने तारो जीव दई दे । त्वारे ते धनन डगलाने छोडीने जीवानी आशा प्रगट करछे । कारणके जीव मया पछी तेने माटे धन सा कामनुं ? सर्वने जीवयुं बहालुं लये ॥ । तेथी सर्व दावोमा अभयदान भेष्ट छे ।

अभयदान पर उदाहरण-वसन्तपुरमा अरिदमन नामे राजा राज करतो हतो, ते पोतानी चार राणीओ साथे आनंद भोगवतो । एक दिन ते राणीओए गायुं, बजायुं नाचयुं घरु कयुं । राजा तेमनी गांधर्व विद्या ऊपर प्रसन्न भई गयो अने बोस्यो के “आजे तमे जे कई मागयो वंहुं आपीछ ।” राणीओए जवाब आप्योके अल्वारे तो अमने कोई पण वस्तुनी आवश्यकता नथी, पण मया समय ऊपर मागी सइछुं, अमने आपेल बरदान हमणा आप जमा राखी, राजाए कयुं “बहु साह”

एक वार राणीओए एक चोरने ओयो के जेने साक कपडा तथा जोडानी हार पहिरावीने बध्यभूमि तरफ सई जवानां आपवतो हतो । राणीओनी साथे राजा पण महेल पर टेलतो हतो । चोरने जोईने राणीओए राजाने पूछुं के प्रजानाय ! “आणे यो अपराध कसो छे ?” राजाए एक ठिशाईने बोलावीने पूछुं । तेना जवाबमा तेणे कयुं के-“दुर्घ्यानाथ ! तेणे चोरी जेनुं राज्य तेमज धर्मविद्ध असर्य कयुं छे, तेथी आपेज तेने प्राणदंडनी शिक्षा फर्मावी छे ।

ते सोभळोने तेमांनी एक राणीए कयुं के न्यायवत्रभ ! आप मने माई बरदान आपो के तेने एक दिवसने माटे जीवनदान आपवासां आवे, के जेथी हुं तेना पर सईक उपकार करी छहुं” राजाए कयुं “तयास्तु”

राणीए तेने महेलसां बोलावी कयुं के “तेने आजने माटे बचावी दीथी छे माटे ता नी मोजकर” एम कहीने अथ बखची तेनुं स्थायत बरवानां आभ्युं । स्वार यता तेने १००० डीनार आपीने शिक्षा करवानां आभ्यो ।

ए रीते भीत्री अने त्रीत्री राणीए पण एक एक दिवसयुं जीवित दान दईने अनुक्रमे एक लख अने एक करोड गोनामहोरनुं दान आपुं ।

पण चोथी राणीए तेने कई पण आप्या वगर तेने प्राण दंडनी सवा राजानी पावे क्षमा करावी दीथी । त्वारे खंनछीने ते प्रणेए कयुंके “एने छे छे”

आप्युं ?” चौथी राणीए कहुं के “मैं तेने ए वस्तु आपी छे के जे तमे बधी मळीने सप्रमां पण न आपी सकी” ते सांभळीने ते बधी कोव करीने तेने गळे पदीने बोली के “अमे तेने कोडपति बनावी वीधो अने तुं कहे छे के अमे एना पर तारा जेटले उपकार पण नशी कर्यो !” चौथीए कहुं के “धन थी पण अधिक प्रिय सौने गोताना प्राण होय छे ।” मैं तेने प्राण दान अपावीने हमेशने माटे सुखी बनावी वीधो छे । हवे तेने मरजानो भय नशी रह्यो । जेथी मैं मीथी मोटुं कार्य कर्युं छे । ओ मारी आ वात पर तमने विधास न होय तो राजानी पाते आनो न्याय कराववो जोइए” एटकी बात धया पछी राजाने महेलमा बोलाववामां आव्यो । राणीओनो मुकद्दमो सांभळीने राजाए चारने बोलाव्यो अने पूछ्यु “तु सातुं कहे के कई राणीनो तु अधिक उपकार माने छे ?”

तेणे विनय पूर्वक छिर हुवावीने बखु के—एम तो बधीए मारा पर भारे उपकार कर्यो छे, कारण के तेणे मने अभयदान अपाव्युं छे । प्रणे राणीओए कोडोनुं धन आप्युं अने एक एक दियस मरतां बचाव्यो पण ए भय माथे रह्योज हनो के काळे तो मरी जवानुं छे, तो आ धनने छु कई ? पण चौथी राणीए मने सकटमाथी बचावी वीधो छे । जेथी हुं जावजीव सुधी निर्भय बनी गयो, तेथी आ उपकारनो बदले मागे देह अर्पनि पण नहि चुकवी सकुं । “कारणके सर्व-दानोमा अभयदान श्रेष्ठ छे ।”

एज प्रकारे सखवचनो निरवध-पापरहित-अन्यनी पीडा दूर करवावाळी भाषा सर्वोत्तम छे, कारण के कणा-नपुंसक-रोगी-बोरादिने तेना नामे बोलाववाधी पण तेना मनने आघात पहुँचे छे ।

मनुनो मत—“सख-प्रिय-तेमज मन्ने अनुकूल बोलो, अमख तेमज अप्रिय सख पण न बोलो । आ प्रसंग मा असत् शब्दना जैनसिद्धान्तमां अण अव्यं छे । सद्भावने प्रतिषेध, तेमज अर्चान्तर तथा मह्य-निन्दा । वस्तुना स्वरूपना अपलापने सद्भावनो प्रतिषेध कहे छे । ते वे प्रखरे छे । सद्गत पदार्थनो निषेध तेमज असद्गत पदार्थनु निरूपण । जेमके “नास्ति आत्मा” अर्थात् आत्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नशी, अथवा “नास्ति परलोकः” परलोक अर्थात् मरण पछी जीवने अन्य भव धारण करवो पडे, ए वास्तविक नशी, ए वगैरे भूत निन्दा छे । कारण के तेथी सद्गत पदार्थनो अपलप थाव छे । आत्मा तेमज परलोक-जीवन भवान्तर धारण करवु वास्तविक रीते सिद्ध पदार्थ छे, युक्तियुक्त तेमज

અનુભવગમ્ય છે, તેનો નિવેધ કરવો તે સદ્ગુણ અપ્સરા નામે સિંધાવચન છે, આત્માને રક્ષાક તંડુલ-સામગ્ર્ય ચાવલની જેમ નાના પ્રમાણવાલો બતાવવો અથવા અણુકાના ટેરવા બરાબર સમજવો અથવા એમ કહેવું કે તે રક્ષ કર્ણનો છે । નિષ્ક્રિય છે, વગેરે સર્વ વચન અમૂલોદ્ભાવન નામે અસલવચન છે, કારણકે આ વાતના વચનો દ્વારા આત્માનું જે વાસ્તવિક સ્વરૂપ નથી તેનો ઉદ્દેશ કરવામાં આવે છે । અર્ધાન્તર-પટલે મિત્ર અર્થ, એક પદાર્થને અન્ય રૂપે બતાવવો, વાસ્તવિક ન કહેવો, તે અર્ધાન્તર છે । જેન કોઈ ગાયને યોડો વહે, અને ઘોડાને ગાય વહે; જાવને ફેંધાર વહે અને ફેંધારને મુલ્કન વહે । તે-અર્ધાન્તર નામે અગ્લ વહેવાવ છે ।

મહા-પટલે નિન્દા કરવી, તેથી જેટલ મિત્ર વચનો છે તેને વધાને ગર્હિત નામે અગ્લ વચન સમજવું જોઈએ, જેમકે “માને માટી નાયો !” “મટી જા” “માને કસાઈને સીંધો દો” વગેરે હિંસામય વચન શોભા તેમજ મમં મેલી-મનને દુઃખ ધામ તેવા અપદાન્દ કહવા, ગાઠો દેવી, કટ્ટેર વચન કહેવાં, કૂર શબ્દો વાપરવાં, પૈશ્વન્ય-કોઈની પુગલી કરવી, વગેરે ગર્હિત વચન કહેવાવ છે । જો તે ગર્હિત શબ્દ કદાચ સ્વ પળ હોય, છતાં તે અસલ મનાય છે । કારણ કે તે નિન્દા છે । પ્રમાદ સહિત જીવના વચનો પણ અગ્લ મનાય છે, પ્રમાદ યુક્ત કહેલા વચન અસલ હોય છે, અને પ્રમાદ રહિત કહેવામાં આવેલ અસલ વચન પણ સ્વ હોઈ શકે છે, જેવી રીતે કોઈ રોગીબાલકને પઠાગામાં દવા રાણીને આપતાં કહે છે કે આ પઠામું છે ।

સત્ શબ્દના જે અર્થ શાબ્દ છે, વિષમતા તેમજ પ્રસંગ-તેથીજ અગ્લ શબ્દના અવિષમતા અને અપ્રસંગ એ જે અર્થ ઉચા જોઈએ । મૂળ-નિન્દન-મગ્ન-તોદ્ભાવન તેમજ અર્ધાન્તર તે અવિષમતા અર્થ દર્શાવનાર હોવાથી અગ્લ છે । ગર્હિત વચન અપ્રસંગ હોવાથી અગ્લ છે તેમજ પ્રમાદનો સંબન્ધ પણ બંનેની ગાથે છે,

તે વિવાદ કષાય અસલનું વિમિત્ર બને છે । કલ્પનો ઉદય પતાં અગ્નનો પ્રયોગ અગ્ન વરવામાં આવે છે । તેથી ક્રોધ-માન-માયા-મ્યેષ-રાગ-દ્વેષ-જોહારિને સ્કાંધે અસલ જોત્યાનો દામ કરવો, તેને ગલ અણુન કહે છે ।

મરદમીમાં-કટ્ટેર શબ્દ વાપરતાં-પુત્રી કરતાં-અપ્રસંગવચન કરતાં-અગ્લ શબ્દ શોભાનું અનિર્ણય થઈ જાય છે । જ્યારે થીનું અણુન સ્કાંધરૂપ છે ત્યારે જ વેદપારિબોને આસ્થિરતા પ્રાપ્ત થાય છે ।

कोई कसुं छे के जेने मूढताने कारणे धर्म एयुं नाम आपवामा आव्युं छे, वडी जेने म्ळेच्छो पण निन्द्य समजे छे, ते असलनो मन-वचन-कायधी ल्याग करवो एज योग्य छे, जो हितनी वाञ्छा होय तो असल्य न बोलता मौननो स्वीकार करवो जोइए । कारण के नीचेनी बातोमां सौ मौन राखे छे; जेवां के-

प्रतिक्रमण करती नखते, मस्मभूय ल्यागती वसते, पाप कार्य छोडती वखते निरन्तर मौन सेबवुं, कारण के मौनना सेवनधी वाणीना दोषो लागता नथी ।

मौनधी बलेशानो नाच थाय छे, सन्तोष भाष आवे छे, वैराग्य आवे छे, ने सत्य अने संयमनी पुष्टि थाय छे; जीभनो स्वाद लजवाधी तपनी वृद्धि थाय छे, अभिमानधी बची जवाय छे, ने सत्य-समता आवे छे । वाणी मनोरमा बनी जाय छे, बचनो प्रशंसा पाप धई जाय छे, मौन सेवनार पूज्य बने छे, परन्तु देश कालनो विचार करीने मौननुं सेवन करयु जोइए । जो कथाय बोलवाधी संसारने मद्दोष तेमज खरित्रनो लाभ थतो होय तो त्या मौन न रहेयु जोइए, वाणी हमेशा सत्य होबी जोइए ।

गृहस्थने माटे त्याज्य असत्य-गृहस्थे कन्या-पशु-भूमि सम्बन्धी जुहु न बोलवुं जोइए, लोदी साक्षी पण न देवी जोइए, तेमज कोईनी वापण ओढ्यवी न जोइए, आ पाच बातोने ध्यानमां राखनार सत्यापुवती छे, जो मल्य बोलवाधी पोता-पर अथवा पीजा पर आपाति आवी पडे तेम होय तो त्यां मौन राखवुं योग्य छे ।

अने साधु ज्वारे राग-द्वेष अगर मोहधी असत्य बोलवाना परिणामने छोडे छे, ल्यारे दीजुं सत्य व्रत चहेवाय छे । कारणके असत्य बोलवानो भाव सत्य भावधी विपरीत होय छे । अने आ असत्य भाव, राग-द्वेष के मोह भावधी जीवमां उत्पन्न थाय छे । यानी मनुष्य इष्ट पदार्थ अथवा विषयोनी प्राप्ति अथवा रक्षानी खातर राग द्वारा असत्य बोले छे, अनिष्ट पदार्थ अथवा विषयोने दूर करवाने माटे अथवा तेनो सयोग न थाय ते माटे द्वेषयुक्त असत्य बोले छे । अथवा मिथ्या बुद्धिधी संसारमां मोहने लीधे ते मिथ्याभावनी रक्षाने माटे असत्य बोले छे, जे कोई निकट भवी जीव आ प्रह्वरना असत्य बोलवाना परिणामने ल्यागी दे छे, तेनामा सत्य व्रतनी योग्यता आवे छे । जे सत्य भावना रमधी रंगाईने प्रगट रीते सत्य व्यवहार करे छे, ते सबनोनो पण पूज्य बने छे, तेथी आ बात तहन साची छे के सत्य थी वधारे महान् बीजुं कोई व्रत नथी ।

અસત્ય ચોલવાનું નિકૃષ્ટ પરિણામ—જૂઠું ચોલનાર મર્તિને મુંગો બને છે, અથવા તેને મૂક ચલિવાલો જીવ બનવું પડે છે, તે સ્વપ્ન ચોલી ઘણો નથી । ચોઈને તેની સમ્મતિ પણ પ્રિય લગતી નથી । મુઠ્ઠા રોગથી પીડાય છે, આ ચું જૂઠું ચોલવાનું દુષ્ટ પરિણામ જાણીને કન્યાદિ સમ્બન્ધી અચલ પરી પણ ન ચોલવું જોઈએ । અમલ ચોલનાર મૂર્ત-ચિદ્વ્યંગ-ચાણી હીન થાય છે । તેની ચાતો માંમઢનાં લોચને તિરસ્કાર થાય છે । અને તેના મુદામાંથી દુર્ગન્ધ નીકળે છે । જે લોક પરિહુ છે, જેથી વિશ્વાસપાત થાય છે । જે પુષ્પનું પ્રતિપત્તી છે, તેવું ઘ્વન ઘ્વારેય પણ ન ચોલવું જોઈએ । જે જૂઠું ચોલે છે તેનામાં તુષ્ટતા આવે છે, તે પોતાને છેતરે છે, અધોગતિ (નરક) માં જાય છે, તેથી જૂઠું મદા પરજનીય છે । જૂઠું પ્રમાદથી પણ ન ચોલવું જોઈએ, કારણ કે દિવાલમાંથી કલ્પદશ અમલરૂપી આંધી થી પડી જાય છે । મૂળ-અધિપત્-વર્તમાનની ચાતોનું પૂર્વપત્તે જ્ઞાન ન હોય તો 'હે આમ હસે' એમ ન કહેવું, જે ચાતમાં ઘ્વાર હોય તે ન કહેવી, જો ઘ્વારે કલની ચાતોમાં ત્વન નિરંકંક પણ હોય તો વહેવો । અચલ ચોલવાથી ઘ્વાર વિરોધ થયે છે, પોલ ચુલ્ક જવાથી પલ્લાયો થાય છે, ચોઈ તેના પર વિશ્વાસ કરવું નથી, ઘ્વારમાંથી ઘ્વાર છે, જગપ્પના સ્વનની પેઠે અનેક જુ.ગો જૂઠું ચોલવાથી ઘ્વાર છે । જૂઠું ચોલનાર નરક-નિગોદ-અને પશુ ચોનિનો ઝનમ મરણ કરે છે । ધોદુ અમલ ચોલનાર પણ નરક નિગોદમાં જાય છે । જ્ઞાનિઓ જ્ઞાન અને ચરિત્રનું મૂલ સલ્લન કરતામું છે, ઘ્વારવાદિઓની ચરણ રજથી પૃથ્વી પરિવ્ર થાય છે । જે દમ્બાં ત્વ ચોલે છે તેને મૂળ-પ્રેત-તર્પ-વિદ્-અદ્ પણ કરી ઘ્વારતા નથી । માયું મુઢાવીને, જયા ઘ્વારને, નમાવસ્થા પારણ કરીને, જ્ઞાપુ વેગ વહીને, અથવા તપધર્મા કરીને જે અઘર ચોલે છે, તેને અતુલ ઘ્વારો પણ ચું નિન્ય ગમ્મજવો । એક તરફ અમલનું પાપ અને વીચી ચું આત્મ ઘ્વારનો મર્દે ઘ્વારો રાસકાનો અર્થ નો અચલનું પાપ થી જાય । દુષ્ટ ઘ્વારે મન સ્વનિચરિ-ઓના પાપનું પ્રાપ્તિત દોષ છે પણ અમલવારીને માટે નથી । ઘ્વારના વહે દેશે પણ ઘ્વાર રહે છે, ઘ્વાર પણ તેના પર પો-ઘ્વારની ગણા નથી પાવની ઘ્વારે, તેને જ્ઞામ ઉપદ્રવ કરી ઘ્વારો નથી, આન મન્વનો મદ્દિમા અઘર છે । ગમ્મગ ચોનિ-ઓના ઘ્વારની મૂલ્ય પ્રદાન કરી છે, જેમાંથી ઘ્વાર-ઘ્વારનો કેટલક ઘ્વારો આ નીચે અપ્પાં છે । "જે ઘ્વારની મૂલિ ઘ્વારનું પૂર્વક મૂલ્યની ઘ્વાર કરે છે, જો મુનિચોનાં પુષ્ટને પારણ કરે છે, તે ઘ્વારની ઘ્વારમાં મૂલ્યની ઘ્વાર રોગે છે ।"

“यम-नियमादि व्रतोनो समूह एक मात्र अहिंसानी रखाने माटेज बहो छे; अहिंसा व्रत जो असत्यही दूषित होय तो ते उचपद कही पण प्राप्त न करी शके, असत्य वचन साथे अहिंसानुं पालन असम्भव छे।” “जे वचन जीवोतुं हित करनारं होय ते असत्य छता सत्य छे। अने जे वचन पाप सहित हिंसा रूप बर्णनी पुष्टि करे छे, ते सत्य छता असत्य छे निन्द्य छे।” “जे साधक अनेक जन्मोनां दुःखोनी शान्ति अर्थे तप करे छे, ते निरन्तर सत्यज बोले छे, कारणके अमल्य बोलनारने साधकपणुं सम्भवतुं नही।” “जे वचन सत्य होय छे, करणाधी भरपूर होय छे, अविरोध होय छे, आकुलता रहित होय छे, असभ्य न होय, इन्द्रिय विकारोने पुष्ट करनार न होय, गौरव बधारनार होय, कोहने हलका पाडनाह न होय, तेज वचन शास्त्रमा प्रसंसनीय गण्युं छे।” “निरन्तर मौननुं सेवन कल्याणकारी धाय छे, जो बोलवानी जरूर पडे तो सत्य-प्रिय-तेमज हितकर बोलवुं जोइए।” “पण दुष्ट चरित्रोना मुखमा बाणी कूर असत्य बाणी रूपी नागण रहे छे, के जे आखा जगत्ने दुःखी करे छे।” “जे बात सदेह युक्त होय, पापरूप होय, दोष सहित होय, ईर्ष्याने बवारनारी होय, ते बीजा ना पूछवा छता पण न कहेवी।” “भर्ममेही, मनने पीडा उपजावनार, स्थिरता नाशक, विरोध करावनार, तेमज दया रहित वचनो प्राण जाता पण न बोलवा।” “ज्या धर्मनो नाश थई रह्यो होय, चारित्र्यने नुकसान पहोचतु होय, देसनी स्वतन्त्रता नाश पामती होय, समीचीन सिद्धान्तनो लोप थतो होय, त्या देश-धर्म-तेमज जातिनी उन्नति खातर बगर पूछ्ये पण विद्वानोए बोलवुं जोइए, ते मनये मौन धारण करवुं योग्य न कहेवाय।” “जे बाणीना ध्वजगधी जीवो मोह मुग्ध बनी जाय, सन्मार्ग भूली जाय, साम्प्रदायिकता अने पक्ष-पात आवी जाय, वाडाबंदीमां फसावनारी ते बाणी नही, पण सापणी छे, कारण के तेना ध्वज मात्रधीज प्राणी उत्तम मार्गने छोडी-कुमारें जाय छे।” “मनोहर बाणी जेटलुं मुख आपे छे तेटलुं मुख चदन-चन्द्रमा-चन्द्रमणी-मोती-मालती बगेरे शीतल पदार्थों आपी शक्य नही।” “आग्निधी दग्ध वन क्यारेक पग लीलुं बनी शके छे, पण बाणीरूपी आग्नि पीडित मनुष्य कही पण प्रफुल्ल बनी शक्यो नही।” “जे सत्य-वक्ता छे, तत्त्वना स्वरूपने समजे छे, मद्राचारी छे, तेना चरण स्पर्शधी पृथ्वी पवित्र थने छे, ते लोकोज उत्तम छे, अने जे असत्य वचन बोले छे ते नीच अने शत्रु छे।” “जे नीच पुरुष मनुष्य-

જન્મ પ્રાપ્ત કરીને પણ અસલ થોભે છે, તે સંસાર રૂપી સમરનો પાંચ કેવી રીતે પામી શકે ?” “જેનાં નાક-ચન-નાથ કપાયેલાં હોય, સ્વ રંગતું નામ પણ ન હોય, દરિદ્રી તેમજ રોગી હોય, કુલ્લ-જાતિ અને વર્ણ થી હીન હોય, તો શું થયું ! તેવું તો મૂષણ સલ્લ છે, સલ્લથી પવિત્ર તેમજ મુછી વની ઘટે છે, તેની શોભા મલ્લથી છે.” “જે પુણ્ય અમલ-ચરિત્રાથી મહિન છે, તેનો સાથ પાપ-રૂપી-ચરિત્રાચના ભયથી ધોઈ પણ ધર્મસૂ પુરુષ સ્વપ્નાં પણ કરતો નથી.” “જૂઠાની સંગતિથી સાચો વળ કર્લકિત ધાય છે, જેમ મેલા સૂગદાની સંગતિથી સ્વચ્છ અને તિમેઠ ગમ્માજલ્ને વન દરવું પ્રહાર સહયું વટે.” “પુત્ર-સ્વચ્ચન-છી-ધન તેમજ મિત્રો વિમુચ્ચ અને, શા ચાત્વાં જાય, તેમજ પ્રાગનાથ ધાય છતાં અમલ ન બોલયું જોડા. દલ્લાદિ વચનામૂનોનુચાન વધી જે ધોઈ પાપ રહિય તેમજ ધેષ્ટ ગલ્લ થોભે છે, તે જગન્ પ્રધાન પુણ્ય છે.”

તપમાં ધેષ્ટ તપ વયો ? મલ્લની પેઠે ગર્વ પ્રચારના ઇષ્ટા તિરોધ તપમાં નવ વિધિ મદ્દ-ગુમ્મિયે ગુત્ત એકે મદ્દચર્યં યેષ્ટ છે. સુન્દર શ્રીમોના વનોદર અંગોને મોંડે તેની સાથે રમણ કરવાની જે ઇષ્ટા વિષામાં ડરામ ધાય છે, તેને લાગી દેવી, અપકા વેષ્ટ નામે નો-ચયાવના તીવ્ર ડરવ થી મૈધુન સેચનની જે ઇષ્ટા ડરવ ધાય છે તેનો નાથ ડરવો જ મદ્દવર્નં મલ છે. તેને શાષ્ટ કરવા માટે મનુષ્યો વહે છે કે જે ધર્મ-નુષ્ય ! અનુમન-શાષ્ટ-વરવતવ્ય સ્વ નિજ સ્વરૂપને ઠાંઠીને અતિ સુન્દર શ્રીચનોના ડરવ અરિના મ્પને મનમાં છા માટે વાદ વારે છે, અપકા તેના મોહનો છા માટે વગાય છે.

અદ્દાહચર્યના વોષ-છી સનોગથી મન્નવ ધાય છે, વિન વધે છે, વ્ચન વ્વર ડરવ મર્ડેને ડરીયું વાચ ડરે છે, દિનાદિત્તે મુન્ડવી દે છે, સ્પીર તિ.ગવ વની જાય છે. મૃષ્ટના સંવનમાં વગાઈ વધે છે, તેથી વધેષ્ટા અને વ્વરવો વરા વળ અન્નર નથી. આ વોષો જાષ્ટને ચો સર્વધા ધીતવું વાચ વાચ ન લાગે તો મૃષ્ટે પોતાની વિવાદિત વાતિર્મા મનોવ રમણો, વગ્વનદ આ વ્રીજા થી વળ અનેક પ્રચરની ઇષ્ટાતું મર્ડેન ધાય છે, વ્યું વળ છે કે-સ્વપાત્રિમા મનુષ્ય રહેનાર, અન્વ શ્રી માયની વધારેવ વળ ઇષ્ટા ન વલેના વળ મુરધનસેઠની વેઠે અટુલ પ્રમાવ ડરવ ધાય છે, તો વર્ધ વધે છે મદ્દવર્નં પાલનાર મદ્દવર્નના પ્રમાવની તો વાચ છી ! છડે તેનો પ્રમાવ અવર્નં છે અને મદ્દવર્નનાં ! વર પુણ્ય મહે સુનાં, વેષ્ટવર્નનાં, વલ્લમાં, મને વેષ્ટવે અવલ

बधेलो होय, पण तेने क्षेत्रं पुतळुं गमजीने स्त्रीए जेम सीताजीए रावणने त्यागी वीधो हतो, तेम तेने त्यागी देवो जोइए, जे स्त्रीए मैथुन विकारने जीर्ता लांधा होय ते देवोने पण पूज्य छे अने इच्छनीय छे ।

मैथुन एटले शुं ? मैथुन एटले जोडुं, प्रकृतिमा स्त्री-पुरुषनु जोडुं समजनुं, वनेनो परस्परनो संयोग, अथवा संभोगने माटे जे भाव विशेष थाय छे, अथवा बंने मळीने जे संभोग क्रिया करे छे, तेने मैथुन कहे छे अने तेनेज अग्रज कहे छे, तेमा पण प्रमत्तयोगनो संबंध छे । कारणके तेने लीधे जे कई क्रिया करवामा आवे, पछो मले ते परस्पर बे पुरुष अथवा बे स्त्रीओ मळीने करती होय, अथवा अनङ्ग स्त्रीडा आदि बं न होय, ते सर्व अग्रज छे । जे प्रमत्त दगाने छोडीने क्रिया करे छे, तेने मैथुन कहेवातु नथी, जेमके पिता-भाई विगेटे पुत्री-अथवा ब्हेन आदिने गोदमां लईने प्यार करे छे, ते अग्रज कहेवातुं नथी, कारण के तेमां प्रमत्त-योग नथी । आ प्रमत्तयोगनी ओछा वत्ता अशे पण निष्पत्ति करवामा आवे तो ते ब्रह्मचर्याश्रम कहेवाय छे । जेमके कर्तुं छे के-“माता-ब्हेन-पुत्री समान परछोने जाणे, ने पोतानी विवाहिता स्त्रीमां मन्तोप माने, ते चोथुं अश्रम कहेवाय छे ।” “उत्तम पुरुष परछीने व्याधि समान समजी ने दूरधीज सजी दे छे, कारणके परछी तो सर्व दुःखोनुं पर छे, अने मुखोने नाश करनार प्रलय काठनी आग समान छे ।” “जे स्त्री पोताना पतिने छोडीने परपुरुष साथे रमण करेछे, तेने प्रथम पकिनी निर्लज्ज समजवी जोइए, ज्यारे आ प्रकरना आचरण थी पोतानी स्त्री पर पण विश्वास न रहे तो परस्त्रीनो विश्वास केम राखी शक्य ?” “परछीनु सेवन करनार पुरुषने नरक निगोद मा रचइवानुं रहे छे, तेमां कष्ट मुख तो नथी अ, तेथी मनुष्योए मङ्गलचर्य मननु पालन करयु जोइए ।” “आ व्रतनुं पालन करनार योगीओ परब्रह्म परमात्मानुं ज्ञान पामे तेमज स्व-स्वरूपने अनेद रूपे जाणी शकें छे, तेनो अनुभव करी शकें छे । तेने धीरवीर पुरुषोच धारण करी शकें छे । अरपसत्वकाळा-शीठर-हित-इन्द्रियोना दास-दुर्बळ पुरुषो तो स्वप्नां पण आनुं समाचरण करी शकता नथी, कारणके ब्रह्मचर्य पण महाव्रत छे ।” “त्रये जगतमां ब्रह्मचर्य व्रत प्रशंसनीय छे, जे सेनु निर्मळ भाव पूर्वक पालन करे छे, ते पूज्यना पण पूज्य छे ।

जे ब्रह्मचर्य पालनमा अनुरक्त छे ते दश प्रकरना मैथुननो सर्वथा त्याग करे छे ।

(૧) જેમકે શરીર શણગારવું, (૨) પુષ્ટ પદાર્થનું સેવન કરવું, (૩) માવું, વજાવું, જોવું, સાંભળવું, (૪) સ્ત્રી સમર્થ કરવો, (૫) સ્ત્રી સંબંધી સુંદર વિકરપ કરવા, (૬) સ્ત્રીના અગ વખાંગ જોવા, (૭) તેને જોવાના વિચારો કરવા, (૮) પૂર્વકૃત ભોગોનું સ્મરણ કરવું, (૯) ભવિષ્યમાં ભોગોની વિનિતવણ કરવી, (૧૦) વીર્ય સ્પલન કરવું,

આ દશ મેદ મૈથુનના છે, પ્રહાચારીને માટે તે સર્વથા ત્યાગ્ય છે ।

“જેવી રીતે ક્રિપાક ફલ દેશ્વશા-મુંઘવા માં રમણીય છે, પણ પરિણામે હાલાહલ શેર સમાન છે, તેવીજ રીતે મૈથુન પણ થોડા વયત માટે રમણીય-મુંદર અને મુખદાયક માત્રમ પડે છે, પરન્તુ પરિણામે અત્યંત ભયપ્રદ નીવડે છે ।” “જે પુરુષ કામભોગોથી વિરક્ત બનીને સદા પ્રહાર્ચ્ય પાલે છે, તેણે ભાવશુદ્ધિ માટે દશ પ્રચારના મૈથુનનો છાગ કરવો જોઈએ, કેમ કે આ દોષોના છાગ કર્યા વગર ભાવશુદ્ધિ-નિર્મલતા પતી નથી, ભાવજ કામના વેગને રોકી શકે છે, યજ્ઞું પણ છે કે-

“સર્પ કરહેલ માણસને સાત વેગ હોય છે, પરન્તુ કામ રૂપી સર્પથી ડરાવેલ જીવને દશ મહા અચાલક વેગ હોય છે, તે નીચે મુજબ છે ।

(૧) કામના ઝડીપનથી વિના ઉત્પન્ન થાય છે, કે કામ ભોગની ક્યારે પ્રાપ્તિ થાય, (૨) જોવાની ઇચ્છા ઉત્પન્ન થાય છે, અને નિઃશ્વાસ નૂકે છે (૩) અપતોમ કરે છે, કે સ્ત્રીને જોઈ પણ ન ઠકાઈ । (૪) ઝવર આવે છે, તાપમાન વધે છે, (૫) શરીર ઘસવા લાગે છે, વાહ ઉપડે છે (૬) ભોજનની રુચિ નથી રહેતી, (૭) મહા મૂર્છા ઉત્પન્ન થાય છે, જરા પણ શ્વેત રહેતું નથી, (૮) ઝન્મત્ત બની જાય છે, જેમ તેમ વચવાદ કરે છે । (૯) પ્રાણ ચાલ્યા જવાની શંકા રહે છે । (૧૦) સ્ત્રી પણ ધરે જાય છે ।

કામ વાસનાથી ઘેરાયેલો જીવ યથાર્થ તત્વ વસ્તુ સ્વરૂપ સમગી ઘસતો નથી, જ્યારે ત્યેક વ્યવહારનું જ્ઞાન પણ નાશ પામે છે ત્યારે પરમાર્થનું જ્ઞાન તો વધારી થાય ? વધી વાતોમા તેનું મન અસ્થિર બની જાય છે ।

“જેને કામ રૂપી કટક વાગે છે, તે વેસવામા, મુલામા, ચાલકામા, ફાલામા, ભોજન કરવામા અસ્થિર બની જાય છે ।” “કામ વાસનાવશ્યે પુરુષ વગુર હોવા છતાં મૂર્ચ બની જાય છે, ધમાશીલ ઘ્યાં કોષી બને છે, શર્કીર કચર બને છે, મહાન્ હલકો બને છે, લયથી આઠ્ઠમુ બને છે, અને વિતેન્દ્રિય પ્રદ બને છે ।”

“तेषी मूर्खता कर्मावगार मनुष्यजन्म सार्यक बनाववाने मनुष्ये ब्रह्मचर्यं पालन करवुं जोइए ।

कदाचारं परिणाम-“बेलने नपुसक बनाववानी क्रिया, लंपटोने थती सजा बगेरे जोइने बुद्धिमाने कुन्नीलनो त्याग करीने सदासन्तोषवत अंगीकार करीने परस्त्रीनो त्याग करवो जोइए, मैथुन सेवन किंपाक फळनी पेठे आरम्भमां साहं लागे छे, पण परिणामे दारुण कष्ट आपे छे ।” “मैथुन सेवनधी शरीर कम्प, परसेबो, थारु, सिविलता, चहदर आबवा, तिरस्कार थवो, बलनो क्षय, ज्वरादि रोगो धाय छे ।” “योनिमा असंख्य जीव राक्षसीनी उत्पत्ति धाय छे, अने मैथुन सेवन बखते तेनो नाश धाय छे ।

वात्स्यायननो मत छे के रक्ता सुक्ष्म जीवो पैदा भइ जाय छे, ने संयोग वलते ते मरी जाय छे ।

मैथुन सेवनधी काम उदरनी शान्ति नथी थती-

अभिमां धी होमवाधी जेम ते दान्त थतो नथी, तेमज ली सम्बन्धी वैप-यिक संयोगधी काम उदर शान्त थतो नथी, पण बधे छे । लीए पण पर पुरुषने नाग समान समझीने छेओनो त्याग करवो जोइए। कारणके ऐश्वर्यमां भळे इन्द्र समान होय, सौन्दर्यमां कामदेवनो अवतार होय तो पण जेम सीताए रावणो धाग कयों तेम सभारीओए पर-पुरुषनो त्याग करवो जोइए ।

ब्रह्मचर्यं फळ-ब्रह्मचर्य सचरित्रं मूळ छे, परब्रह्म प्राप्तिनु निमित्त छे, जे ब्रह्मचर्यं पालन करे छे ते पूज्यना पण पूज्य छे । दीर्घ आयुष्य, सुन्दर शरीर, शरीर रचनामां दृढता, शरीर पर बिलक्षण तेज, महान् शक्ति, बल-कीर्ति, संसारमां मान, प्रतिष्ठा, ए सघळं ब्रह्मचर्यधी प्राप्त धाय छे ।

आ रीते सर्वलोकनी उत्तम-रूपसम्पदा बगेरे भेलवीने तेमज धायक इन्द्र-दर्शन-शीलसमन्वित पुरुषोमां शतवशीय अन्तिम जिनवरेंद्र धमप-चन्द्र-महावीर प्रधानतम हता ।

काश्यप-योत्रोष-श्रमण भगवान् महावीर प्रभुनां वर्धमान, विदेहदेव, इन्द्र-पुत्र, काश्यप, वैशालिक, महावीर, सन्मति, वीर, श्रमण नन्दर इत्ये अनेक नाम हतां, ते बधा नामो तेनी अमुक अवस्थाना सूचक छे। एतद्वं भगवान् महावीर स्वामीनुं जीवन सांसारिक तेमज साधक कल्पन्तं इति इति हतुं । वर्धमान, विदेहदिग्गज (महावीर प्रभुनी मानानुं नाम विदेहदेव) इति

ત્રિપાલા માતા વિદેહ કુલમાં જન્મ્યા હતાં, તેથી તેમનું નામ વિદેહદિત્તા પશ્ચુ હતું, માતાના આ નામથી મહાવીર પ્રભુનું માતૃપદનું નામ પણ 'વિદેહદિત્ત' પરી ગયું હતું) જ્ઞાતપુત્ર, કાર્યપ, અને વૈશાલિક એ નામો તેમની સામાજિક અવસ્થા ના સૂચક છે, મહાવીર, સન્મતિ અને ધમણ ભગવાન્ આ ત્રણ નામો તેમને સાધક અવસ્થામાં પોતાના આત્મ-વીર્યાદિ ગુણોથી પ્રાપ્ત કર્યા હતા, વર્ધમાન પિતૃપદનું નામ, અને વિદેહદિત્ત માતૃપદનું નામ હતું । 'જ્ઞાતપુત્ર' એ વંશ પરથી નામ પશ્ચુ । 'કાર્યપ'—ગોપથી નામ પશ્ચુ હતુ । 'વૈશાલિક' જન્મસ્થાનના સમ્બન્ધનું સૂચક છે । 'મહાવીર' આત્મ-વીર્યસૂચક, 'સન્મતિ' આત્મજ્ઞાન સૂચક અને 'ધમણ-ભગવાન્' ધમણ સમ્પ્રદાિના તાર્કાલિક અગ્રેમર અર્થમૂલક છે ।

જ્ઞાતપુત્ર—

ઉપરોક્ત ત્રણ નામોમાંથી ભગવાન્-મહાવીરના 'જ્ઞાતપુત્ર' અથવા 'જ્ઞાતપુત્ર' નામના સમ્બન્ધમાં આપણે વિચાર કરવાનો છે આ જ્ઞાતપુત્ર નામ તેમના વંશનું સૂચક છે । એ વાત જૈનાગમ તેમજ બૌદ્ધાગમમાં અનેક જગ્યાએ મળેલી છે ।

શ્રીઆચાર્ય તેમજ કલ્પસૂત્ર આદિક સૂત્રોમાં તેમની જીવનચરિત્ર અનુસાર ભગવાન્ મહાવીરનો જન્મ 'ધમિય કુંડ' ગામનાં જ્ઞાતવંશીય અને 'કાર્યપગોપ્રાય' સિદ્ધાર્થ રાજાને સ્વા ત્રિપાલા ધમિયાણીથી થયો હતો ।

આ જ્ઞાતપુત્ર તે સમયે પ્રસિદ્ધ કૈશ્યાકુ-ઉપ્ર આદિ ધમિયોના કુટુંબી પેઢે પ્રસિદ્ધ વંશ પણ હતો ।

આ જ્ઞાતપુત્રના ધમિયો પ્રાચ. 'જ્ઞાતુક' નામથી ઓઢરણા, અને તેમના આ 'જ્ઞાતુ' કુટુંબને લંધે તેમના નગરોની બાહર બનાવેલ્ય યંદ=ઉદ્યાનોનાં નામ પણ 'જ્ઞાતુયંદ' પડેલા હતાં, ભગવાન્ મહાવીરે કુંદપ્રાયની નગીક 'જ્ઞાતુયંદ' નામક વાગનાં સીધા ધર્માગર કરી હતી, સાસ્ર-વચનો તો આ વાચતની જુદ પુઠિ કરે છે ।

જિનાગમમાં 'જ્ઞાતપુત્ર' ને મળે 'નાવપુત્ર' અથવા "નાટપુત્ર" તેમજ બુદ્ધાગમમાં "નાથપુત્ર" અથવા "નાટપુત્ર" શબ્દ પ્રયોગ કરવામાં આવ્યો છે । તે ભગવાન્ મહાવીરના જ્ઞાતપુત્રનું અર્થ સૂચક નામ છે । તે માનવાનાં અપગને ઉપરોક્ત કરણો છે । "નાથપુત્ર" અથવા "નાટપુત્ર" એ મધે નમો સંસ્કૃત માપાનાં "નાટપુત્ર" શબ્દના પ્રાકૃત રૂપ છે । અને "નાથપુત્ર" અથવા "નાટપુત્ર" એ બંને નમો પાત્રી રૂપ છે । પ્રાકૃત માં 'ત' નો 'ધ' અને પાત્રી નામમાં 'ત' નો 'ધ' અને 'ય' નો 'ટ' પણ સ્વાચારણરીતે થાય છે । દિગમ્બર સૂત્રોમાં જ્ઞાતપુત્રનો

“नायपुत्र” शब्द प्रयोग जोवामां आवे छे, आ रीते भापा अने भावनी दृष्टि ए जोतां पण आ बधा अलग अलग नामो मूळ “ज्ञानपुत्र” शब्दमां मळी जाय छे । आ बधा नामो “ज्ञानपुत्र” शब्दधी कनेला छे ते निःशंक छे । प्राचीन कालमा वंशना नामधी परिचय आपवानी प्रथा होवने लीधे भगवान् महावीरनो जीवन विषयक परिचय श्रीजिनागमोमां तेमज बौद्धगमोमां “नातपुत्र” अथवा “नाथपुत्र” शब्दधी आपवामां आव्यो छे । तेमज भगवान् महावीरना शिष्योनो पण परिचय “नातपुत्रीय” अथवा “नायपुत्रीय” ए शब्दधी विशेष करीने आपवामां आव्यो छे,

श्रीजिनागमना १२ अगोमा छहुं अग “णवधम्मकहाओ” छे । तेमां आवेल “णव” शब्द पण भगवान् महावीरना वंशवाचक ‘नायपुत्र’ नी साथे गढ संबन्ध राखे छे । प्राकृतमां ‘न’ नो ‘ण’ घाय छे । आ अंगनो गुजराती अनुवाद “भगवान् महावीरनी धर्मकथाओ” एम करवामा आव्यो छे । आ अंगनो परिचय धीसमवायागसूत्रमा अपेल छे । तेमां बताव्यु छे के “आ अगमा ज्ञाता-ओना नगर-उद्यान-माता पिता बगरेनो परिचय आपवामा आवसो ।” टीकाकारे ज्ञाताओनो उदाहरणभूत अर्थ कर्यो छे । परन्तु ज्ञाता एखे “ज्ञानवंशीय” क्षत्रिय ए अर्थ पूर्वापर विचारतां निश्चित धाय छे ।

भगवान् महावीरनो परिचय श्रीजिनागमोमां ‘नायपुत्र’=ज्ञानपुत्र शिष्यानां घणां नामोधी आपवामां आव्यो छे, तो पण त्यां ‘नायपुत्र’ शब्दनी विशेष प्रधानता छे । घणां प्राचीन सूत्रोमा भगवान् महावीर प्रभुनां गुणप्राम ‘नायपुत्र’ शब्दधी करवामा आव्या छे जैसकेः—

“जे भगवान् “ज्ञानपुत्रना” वचनो पर पूर्ण विश्वास राखे छे, ते कोई वस्तुतुं समझ करत नधी” १८

“प्राणीमात्रनी रक्षा करवावाळा “ज्ञानपुत्र” महावीर प्रभुए वल्ल पात्रने परिग्रह नधी कखो, पण मूर्च्छा वा ममत्वभाषने ज परिग्रह कखो छे, एम महर्षि-ओए कहुं छे ।” २१

[दशर्वकालिक-अ० ६]

“ज्ञानपुत्र” महावीर प्रभुए कहुं छे के-मर्यादाभा रहेनार गधु आ दोपने सारी रीते जोई ने जरा पण कपट पूर्वक जुठ न थोळे ”

“आ दोपने जोइने निग्रन्ध रात्रि भोजननो त्याग करे, कारणके “ज्ञान-पुत्रे” भाना प्रत्यक्ष शोष बताव्या छे ।”

(दशर्वकालिक० अ० ६)

अनुत्तर ज्ञानी अने अनुत्तर दर्शन युक्त अर्हन् प्रभु ‘ज्ञानपुत्र’ महावीर प्रभु विशाला नगरीमा आ रीते व्याख्यान करता हता ।

આ પ્રમાણે ઉપરાન્ત આ અધ્યાયમાં ૨-૧૪-૨૧-૨૩-૨૪ મી પાયાઓના પ્રભુનો સ્તુતિ "જ્ઞાતપુત્ર" શબ્દથી કરવામાં આવી છે । આ રીતે ધ્રીઝિનાગમના પ્રમાણભૂત ગ્રન્થોમાં 'નાથપુત્ર' અથવા 'નાટપુત્ર' શબ્દનો પ્રયોગ ભગવાન્ મહાવીરના વંશવાચી નામ તરીકે અનેક સ્થલે કરવામાં આવ્યો છે, અને એ વધાનો ઉલ્લેખ કરવાની અહીં જરા પણ જરૂર નથી, હેમાચાર્યે પરિશિષ્ટપર્વમાં જે 'જ્ઞાતનન્દન' ભગવાન્ મહાવીરપ્રભુને વંદન કરેલ છે તેનોપણ ઉલ્લેખ કરીશું, તેમણે મંગલાધરણમાં વર્ણુ છે કે:-

"જે વ્રુણાણ વૃક્ષના શાગ છે, શ્રુતિરૂપ ગંધના હિમાલય છે, વિશ્વક્રમઢને સૂર્યરૂપ છે, તે ભગવાન્ "જ્ઞાતનન્દન" મહાવીરને હું નમસ્કર કરું છું ।"

બૌદ્ધ પિટકોમાં ભગવાન્ મહાવીરનો તેમના શિષ્યોનો તેમજ તેમના સિદ્ધાત્તોનો પરિચય તેમના વંશવાચી 'નાથપુત્ર' અથવા 'નાટપુત્ર' શબ્દથી આપવામાં આવ્યો છે, તેમના ધમ્મ નિગ્ગ્યો માટે 'નાથપુત્રીય' શબ્દનો ઉપયોગ કરવામાં આવ્યો છે, આ નામ સિવાય ભગવાન્ મહાવીર પ્રભુનો જીવન પરિચય આપતાં ષીજા કોઈ શબ્દનો પ્રયોગ કરેલો જોવામાં આવતો નથી, માત્ર 'નાથપુત્ર' ની સાથે 'નિગ્ગઠ' શબ્દનો પ્રયોગ કરેલો હોય છે, પણ તે શબ્દનો તેની સાથુ અવસ્થાનો સૂચક છે । તે 'નાથપુત્ર' શબ્દનું વિશેષણ છે ।

આથી પ્રાચીન કાલમાં વંશવાચક નામથી પરિચય આપવાની પ્રથા હોવાનુ સ્પષ્ટ જણાય છે, મહાત્મા-બુદ્ધ પણ તેમનાં મૂલ નામ સિદ્ધાર્થ કરતાં તેમના ગોત્ર સૂચક નામ 'ગૌતમ' અને વંશ સૂચક નામ 'શક્યપુત્ર'થી અધિક પ્રસિદ્ધ છે ।

ભગવાન્ મહાવીર પ્રભુનો 'જ્ઞાતવંશ' હતો, અને એ 'જ્ઞાતવંશ' થી તેનટું વંશસૂચક નામ 'નાથપુત્ર' પ્રસિદ્ધ છે, જે આપણે ઉપર જોઈ ગયા । પરન્તુ આગલે ચાલતાં તેનો કેટલો વિસ્તાર તેમજ વિવાદ થયો, તેનો ઇતિહાસ જાણવામાં આવતો નથી । એ ઇતિહાસની શોધ અત્યન્ત આવશ્યક છે । તે ઇતિહાસ ની શોધ માટે આપણી પાસે બૌદ્ધ સાહિત્ય એક અનન્ય સાધન રૂપ છે ।

ભગવાન્ મહાવીર તેમજ મહાત્મા-બુદ્ધ એ બંને સમકાલીન-ધર્મગ્રાન્થિયરથી થઈ ગયા, વઢી તેઓ બંને એકજ દેશના નજીક નજીક આવેલ પ્રાન્તમાં રહેનારા રાજવંશી પુષ્પ હતુ, આ વાકતો નિચારતાં મહાત્મા બુદ્ધને એક પ્રાન્તની ષીજા પ્રાન્તમાં વિહાર કરતાં ભગવાન્ મહાવીરના વંશ સમ્બન્ધી લોકોની સાથે વાર્તાલાપ કરવાનો પ્રસંગ પ્રાપ્ત થયો હોય એ તદ્દન સામાયિક છે ।

बुद्धपिटकना 'महावग्ग' नामे सूत्रमां महात्मा-बुद्ध, भगवान् महावीरनी जन्मभूमि "कुंड ग्राम" मां तेमज तेनी नवीक 'ज्ञात्ओ' ना भामोमां अने वैशाली नगरीमां जवानो तेमज त्यां 'निग्रन्थ' धावक सिंह सेनापतिनी साथे वातचीत करवानो उल्लेख आवे छे, ते उल्लेख ना आधारे भगवान् महावीर प्रभुना 'ज्ञात्वंश' अने तेमनी जन्मभूमि सम्बन्धी आपणने घणुं जाणवानुं मळे छे, ते करणधी ते उल्लेख आ नीचे उतारवामां आव्यो छे ।

ज्यां कोटिग्राम [देतो विनयपिटक महावग्ग पातुं २४१ कोटिग्राम] हतुं त्यां भगवान् गया, कोटिग्राममां भगवान् बुद्ध विहार करता हता, अम्बापाली गम्बिकाए साभल्युं के भगवान् अही आवी गया छे, तंधी खेणे सुन्दर रथ जोडाव्यो, ते तेमां बेसीने सुन्दर रथोनी साथे वैशालीधी नीरुलीने 'कोटिग्राम' तरफ चाली ।

त्यारे ते लिच्छवी ज्यां कोटिग्राम हतुं त्यां गया ।

कोटिग्राममां इच्छप्रनुसार विहार करी ज्यां वैशालीतुं महावन हतुं त्यां गया, त्यां भगवान् बुद्ध वैशाली महावननी 'कूटागर शाल' मां विहार करता हता ।

ते बखते घणा प्रतिष्ठित लिच्छवि 'संस्थागर' [प्रजातन्त्र-सभागृह] मां बेट्य हता, तेओ बधा बुद्धनी प्रशंसा करता हता, धर्म अने सचना गुणोतुं वर्णन करता हता, ते बखते निग्रन्थोना धावक (जैन-धावक) सिंह सेनापति ते सभामां बैठ हता ।
 त्यारे सिंह सेनापति ज्यां निग्रन्थ (निगंठ-नाथ पुत्र) ज्ञातपुत्र हता त्या गया, जइने 'निगंठनाथपुत्र' ने कसुं के हे पूज्य । इ..... । सिंह ! तारुं घर त्वंथा समयधी निग्रन्थो माटे विसामारूप छे, तें समये घणा 'निगंथ' [जैन साधु] वैशालीमा एक.....त्ववा करलधी आ आयुष्मान् (निगंठ) बुद्ध..... छे ।"

"एक समये भगवान् बुद्ध नादिवाना 'गिजस्रवसव' मां विहार करता हता [मज्झिमनिकाय पातुं १२७]

'विनयपिटक' 'महावग्ग' तथा मज्झिमनिकायमां अवैला आ उल्लेखोधी आपणने सफ सफ मालूम पड़े छे के महात्मा बुद्ध-महावीर स्वामीनी जन्मभूमि कुंडग्राम (पाली भाषामां कोटिग्राम) गया हता, अने कुंडग्रामनी पासेनी वैशाली वीट. १२

નગરીમાં થી ત્યા મહાત્મા-બુદ્ધને અવાપાલી નામે વેદ્યા અને સિચ્છવિ ધત્રિય મઠવા આવ્યા હતા, કોટિગ્રામથી મહાત્મા બુદ્ધ જ્યાં 'નાતિવ' જ્ઞાતૃક લોક રહેતા હતા, ત્યાં ગયા હતા, અને ત્યાં 'નાતિવ' (જ્ઞાતૃક) લોકોના ઈંટોના ઘરમાં હતા । તે સ્થાનની પાસેજ 'અમ્બાપાલી' વન નામે ઉદ્યાન હતું જે અમ્બાપાલીએ બુદ્ધ અને નેમના સપને સમર્પણ કરેલ હતું । ત્યાંથી મહાત્મા બુદ્ધ વૈશાલી ગયા અને ત્યાં સિંહ નામે સેનાપતિ કે જે નિમ્નચ્યોનો ધાવક હતો, તેને પોતાનો અનુયાયી બનાવ્યો । સિંહ સેનાપતિ મહાત્મા બુદ્ધને મઠવા જતાં પહેલાં 'નિમ્નચ' જ્ઞાતૃપુત્ર મહાવીર પ્રભુની પાસે અનુજ્ઞા લેવા આવ્યો હતો । ત્યારે ભગવાન્ મહાવીરે સિંહ સેનાપતિને "તું કિયાવારી હોવા છતાં અકિયાવારી ધમણ ગૌતમને મઠવાં ધા માટે જાય છે ?" એમ પૂછીને ન જવાતું કહ્યું હતું । પણ તે પોતાની ઇચ્છાનુસાર ધમણ ગૌતમની પાસે ગયો અને ત્યાં તે ધમણ ગૌતમ બુદ્ધનો અનુયાયી બન્યો ।

હવે આ ઉલ્લેખથી આપણા ચિત્તને પુષ્ટ કરનારી ચાર વાત-વિશેષ પ્રકારે જાણવાની મઠે છે ।

(૧) કોટિગ્રામ [કોટિગ્રામ] [કોટિગ્રામ] નું નામ 'કોટિ-ગ્રામ' અને ભગવાન્ મહાવીરના 'જ્ઞાતૃપુત્ર' ને વડે 'નાતિપુત્ર' લખેલ છે । જુઓ 'ભારતકા પ્રાચીન રાજવંશ' પાનું ૪૦ લેખક વિદ્યેશ્વરનાથ યજ્ઞ) જૈનોનું 'કુન્ડગ્રામ' જણાય છે, આ બંને નામોમાં શબ્દિક સરસાપણ છે । તે ઉપરાંત તે ગામની નજીક જ્ઞાતૃક=જ્ઞાતૃવંશના ધત્રિયોનું નિવાસસ્થાન અને વૈશાલી નગરીનું ગજિકરણ હોવાને લીધે 'કુન્ડગ્રામ' અને 'કોટિગ્રામ' બંને એકજ હોવાનું નિશ્ચિત ધાય છે ।

(૨) કોટિગ્રામની પાસે જ્ઞાતૃઓનું નિવાસસ્થાન, ભગવાન્ મહાવીરનો વંશ જ્ઞાતૃવંશ હતો, તે વહી વધુ પુષ્ટિ કરે છે । તેમજ કુન્ડગ્રામની આસપાસ જ્ઞાતૃક=જ્ઞાતૃવંશના ધત્રિયોના ઘંઠ=ઉદ્યાન હતા । અને ત્યાં જ્ઞાતૃવંશી ધત્રિયો રહેતા હતા, તે આ વાતને વધુ દઢ કરે છે । આ 'જ્ઞાતૃક' નો ઉલ્લેખ ૨ વિધારનો નિર્દેશ કરે છે કે આ જ્ઞાતૃક ભગવાન્ મહાવીરની પત્ન્ય-નાતિવાલા જ્ઞાતૃધત્રિય હશે ।

(૩) 'જ્ઞાતૃ' જાતિ 'સિચ્છવિ' ઓની એક શાખા હતી [પ્રસિદ્ધ જૈન તીર્થંકર મહાવીરની માતા પણ 'સિચ્છવિ' વંશનીજ હતી, જુઓ 'ભારતકા પ્રાચીન રાજવંશ' પાનું ૨૭૮] આ વાતની પુષ્ટિ 'વૈશાલીના સિચ્છવિ ધત્રિય મહાત્મા બુદ્ધને મઠવા આવ્યા હતા' તે ઉલ્લેખથી મઠે છે । ભગવાન્ મહાવીરની માતા પણ સિચ્છવિ વંશની હતી, અને સિંહ સેનાપતિ કે જે ભગવાન્ મહાવીરનો ધાવક

हतो, ते पण लिच्छवि वंशनोज हतो, आ बने वातो ज्ञातृजाति लिच्छविओनी एक शाखा हती, एम सावित करे छे ।

(४) कुडग्रामनी पासे विदेहनी राजधानी वैशाली नगरी हती, कुडग्राम धा नगरीना एक परा जेवी हती । भगवान् महावीरनुं 'वैशालिक' नाम पण धा नगरीनां नामधी पञ्चुं हतुं, विशाल्य नगरीमां सिंह सेनापति नामे जे निमन्थ धावक लिच्छवि रहतो हतो, ते भगवान् महावीरनी सलाह न मानीने, महात्मा बुद्धनी पासे गयो हतो, आधी स्पष्ट जणाय छे के महात्मा बुद्ध अने भगवान् महावीर बनें एकी बखते वैशालीमां हता ।

ऊपरना उल्लेखमां जे 'जातिका' शब्द लखेले छे, ते शब्दनुं मूल पर्णा-ओए 'नादिका' कहेलें छे, अने तेनो अर्थ 'ते नामना जलशयपर बसेलें एक गाम एवो करे छे, पण तेमां तप्य नधी, हर्मन जेकोषी [जुओ हर्मन जेकोषी कृत Sacred Books The East नाये ग्रन्थमाळामां प्रकाशित 'आचारग अने कल्पसूत्र' नामे जैन सूत्रोना अनुवादनी प्रस्तावना, पाठ १०] मूल शब्द 'जातिका' ज छे, अने ते ज्ञातृवंशना इतिथोवो वाचक छे तेम समर्थन करे छे ।

आ 'जातिका' शब्द पर त्रिपिटकआचार्य धीयुत राहुल सांकृत्यामने विशेष प्रकाश पाव्यो छे, तेमणे पोताना 'बुद्धचर्या'* नामे हिन्दी पुस्तकमां 'नादिका'-नो मूल शब्द 'नादिका=ज्ञातृका' बतावेल छे, अने 'ज्ञातृका' शब्द ज्ञातृवंशना

* ते बखते घणी मोटी निमन्थ परिषद् (जैन साधुओनी सभा) साये निमन्थ 'नाटपुस्त' (महावीर) नाकंदामां निवास करता हता ।

१ नाटपुस्त=ज्ञातृपुत्र, ज्ञातृ लिच्छविओनी एक शाखा हती, के जे वैशालीनी आसपास रहेती हती, ज्ञातृभाषीज वर्तमान 'जयरिया' शब्द बन्यो छे, महावीर तेमज जयरिया ए बनेनुं योत्र कदशप छे, आजे पण जयरिय, भूमिहार ब्राह्मण आ प्रदेशमां मोटी संख्यामां छे, तेमनुं निवास रती परगना, पण ज्ञातृ-नक्षी-रक्षी-रक्षी थी ज बनेलें छे ।

१११ में एने निमन्थ सूत्रो पण उल्लेख कयो छे के जे सं० नि ४०-१-१८ थी उद्धृत करवामां आव्यो छे ।

શત્રિયોનો સૂચક છે, એમ સપ્રમાણ બતાવ્યું છે, આગળ કુપર વઢી તેઓ એમ પણ બતાવે છે કે 'જ્ઞાતૃજાતિ' ઠિચ્છવિભોની શાસ્ત્રા હતી । અને વૈશાલીની આનુ-
વાજુમા રહેતી હતી, આ જ્ઞાતૃજાતિ આવે પણ વૈશાલી નગરી [જિલ્લા મુજપ્પર-
પુરની અંદર વસાડની પાસે છે] ની આસપાસ જયરિયા નામે જાતિ વસે છે, આ
જયરિયા શબ્દ માયા દષ્ટિએ પણ જ્ઞાતૃશબ્દની સાથે ગાઢ સંબંધ ધરાવે છે ।

જયરિયા શબ્દ 'જ્ઞાતૃ' શબ્દનો અપભ્રંશ જણાય છે, જ્ઞાતૃમાંથી 'જયરિયા'
શબ્દ કેવી રીતે મળવા પામ્યો તે સંબંધમાં માયા દષ્ટિએ ઉક્ત રાહુલનીએ નીચે
મુજબ વિચાર કર્યો છે ।

જ્ઞાતૃ=નાતિ, જ્ઞાતૃ=જ્ઞાતર-જાતર-જંતરિયા-જયરિયા જૈયરિયાના ગામમાં
'નાદિકા' = જ્ઞાતૃકા = નતિકા-લતિકા-રતિકા-રતી જે નામથી વર્તમાન રતી પર-
ગણા [જિ. મુજપ્પરપુર] છે । જુલ્લામાં પાનું ૫૧૮ ॥

આ રીતે 'જયરિયા' શબ્દ 'જ્ઞાતૃ' નો અપભ્રંશ છે । રાહુલની આ રતી
પરગણાનું મૂળ નામ પોતાના ઉપરોક્ત ડોહામાં આવેલા 'નાદિકા' શબ્દથી
ઉત્પન્ન થયેલું બતાવે છે ।

આ પ્રકારે 'જયરિયા' અને તેમનું સ્થાન રતી એ બંને શબ્દ જ્ઞાતૃ શબ્દની
સાથે ગાઢ સંબંધ ધરાવે છે, અને આ સંબંધથી જયરિયા જ્ઞાતૃક=જ્ઞાતૃવંશીજ છે,
અને તેમનું પ્રાચીન નિવાસસ્થાન કે જે નાદિકા અથવા નાટિકા નામથી ઓઠ-
ખાય છે તે વર્તમાન રતી પરગણું છે, એવો રાહુલનીનો દૃઢ અભિપ્રાય છે ।
કલ્પે તેમના આ અભિપ્રાયમાં ધીરવીવાત એ પણ છે કે આ 'જયરિયાનું' મૂળ
ગોત્ર કાશ્યપ છે, તે કાશ્યપ ગોત્ર મગવાન્ મહાવીર અને તેમના જ્ઞાતૃવંશી
શત્રિયોનું પણ હતું ।

આ જયરિયા=જ્ઞાતૃ વંશી શત્રિયોના સંબંધમાં ધીરાહુલનો બતાવે છે કે
આ 'જયરિયા' લોકો વર્તમાનમાં પોતાને ત્રાહણ કહેવડાવે છે, તેઓ દાન ક્રેતા
નથી, [પંજાબમાં જમના કિનારે વસનારી એક જાતિ રહે છે તે પણ દાન નથી
કેતી તે દેશમાં તેમને 'તયા' કહે છે, સંભવ છે કે તે શબ્દ સ્વામીનો અપભ્રંશ
હોય, પણ તેઓના ગોત્રો મોઢ ત્રાહણોથી મલ્લ આવે છે] અહીં તો જયરિયા
જાતિના લોકોને મૂમિહાર ત્રાહણ કહેવામાં આવે છે । પરન્તુ રીજા લોકો તેમને
ત્રાહણ માનતા નથી । તેથી સ્પષ્ટ માન્ય પડે છે કે વાલ્યવમાં તેઓ શત્રિઓજ

छे । आनुं बीजुं कारण ए पण छे के धा 'जथरिया' नाम 'सिद्धान्त' बाळा छे, के जे क्षत्रियोना नामनी माये आज काल पाछळ उगाडवामां आवे छे, बळी तेमना नामने छेडे टाकोर शब्द पण जोडवामां आवे छे, ए पण क्षत्रिय सूचक ज छे, आ वंशमां हालमां पण घणा जमीनदार तथा राजाओ छे, दरभंगा नरेश आ जातिना छे, कोई दरभंगाना प्रथम राजा रघुनन्दनने आ वंशमांज समाधिष्ट करे छे अने वर्तमान दर्भंगा नरेशने धोत्रीय ब्राह्मण माने छे ।

बौद्ध साहित्यना उल्लेखधी तेमज राहुलजीना कथनधी आटलुं अवश्य मानयुं जोइए के भगवान् महावीरनो वंश ज्ञातृवंश हनो, अने ते ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय 'कुंडग्राम' नी नजीक रहेता हता, बळी आ ज्ञातृवंशीय क्षत्रियोना गाममां-महान्मा बुद्ध आध्या हता, वर्तमानमां आ ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय जथरियाना नामधी प्रसिद्ध छे, अने ते घणे भागे बिहार प्रान्तना मुजफ्फरपुर जिल्लाना रसी नामे परगणामां रहे छे । बळी ते जथरिया पोताना नामने छेडे सिंह तेमज टाकोर शब्दनो उपयोग पण करे ॥ । अने वदयप गोत्र होवाने छीधे ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय होवाने संभव छे, पण आजकल ए लोको पोताने भूमिहार ब्राह्मण कहे छे । आमां केटले अरो तथ्य छे, सेनी शोध करवानी अत्यन्त आवश्यकता छे, आ सत्यशोधधी भगवान् महावीर प्रभुना ज्ञातृवंश तेमज तेमना जीवन सम्बन्धमां अज्ञानान्धाकार जे आपणी आजु धाजु फेलाई गयो छे, ते दूर थई जसे ।

मूल

ठिईण सेट्टा लवसत्तमा वा,
सभा सुहम्माव सभाण सेट्टा ।
निवाण सेट्टा जह सबधम्मा,
ण णायपुत्ता परमत्थि नाणी ॥ २४ ॥

संस्कृतच्छाया

स्थितीनां (स्थितिमतां) श्रेष्ठा लवसत्तमा वा,
सभा सुधर्मा वा सभानां श्रेष्ठा ।
निर्व्वाणश्रेष्ठा यथा सार्वधर्मा,
न ज्ञातृपुत्रात्परमस्ति द्वानी ॥ २४ ॥

सं० टीका—स्थितिमतां सुखोपभोक्तृणां वा जीवानां चोद्धानां देवानामिति, तन्मध्ये यथा लवसत्तमा पञ्चानुत्तरजास्तदुत्पन्ना देवाः सर्वोत्कृष्टस्थितिवर्तिनः प्रधानाः, यदि वा तेषां समस्तवायुष्कमभविष्यत्तदा सिद्धिगमनमभविष्यदिति चापि । अतस्तेऽभिधीयन्ते कथ्यन्ते लवसत्तमाः श्रेष्ठतमाः । समानां परिपदां मध्ये यथा सौधर्मा “स्यात्सुधर्मा देवसभेत्यमरः” परिपच्छ्रेष्ठा “सुधर्मा तु समा मता इत्यभिधानप्यदीपिका ।” बहुभिः क्रीडास्थानैः सम्यजनगोष्ठीभिरुपेतत्वात्तथा । यथा सर्वेऽपि धर्मा निर्घाणफलं दर्शयन्ति वा सर्वेभ्यो हितं सार्धमर्हद्दर्शनं-सर्वेषां जीवानां हितकर्ता उत नाहितकारकोऽतः सोर्हत्प्रणीतधर्मो निर्घाणप्रदाने श्रेष्ठ इति भावः । यत् एवं ज्ञातृपुत्रात्सर्वज्ञाच्छ्रीमहावीरात्सर्वप्रकाशात् परं प्रधानमन्यच्च विज्ञानं नास्त्येव सर्वथा भगवानपरज्ञानिभ्योऽधिको ज्ञानीति भावः ॥ २४ ॥

अन्यथार्थ—[जह] जैसे [ठिड़ण] आतुष्मानोमे [लवसत्तमा] पांच अनुत्तर विमानोंमें निवास करनेवाले देव [सेठ्ठा] श्रेष्ठ होते हैं, [सभाग] सब सभाओमें [सुधर्मा] सौधर्म-इन्द्रकी [सभा] सभा [सेठ्ठा] श्रेष्ठ है, [सुधर्मा] संसारके सब धर्मोंमें [निष्वाकसेठ्ठा] मोक्ष धर्म प्रधान है, किन्तु [णायपुत्ता] ज्ञात-पुत्र-महावीरसे [परमं] बढकर [णाणी] ज्ञानी कोई भी [न] नहीं [अत्थि] है ॥ २४ ॥

भावार्थ—उत्कृष्ट स्थितिमें सर्वार्थ-सिद्धिके देव प्रधान हैं, क्योंकि मुख-पूर्वक रहते हुए इतना बड़ा आयु पांचवें अनुत्तर विमानके देवोंके अतिरिक्त अन्य किसीकी नहीं है, उनके चराचर मुख भी किसी दूसरेको नहीं है, तथा जिस प्रकार सौधर्म-इन्द्रकी सभा अन्य सभाओंसे सुन्दर है, और सब आस्तिक परलोक-स्वर्ग-नरक-आत्मा आदि पदार्थों को माननेवालोंमें धर्मका फल एक मुक्ति ही है, क्योंकि सिष्यामार्गकी पुष्टि-करनेवाले भी मोक्षको स्वयं प्रधान मानते हैं, उसी भांति भगवान् भी समस्त ज्ञानिओंमें परमोत्कृष्ट ज्ञानी थे, ॥ २४ ॥

भाषा-टीका—अधिक आयुवाले सुखी जीवोंमें लवसत्तम अर्थात् पाच अनुत्तर विमानमें उत्पन्न देवोंका आयु सबसे अधिक श्रेष्ठ और सुखी है। इन्हें लवसत्तम इस लिए कहते हैं कि यदि इनका आयु सात लव अधिक होता तो इन्हें मोक्ष हो जाता। सभाओंमें सुधर्मा अर्थात् शक्रेन्द्रकी सभा सर्व श्रेष्ठ है, क्योंकि वहा सभ्यपुरुषोंकी गोठी अधिक पाई जाती है। सारे धर्मोंका निबोध सबने मोक्ष बताया है। अर्थात् धर्मका अन्तिम परिणाम श्रेष्ठ निर्वाण माना है। या जो सबके लिए हितकर हो उसको सर्व कहते हैं। वह अर्हत् होता है। उसका कहा हुआ धर्म श्रेष्ठ और निर्वाण प्रद है। इसी तरह ज्ञातपुत्र महावीर प्रभुसे बढ़कर सर्वज्ञ-ज्ञानी कोई नहीं है ॥ २४ ॥

गुजराती अनुवाद—अधिक आयुष्यवाला सुखी जीवोमा लवसत्तम अर्थात् पाच अनुत्तर विमानवासी देवोंनुं आयुष्य सर्वेशी अधिक श्रेष्ठ अने सुखी छे, [तेमनुं आयुष्य जो सात लव बधारे होत तो तेओ मोक्षे जात, ते कारणे तेमने लवसत्तम कहे छे] सभामां सुधर्मा शक्रेन्द्रनी सभा सर्व श्रेष्ठ ॥ कारणे कं त्या सभ्यपुरुषोनी गोठी अधिक प्रमाणमां धाय छे। बधा धर्मोनी सार मोक्ष छे, अर्थात् धर्मनुं अन्तिम परिणाम श्रेष्ठ निर्वाण मनाय छे, जे बधाने माटे हित कर होय तेने सर्व कहे छे, ते 'अर्हत्' होय छे। तेमणे कहेलो धर्म श्रेष्ठ निर्वाण प्रद छे। आ प्रकारे 'ज्ञातपुत्र' महावीर प्रभुशी अधिक सर्वज्ञ कोई नहीं ॥२४॥

मूल

पुढोयमे धुणइ विगयगेही,
न सण्णिहिं कुषइ आसुपन्ने ।
तरिऊं समुहं च महाभवोषं,
अभयं करे वीर अणंतचक्खु ॥ २५ ॥

संस्कृतच्छाया

पृथ्व्युपमो धुनोति विगतगृद्धिनं सर्घिधिं करोति आशुप्रसूः ।
तरित्वा समुद्रमिव महाभवोषमभयं करो वीरोऽनन्तचक्षुः ॥ २५ ॥

सं० टीका—पुनश्च स भगवान् यथा पृथ्वी सकलाधारा वर्तते सर्वान् त्रसस्वावरान् धारयति सा, तथैव सर्वसत्त्वानामभयप्रदानतः

सदुपदेशदानाद्वा महावीरः सत्त्वाधार इति, अथवा पृथ्वी सर्वसहा, एवं भगवानपि परिपहोपसर्गान् सम्यक् सहते, कर्मरजांसि धुनोति दूरीकरोतीति भावः, अष्टविधं कर्मापनयति वेति शेषः । तथा विगता प्रणष्टा सवाखाभ्यन्तरेषु वस्तुषु गृद्धिलिप्सा वा गार्ध्वं, तृप्या भरमभिलाषो यस्य स विगतगृद्धिः । तथा सन्निधानं सन्निधिः स च द्रव्यसन्निधिः संचयः । धनधान्यद्विपदचतुष्पदरूपो द्रव्यसन्निधिः, भावसन्निधिस्तु कपायविपयादयो वा, सामान्येन कपायास्तमुभयरूपमपि सन्निधिमध्येन्द्रियजन्य विषयं तत्र करोतीति भावः । “सन्निधाने,=अन्तिके, इन्द्रियगोचरे, सन्निधिरिति शब्दार्थचिन्तामणिः” । “सन्निधिः सन्निधानेऽपि पुमानिन्द्रियगोचर इति मेदिनी” । “पञ्चदशे सन्निधाने च, सन्निधि परिकित्तितो, इत्यभिधानप्पदीपिका” । भगवान्न करोतीन्द्रियगोचरं विषयं प्रगटं प्रत्युत नाशयतीति भावः । वीरस्तथैवाशुप्रज्ञः सर्वत्र सदोपयोगान्न छद्मस्थवन्मनसा पर्यालोच्य पदार्थपरिच्छिन्नं विधत्ते करोति । छाद्यते स्वात्मरूपमनेनेति छद्म, तन्मध्ये तिष्ठतीति छद्मस्यो हि स केवलज्ञानरहितो भवति । परन्तु भगवान् सर्वज्ञः । स एवंभूतः समुद्रपारमिव महाभवीषं संसारसमुद्रं समुचीर्य तीर्त्वा, बहुदुःसाकुलं चातुरगतिकं संसारसागरं तीर्णः सर्वोत्तमं निर्वाणमासादितवान् । अभयं प्राणिनां प्राणरक्षानुकूलं व्यापारं स्वतः परतश्च सदुपदेशदानात्करोतीत्यभयं करश्च, भयोपपदात्करोतेः भिषर्तिभयेषु कृञ् इति ‘स्व’ प्रत्यये रिक्त्वात् ‘अरुद्धिपदजन्तस्य चेति भुमागमः ।’ तथाऽष्टविधकर्मविशेषेणेरयति, प्रेरयति, कम्पयति, दूरीकरोतीति वीरः । तथा अनन्तमपर्यवसानं-नित्यं-ध्रुवं ज्ञेयानन्तत्वात् वाऽनन्तं चक्षुरिव चक्षुः केवलज्ञानं यस्य स तथेति ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ—[वीर] भगवान् महावीर [पुढोक्ते] पृथ्वीकी तरह सबके आधारभूत अथवा पृथिवीकी सहस्र परिपह-उपसर्ग आदि सहनेवाले [धुणति] आठ कर्मोंकी मूल प्रकृतिओंको और उत्तर प्रकृतिओंको नष्ट करते हैं, [विगय-गैहि] अभिलाषा रहित तथा जो [सण्णिहिं] द्रव्य आदिका संवय [न] नहीं [कुब्बति] करते, [आमुपजे] और जिनका ज्ञान सदा शीघ्र उपयोगयुक्त है, [समुदं] समुद्रकी [व] भांति [महाभवोधं] पर्यायोंके समूहरूप अनन्त संसारको [तरिउं] पार होकर [अभयंकरे] अपने और औरोंके द्वारा जीवोंकी रक्षा करनेवाले और [अणन्तचवत्तु] अनन्त-ज्ञानयुक्त थे ॥ २५ ॥

भाषार्थ—संसारके प्राणी पृथ्वीपर सब प्रकारके कर्ष्य करते हैं, किन्तु पृथ्वी किसीपर अप्रसन्न नहीं होती, प्रत्युत सब कुछ सहती है, इसी प्रकार भगवान् महावीर भी परिपह और उपसर्ग आदि सब कुछ सहते थे, न किसी पर प्रसन्न होते थे न अप्रसन्न, जिस तरह पृथ्वी सबके लिए आधार हय है, भगवान् भी दयालु होनेसे आधारभूत थे, महावीर प्रभु आठ कर्मोंसे रहित और माद्य-वस्तुके ममत्वसे दूर थे, तथा छद्मस्थकी तरह जाननेके लिए उन्हें वस्तुके सोचने या विचारनेकी आवश्यकता न थी, क्योंकि भगवान् प्रतिसमय उपयोगात्मक ज्ञानसे युक्त थे, तथा अनेक दुःखोंसे भरपूर संसार समुद्रसे पार होकर मुक्त होने वाले, स्वयं जीवरक्षा करनेवाले और उपदेशद्वारा औरोंकी रक्षा करानेवाले, तथा अनन्त-पदार्थोंके ज्ञाता-दृष्टा थे ॥ २५ ॥

भाषाटीका—पृथ्वीकी सहस्र सब प्रकारके प्रखर परिपह और उपसर्ग प्रभुने सैन्धी-श्रुतिसे सहन किए। तथा आठ कर्मस्वी रज मूलको नष्ट करके निर्लेप हुए। फिर उनकी बाहर और भीतरकी सब मृष्णा और आशाएं नष्ट होगईं। अतः अब उन्हें किसी भी पदार्थमें अनुरक्ति नहीं है। अब वे द्रव्य सच्चिधि संसारोपयोगी वस्तुएं, भावसच्चिधि इन्द्रियोंके विषय और कर्माय का समग्रह न करेंगे। या वे इन्द्रियोंके विकारोंको प्रगट न होने देकर उनका सर्वथा नाश कर चुके हैं। उन्हें अब सर्वज्ञोपयोगी होनेसे छद्मस्थकी तरह सोच विचार कर बातें कहनेकी आवश्यकता नहीं। क्योंकि सर्वज्ञ हुयेली पर धरे हुए आमलेकी तरह सब चराचर का अनन्त ज्ञान पाए हुए हैं। और फिर संसारसमुद्रको पार करने के अनन्तर सुंदर निर्वाण को पाया है जहां से कभी पुनरावृत्ति न होगी। क्योंकि वीरतासे आठ कर्मोंकी अनन्त कर्मण वर्णणाद्य अत्यन्त अभाव कर

दिया है । और अब केवल ज्ञानरूप अनन्तचक्षुषुक्त हैं । और वह चक्षु सादि अनन्तरूप है । प्रभुधी अनन्त ज्ञानरूपा लक्ष्मी इसीसे अपार है ॥ २५ ॥

गुजराती अनुवाद—ते भगवान् महावीर प्रभु पृथ्वीनी पेठे सर्वशक्ति-ओने आधारभूत छे, अने पोताना पवित्र उपदेशधी सर्वनो भय दूर करनार छे, अपथा पृथ्वीनी जेम सवे प्रकरना प्रखर परिपह तेमज उपसर्ग सिहसमान श्रुतिधी सहन करनार छे, आठ बर्मरूपी रज मेलनो नाश करीने निर्लेप धया छे । बळी बाह्य तेमज आन्तरिक सवे तृष्णा अने आशानो नेमण नाश कर्यो छे, तेधी कोई पग पदारथनां तेमने आर्णिक रही नथी, हवे तेओ द्रव्यधी संसारोपयोगी वस्तुओ अने भावधी इन्द्रिय विषयो तेमज कषायनो समट करछे नहि, तेओए इन्द्रिय विकारोनो सर्वथा नाश कर्यो छे, तेओ सर्वज्ञ होवाधी छयस्थनी पेठे विचार करीने बोलवानी तेमने आवश्यकता नथी, कारणके तेमने हस्तामलम्बन् त्रिलोकनु अनन्तज्ञान प्राप्त थयु छे, तेमज बळी संसारसमुद्रनो पार पामी मुन्दर निर्वाण प्राप्त कर्यु छे, के ज्यांधी पुनरावृत्ति करवी नहि पडे । वीरता पूर्वक अष्टकर्मरूपी अनन्त कर्मणवर्गणाओनो अत्यन्त अभाव कर्यो छे, केवलज्ञानयुक्त, ते सादि अनन्तरूप छे । प्रभुनी अनन्तज्ञानरूपी लक्ष्मी अपार छे ॥ २५ ॥

मूल

कोहं च माणं च तथैव मायं,
लोभं चउत्थं अज्ज्ञत्थदोसा ।
एआणि वंता अरहा महेसी,
ण कुवइ पाव ण कारवेइ ॥ २६ ॥

(संस्कृतच्छाया)

क्रोधं च मानं च तथैव मायां, लोभं चतुर्थमभ्यात्मदोषान् ।
एतान् वान्त्याऽर्हन्महर्षिर्न करोति पापं न कारयति ॥ २६ ॥

सं० टीका—क्रोधं कषायरूपमात्मेतस्मिन् द्वेषोपयोगं “दोसो क्रोधे गुणोतरे इत्यभिधानप्यदीपिका” । “दोसो च पटिधं च वा, क्रोधाऽघाता क्रोप रोसा इत्यभिधा०” । मानमहंकारं च, “मानो विधा

च उष्णति” “गब्धोऽभिमानोऽहंकारो” इत्यभिधानप्पदीपिका” । मायां
 छद्मत्वं कपटं, “माया तु संवरीत्यभिधानप्पदीपिका” । लोभं पुद्गलव-
 स्तुसंचयव्यापारं “अभिज्ञा वनथो वानं, लोभो रागो” इत्यभिधानप्प-
 दीपिका” । वान्त्वा त्यक्त्वा वा एतान् दोषान् कपायानध्यात्मदोषान्
 परिहायाऽसौ भगवान् महर्षिर्जातस्तथा स्वयं पापमाश्रयं, “पापं, च
 किंभिसं, घेराऽघं दुच्चरितं, दुक्कतं, अपुब्ब्याऽकुसलं, कण्हं, कुलसं,
 दुरिताऽगु च” । अथवा पापमपराधं “पापापराधेसु” अथवा पापं
 कर्मपंकं “पापे च कद्दमे” । अथवा पापं युद्धं चापि, “पापे युद्धे रवे”
 अथवा पापं कलिः कलहं “पापे कलि” । वा पापं वैरं ह्यपि “पापे च
 पटिघे वैरं” “इत्यादीन्यभिधानप्पदीपिका” । न करोत्यन्येन कारय-
 तीत्येते कपायदोषास्त्वपि हितमिच्छंस्त्याज्या एव, यथाह सिद्धान्ते-

“कोहं माणं च मायं च, लोहं च पाववद्वयं,

वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छंतो हिअमप्पणो” ॥ ३७ ॥

इमे चत्वारः कपायाश्चतुरो दोषान् समुत्पादयन्ति, यथा-

“कोहो पीई पणासेइ, माणो विणयनासणो,

माया मिच्छाणि नासेइ, लोहो सबविणासणो” ॥ ३८ ॥

एतानात्मदोषानेतैः प्रयत्नैरपनयेत् ॥

“उवसमेण हणे कोहं, मायं महवया जिणे,

मायमज्जवभावेण, लोहं सतोसओ जिणे” ॥ ३९ ॥

नो चेत्संसारे परिभ्रमणं, यथा-

“कोहोअ माणो अ अणिग्गहीआ, माया अ लोहो अ पवडुणाया ।

चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलादं पुणब्भवत्त” ॥४०॥

(६० ज० ८)

अथ कषायप्रत्याख्यानस्य फलमाह—कषायपचक्खाणे णं मंते जीवे किं जणयइ ? कषायपचक्खाणे णं वीयरगं भावं जणयइ, वीयरगभावे पडिवत्ते वि य णं जीवे सगसुहदुक्खे भवइ ॥ ३६ ॥
(३० अ० २९ ॥)

वीतरागताफलमाह—वीयरगयाणं मंते जीवे किं जणयइ ? वी० नैहाणुबंधणाणि तण्हाणुबंधणाणि य वोळिदइ, मणुत्ता मणुत्तेसु सहफरिसरूवरसंगंधेसु चैव विरज्जइ ॥ ४५ ॥

कषायविजयस्य पृथक्त्वफलं दर्शयति—कोहविजएणं मंते जीवे किं जणयइ ? को० संति जणयइ, कोहवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुबबद्धं च निज्जरेइ । संतिए णं मंते जीवे किं जणयइ ? ख० परीसहे जणयइ ॥ माणविजएणं मंते जीवे किं जणयइ ? मा० मह्वं जणयइ, माणवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुबबद्धं च निज्जरेइ; मह्वयाएणं मंते जीवे किं जणयइ ? म० अणुत्तिसयत्तं जणयइ, अणुत्तिसयत्तेणं (अनुत्सुकत्वेन) जीवे मिउमइवसंपत्ते (मूढुमार्वबसम्पत्तो) अट्ट मयट्ठाणाहं निट्ठावेइ (क्षपयति) ॥ माया-विजएणं मंते जीवे किं जणयइ ? मा० अज्जवं जणयइ । मायावेय-णिज्जं कम्मं न बंधइ, पुबबद्धं च निज्जरेइ । अज्जययाएणं मंते जीवे किं जणयइ ? अ० काउज्जुययं, भातुज्जुययं, भासुज्जुययं अवि-संवायणं जणयइ, अविसंवायण (यथार्थं) सपत्तयाए णं जीवे धम्मस्स आराइए भवइ ॥ लोहविजएणं मंते जीवे किं जणयइ ? लो० संतोसं जणयइ, लोहवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुबबद्धं च निज्जरेइ ॥ ७० ॥ मुत्तिएणं मंते जीवे किं जणयइ ? मु० अकिंचणं जणयइ, अकिंचणेय जीवे अत्थलोल्लणं पुरिसाणं अपत्थणिज्जो भवइ ॥ ४७ ॥

कषाया अग्नय उक्ता अत एनान् शमयन्तु यथा-

“संपञ्जलिया घोरा, अग्नि चिद्दृष्ट गोयमा,
जे डहन्ति शरीरस्थे, क्वं विज्ञाविया तुमे” ॥ ५० ॥

{ सम्पञ्जलिता घोरा, अग्नयस्तिष्ठन्ति गौचम !, }
{ ये दहन्ति शरीरस्थाः क्वं विध्यापितास्त्वया ॥ }

“महानहम्पसूयाओ गिज्झ-वारि जलुत्तमं,
सिचामि सययं देहं, सिचा नो उहन्ति मे” ॥ ५१ ॥

{ महामेषमसूयात् गृहीत्वा वारि जलोत्तमम् । }
{ सिचामि सततं देहं, सिक्का नो दहन्ति माम् ॥ }

“अग्नीय इ इ के बुत्ता, केसी गोयममव्वी,
केसीमेवं बुवंतं तु गोयमो इणमव्वी” ॥ ५२ ॥

“कषाया अग्निणो बुत्ता, सुयसीलतवो जलं,
सुयधाराभिहया सन्ता भिन्ना हु न डहन्ति माम् ॥”

{ कषाया अग्नय उक्ताः श्रुतसीलतपोजलम् । }
{ श्रुतधाराभिहताः सन्तः, भिन्ना खलु न दहन्ति माम् ॥ }

(उतराध्यन सूत्र, अ० २३)

अथैतेषां वृद्धन्याख्यामाह-

क्रोधः परापकाराय कुत्सितचित्तवृत्तिभेदः, परानिष्टामिलाप
इत्यथवाऽनिष्टविषयद्वेषहेतुक इत्यर्थः । आत्मन्युत्कर्षाभिमानात्मकं मान-
मिति । कापट्यमावं छद्म मिथ्याबुद्धिहेत्वज्ञानभेदो दम्भश्चेत्यर्थः ।
परद्रव्येष्वतिशयाभिलाषो लोभः, । परानिष्टामिलापः क्रोधः, क्षमैव
क्रोधविजये समर्थः, क्रोधावेशेन सर्वस्थान्धत्वमधैर्यत्वं हृदयशून्यता

च भवति । अतः खान्तैव नश्यति । मत्समो नान्योऽस्तीति मननं मानं । अथवाऽऽत्मन्यविद्यमानगुणारोपणोत्कर्षरूपा बुद्धिर्मानो महति धनाये सत्यपि क्षनुक्षणं वर्धमाने तद्भिल्लपो लोभोऽथवा पंरविचादिकं दृष्ट्वा नेतुं (ग्रहीतुं) यो हृदि जायतेऽभिल्लपो लोभश्च सः ।

इतरेऽप्याहुर्विधा—

“लोभ एव मनुष्याणां, देहसंस्थो महान् रिपुः । सर्वदुः-
स्वाकरः प्रोक्तो, दुःखदः प्राणनाशकः ।” “सर्वपापस्य मूलं हि,
सर्वदा तृप्ययान्वितः, विरोधकृत् त्रिवर्णानां, सर्वार्तेः कारणं तथा ।”
“लोभात्पजन्ति धर्मं च, मर्यादां चै तथैव च, मातरं भ्रातरं हन्ति,
पितरं बान्धवं तथा ।” “शुरुं मित्रं तथा तातं, पुत्रं च भगिनीं तथा,
लोभाविष्टो न किं कुर्यादकृत्यं पापमोहितः” ॥ २६ ॥

अन्यथार्थ—भगवान् महावीर (कोई) क्रोधसे (च) और (मानं)
मानको (च) और (मानं) मायासे (तहेव) दक्षीप्रसर (चरत्थं) चीथे
(लोभं) लोभको अर्थात् (एआदि) इन सब (अज्ञातपदोक्त) अप्यात्मिक-
आत्मसंबन्धी दोषोंको (बंता) ह्यागकर (अरहा) अर्हन् तथा (महेसी)
महर्षि हुए; और (पारं) पाप (ण) न (कुम्बर) स्वयं करते हैं (ण) न
(परवेह) औरोंसे प्रेरणासे करते हैं ॥ २६ ॥

भाषार्थ—करणके नाश होनेपर कार्यका भी नाशहोजता है संसारके
बढ़नेमें कारणभूत क्रोध-मान-माया और लोभ हैं, अतः इनके नाश होनेपर
संसार-धर्मवर्णनाशनी नाश हो जाता है, इसलिये भगवान् क्रोधादिस्य नाश
करके अर्हन् अवस्था एवं महर्षिपदसे प्राप्त हुए, क्योंकि वास्तवमें कृपायस्य नाश
क्रिया विना कोई भी महर्षि नहीं बन सकता, और भगवान् न स्वयं पाप करते हैं
॥ औरोंसे पापमें प्रेरित करते हैं ॥ २६ ॥

भाषा-टीका—क्रोध कषायका पहला भेद है, इसके आवेगमें आकर
जीव द्वेषका उपयोग करने लगता है, इससे औरोंका अनिष्ट तक भी कर सकता
है, चित्तही शक्ति बर्न और खराब होजाती है, अनिष्ट करते मनस क्रोधका ही

उपयोग होता है। मान दूसरा कषाय है, इगकी मात्रा का कोई प्रमाण नहीं है, इसे अहंकार भी कहते हैं, इसके चरण 'बाहरे में' यही कहता रहता है, इसके आवेशमें मात्र अपनीही चढती चाहता है। माया नाम कपट करने का है, इससे दंभ किया करता है, मरुता का नाश कर डालता है, अपनी चिदृति का मालिक नहीं रह पाता। पराये धनमें अतिशय अभिलाषा रखना लोभ है, जिससे किसी दूसरेका अहित करना चाये हायका खेल समझता है।

क्रोध शान्तिसे जीता जा सकता है, शान्तिके बिना क्रोधके आवेशमें अन्धा हो जाता है। इससे अधीरता, अस्थिरता और हृदयशून्यता आ जाती है। अतः क्रोधको ममभावे नष्ट करना चाहिए।

सुझसे बढ़कर अन्य कोई नहीं, इस मान्यताके आने पर मानसे घिर जाता है, और अपनमें अविद्यमानगुणको उत्पन्न करनेकी युक्ति पैदा करता है, इससे अन्य सबको छोटी दृष्टिमें देखता है। स्पष्ट बात न कहना माया है। अधिक धनकी आय होने पर भी प्रतिपल जिसकी अभिलाषा बढती रहे उस अवस्थाका नाम लोभ है, या पराए धनको देख कर उसके स्वीकार करने की इच्छाको हृदयमें उत्पन्न करना लोभ है, यह लोभ मनुष्योंके शरीरमें सबसे बड़ा प्राणु है, यह सब दुःखोंकी खान और प्राणनाशक है, सब पापोंका मूल है, तीनों वर्गोंके लोक इसके कारण विरोध खडा कर रहे हैं, सबके दुःखोंका कारण यही विद्वद्गुण है। लोभसे प्रेरित होकर माता, पिता, भाई, बंधु और धर्म की मर्यादा तकको नष्ट कर डालता है। गुरु, मित्र, पिता, पुत्र, भगिनी आदिको लोभसे मार कर नाश करता है, तथा बहु वीनया अपहृत्य है जिसे लोभ बध न करसकता हो।

परन्तु भगवान्ने इन चारोंका वमन कर दिया, इनको त्याग दिया, ये चारों दोष कोई साधारण दोष नहीं हैं, बल्कि वे अध्यात्म दोष हैं, इनसे अध्यात्मिकता नाष्ट होती है। इनसे अनन्त संसारमें रुलना पडता है। भगवान् महावीर इन कषायों को नष्ट करके महापुरुष बने थे। तब फिर उनमेंसे स्वयं पाप या आसन्न करने का विभाव भी जाना रहा। अब ये किसी अपराधको नहीं करते, बरमे कीचसे सर्वथा अलिप्त हैं। जन्म-जरा-मरणरूपी संसारके युद्धसे मुक्त हैं। कल्हका इनके आत्मामें अत्यन्तभाव है। ये प्रभु निर्वैर हैं, आशय यह है कि प्रभु स्वयं पाप नहीं करते, न किसी अन्यको पाप या आसन्नका उपदेश ही करते हैं, न करते हैं। क्योंकि पाप करना, कपना कषाय और अज्ञानभयोंसे होता है,

हे पूज्यनीय ! मानके विजयसे क्या लाभ होता है ? मानके विजयसे निरभिमानीता या मार्दवताका अद्वितीयगुण पैदा होता है । मान-अन्य कर्मका प्रतिबंध न करके पहलेके बांधे हुए कर्मकी निर्जरा करता है ॥ मार्दवतासे क्या लाभ होता है ? इससे अभिमान रहित होजाता है । वह किसी भी पदार्थमें उल्लुक नहीं होता । कठिन स्वभावको न रख कर वह फिर कोमल और मृदुताका सम्पादन करके जाति, कुल, बल, रूप, तप, ज्ञान, लभ और ऐश्वर्य इन आठ-मन्त्रोंका सहार करता है जोकि आत्मसन्तु रूप हैं ।

मायाका विजय करनेसे जीव क्या पाता है ? इससे प्रकृति सरल हो जाती है । कपटसे भोगेजानेवाले कर्म नहीं बाधता । और पहले प्रनिबंधको तोड़-देता है । निष्कपटतासे जीवको क्या प्राप्त होता है ? निष्कपटतासे काय, मन और भाषासे सरल होकर यथार्थ भाव पैदा करता है, किसीको ठगता नहीं, ऐसा जीव धर्मका सम्यक् आराधक बन जाता है ।

लोभको जीतनेसे क्या लाभ होता है ? इसे जीतनेसे संतोषरूपी अमृतको पाता है । और तज्जन्य कर्मका बंध नहीं डालता । और पहले बांधे हुए कर्मको बखेर देता है । निर्लेभतासे जीवको क्या लाभ होता है ? इससे अकिंचन भाव बानी निस्पृहताका गुण मिल जाता है । क्योंकि निष्कमजीवीको धनके लोभी कमी नहीं छिपटते ।

कपाय भी एक आग है इसे बुझाओ ! जैसे कहा भी है कि-
 चारों ओर आग सुलग रही है, वह सबको जल्य रही है, किसी भी शरीर धारी प्राणीको इसने नहीं छोड़ा, सब जीव इसमें निरन्तर जल रहे हैं । हे गौतम ! आपने उसे किस प्रकार बुझाया ।

केशिन् ! महामेघसे एक उत्तम जल पैदा हुआ है, उसी पानी को लेकर अपनी देहको निरन्तर सींचता रहता हूं जिससे वह आग मुझे नहीं जल्यसकना ।

गौतम ! वह वैनसा अमिहै, ? गौतम बोले, केशिमुने ! कपाय ही सबसे भयंकर अमिहै । उसे ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तपके जलसे सींचकर ठंडा कर दिया है । वह जल जिनवाणीरूप मेघधारा से पाया है । उसीसे उसे बुझाया है । अतः वह आग अब मुझे नहीं जल्य सकती ॥ २५ ॥

ગુજરાતી અનુવાદ—કપાચનો પહેલો ભેદ, ક્રોધ છે, આવેશનાં આવી જીવ દ્વેષ કરે છે, તેથી બીજાનું અનિષ્ટ પમ કરી વેસે છે, ચિત્તશુદ્ધિ ગરમ તથા સ્વરાચ બની જાય છે । અનિષ્ટ કરતી વસ્તુને ક્રોધનોજ ઉપયોગ થાય છે, કપાચનો બીજો ભેદ માન છે । તેની માયાનું કષ્ટ પ્રમાણ નથી, તેને અર્દકાર પમ કહે છે, તેના આવેશમાં માત્ર પોતાનીજ ચઢતી રૂચે છે । માયા નામ કપટનું છે, તેનાથી દમ્ભ કરે છે, સરઢતાનો નાશ થાય છે, ચિત્તશુદ્ધિ કન્ઢે રહેતી નથી । પરધનનાં અતિશય અભિલાષા ં સ્ત્રેભ છે, તેનાથી અન્ઢનું અહિત કરી વેણતાં વાર લાગતી નથી ।

કપાચ નિવૃદ્ધનો ઉપાય—લ્લેભ ઘાન્તિથી જીતિ શકાય છે, ઘાન્તિ વગર ક્રોધના આવેશમાં અન્ધ ઘને છે । અધીરતા-અસ્થિરતા-તેમજ હૃદયશૂન્યતા-ભાવે છે તેથી ક્રોધનો સમુભાવથી નાશ કરવો જોઈએ ।

મારાથી મોટું કોઈ નથી, ં માન્ઢતા માનથી આવે છે, અપવા પોતાનામાં ન હોય તેવા ઘુગો પોતાનામાં છે, ઘ્વી ઘુદિ ઘઈ જાય છે, તેથી ઘધાને હલકા માને છે, સ્વટ વાત ન કહેવી તે માયા છે,

પુષ્કલ પન ઘેના ઘતાં દરેક ઘણે ઘુની અભિલાષા રાઘવી તે સ્ત્રેભ છે, અપવા પરધન જોઈને તે લઈ લેવાની હૃદયમાં ંષ્ટા ઉત્પન્ન ઘથી તે ંણ સ્ત્રેભ છે, સ્ત્રેભ ઘનુપ્પનો મોઢામાં મોઢો ઘઘુ છે, સર્વના વિરોધનું ં કારણ છે । સ્ત્રેભથી પ્રેરિત ઘનીને માતા-પિતા-ભાઈ-ઘનુ-અને ઘર્મની મર્શાશ ંણ રહેતી નથી । ઘુદ-મિત્ર-ઘુત્ર-ઘગિની વગેરેનો નાશ સ્ત્રેભથી કરે છે । સ્ત્રેભથી સર્વ પ્રસરના અશૂલ્ય ઘરે છે ।

પરઘુ ઘગઘને આ ઘારે કપાચોનો નાશ કરી રીધો છે, આ ઘારે ઘોપો કોઈ ઘાધારણ ઘોષ નથી, તે લો અધ્ઘાન્ઢ ઘોષ છે । તેનાથી અધ્ઘાલિઘ્ઘાનો નાશ થાય છે, તેનાથીજ અનન્ઢ સંસારમાં સ્વટનું ઘરે છે, ઘગઘન્ઢ મહાવીર ઘુ તે કપાચોનો નાશ કરી મહર્ષિ ઘન્ઢા, હવે તેઓ ઘાપ-ઘાસવ કરતા નથી, ઘર્મ મઢથી તેઓ અલિપ્ત છે, જન્ઢ-ઘરા-ઘરપથી ઘુષ્ટ છે, ઘરઘનો અલ્ઢન્ઢાઘાવ ઘઈ ઘયો છે, ઘુ નિર્ઘેર છે, ઘાસવ ં છે કે ઘુ પોતે ઘાવ કરતા નથી, કોઈ ઘીજાને ઘા ઘા ઘાઘવનો ઉપદેઘ ંણ ઘરતા નથી, ઘરાઘન્ઢ નથી, ઘરાઘનું ઘાવ કરવું, ઘરાઘવું, છે ઘાઘ અને ઘઘુનયોગો ઘી-ઘાઘ છે, ઘુનાં તેનો અલ્ઢન્ઢ ઘઘાઘ

માયાના વિજયથી જીવ શું પામે છે? માયાના વિજયથી સરભાવપણું પામે છે, અને માયાથી વેદ્યાં પડતાં કર્મોં બંધાતો નથી, અને પૂર્વેં બંધાયું હોય તો તેને દૂર કરે છે ।

નિષ્કપટતાથી જીવ શું પામે છે? નિષ્કમટતાથી મન-વનન અને કાયથી સરલતા અને મુંદરતા પ્રાપ્ત કરે છે, અને કોઈની સાથે તે ઠગ્યઈ કરતો નથી, જેવો જીવાત્મા ધર્મનો સમ્યક્ અણપક અને છે,

હે પૂજ્ય ! સ્લેભના વિજયથી જીવ શું પામે છે? સ્લેભનાં વિજયથી સન્તોષ રૂપ ભૂતને મેલને છે, સ્લેભ જન્ય કર્મોં માંધતો નથી, અને પૂર્વેં બંધાયેલાં છે તેને વિસેરે છે ।

નિર્જોભતાથી જીવ શું પામે છે? તેવાથી જીવ અપીમઠી પને છે, અને ધનલોહી પી પુરુષોના કણે, પરાધીનતાઓથી મ્ની જાય છે, અને રાષ્ટ્રની દાસત્વ શંસલઓને નિર્જોભી થઈને તોડે છે અને દેસને લતન્ન થનાથી શકે છે.

કપાય પળ એક આગ છે, તેને શાન્ત કરો—જેમકે—ચારે તરફ આગ સઢગી રહી છે, તે મધ્યને એકદમ માઢી રહી છે, શરીરધારી પ્રાણીને પણ તેને ઊંડેલ નથી, તે અમિને હે ગૌતમ ! તમે સ્ત્રી રીતે મુશારી માપી, !

હે કેન્દ્રી ! મહા મેષમાંથી ઉત્પન્ન થયેલ્ય પાણીના પ્રવાહમાંથી તે ઉત્તમ પાણી ભરૂં સતત ઠું તે અમિને ઢારી નાનું હું, અને તેથી તે ઢરેલી અમિ મને કેષમાત્ર માઢી ઘચ્છી નથી ।

ગૌતમ ! તે અમિ કહૂં ! ગૌતમે જવાબ આપ્યો કેન્દ્રી મુને ! કપાનાંજ મયં-કર અમિ છે, જ્ઞાન-દર્શન-ચરિત્ર-તપ રૂપી જલની ધારાઓ સૌર્થરૂપી મહામેષથી મારુંલી છે, સલ્જ્ઞાનની ધારાઓથી, હવાનેલી તે કપાનો રૂપી અમિ સાવ ઢરી જાય છે, તેથી તે આમ મને કેષમાત્ર પળ માઢી પાચ્છી નથી ॥ ૧૬ ॥

મૂલ

કિરિયાકિરિયં વેણડ્યાણુવાયં,
અપ્પાણિયાણં પઢિયચ ઠાણં ।
સે સલ્લવાયં ઇતિ વેયડ્ઢા,
ઉવઢિણ સંજમ ઢીહરાયં ॥ ૨૭ ॥

संस्कृतच्छाया

क्रियाक्रियं चैनयिकानुवादं,
अज्ञानिकानां प्रतीत्य स्थानम् ।
स सर्ववादिमिति वेदयित्वा,
उपस्थितः संयमदीर्घरात्रम् ॥ २७ ॥

सं० टीका—क्रियावादिनामशीतिर्शतं मेदाः । अक्रियावादिनां चतुरर्शीतिमेदाः । विनयवादिनां द्वात्रिंशत्, अज्ञानवादिनां सर्षपष्टीति^{३६३} त्रिपष्टिशतमेदाः पाषण्डिनां सर्वलिङ्गिनां “पाषण्डाः सर्वलिङ्गिन इत्यमरः ।” “[कुटीसफादिकाचतुर्षिस द्विसंष्टिदिष्टिओ इति छत्रुंभ्रुती एते] पासण्डा सम्पकासिता इत्यभिधानप्यदीपिका ।” वा मनोनीतधर्मिणां स्थानं पदं वा सादृश्यं स्थितिमवस्थामात्मनो ज्ञात्वा, “स्थानं सादृश्येऽवकाशे स्थितौ वृद्धिक्षयेतर इति मेदिनी ।” सर्वधर्माणामन्तर्भेदं रहस्यं ज्ञात्वेति भावः । वा स्थितिं तेषां स्थानं निफटं त्यक्त्वेत्याशयः । “अवकाशे स्थितौ स्थानमित्यमरः ।” पक्षमित्यपि सम्यक् प्रतीत्य परिच्छिद्य ज्ञात्वा च स भगवान् सर्ववादं सर्वमन्तव्यं फलयित्वा सर्वेषामेकान्तवादिनां स्वरूपं कथनं भावं च परिज्ञाय दीर्घकालं यावज्जीवपर्यन्तं संयमे धर्मे सम्यगुपस्थितः स्थितवान् ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ—[से] वह भगवान् महावीर [क्रियाक्रियं] क्रियावाद और अक्रियावादके तथा [वेणुश्याणवायं] विनयवादी और [अण्णामि-याणं] अज्ञानवादियोंके [ठाणं] पक्षके [पठियच्च] जानकर तथा [सच्चवायं] और सब वादोंके-बराबरे (इति) सम्यक् प्रकारसे (वेणुश्या) समझकर [सजमदीहस्यं] यावज्जीव संयममें [त्वष्टिप] उपस्थित रहे ॥ २७ ॥

भाषार्थ—संसारमें अनेक मतोंका प्रचार है, कोई क्रियासे मोक्ष मानता है, कोई अक्रिया कही है वे सब ज्ञानसे मुक्ति होना मानते हैं, कोई विनय करनेमें मोक्ष मानते हैं और कोई अज्ञानसे। और भी इनके अनेक विज्ञान है,

उन सबको प्रभु अच्छे प्रकारसे जानकर तथा औरोंको इसका तथ्य समझा कर संयममें तत्पर होगये थे, अर्थात् जैसा उपदेश करते थे वैसा आचरणमें भी लाते थे ॥ २७ ॥)

भाषाटीकाः—क्रियावादियोंके १८० मत, अक्रियावादियोंके ८४ मत, विनयवादियोंके ३२ मत, और अज्ञानवादियोंके ६७ इस प्रकार पापंडियोंके ३६३ भेद सर्वधर्मलिपिओंके होते हैं । बादोंने ९६ पापंड माने हैं । मनोनीत धर्मका नाम पापंड है । या सर्वधर्मका नाम पापंड है । प्रभुने उनकी तुलना स्याद्वादसे कर दिखाई । जिस अग्निपरीक्षामें कोई पापंड न उठ सका । परन्तु प्रभुने इनसे सर्वधर्म समभाव रखना बताया । उनमें युक्तायुक्तविभाग करके असत्य का त्यागना सर्वश्रेष्ठ माना । इस प्रकार स्वसमय परसमय का मन्तव्य समझाकर यावज्जीवतक संयमधर्ममें एकरस होकर तत्पर (स्थिर) रहे थे ॥ २७ ॥

गुजराती अनुवाद—क्रियावादीना १८० मत, अक्रियावादीना ८४, विनयवादीना ३२, अज्ञानवादीना ६७ ए सर्वे ३६३ पापण्डिओना भेद जाणवा, बोडोए ९६ भेद माग्या छे, मनोनीत धर्म पापण्ड कहैवोय ॥, तेनी तुलना स्याद्वादीनी करी बतावी, ते अग्निपरीक्षामें कोई पापण्डी टकी न शक्यो । प्रभुए सर्व धर्म समभाव राखवानुं पण बतावुं, तेमां योम्यायोम्यनुं जाणपणुं पण बतावीने असत्यनो त्याग सर्व श्रेष्ठ मान्यो । आरीते स्वसमय, परसमयनुं मन्तव्य समझीने उत्तम एचविध धवममो (धर्ममां) यावज्जीव सुधी तावधान पणे रक्षा ॥ २७ ॥

मूळ

से वारिया इत्थी सराइभक्तं,
उवहाणवं दुक्खखयट्ठयाए ।
लोकं विदित्ता आरं परं च,
सवं प्पभू वारिय सव्वारं ॥ २८ ॥

संस्कृतच्छाया

स वारयित्वा स्त्रियं सरात्रिभक्तं, उपधानवान् दुःखक्षयार्थम् ।
लोकं विदित्वाऽऽरं परं च, सर्वं प्रमुर्वारितवान् सर्व्वचारम् २८

सं० टीका—स वीरभगवान् स्त्रियं स्त्रीसम्पर्कं सम्भोगं च मैथुनं स्त्रीवेदपुरुषवेदोदयं, रात्रिमोजनसहितं निरन्तरं चारयित्वा परित्यज्य, उपलक्षणादन्यान्यपि प्राणातिपातादीनि ग्राह्याणि । परन्तु रात्रिमोजने तु सुतरां त्रसानामपि हिंसाऽनिवार्यसंयोगेन भवत्येवेत्यनेन रात्रिमोजनं त्याज्यमेवेति भावः । यथाह—

पुरुषार्थसिद्ध्युपायै-

“रात्रौ भुञ्जानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा,
हिंसाविरतैस्तस्मात्त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि” ॥ १२९ ॥

“रागाद्युदयपरत्वादनियुक्तिर्नातिवर्तते हिंसा ।
रात्रिदिवमाहरतः कथं हि हिंसा न सम्भवति” ॥ १३० ॥

“यद्येवं तर्हि दिवा कर्तव्यो भोजनस्य परिहारः ।
भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा” ॥ १३१ ॥

नैवं वासरभुक्तेर्भवति हि रागाधिको रजनिभुक्तौ ।
अन्नकवलस्यभुक्तेर्भुक्ताविव मांसकवलस्य ॥ १३२ ॥

अकाले भुञ्जानः परिहरेत् कथं हिंसाम् ।
अपि बोधितः प्रदीपो भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम् ॥ १३३ ॥

किं वा बहुप्रलपितैरिति सिद्धं यो मनोवचनकायैः ।
परिहरति रात्रिभुक्तिं सततमहिंसां स पाल्यति ॥ १३४ ॥

अहिंसाशुभ्रतपालको नरो रात्रिमोजनं वर्जयतीति दर्शय-
न्नाह; सागारधर्माभृते-

अहिंसाशुभ्रतरक्षार्थं, मूलश्रुतविशुद्धये ।

नक्तं भुक्तिं चतुर्थाऽपि सदा वीरस्त्रिधा त्यजेत् ॥ २४ ॥

जलेदरादिकृष्णकाचंक्रमेक्ष्यजन्तुकम् ।

पेतायुच्छिद्यमुत्सृष्टमप्यध्वनिश्यहो सुखी ॥ २५ ॥

अथवा वनमालादृष्टान्तेन रात्रिभोजनदोषस्य पातकं
दर्शयति—

“त्वां यद्युपैमि न पुनः मुनिवेश्य रामं, लिप्ये वधादिकृदधैस्तादिति
ध्रितोऽपि । सौमित्रिरन्यक्षपथान्वनमालयेकं, दोषाश्रिदोषशपथं किल
कारितोऽस्मिन्” ॥ २६ ॥

लौकिकसंवाददर्शनेनापि रात्रिभोजनप्रतिषेधमाह ।

यत्र स्रुपात्रदानादिकिञ्चित्सत्कर्म नेप्यते ।

फोऽद्यात्तत्रात्ययमये, स्वहितैषी दिनात्यये ॥ २७ ॥

मुजतेऽन्हः सकृद्द्वर्ष्या द्विर्मध्याः पशुवसरे ।

राभ्यहस्तद्वतगुणान्, ब्रह्मोपात्रापरगामुकाः ॥ २८ ॥

योऽत्ति त्यजन् दिनात्यन्तमुद्दूर्त्तौ रात्रिवत्सदा ।

स वर्ष्येतोपवासेन स्वजन्माद्दं नयन् क्रियत् ॥ २९ ॥

तथा च—श्रावकस्यैकादशप्रतिमासु पष्ठ्यां प्रतिमायां श्रावको
रात्रिभुक्तिस्वागी भवति । यथाह—

समन्तभद्रस्वामी श्रावकाचारे—

अनं पानं खाद्यं लेह्यं, नाश्रति यो विभावय्योम् ।

। स च रात्रिभुक्तिविरतः, स्रुवेभ्वनुकम्पमानमनाः ॥ १४२ ॥

पुनश्च—मुनिस्तु महाव्रतं स्मेत्य रात्रिभोजनात्सर्वथा विरमति
यथाह दशवैकालिके—तस्य पष्ठव्रतं कृतम्—

अहावरे छुष्टे भंते ! यए राद्भोयणावो वेरमणं, सवं भंते ! राद्-
भोयणं पचक्लामि, से असणं वा, पाणं वा स्वाइमं वा साइमं वा,

नेव सयं राइं भुंजेज्जा नेवऽजेहिं राइं भुंजाविज्जा राइं भुंजंतेऽपि अत्रेन समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारयेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते ! पडिक्कामामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । छेहे भंते ! वए उवट्ठिओमि सघाओ राइभोयणाओ येरमणं ।

“अहावरे” इत्यादि । अथापरस्मिन् पष्ठे भदन्त ! मते रात्रिभोज-
नाद्विरमणं, सर्वं भदन्त ! रात्रिभोजनं प्रत्याख्यामीति पूर्ववत् । तद्यथा-
अशनं, वा पानं वा स्वाद्यं वा स्वाद्यं वेति, ‘अश्यत इत्यशनम्,’—ओदनादि,
‘पीयत इति पानं’—मृद्धीकापानादि, ‘स्वाद्यत इति स्वाद्यं’ सर्जुरादि,
‘स्वाद्यत इति स्वाद्यं’ ताम्बूलादि, ‘नेव स्वयं रात्रौ भुंजे, नेवान्ये रात्रौ
भोजयामि, रात्रौ भुंजानानप्यन्यात्रैव समनुजानामि; इत्येतथावज्जीवमि-
त्यादि च भावार्थमधिकृतपूर्वविधम् । विशेषस्त्वयम्—रात्रिभोजन चतु-
र्विधम् । तद्यथा द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च । द्रव्यतस्त्वशनादौ,
क्षेत्रतोऽर्धवृत्तीयेषु द्वीपसमुद्रेषु, कालतो रात्र्यादौ, भावतो रागद्वेषाभ्या-
मिति । स्वरूपतोऽप्यत्य चातुर्विध्यम्, तद्यथा—रात्रौ गृह्णाति रात्रौ भुंक्ते,
१ रात्रौ गृह्णाति दिवा भुंक्ते २, दिवा गृह्णाति रात्रौ भुंक्ते ३, दिवा
गृह्णाति दिवा भुंक्ते ॥ ६ ॥ सनिधिपरिभोगे द्रव्यादिचतुर्भङ्गी पुनरि-
यम्—द्रव्यतो नामैको रात्रौ भुंक्ते नो भावतः १, भावतो नामैको नो
द्रव्यतः २, ण्को द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि ३, ण्को नो द्रव्यतो नो
भावतः ॥ ४ ॥ तत्रानुद्गते सूर्ये उद्गत इत्यन्तमिते वाऽनन्तमित
इत्यरक्तद्विष्टस्य फारणतो वा रात्रौ भुञ्जानत्वं द्रव्यतो रात्रिभोजनं
नो भावतः । रात्रौ भुञ्ज इति मूर्च्छितत्वं तदसम्पत्तौ भावतो नो
द्रव्यतः । एवमेव सम्पत्तौ द्रव्यतोऽपि, भावतोऽपि चतुर्यो भङ्गः पुनः

शून्यः । एतच्च रात्रिभोजनं प्रथमचरमतीर्थकरतीर्थयोः—ऋजुजडवक-
जडपुरुषापेक्षया भूल्यगुणत्वस्यापनार्थं महान्तोपरि पठितं मध्यमतीर्थ-
करतीर्थेषु पुनः ऋजुप्रज्ञपुरुषापेक्षयोत्तरगुणवर्गं इति ॥

तथा च योगशास्त्रेऽपि—

अन्नं भेतपिद्याचाद्यैः, संचरद्भिर्निरंकुटैः ।

उच्छिष्टं क्रियते यत्र, तत्र नाथादिनात्यये ॥

तथा—

पोरान्धकाररुद्धक्षैः, पतन्तो यत्र जन्तवः ।

नैव भोग्ये निरीक्ष्यन्ते, तत्र मुञ्जीत को निशि ?

रात्रिभोजने दृष्टान् दोषानाह—

“भेषां पिपीलिका हन्ति, यूक्ता कुर्याज्जलोदरम् ।

कुरुते मक्षिका वान्ति, कुष्ठरोगं च कोलिकः ॥”

“कृष्टको दारुस्त्रण्डं च, वितनोति गलत्र्यधाम् ।

व्यञ्जनान्तर्णिपतितस्तानु विष्यति वृक्षिकः ॥”

“विलम्बं गले यातः, सरभंगाय जायते ।

इत्यादयो दृष्टदोषाः, सर्वेषां निशि भोजने ॥”

यदाहुः—

*नेहं पिपीलियाभो, हणंति वमनं च मच्छिन्ना कुग्द, न्यूना-

* नेषां पिपीलिका हन्ति, वमनं च मक्षिका करोति,

यूक्ता जलोदरम्, कोलिकः कुष्ठरोगं च ।

यातः सरस भंगं, कृष्टको समस्ति गले दाह च,

तातने विष्यति मक्षिकैर्वननभ्ये मुग्दमानः ।

नीशानां कुष्ठार्थिनां, तातनं वायनपावनस्यु ।

एतन्मोदरवनीभोजनदोषाद्, ॥ कृष्टिकुं पठोति ॥

जलयरचं, कोलियजो कोदरोगं च ॥ बालो सरस्स भंगं, कंटो लमाइ
गलम्भि दारु च । तालुम्भि विंधइ अली, वंजणमज्झम्भि भुंजंतो ॥
जीवाण कुंथामाईण घायणं भायणंधोयणाईसु । एमाइरयणिभोयणदोसे,
को साहिक तरइ ?,

नाप्रेक्ष्यसूक्ष्मजन्तून्, निश्यद्यात्प्राशुकान्यपि,
अप्युद्यत्केवलज्ञानैर्नाहतं यन्निशासनम् ॥

*जइवि हु फासुगदब्बं कुंथूपणगावि तहवि दुप्पस्सा,
पच्चक्खनाणिणो वि, हु राइभचं परिहरंति ।

जइवि हु पिवीलगाई, दीसंति पइवमाईउज्जोए,
तहवि खल्ल अण्णाइल्लं, मूलवयविराहणा जेण ॥

लौकिकसंवाददर्शनेनापि रात्रि-भोजनं प्रतिषेधति यथा—

“धर्मविज्ञैव भुंजीत, कदाचन दिनात्यये,
बाध्या अपि निशाभोज्यं यदभोज्यं प्रचक्षते ॥”

तच्छास्त्रमेव कथयति—

“त्रयीतेजोमयोभानुरिति वेदविदो विदुः ।
तत्करैः पूतमखिलं, शुभं कर्म समाचरेत् ॥”

पुनश्चैतदेवाह—

“नैवाहुतिर्न च स्नानं, न श्राद्धं देवतार्चनम् ।
दानं वा विहितं रात्रौ, भोजनं तु विशेषतः ॥”

* यद्यपि खल्ल प्राशुकद्वयं, कुन्थुपनक्क अपि तथापि दुष्प्रेक्षाः ।
प्रत्यक्षज्ञानिनोऽपि खल्ल रात्रिभक्तं परिहरन्ति ॥
यद्यपि खल्ल पिपीलिक्कादयो दृश्यन्ते प्रतीपायुषोते ।
तथापि खल्वनाचीर्णं, मूलनतविराधना येन ॥

पुनश्च—“दिवसस्थाष्टमे भागे, मन्दीभूते दिवाकरे ।

नक्तं तु तद्विजानीयान्न नक्तं निशि भोजनम् ॥”

“देवैस्तु मुक्तं पूर्वान्हे, मध्यान्हे ऋषिभिस्तथा ।

अपराण्हे च पितृभिः, सायान्हे दैत्यदानवैः ॥”

“सन्ध्यायां यक्षरक्षोभिः, सदा भुक्तं कुलोद्ब्रह् ।

सर्ववेलां व्यतिक्रम्य, रात्रौ भुक्तमभोजनम् ॥”

आयुर्वेदेऽप्युक्तम्—

“हृत्ताभिपद्यसंकोचश्चण्डरोविरपायतः ।

अतो नक्तं न भोक्तव्यं, सूक्ष्मजीवावनादपि ॥”

परपक्षसंवादमभिधाय स्वपक्षं समर्थयते—

“संसर्जावसंघातं, भुञ्जाना निशि भोजनम् ।

राक्षसेभ्यो विशिष्यन्ते, मृदात्मानः कथं तु ते? ॥”

एतदेवाह—

“वासरे च रजन्यां च, यः स्वादप्तेव तिष्ठति ।

शृंगपुच्छपरिभ्रष्टः, स्पष्टं स पशुरेव हि ॥”

रात्रिभोजनविरतानां सविशेषपुण्यवत्त्वं दर्शयति—

“अन्हो मुखेऽवसाने च, यो द्वे द्वे पटिके त्यजन् ।

निशाभोजनदोषज्ञोऽश्नात्यसौ पुण्यभाजनम् ॥”

ननु यो दिवैव भुंक्ते तस्य रात्रिभोजनप्रत्याख्यानं फलं नास्ति ? फलविशेषो वा कश्चिदुच्यतामित्याह—

“अकृत्वा नियमं दोषाभोजनादिनभोज्यपि ।

फलं फलेन निर्व्याजं, न वृद्धिर्भाषितं विना ॥”

पूर्वोक्तस्य विपर्ययमाह—

“ये वासरे परित्यज्य, रजन्यामेव मुंजते ।

ते परित्यज्य माणिक्यं, काचमाददते जडाः ॥”

ननु यदि नियमः सर्वत्र फलवान् ततो यस्य “रात्रावेव मया भोक्तव्यं न दिवसे” इति नियमस्तस्य का गतिः ? रित्याह

“वासरे सति ये श्रेयस्काम्यया निशि मुंजते ।

ते वपन्त्युपरक्षेत्रे, शालीन् सत्यपि प्लवले ॥”

रात्रिभोजनस्य दुर्धिपाकफलमाह—

“उलूकफक्कमार्जारगृध्रशम्बरशूकराः ।

अहिवृश्चिकगोधाश्च, जायन्ते रात्रिभोजनात् ॥”

वनमालोदाहरणेनायमपि रात्रिभोजनदोषस्य त्यागमहत्तां दर्शयति यथा—

“क्ष्यते ह्यन्यशपथाननाहृत्यैव लक्ष्मणः ।

निशाभोजनशपथं, कारितो वनमालया ॥”

शास्त्रं निदर्शनं च विना सकलजनानुभवसिद्धं—रात्रि-भोजनत्यागफलमाह—

“करोति विरति धन्यो, यः सदा निशि भोजनात् ।

सोऽर्द्धं पुरुषायुषस्य, स्यादवश्यमुपोषितः ॥”

तदेवं रात्रिभोजनस्य भूयांसो दोषास्तत्परिवर्जने तु ये गुणा-स्तान् वक्तुमस्माकमशक्तिरेवेत्याह—

“रजनीभोजनत्यागे, ये गुणाः परितोऽपि तान् ।

न सर्वज्ञादते कश्चिदपरो वक्तुमीधरः ॥ ७० ॥

अमितगतिथावकाचारेऽपि रात्रिभोजनस्य निषेधः कृतः ।

यत्र राक्षसपिशाचसंचरो; यत्र जन्तुनिवहो न दृश्यते ।

यत्र मुक्तमपि वस्तु भक्ष्यते, यत्र घोरतिमिरं विजृम्भते ॥

यत्र नास्ति यतिवर्गसङ्गमो, यत्र नास्ति गुरुराजदर्शनम् ।

यत्र संयमविनाशि भोजनं, यत्र संसृजति जीवभक्षणम् ॥

यत्र सर्वशुभं कर्मवर्जनं, यत्र नास्ति गमनागमक्रिया;

तत्र दोषनिलये दिनात्म्ये, धर्मध्यानकुशला न भुञ्जते ॥

भुञ्जते निशि दुराशयाय के, गृद्धिदोषवद्वर्तिनो जनाः ।

भूतराक्षसपिशाचशाकिनी, सगतिः कथममीभिरस्य च ॥

वक्ष्यते दिननिशीथियोः सदा, यो निरस्त्रयमसंयमक्रियः ।

शृंगपुच्छशफसंगवर्जितो, भण्यते पशुरयं मनीषिभिः ॥

आमनन्ति दिवसेषु भोजनं, यामिनीषु शयनं मनीषिणः ।

ज्ञानिनामवसरेषु जल्पनं, दान्तये गुरुषु सेवनं कृतम् ॥

भुज्यते गुणवैतकदा सदा, मध्यमेन दिवसे द्विरुज्वले;

येन रात्रिदिवयोरनारतं, भुज्यते स कपितो नराधमः ॥

ये विवर्ज्य वदनावसानयोर्वासरस्य धट्टिकाद्वयं सदा ।

भुञ्जते जितहृषीकवाजिनस्ते भवंति भवभारवर्जिताः ॥

ये व्यवस्थितमहः सुसर्वदा, शर्वरीषु स्वयन्ति भोजनम् ।

निअगाभिसलिलं निसर्गतस्ते नवन्ति शिसरेषु शास्त्रिनम् ॥

सूचयन्ति सुरदायि यैऽग्निनां, रात्रिभोजनमपास्तचेतनाः ।

पायकोद्धरशिसाकरालितं, ते वदन्ति फलदायिकाननम् ॥

ये भुवन्ति दिनरात्रिभोगयोस्तुल्यतां रचितपुष्पपापयोः ।

ते मफाशतमसोः समानतां, दस्ययन्ति सुसदुःसकारिणोः ॥

रात्रिभोजनमधिश्नयन्ति ये, धर्मबुद्धिमधिकृत्य दुर्धियः ।
 ते क्षिपन्ति पविवन्दिमण्डलं, वृक्षपद्धतिविवृद्धये ध्रुवम् ॥
 ये विधृत्य सकलं दिनं क्षुधा, मुञ्जते सुकृतकांक्षया निशि ।
 ते विवृध्य फलशालिनीं लतां, भक्षयन्ति फलकांक्षया पुनः ॥
 ये सदापि घटिकाद्वयं त्रिधा, कुर्वते दिनमुखान्तयोर्बुधाः ।
 भोजनस्य नियमो विधीयते, मासि तैः स्फुटमुपोपितद्वयम् ॥
 रोगशोकफलिराटिकारिणी, राक्षसीव भयदायिनी प्रिया ।
 कन्यका दुरितपाफसंभवा, रोगिता इव निरन्तरापदाः ॥
 देहजा व्यसनकर्मपंडिताः, पन्नगा इव वितीर्णर्मातयः ।
 निर्धनत्वमनपायि सर्वदा, पात्रदानमिव दत्तवृद्धिकम् ॥
 संकटं सतिमिरं कुटीरकं, नीचवित्तमिव रंभ्रसंकुलम् ।
 नीचजातिकुलकर्मसंगमः शीलशौचशमधर्मनिर्गमः ॥
 व्याधयो विविधदुःखदायिनो, दुर्जना इव परापकारिणः ।
 सर्वदोषगणपीड्यमानता, रात्रिभोजनपरस्य जायते ॥
 पद्मपत्रनयनाः प्रियंवदाः, श्रीसमाः प्रियतमा मनोरमाः ।
 सुन्दरा दुहितरः कलालयाः, पुण्यपंक्तय इवात्तविग्रहाः ॥
 भ्रंशितव्यसनवृत्तयोऽमलाः, पावना हिमकरा इवागंजाः ।
 शक्रमन्दिरमिवास्ततामसं, मन्दिरं प्रचुररत्नराजितम् ॥
 लब्धचिन्तितपदार्थमुज्वलं, भूरिपुण्यमिव वैभवं स्थिरम् ।
 सर्वरोगगणमुक्तदेहता, सर्वशर्मनिवहाधिवासिता ॥
 ज्ञानदर्शनचरित्रभूतयः, सर्वयाचितविधानपण्डिताः ।
 सर्वलोकपतिपूजनीयता, रात्रिमुक्तिविमुक्तस्य जायते ॥

- शूकरी शंबरी बानरी धीवरी, रोहिणी मंडली चोकिनी क्लेशिनी ।
 दुर्भगा निस्तुता निर्धवा निर्धना, शर्वरीमोजिनी जायते भामिनी ॥
 बान्धवैरं चिता देहजैवन्दिता, भूपणैर्भूषिता व्याधिभिर्वर्जिता ।
 श्रीमती श्रीमती धीमती धर्मिणी, वासरे जायते भुक्तिः शर्मणी ॥
 रात्रिभोजनविमोचिनो गुणा, ये भवन्ति भवभागिनां परे ।
 तानपास्य जिननाथमोक्षते, वस्तुमत्र न परे जगत्त्रये ॥

इत्यनेकशास्त्रसम्मतारात्रिभोजनं परिहेयमिति भावः । उपधानं तपः, प्रणयं च प्रकर्षेण नयं न्यायं “उपधानं विषे गण्डौ प्रणयेऽपि नयुंस-कमिति मेदिनी” । तद्विद्यतेऽस्यासावुपधानवान्, तपोनिष्ठप्रदेहो नय-वानपि, दुःस्वप्नार्थं दुःस्वप्नाशनार्थमारं प्रान्तभागं, पारं परं लोकं “पारं परतटे प्रान्ते इति मेदिनी” । “पारं मुचि इत्यभिधानप्यदीपिका बौद्धकोषः” । ऐहलोकं पारलोकं, अथवाऽऽरं मनुष्यलोकं पारं दूर-वर्तिं तीरं ‘पारं परमिह, तीरमिह’ इति अभिधानप्य०” । अथवा नर-कादिकं स्वरूपतत्त्वप्रापणहेतुं ततश्च ज्ञात्वा सर्वमेव तत्, प्रभुर्भगवान् सर्ववारं यदुक्तो निवारितवान् त्यक्तवान् एतदुक्तं कथितं प्राणातिपा-तादिकं निषेधादिकं स्वतोऽनुष्ठाय परांश्च-स्थापितवान्, नहि स्वतोऽ-स्थितः परांश्च स्थापयितुमलमित्यर्थः स्वयमधर्मे स्थितः पराज्जनान्धर्मे स्थापयितुमसमर्थः । स्तुतिकृतोक्तमिति । “ब्रुवाणोऽपि न्यायं स्ववचन-विरुद्धं व्यवहरन्, परं नालं कश्चिद्दमयितुमदान्तं स्वयमिति । भवा-न्निश्चित्यैवं मनसि जगदाधाय सकलं, स्वमात्मानं तावद्दमयितुमदान्तं व्यवसितः” ॥ २८ ॥

अन्यार्थ—[से] उष [उवहाणव] तपस्वी [प्रभु] भगवान् महा-वीरने [दुःस्वप्नव्यवहार] भाठ प्रकारके कर्मरूपी दुःखोको दूर करनेकेलिए

[सराइभत्तं] रात्रि भोजन सहित [इत्थी] स्त्री-संभोगादि पापोंको [वारिया] छोड़कर [सन्नं] तथा समस्त [आरं] इस [लोगं] लोकको (च) और [परं] परलोकको [विदिता] जानकर [सम्बवारं] अधिग्रथिक प्रमाणमें समस्त परभावका [वारिया] निवारण किया ॥ २८ ॥

भाषार्थ—जो यद्य जिस प्रवृत्तिज्ञ उपदेश करता है वह वैसा ही बर्तन भी करता है, तब ही उसके उपदेशका प्रभाव पड़ता है। महावीरप्रभुने मोक्ष-पानेका जो उपदेश किया उसमें वे स्वयं भी संलग्न रहे हैं। इसीसे कहा गया है कि-भगवान्ने आठ कर्मरूपी दुःखोंका नाश करनेके लिए स्त्री-संसर्ग तथा रात्रिभोजन और १८ पापोंका स्वयं त्याग किया था। इसके अतिरिक्त घोर तप करते हुए इसलोक-परलोक अथवा मनुष्यलोक नरकलोकादिका रहस्य जानकर उन सबका त्याग किया ॥ २८ ॥

भाषा-टीका—भगवान् स्त्रीसंसर्ग और स्त्रीके पठौसमें रहने तकके कष्ट त्यागी थे। उन्होंने ब्रह्मचर्य्य पालन करनेके लिए नव बाड विद्युद्ध शील पालन करना बताया है। यहा तक तो कहा है कि-जिस स्थान पर स्त्री बैठकर गई है, ब्रह्मचारी उस स्थान पर एक पंढा तक बिल्कुल न बैठे। क्योंकि उसके अशुद्ध और गर्म परमाणुओंका प्रभाव सुप्तीलके लिए हानिकर है। यही ब्रह्म-चारिणीके लिए भी समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त आप रात्रिभोजनके भी प्रत्यक्ष विरोधमें थे, क्योंकि रात्रिमें भोजन करनेसे प्रस जीवोंकी हिंसाका होना अनिवार्य संयोग है। इसी कारणसे रात्रिभोजन करना मना किया है।

रात्रिभोजन इस लिए वर्जित है कि रात्रिमें भोजन करनेवालोंके लिए हिंसाका निवारण करना अशक्य है। अतः हिंसाका त्यागी रातमें भोजन न करे। मगर जो जीव तीव्र राग भाव रखते हैं उनसे इधका त्याग नहीं हो सकता। क्योंकि जिसे भोजनसे अत्यधिक अनुराग होगा वह ही प्राणी रात दिन खाता पीता रहेगा। और जहा राग बन्धन होता है वहां प्रमत्तयोग व्यापार अवश्य रहता है। और प्रमत्त प्राणी हिंसा अनस्य करेगा।

बहुतसे यह भी कहते हैं कि यदि सदाकाल भोजन करनेमें हिंसा होती है तो दिनमें भोजन न करके रातको ही खाना चाहिए? क्योंकि इस प्रकार करनेसे सदैव तो हिंसा न होगी। मगर यह बात नहीं है, यद्यपि उदरके

मरने की अपेक्षा सब प्रकारके भोजन समान हैं । परंतु भक्षके भोजनमें जितना साधारण राग भाव है, उतना मांस भोजनमें नहीं । मांस भोजन में विशेष राग भाव है । जितना पास खानेवाली मायको चारा मिलने पर खाते समय सामान्य रागभाव है, उतना थोड़ा रागभाव चूहे मारनेवाली बिल्लीको नहीं । बिल्लीको मांस भोजनमें विशेष रागभाव है । क्योंकि भक्षका भोजन सहजमें मिल जाता है और मांसका भोजन अतिशय कामादिककी अपेक्षा अथवा शरीरादिकके मोहकी अपेक्षा विशेष प्रयत्नसे तैयार किया जाता है । इसी तरह दिनका भोजन सब मनुष्योंको सहज ही प्राप्त होजाता है । इसीलिए उसमें साधारण रागभाव पाया जाता है, -परन्तु रात्रि भोजनमें तो शरीरादिक व कामादिक पोषण करनेकी अपेक्षा विशेष रागभाव आता है । अत एव रात्रि-भोजन सर्वथा स्वाज्य ही है ।

इसके अतिरिक्त शीपकके प्रकाशमें वारीक जीव आखोंसे ठीक २ नहीं शीपते, तथा रात्रिमें शीपकके प्रकाशसे नाना प्रकारके ऐसे छोटे, बड़े जीव घूमने लगजाते हैं, जो दिनमें कभी दिखलाई नहीं पड़ते । अत एव रात्रि भोजनमें तो प्रत्यक्ष हिंसा है, और रात्रिमें भोजन करनेवाला हिंसासे कभी बच नहीं सकता । अतः जिस महाभाग्यशालीने रातमें आहार करना सर्वथा छोड़-दिया है वही सच्चा अहिंसक है । रात्रि भोजनके छोड़े बिना अहिंसाप्रतकी सिद्धि नहीं हो सकती । अत एव कोई २ आचार्य इसे अप्रवृत्तमें भी गर्भित करते हैं ।

सागरभर्नामृतमें कहा है कि-अहिंसाप्रतका साधक रात्रि भोजनका त्याग अवश्य करता है । क्योंकि मूल अत की शुद्धि के लिए तथा अहिंसाप्रतकी रक्षाके निमित्त रात में चार प्रकार का आहारकरना तीनयोगसे धर्मा जीवोंके लिए वर्जित है ।

पुराने विचारके मनुष्योंका वह भी मत है कि रात होनेपर भूत प्रेत आकर आहारको झंझ करदेते हैं । और बहुतसे जीव ऐसे भी हैं जिनको रात्रिमें देखना कठिन है । यदि जूँ आदि जीव भोजन में खाया जाय तो जलो-दर जैसे रजरोगोंका हो जाना कुछ असंभव नहीं । अतः रात्रि भोजनका त्यागी ही उपरोक्त आपत्तियोंसे मुक्तहोकर इन्द्रिय विलासके जालसे छूट सकता है ।

चनमालाने रात्रिभोजनके दोष की शपथ दिखवाई भी ।

जैन रामायणमें कहा है कि-रामजी लक्ष्मण और सीताके साथ दक्षिणा-पथमें घूमते २ कूर्चनगरमें आ निकले । वहां महीधरराजाने अपनी वनमाला नामक पुत्रीका विवाह लक्ष्मणसे करदिया । कुछदिन रहकर वहाँसे जब तीनों विदा होनेलगे तब वनमाला भी लक्ष्मणके साथ चलनेलगी । परन्तु लक्ष्मणने उसे साथमें न चलनेकी सम्मति दी । यह सुन स्वामीके विरहमें कांतरभाव होकर बोली कि नाथ ! आप मुझे वापस कबतक आकर ले जाओगे ? यह विश्वास न होनेसे साथ ही रहूंगी । लक्ष्मणने उसे विश्वास दिलानेके लिए प्राणातिपात जैसे अनेक पापकी कड़ी शपथ ली । तब उसने उन शपथोंपर असन्तोष प्रकट किया और रात्रिभोजनके पापकी शपथ दिलाई । लक्ष्मण वह शपथ लेकर रामके साथमें जामिला । उस समय रात्रि भोजनका पाप चार प्रकारकी हत्याओंसे भी अधिक समझा जाता था ।

किसीने कहा है कि—मुपात्र-पुरुष दिनमें आते हैं वे रातको नहीं आ पाते, अतः दिन अस्त होनेपर उनको आहार देनेसे बंचित रह जाता है । अतः दानी और कल्याणकी कामना रखनेवालेपुरुष रातमें भोजन करना त्याग देता है ।

पुरुषोंके तीन प्रकार—उत्तम पुरुष मध्यान्ह समय भोजन करते हैं, मध्यम पुरुष दोपार खाते हैं, परन्तु जो सर्वज्ञके कहे हुए धर्मसे अनभिज्ञ हैं, वे पशुकी तरह दिनरात चरते रहते हैं ।

दो घडी दिन चढ़नेतक रात्रि निकट रहती है, दो घडी दिन बाकी रहने पर रात्रि समीप में आ जाती है, अतः सवेरे का दुग्धदिया धर्माराधन और स्वाध्यायके लिए है । तथा सांझके दुग्धदियेमें प्रतिक्रमणका आरंभ होजाता है । अतः उन दो दो घडियोंको छोड़ कर जो आहार करते हैं वे प्रशंसनीय पुरुष हैं । क्योंकि उनका आधा जन्म-समय तो उपवास करने में ही व्यतीत हो गया है ।

श्रावककी ११ प्रतिज्ञा (प्रतिमा) जोंमें छठवीं प्रतिज्ञा रात्रिभोजनके छोड़ने की होती है, जिसमें अन्न, पानी, खानेकी वस्तु मित्राई आदि, और पान मुपासी आदि खादकी वस्तुएँ तथा चाटनेकी वस्तुएँ आदि जो रातमें नहीं भोगता वह सब असप्राणी जीवोंकी अनुकम्पा करनेवाला सच्चा पुरुष है ।

छठा व्रत मुनिओंका रात्रि भोजन त्याग है—मुनिवर्ग तो महाव्रतोंको लेकर रात्रिभोजनसे सर्वथा विरक्त हो जाता है। दसवैकालिकमें उसका छठवां व्रत इस प्रकार किया गया है। और वह शुरूके सम्मुख यों प्रतिष्ठा देता है कि—

भगवन् ! मैं रात्रिभोजन करनेका त्याग करता हूँ। और भक्ष, पानी, हाथ खायादि पदार्थोंका रात्रि के समय न भोजन करूँगा, न करऊँगा, न करने काडेही अनुमोदना भी करूँगा। साथे उमरभरकेलिए तीनकरण और तीन योगोंसे अर्थात् मन-वचन-आयासे एतमें, आहार न करूँगा न करऊँगा, तथा अनुमोदन भी न करूँगा। हे भगवन् ! उस रात्रिभोजनके पापहृत् दंडसे मैं पीछे हटता हूँ, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ, अपने आत्माकी छाड़ीसे उसे निवृत्त समझता हूँ, शुरूकी साथसे उसको घृणित समझता हूँ, और आत्मासे उस पाप का त्याग करता हूँ।

अहिंसा महाव्रतकी रक्षाकेलिए रात्रिभोजनका त्याग किया गया है—और वह भी इस जन्मके अन्तिम क्षण तक छोड़ा गया है।

उसे महाव्रत न कह कर व्रत इसलिए कहा है कि—महाव्रतोंकी तरह शक्यता पालन करना अधिक कठिन नहीं है। इसीकारणसे इसे मूलशुभमें न एत कर उतारणमें एत किया है।

और इसे महाव्रतोंके पीछे इस लिए पड़ा है कि प्रथम और अन्तिम तीर्पणके समय मनुष्य समुत्तमकर स्वभाव ऋतुयुक्त और वनव्रत होता है। और नन्धके तीर्पणकी समयके मनुष्योंकी बुद्धि ऋतुयुक्त होनेसे इसका पाठ सुगमतया समझनेके लिए महाव्रतके पीछे जोड़ दिया है। इससे यह भी सिद्ध है कि महाव्रतोंकी भाँति ही इस व्रतका पालन भी किया जाता करे। इन्द्र-क्षेत्र-काल-भावकी तथा मिथुन-मिथुनकी दृष्टिसे इसके अनेक प्रकार हैं जैसे—इन्द्रके अचलादि, क्षेत्रसे असाई द्वीपमें, कालसे रात्रि के समय और भागसे देवराशि होकर इसका पालन करना आवश्यक है।

इसके भक्तिरिक्त और प्रकार भी पाए जाते हैं। जैसे कि—भद्राचारि एतमें प्रहण करना और एतमें खाया, एतमें ग्रहण करना और दिनमें मना, दिनमें ग्रहण करना और एतमें खाया, दिनमें ग्रहण करना और दिनमें खाया।

इन चारों भंगोंमें पहलेके तीन, भंग साधुके लिए अशुद्ध अर्थात् प्राण्य नहीं हैं, और अन्तिय शुद्ध भंग प्राण्य है।

द्रव्य और भावकी अपेक्षासे भी रात्रिभोजनके चार भंग बन जाते हैं। जैसे-केवल द्रव्यसे, केवल भावसे, द्रव्य और भाव दोनोंसे, तथा द्रव्य और भावसे रहित। सूर्योदय या सूर्यके अस्तका सन्देह होनेपर भी भोजन किया जाता है, यह केवल द्रव्यसे रात्रि भोजन है भावसे नहीं है। “मैं रातमें भोजन करूँ” ऐसा विचार हो जाय और खाया पिया कुछ नहीं है तब यह केवल भावसे रात्रि भोजन है, द्रव्यसे नहीं। बुद्धि ब्रम करवे हुए भी रात्रिमें आहार कर लेना, यह द्रव्य और भाव दोनोंसे है और न रात्रिमें भोजन करना न करने की अनिलापा ही खड़ी करना यह द्रव्य और भावसे रहित भंग है।

शुद्धोंके आठ उपदेशोंमें भी रात्रिभोजन वर्जित है, जैसे-

- १ 'पाणातिपाता' वैरमणि सिक्खापदं 'समा दियामि' ।
- २ 'अदिक्षादाना' वैरमणि सिक्खापदं समा 'दियामि' ।
- ३ 'अश्रद्धाचारिया' वैरमणि सिक्खापदं 'समादियामि' ।
- ४ 'मुपावादा' वैरमणि सिक्खापदं समादियामि ।
- ५ 'सुरानेरय-भग्ग-भमादडुना' वैरमणि सिक्खापदं समादियामि ।
- ६ 'विष्णालभोजना' वैरमणि सिक्खापदं समादियामि ।
- ७ 'नञ्जातवादिद विमुक्कदरसन माला गन्धविलेपनधारण, मण्डन भूषणट्टाना' वैरमणि सिक्खापदं समादियामि ।

८ 'उच्चाशयन, महाशयना,' वैरमणि सिक्खापदं समादियामि ।

भावार्थ—मैं किसी प्राणधारी जीवका प्राण लेनेसे विरक्त होता हूँ।

- २ किसी दूसरेकी वस्तु विना दिए न लेनेकी प्रतिज्ञा करता हूँ।
- ३ सब प्रकारके स्त्रीसमागम से वंचित होनेकी प्रतिज्ञा करता हूँ।
- ४ सब प्रकारके झूठ धोखे की प्रतिज्ञा लेकर विरक्त होता हूँ।
- ५ किसी प्रकारका मादक द्रव्य या गांजा-भाग-मदिरादिक सेवन करनेसे विरक्त होता हूँ।

६ असमय अर्थात् दोपहरके बाद भोजन करनेसे बाजु आकर विरक्त होता हूँ [बौद्ध लोक दोपहर बाद कुछ नहीं खाते और रातमें भी नहीं खाते]

५ नाचने, गाने, ढोल बजाने आदि अनेक प्रकारके तमाशे देखने तथा फूल-माला, गन्ध, छेपनादिक लगाने तथा आभूषण शृंगार करनेसे विरक्त होता हूँ ।

८ ऊंचे और बड़े आराम देनेवाले आसनों और बड़ी शय्याओंमें शयन करनेका त्याग करता हूँ । इत्यादि—छठवें नियममें रात्रि भोजन इनके यहां भी वर्जनीय है ।

घोर अन्धकारमें आंखों से कुछ नहीं सीसता, उस समय रातमें उठनेवाले जीर्णोद्योग भोजनमें परज्यावा भी संभव है अतः रातमें कैन खा-पी सकता है ।

रात्रि भोजनके प्रत्यक्ष दोष—

“भोजनमें कीटी खाई जाने पर बुद्धिब्य नष्ट करती है, दूध खाई जाय तो जखेदर हो जाता है, मक्खीसे कमल हो जाता है, पेटमें भकरी जानेसे कोढ़ हो जाता है । घटा या लकड़ी का टुकड़ा गलेमें पीसा कर देता है । शाक भाजीमें बिष्टु आजाय तो वह हल्क से टंक मारकर वेध देता है । गलेमें यदि बाल अटक जाय तो स्वरका भंग हो जाता है, रातमें खानेसे ये दोष प्रत्यक्ष हो जाते हैं ।” “रातमें बरतन मठ कर साफ़ करते समय कुंपुवा आदि बहुतसे जीव मसले जाते हैं ।” “रातमें प्राणुक वस्तुएं भी न खानी चाहिए क्योंकि मोदक फलादिकों के जीव रातमें दिख नहीं सकते ।” “सूर्यके तेजमें ऋग् यजुः साम, इस तरह तीनों वेदोंका तेज है यह वेदज्ञोंका कहना है, और इसी-लिए सूर्यका नाम प्रथीतनु पडा है, उसके किरणोंसे सब कुछ पवित्र हो जाता है, और समस्त शुभकर्म उसके प्रकाशमें हों, उसके अभावमें शुभकर्म जो भोजन पानादिक हैं वे न करने चाहिए ।”

“वैदन् कहते हैं कि आहुति, स्नान, श्राद्ध और देवार्चन दान आदि रात्रिमें विधान करने योग्य नहीं हैं । परन्तु रात्रिभोजन तो बिल्कुल लाज्य है ।”

“दिनके जाठवें भागमें सूर्यका प्रकाश मन्द हो जाता है, अतः बुद्धिमानोंने उसे भी रात्रि समझा है । और उस समय भी भोजन वर्जनीय है ।”

“देवता पहले पहरमें जीम लेते हैं, ऋषि मध्याह्नमें भोजन करते हैं, तीमरे पहरमें पितृलोकोंकी भोजन-निश्चिता होती है, चौथे पहरमें देव और दानव भोजनसे निश्चयते हैं । सन्ध्यमें यक्ष राक्षस खाते हैं, अतः हे दुर्धाष्ट्र ! सब देवताओंकी मेल्यअ अधिकम होनेसे रात्रि भोजन अनोजन है ।”

आयुर्वेदमें रात में खाना पीना मना है—

“सूर्यके अस्त हो जाने पर हृदयकमल और नाभिकमल अतिशय संकुचित हो जाते हैं, अतः रातमें भोजन न करना चाहिए, क्योंकि अनेक सूक्ष्म जीव खाए जाते हैं, और रातमें खाया गया भोजन स्वास्थ्यकर नहीं होता, और भलि भान्ति जाठरीमें जाकर उसका पाक-भी नहीं बनता।”

“जो दिनरात के समय खाने पीनेमें ही मग्न रहता है वह बिना सींग पूछ का पशु समान है। अतः मनुष्यको दिनमें भी नियमित भोजी-भोजन संयमी होना चाहिए।”

दो घड़ी दिन चढ़े तक तथा दो घड़ी दिन रहने पर जो भोजन पान त्याग देता है, वह रात्रिभोजनके दोषोंको जाननेवाला पुण्यका भागी होता है।”

“जिसने दिनमें भोजन करनेका अभ्यास या व्याज तो डाल लिया है, मगर प्रतिज्ञा नहीं की है तो क्या उसे निश्चित रूप पुण्य नहीं मिलता? इसका उत्तर यह है कि-किसीने रकम तो कर्ममें देसी है मगर व्याज नहीं खोला है, अतः वह पसूल करते समय व्याज लेनेका हकदार नहीं होता क्योंकि दुनियादारोंमें बोलीका मूल्य है।”

“जो दिनमें भोजन करना त्याग कर रातमें ही खाना पसंद करता है, वह मानो माणिक्यको छोड़कर शंकरके टुकड़ेको पसंद करनेवाला जड़ बुद्धि है।”

“दिनके होते हुए भी जो कल्याणकी इच्छासे रात्रिमें भोजन करते हैं वे सुन्दर और कमाए हुए ‘खेत’ को छोड़ कर मानो खारीली-नमकीन रेहीदार भूमिमें धान्य बोना चाहते हैं।”

“रात्रिमें खानेसे उल्लु-छाक-निलाव-गिद-राक्षस-साँप-बिच्छू-गोह-चमगीदड़-बागुल आदि अनेक बुरी योनिएँ पाते हैं।

“जो पुरुष रात्रि-भोजन त्याग देता है वह धन्यवादका पात्र है, क्योंकि वह अपनी आधी आयु उपवासमें बिता रहा है।”

“रात्रि-भोजनके त्यागमें जो जो शुभ हैं, उनके विषयमें अधिक क्या कहा जाय उसके सब प्रकारके लाभ सबैज्ञ ही जानते हैं।”

मिलती है, जिसका स्वभाव घर्मात्मा और स्वयंप्राणनामी होता है, ये सब कुछ दिनमें यज्ञपूर्वक भोजन करनेवाले सत्यवतीको मिलते हैं ।”

इत्यादि अनेक शास्त्र संमत होनेसे रात्रिभोजनको अप्राकृतिक और दूषित समझकर छोड़ देना चाहिए । प्रभु महावीर रात्रिभोजनके स्वयं त्यागी थे, और औरोंको भी त्याग करनेका उपदेश करते थे, तथा सदैव तपस्वण किया करते थे, अपार नम्रता थी, उनकी राणी अनन्तमनसे छुद्र थी । उन्होंने संसार और मोक्षका स्वरूप बताया था, सब प्रकारके आसनोंसे भाप रहित थे, औरोंको भी आसनोंके पापजालसे बचा रोकते थे, क्योंकि जो स्वयं भयभीत और अनीतिमान् हो वह औरोंको धर्म और नीतिमें क्योंकर स्थापन कर सकता है । जो स्वयं धर्मजन-नैतिक जीवन व्यतीत करनेवाला हो वही औरोंको पाप-कर्मके गडदेते निकाल सकता है । किसीने कहा भी है कि “जो स्वयं तो ग्याय की बात कहता हो, परन्तु ग्यायके विषय भयान्तरण करता हो तो वह औरोंपर अपना कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकता, क्योंकि ‘भवान्त’ कर्मो इन्द्रिय निग्रह नहीं कर सकता ।”

और प्रभुने इस लोक और परलोक को जाकर शरीरसे सम्बन्ध निरति प्राप्त की थी ॥ २८ ॥

गुजराती अनुवाद-भगवान् महावीर प्रभु श्रीससर्ग भने छीनी नरीक रहैवाना पण कहर त्यागी हता, तेमणे भववाडविमुद्र ब्रह्मचर्यमुं पावन कर-वानुं करुं छे, जे स्थान पर ली बेठी होय त्यां ब्रह्मचारी एक कडाक मुपिमा नज मेले, कारण के तेना अमुद्र परब्रह्मओ सुशीक सुबबने हरनिकर छे । एल ब्रह्मचारिणी भाटे सबजी केसुं ।

रात्रिभोजन त्यागी-

वे उपरान्त तेओ रात्रिभोजनना पण प्रलक्ष विरोधी हता, कारण के रात्रिभोजनमी प्रल जीवोनी हिंसा थाव छे, तेभी रात्रिमां भोजन करनानी मना करवामां आवी छे, हिंसा त्यागी रात्रिभोजन न ज करे, जे जीव तीर राय भाव सहित होव छे, वे केने त्याग करी सकतो नबी, कारणके जे जीवने भोजन पर अतिक्र प्रीति होव छे, वे रात्रे के दिवसे खातो पीतो ज रहेसे, जना एग बन्धन होय छे त्यां प्रमत्तभाव जहर रहे छे, अने प्रमत्तभावनुक्त प्राणी हिंसा अवश्य करे छे.

घणांओ एम पण कही दे छे के जो भोजन करवामां सदा काळ हिंसा थई जाय छे, तो दिवसे भोजन न करतां रात्रेज खावुं जोइए, कारण के तेम करवाथी सदा काळनी हिंसा थती नथी, परन्तु ते वात ठीक नथी, जो के उदर भरवणी अपेक्षाए सर्व प्रकारना भोजन समान छे, पण शाकाहारी भोजनमां जेटलो साधारण अने सात्विक भाव छे, तेटलो मांस भोजनमां सात्विक-भाव नथी, मांस भोजनमां विशेष रागभाव छे, ि घास खानारी गायने घास खाथी बखते जेटलो सामान्य रागभाव छे, तेटलो उंदर मारनारी हिंसक बिलाडीमां नथी, बिलाडीने मांस भक्षणमां विशेष राग भाव छे : 'अन्न भोजन' सहजमां उत्पन्न थाय छे अने मळे पण छे, अने मांस भोजन अतिशय कामा-दिकनी खातर अथवा शरीरादिकना मोहनी खातर विशेष प्रयत्ने करवामां आवे छे, ए रीते दिवसतुं भोजन सर्व मनुष्योने सहजज प्राप्त थाय छे, तेथी तेमां साधारण रागभाव थाय छे, परन्तु रात्रिभोजनमां तो शरीरादिक तथा कामा-दिकना पोषणनी खातर विशेष राग भाव आवे छे, तेथी पण रात्रिभोजन त्याज ज छे ।

दीपकद्रोष-बडी दीवाना प्रकाशमां शीघ्र जन्तुओ आंखथी बराबर देखातां नथी, तेमज रात्रे दीवाना प्रकाशथी जुरी जुरी जातना एवां नाना मोटां जन्तुओ फरवा लागे छे, के जे दिवसे क्यारेय पण देखातां नथी, तेथी रात्रिभोजनमां प्रत्यक्ष हिंसा छे, ने रात्रिभोजन करवाए हिंसाथी पण क्यारेय बची शकता नथी, ।

तेथी जे भाग्यशाली रात्रि भोजननो सर्वथा त्याग करे छे, ते साचो अहिंसक छे, रात्रिभोजनना त्याग बगर अहिंसा मतनी सिद्धि नथी थई शकती । तेथी कोई कोई आचार्य तेनो प्रथम अणुमतमां समावेश करे छे ।

सागरधर्माभूतमां कसुं छे के अहिंसामतनो साधक रात्रिभोजननो अवश्य त्याग करे छे, कारण के मूलमतनी शुद्धिने माटे तेमज अहिंसा मतनी रक्षा खातर रात्रे चार प्रकारनो आहार त्रियोगे करी घर्मो आत्माओ माटे वर्जित छे ।

जुना विचारोना मनुष्योनी ए पण मत छे के रात्रि थतां भूत प्रेत आवीने आहारने अभङ्गवी दे छे, बडी घण्य जीवो एवां छे, के रात्रे ते जोवा बहु सुरकेल-

धावकनी ११ प्रतिज्ञा (पडिमा) मां छट्टी रात्रि भोजन त्यागनी छे । जे अन्न-पान-खादिम-स्वादिमनो वस्तुओनो उपयोग रात्रे करतो नथी, ते सर्व जीवोनी अनुकम्पा करवावाओ सारो गृहस्थ छे.

मुनिओनुं छट्टुं व्रत-रात्रिभोजन त्याग छे,

मुनिओ तो रात्रिभोजननो तर्प्यथा त्याग करे छे, दसर्वकालिकमूत्रमां रात्रिभोजनत्यागरूप छट्टुं व्रत आ प्रमाणे कथुं छे, शिष्य गुरुनी समीपे प्रतिज्ञा करे छे-के हे भगवान् ! हुं रात्रिभोजननो जीवन पर्यन्त सर्वथा त्याग करुं छुं, हुं जीवन पर्यन्त व्रण करण अने व्रण योगे करी अर्थात् मन-वचन अने काय द्वारा अन्न-पाणी-खाद्य-स्त्राय (मेवा विंगेरे घोराक अने मुखवाधादि) एन चारे प्रकारना आहार रात्रे करीस नहि, करावीस नहि, अने फरनारने अनुमोदन पण आपीस नहि, पूर्वे जे रात्रि भोजन चर्ष्वग्धी पाप क्युं होय तेनाथी हुं निवृत्त थाकं छुं, आत्म साक्षीए ते पापने निवुं छुं, आपनी पासे ते पापने अवगणुं छुं, अने हवेथी ते पापकारी कर्मथी मारा आत्माने सर्वथा अलग करुं छुं, इत्यादि ।

अहिंसा महाव्रतनी रखाने माटे रात्रिभोजननो त्याग करवामां आवे छे, अने ते पण यावज्जीव सुधी त्याग करेओ छे,

तेने महाव्रत न कहतां व्रत तरीकेज गणान्युं छे, तेनुं कारण ए छे के महाव्रतोनी पेठे तेनुं पालन बहु कठिन नथी, ते खातर तेने मूल गुणमां न गणता उत्तर गुणमां गणान्युं छे, ।

बळी महाव्रतोनी पाछळ तेने एटल्य माटे गणान्युं के-प्रथम अने अन्तिम तीर्षकरना समवना मनुष्योनो सभाव ऋजु जड वक्र जड अनुक्रमे होय छे, तेनो पाठ सुगम रीते समजाववाने माटे महाव्रत धाये तेने जोडी देवामां आभ्युं छे, तेथी ए सावित थाव छे के महाव्रतोनी पेठे आ व्रतनुं पण पालन करवानुं छे ।

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावनी तेमज मिश्रामिश्र दृष्टिए तेना अनेक प्रकारो छे, जेमके द्रव्यथी वसनादि, क्षेत्रथी अढी द्वीपमा, कालथी रात्रे भावथी द्वेष रहित धरने तेनुं पालन करवुं आवश्यक छे.

તે ઉપશન્ત શીઝા પણ પ્રકારો છે, જેમ કે આહારાદિ રાત્રે પ્રહણ કરવાને રાત્રે રાત્રા, રાત્રે પ્રહણ કરવાં ને દિવસે રાત્રા, દિવસે પ્રહણ કરવાં ને રાત્રે રાત્રા, દિવસે પ્રહણ કરવાં ને દિવસે રાત્રા, આ ચાર પ્રકારમાંનાં પદ્ધત્ય પ્રણ સાધુને માટે અશુદ્ધ અર્થાત્ અપ્રમાણ છે, ને છેવટનો પ્રકાર શુદ્ધ અને પ્રાણ છે ।

દ્રવ્ય અને માવથી અવેલાદ પણ રાત્રિભોજનના ચાર ભાગા યાય છે, જેમકે કેવલ દ્રવ્યથી, કેવલ માવથી, દ્રવ્ય અને માવ બંનેથી, દ્રવ્ય અને માવથી રહિત, । ધૂર્યોદય અથવા ધૂર્યાચ્છનો સન્દેહ પદ્ધતા છતાં પણ ભોજન કરવામાં આવે છે, તે કેવલ દ્રવ્યથી રાત્રિભોજન છે, માવથી નહિ, । “હું રાત્રે ભોજન કરીશ” ઇતિ વિચાર યાય, તે કેવલ માવથી રાત્રિભોજન છે, ખટે પછી કાંઈ આધું પીધું ન હોય, અથવા છતાં પણ રાત્રે ભોજન કરવું, તે દ્રવ્ય અને માવ બંનેથી છે, અને રાત્રે ભોજન ન કરવું તેવલ દ્રવ્ય પણ ન કરવી, તે દ્રવ્ય માવ બંનેથી રહિત પ્રકાર છે ।

શુદ્ધ મતમાં રાત્રિભોજન પદ્ધતિ-

શુદ્ધતા આઠ ઉપદેશોમાં રાત્રિભોજન વર્ણ્ય ગણ્યું છે, જેમકે-

(૧) કોઈ પ્રાણધારીનો પ્રાણ નહિ છેવાની હું પ્રતિજ્ઞા કરું છું.

(૨) અહણાશન (ચોરી) નો સ્થાન કરું છું.

(૩) સર્વે પ્રકારના ધીસમાગમના સ્થાવરી પ્રતિજ્ઞા કરું છું.

(૪) સર્વે પ્રકારના અસલ્ય વચનથી વિરલ્યું છું.

(૫) કોઈ પણ પ્રકારના નાદક દ્રવ્ય યાંત્રો, માંય, યદિઉદિચના ન સેવનની પ્રતિજ્ઞા કરું છું.

(૬) અસમ્ય-અર્થાત્ જપોર પછી ભોજન કરવાથી વિરલ્યું છું, (શીઝો જપોર પછી તેમજ રાત્રિ પણ કાંઈ ચાલ્ય નથી.)

(૭) નાપ-ગાન-લાલ કાદિ અનેક પ્રકારના ઉપાસા જેવાની કિષાવી તથા પૂજ્યાલ્ય-મન્ય વિલેપન આદિ કળાટકથી તેમજ શાસ્ત્રપર પદ્ધતિથી વિરલ્યું છું ।

(૮) જંબા તેમજ મોટા આણમ દેનારા આધનો તેમજ મોટી વલ્દાઓ પર પ્રાણનો રાગ કરું છું, જગેરે ।

आमांता उट्टा नियममां रात्रिभोजननो पण त्याय आवी जाय छे । अने अंधारामां आंखोधी कंड देखातुं नधी ते बखते रात्रे उठनारा जीवदाओनुं भोजनमां पढवानुं संभवित छे, तेधी रात्रे कोष खाय पीए ?

रात्रिभोजनना प्रत्यक्ष दोष-

“भोजनमां कीरी खवाई जाय तो बुद्धिनो नाश थाय छे, जू खवाई जाय तो जठोदर यई जाय छे, माखीधी बमन यई जाय छे, करोळिओ आवी जाय तो कोड थाय छे । कांटो तेमज लाकडानो टुकडो आवी जाय तो गळामां पीडा करे छे, चाक माजीमां बीछे आवी जायतो तेना उंखधी बहु पीडा थाय छे, गळामां चाळ अदकी जाय तो खर भंग यई जाय छे, रात्रि भोजनधी आवा अनेक प्रत्यक्ष दोषो थाय छे,” । “रात्रे वासणो साफ करती बखते कुंपुवा भादि घणा जीवदाओनो नाश यई जाय छे ।” “रात्रे प्राणुक वस्तुओ पण न खावी जोइए, कारणके मोदक, फळादिना जीवो रात्रे देखी शकाता नधी ।” वेदमां “वेदज्ञो कहे छे के-सूर्यना तेजमां ऋग्-यजुः तथा घाम एम ऋषे प्रकरना वेदोनुं तेज ॥ । अने तेधी सूर्यनुं नाम त्रयीतनु पञ्चुं छे, तेना फिरणो धी वस्तु पवित्र धनी जाय छे, एटले समस्त शुभ कर्म तेना प्रकाशमां करवा जोइए, सेना अभावमां नहि, ।” “वेदज्ञ कहे छे के आहुति-ज्ञान-भाइ-देवार्चन दानादि रात्रिमां करवा योग्य नधी, रात्रिभोजन तो बिल्कुल लाज्य छे,” “दिवसना आठमां भागमां सूर्यनो प्रकाश मन्द यई जाय छे, तेधी बुद्धिमानो तेने पण रात्रि गणे छे, अने ते समये पण भोजन बज्य छे ।” “देवता पहले पहरे जमी छे छे ऋषि मध्यान्ह समये जने छे, ग्रीजा प्रहरे पितृलोको भोजन पानधी निवर्तें छे, चौथा प्रहरमा देल दानव जमी त्ये छे, संध्यामां यक्षराक्षस खाय छे, हे युधिष्ठिर ! सर्वदेवताओनो समय अतिक्रमी अवाधी रात्रिभोजन अभोजन छे, ।

आयुर्वेदमां रात्रे खावा पीवानी मनाई छे-

“सूर्यास्त यतां हृदय कमल तेमज नाभि कमल अस्थिघय संकोचाई जाय छे, तेधी रात्रे भोजन न करखुं जोइए, अने रात्रिमां सूक्ष्म जीव खवाइ जाय छे रात्रे खापेलुं भोजन तन्दुरुस्तीने नुकसान करे छे, तेमज तेनुं पावन बराबर यई शकतुं नधी ।” “जे दिवसे ने रात्रे असमये खावा पीवामां मस्त रहे छे, ते शीघ्र-मूछ वगरना पशु समान छे, तेधी मनुष्योए दिवसे

रात्रि भोजन करीछे छे तेओ भूतप्रेतनी संगतिने छोडी शकता नथी ।”
 “जेमणे यम नियम संयमनी क्रियाओनो खाय करी बीधो छे अने रात
 दिवस खावा पीवामांज मस्त रहे छे, तेमने बुद्धिमानो शींगडा के पूछ बगरना
 जनावर तेमज खरी बगरना पशुओनी उपमा अपें छे ।” “संछारी विद्वानो
 मुख मेळववा माटे दिवसे भोजन करे छे, रात्रे सुदे जाय छे, शानी पुरुष
 समय विचारी सोछे छे, तेमज आत्मानी शान्ति माटे गुरुजननी सत्संगति-
 सत्संश्रद्धा श्रवण-मनन-निदिध्यासन विंगेरे समाचरीने सेवा चाकरी करे छे ।”
 “गुणवान् तेमज उत्तम पुरुष हमेशां दिवसमां एकज बार भोजन करे छे,
 मध्यम पुरुष धोळा दिवसमां बे बखत आहार करे छे, अने जे दिवस अने
 रात हमेशां भोजन कर्यां करे छे ते नराधम छे ।” “जे पुरुष दिवसनी पहेंली
 तेमज छोली घडी छोडी बचेना दिवसना भागमा भोजन करे छे ते इन्द्रियोना
 घोजने जीती संसार ना भारथी हलको घई जाय छे ।” “जे पुरुष पोतानी
 पासे बीवो राखीने रात्रे भोजन करे छे, ते पुरुष कुदरती रीते नीचाण तरफ
 बहेनारी नथी ना नीरने जाणे वृक्षना शिखर सुधी पहोबाडवा चाहलो
 होयनी ? (अर्थात् नथीनुं पाणी बहेतुं वहेतुं कही एण वृक्षना शिखरे पहोंधी
 शकतुं नथी तेम तंबा पुरुषनो आत्मा अधोगति सिवाय उच्चगतिने प्राप्त करी
 शकतो नथी)” । जे रात्रि भोजनने सुखदायक जीवन माने छे, ते भागधी
 बडेल बनने फलदायक माने छे, परन्तु तेम बनसु असंभवित छे ।” “जे
 दिवस तेमज रात्रिना भोजनने समान गणे छे, तेओ मुख तेमज दुःखना
 देनार प्रकाश तेमज अन्धकारने समान गणे छे ।” “जेओ रात्रिभोजनमांज
 धर्म माने छे तेओ खरेखर वृक्षोनी हारमाळा बधारवा माटे बस तेमज आग
 फेकी रक्षा छे, (वृक्षोनी हारमाळा बधारवा माटे जळ सिंचननी जर छे तेने
 बदले बस प्रहार या अग्नि कोई फेके ते वृक्ष बधवाने बदले जेम नाश पामे
 छे, तेमज रात्रि भोजनधी धर्म बधवाने बदले नाश पामे) “जेओ पुण्यनी
 अभिलाषाधी आसो दिवस भूख्या रहे छे, अने रात्रे खानापाज मद्या रहे
 छे तेओ फडेल वृक्षोने तेमज रूताओने रूपी नाखी फरीथी फळवानी वांछना
 करे छे एम समजतुं । जे मनुष्यो बे घडी दिवस चढ्या सुधी नवधरती तप
 करे छे, अने बे घडी दिवस बाकी होय खारे चौबिहार करे छे तेओ मासमां

વે ઉપવાસનું વ્રત પ્રાપ્ત કરે છે, એ સમજવું । “ઉત્તિભોજન કરનારને નીચે ઉઠના મુગ્ધ સમ્પત્તી પ્રાપ્ત થાય છે, સૌંદર્ય અને કલહ કરનારી, શક્તી માફક મધ ઉપજાવે તેવી સ્ત્રી મળે છે, તેમજ મહાપાપથી પેદા થયેલ અન્ત-રાય દુઃખ દેનારી કન્યા પ્રાપ્ત થાય છે, ખ્યસની સેમજ કાઠા સાપની માફક વિદ્યાપ્રણા પુત્ર થાય છે, ધરમાં દમિદતા તો સદા રહ્યાજ કરે છે ।” નીચ જાતિનાં જન્મ પરી નીચ કર્મો કર્યાં પડે છે, સ્ત્રી-વિર્લોભપુત્ર-સમભાવ-આદિ ગુણો નો અભાવ રહે છે, વીજાનું અનિષ્ટ કરનાર દુર્જનની માફક તે કેટલીય જાતની વ્યાધિથી ઘેરાયેલો રહે છે, સર્વ દોષોના સમૂહથી ઘેરાયેલો આપ્રમાણે અનેક દોષોનો ઉત્પત્તિ થઈ જાય છે ।

રાત્રિ ભોજનનો સ્વામ કરનારને નીચે મુગ્ધ વ્રતની પ્રાપ્તિ થાય છે; કમલપદ્મસમાન આંચોનાહી, પ્રિયવચન ચોલમાટી, લક્ષ્મીસમાન સુન્દર સ્ત્રી પ્રાપ્ત થાય, તેમજ વિદ્યા કલામાં ત્રિપુણ પુણ્યની વંતિ માફક સુન્દર સ્ત્રીર અને નિર્મલ ચમિચવાણી તેને કન્યા પ્રાપ્ત થાય છે ।” ઘોરે વળ જાતના અપવિત્રી રહિત સેમજ અન્નમાના જેવા પવિત્ર કર્મ વાઙ્ગ્ય પુત્ર મળે છે, કન્દના ભવનની માફક ઉજાસવાહું ચપિરલોથી મરપૂર મુત્તોભિત મહાન પ્રાપ્ત થાય છે, । સ્વામી વૈભવ પ્રાપ્ત થાય છે, મનોવાહિત વ્રત મળે છે, નીરોગી સુન્દર સ્ત્રીરની પ્રાપ્તિ થાય છે, એ પ્રગટે થી સીંઠથી મુગ્ધ પ્રાપ્ત થાય છે ।” “તે ઉપવ્રત જ્ઞાન-દર્શન-ચરિત્રની વળ સમ્પત્તિને પામે છે, આપા વિદ્યારો પૂજનીય પતિ થને છે, રાત્રિભોજનથી દુર રહેનાર સેમજ સ્વામીભોને આ સમૃદ્ધિ પ્રાપ્ત થાય છે ।” અને-“ઉપે આહાર કરવાથી મૂંઝળી-નીલદી-વાદી-માછલી-ગઠામાં રસોડી(ગિલ્હ)વાલી-રોહિણી-કુતારી-ચોક-કેશવાટા તેન જ રોડ સાપગવાટા પુત્ર ઉપજાવી રિયવત ધનદીના સ્ત્રી સ્ત્રી અનેક સ્વસ્થ થોને પ્રાપ્ત થાય છે ।” “તેઓ (રાત્રિ ભોજનનો સ્વામ કરનાર) વન્નુગવર્માં પૂજનીય મનાવ છે, પુત્રો તેમની ઘેરા કરે છે, સ્વચ્છ અને સંયમરૂપી આત્મચરિત્રથી મુગ્ધ રહે છે, સ્ત્રીરે નીરોગી હોય છે, સ્ત્રી જેવી અને સુસ્વચ્છી તથા ધરનાક સ્ત્રી મળે છે, તેમનો સ્વમાવ વળ અર્માત્મા માફક હોય છે, દિવસે ભોજન કરનારને આવા મુગ્ધની પ્રાપ્તિ થાય છે ।”

आवां अनेक शास्त्रोना प्रमाण सांभव्येने रात्रिभोजननो त्याग करवो जोइए । प्रभुए पण रात्रिभोजननो त्याग क्यों हजो । तपस्वरण नम्रता अने विनय साचवता हता, तेमां नम्रता तो अपार हती, तेमनी बाणी अनन्त नथ सुक, तेमज शुद्ध हती, ते बाणी थी संसार अने मोक्षने स्वरूप समजाव्युं हतुं, यथा आस्रवोधी पण रहित हता, बीजाओने पण आस्रव अने पापयी रोकता, केनके जे पोते अधर्मा अने अनीति बख्ये होय तो ते बीजाओने धर्म अने नीतिमा फेम स्थापन करी छके, अने जो पोते धार्मिक अने नैतिक जीवन न्यतीत करनार होय तेज बीजाने पापयो के आस्रवरूप खाडाथी पहार काढी छके छे, कारण के जोइए कसुं पण छे के जे स्वयं तो न्यायनी बात करतो होय अने न्याययी विरुद्ध आचरण करतो होय तो ते बीजाओ ऊपर पोतानी काई पण छाप पावी छकतो नथी, जे पोते अ-दान्त होय ते क्यारे इन्द्रिय निग्रह करी छके ! परन्तु प्रभुतो पोते दान्त हता, उपधानवान् हता, तप बडे घरीर शुद्ध हतुं, प्रभु आ लोक तेमज परलोकतुं ज्ञान भेळवी पापमय प्रवृत्तियो सदाने नाटे दूर रखा हता ।

मूल—

सोचाय धर्मं अरिहंतभासियं,

समाहियं अष्टपदोविसुद्धं ।

तं सद्वहाणाय जिगा अणाऊ,

इंदा य देवाहिवा आगमिस्संति; त्ति वेमि ॥२९॥

संस्कृतच्छाया—

श्रुत्या च धर्ममर्हद्भापितं, समाहितमर्थपदोपशुद्धम् ।

तं श्रद्धधाना जना अनायुष, इन्द्रा वा देवाधिषा आगमिष्यन्ति ॥२९॥

(इति प्रथमि)

सं० टीका—अधुना श्रीसुधर्मस्वामी तीर्थकरगुणान् प्रख्याय जम्बू-
 स्वामिनमाह, श्रुत्वा च, दुर्गतिधारणाद्धर्म, श्रुतचारित्ररूपमर्हद्वापितम-
 र्हत्कथितं, सम्यगाख्यानं—सुष्ठुप्रणिगदितं, चार्थपदैः, अर्थैः प्रयोजनैः
 कारणैरभिधेयैर्वा “अर्थो विषयार्थनयोर्धनकारणवस्तुषु, अभिधेये च
 शब्दानां निवृत्तौ च प्रयोजन इतिमेदिनी ।” अथवा, “अल्पो पयो-
 जने सदाभिधेय्ये बुद्धियं धने, इत्यभिधानप्पदीपिका ।” पदैर्वाचकैः
 शब्दैः, “पदं शब्दे च वाक्ये च व्यवसायप्रदर्शयोरिति । मेदिनी ।”
 निर्वाणैर्वा, “अप्पवग्गो-चिरागो च पणीतं अद्भुतं पदं इत्यभिधानप्प-
 दीपिका ।” अथवा निमित्तेः, “निमित्तं कारणं टाणं पदं, इत्यभि-
 धानप्पदीपिका ।” वा परित्राणैः संसारादपकर्मणो वा, “पदं टाणे
 परित्राणे निवाणमिह च कारण इत्यभिधानप्पदीपिका ।” स्वैर्येधिन्हेः
 स्वानैरुद्यमैः वाणैर्वाणसदृशैः शब्दैः सुष्ठुइन्तरूपैः प्रदेशैः श्लोकपां-
 दैर्वाः “पदो चरणं च वा इत्यभिधानप्पदीपिका ।” उपशुद्धं चोपसा-
 नीप्येन शुद्धं सितं वा पूतं निर्मलं, “सुद्धो केवलपूतेषु” “सुनि
 शुद्धं सिते पूते इत्यभिधानप्पदीपिका ।” वा प्रयोजनैरान्तराशयैर्विवृ-
 त्तिभिर्वा हेतुभिरभिलाषैः शुद्धं दोषराहित्यमित्यर्थः । धर्मं श्रद्धाणा
 जनास्तथाऽनुतिष्ठन्तो नरा अनायुषोऽपगतायुर्कर्मता युक्ता इति शेषाः
 कर्मरहिताः सन्तः सिद्धा मोक्षगता भवेयुरिति भावः । सायुषश्चेन्द्रा
 अहमिन्द्रा देवाधिपा आगमिष्यन्ति—तं पदं प्राप्स्यंतीति भावः । इति
 शब्दो ब्रवीमीति ॥ २९ ॥

नाना निबन्धेभ्यःसारमुद्धृत्य श्रीमत्सूत्ररुताङ्गसूत्रगतरीरस्तुति-
 नामापष्टाध्यायस्यातिविस्तृतगभीरदुस्सह्यत्वपदार्थभक्तिभावावलेखाद्यति-

सरलतया बुबोधसिपाधयिपया ज्ञातृपुत्रमहावीरजैनसङ्घीया नाम्नी संस्कृतटीका-हिन्दवीटीका-गुर्जरभाषाटीका यथाशक्ति-मतिरचिताऽत्र प्रमादादिनाऽथवाऽल्पधिया च भाविनी मदीयां स्वल्नां संशोधयन्तस्तत्त्वपदार्थनयनिक्षेपसम्बन्धिमावं प्रदर्शयन्तो घीरा भां चेदनुग्रहणीयुस्तर्हि बहुलजनोपकारोद्योगसन्तुष्टेन श्रीज्ञातृपुत्र-महावीरप्रमुखासनसङ्घेनानुग्रहतोऽहमिति सम्भावयेयमिति प्रार्थयते श्रीज्ञातृपुत्रमहावीरजैनसङ्घानुयायिनां लघुतमः पुष्पभिक्षुः ॥ इति श्रीज्ञातृपुत्रमहावीरजैनसङ्घान्तर्गतमुनिफकीरचन्द्रशिष्येण पुष्पभिक्षुणा विरचिता वीरस्तुत्याः संस्कृत-भाषाटीका च समाप्तेति शम् ॥

अन्वयार्थ—[ममाहितं] सम्यक् प्रकारसे कहे हुए [य] और [अट्ट-पदोवमुद्] अर्थ और पदोंसे निर्दोष [असिंहंतभाषियं] अर्हन् प्रभुद्वारा उपदिष्ट [तं] उस [धम्मं] धर्मको [सोशा] सुनकर [महाणा] श्रद्धा प्रतीति करनेवाले [जणा] मनुष्य [देवाहिव] देवोंके स्वामी [इदा] इन्द्र [व] और [अणाक] आयुरहित सिद्ध परमात्माके पदको [आगमिस्सति] प्राप्त होंगे ॥२८॥

भावार्थ—श्रीमुधर्माचार्य अपने अन्तेवासी शिष्यके प्रश्नको इसप्रकार उत्तर देते हुए यों उपसहार करते हैं कि अर्हन् भगवान् द्वारा कहे गए धर्मका जो पूर्ण श्रद्धान करते हैं वे या तो आयुरहित और कर्म रहित होकर मुक्तिको प्राप्त करते हैं या इन्द्रादि पदको पाते हैं या पाएंगे ॥ २८ ॥

भाषाटीका—मुधर्माचार्य श्रीतीर्थंकर प्रभुके गुणोका वर्णन करते हुए अपने जम्बूनामक अन्तेवासी शिष्यसे कहते हैं कि—जो भव्य दुर्गतिमें पडनेसे बचानेवाले ज्ञान और चरित्ररूप धर्मको अर्हन् भगवान्से भाव पूर्ण तथा परिणामयुक्त अभिप्रायको सुनकर निर्धारण करते हैं, वे आयुष्यादि सब कर्म बन्धनोंसे मुक्त होकर या तो अपुनरावृत्ति-निर्वाणधाम (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं या आयुवाले स्थानमें अनुकूल सुख भोगनेवाले 'अहमिन्द्र' होते हैं, अंधता

असंख्य सुतसुरोंका आधिपत्य योगनेके लिए इन्द्रपदको प्राप्त करते हैं, यह मैंने अर्हत् भयवानसे जैसा सुना है, वैसा तुझे कहकर मुनाया है* ।

* इस गद्यमें 'अर्हत्' यह प्रकृत भाषाका शब्द है जिसका संस्कृत अनुवाद 'अर्हत्' होता है, कोई २ 'अरहोन्तर' 'अरथान्त' पद भी बताते हैं । यहाँ इन् सबके अर्थोंपर यदि विचार किया जाय तो आशय वही निकलता है जो अर्थ 'अर्हत्' शब्दका होता है ।

(१) 'अर्ह' धातुका अर्थ पूज्य या योग्य अर्थ होता है, इस अर्थके अनुसार अतिशय बन्दनीय-सेवनीय-स्मरणीय होनेके कारण ये 'अर्हत्' (अरहंत) कहायते हैं । क्योंकि इनके पाँचों कल्याणकर्मों अनेक देवों और ६४ इन्द्रोंद्वारा अनेक विलक्षण सेवा सम्बन्धी घटनाएँ होती हैं, और ये मनुष्योंकी अपेक्षा अतिशययुक्त महापुरुष होते हैं, और अतिशयक होनेके कारण उनका यह 'अरहंत' नाम सार्थक तथा यथार्थ है । जैसा कि 'धवल' ग्रन्थमें भी कहा है कि—

अतिशयभावपूजाऽर्हत्वादर्हन्तः, स्वर्गावतरणजन्माभिषेकपरिनिष्क्रमणकेवलज्ञानोत्पत्तिपरिनिर्वाणेषु देवकृतानां पूजानां देवासुरमानवप्राणपूजाम्योऽधिकत्वादतिशयादर्हत्वाद्योग्यत्वादर्हन्तः ।

(धवलसिद्धान्त)

अरिहन्ति वंदणनमसणाणि अरिहन्ति पूयसकारं,

अरिहन्ति सिद्धिगमणं 'अरहंता' तेण उच्यन्ति ।

(मूलकार)

भावार्थ—जो भाव पूजाके योग्य तथा अनुकरणीय महाआदर्शपुरुष हों उनको 'अर्हत्' कहते हैं । जिनके जीवनमें अनेक दिव्य घटनाएँ विलक्षण रूपसे परिपटित होती हैं, जैसेकि— स्वर्गसे अवतरण, जन्मोत्सव, परिनिष्क्रमण (बीछा प्रहण), केवलज्ञानकी उत्पत्ति, मोक्षापेक्ष आदि घटनाओंके होते समय देव-असुर मानव इत्यादिके द्वारा महान् उत्सवका मनाना, या मनुष्योंके उनका अनुकरण करते हुए उनके समान आचरण एवं चरित्र होना, इत्यादि महानताके योग्य होनेसे ये 'अर्हत्' कहलाते हैं ।

जो चन्दना और नमस्कारके योग्य हैं, पूजा और सत्कारके योग्य हैं, सिद्धि (मोक्ष) गमनके योग्य हैं, अत एव वे 'अरहंत' कहे जाते हैं ।

(२) 'रहम्' य अर्थ एकान्त होता है, यानी समस्त पदार्थोंको-निकट-वर्ती-दूरवर्ती-सूक्ष्म तथा स्थूल पदार्थोंके अनन्त समूहको प्रत्यक्षमें हथेलीपर रखते हुए आमलेकी तरह जो स्पष्ट जानते और देखते हैं । अर्थात् जिसे गुप्त या प्रगट एकान्त कुछ भी अप्रगट नहीं है । इसलिए 'अरहोऽन्तर' नाम यथार्थ है । जैसे कहा भी है कि—

“न विद्यते रह एकान्तो गोप्यमस्य, सकलसन्निहितव्यवहितस्थूल-सूक्ष्मपदार्थसार्थसाक्षात्कारित्वादित्यरहोऽन्तरः ।” (स्थानाङ्गसूत्रम्)

भाषार्थ—जिसके लिए एकान्त-गोपनीय पदार्थ कुछ भी न हो, संसारभरके छोटे बड़े सब पदार्थोंका जो साक्षात्कार करनेवाला हो वह 'अरहोऽन्तर' कहलाता है ।

“अथवा 'अविद्यमान' रह एकान्तरूपो देशोऽन्तश्च मध्यं गिरि-गुहादीनां सर्ववेदितया समस्तवस्तुस्तोमगतप्रच्छन्नत्वस्याभावेन येषां तेऽरहोन्तरः” (भगवतीसूत्र)

भाषार्थ—जिसे सर्वज्ञताके कारण सर्ववस्तु समूह यत सर्व प्रकारके पदार्थोंका एक बहुत बड़ा समूहगत प्रच्छन्नताका अभाव हो, इस प्रकारका रहः (एकान्तरूप प्रदेश) नहीं है, अर्थात् उनके अनन्तज्ञानके सन्मुख कोई ऐसा प्रदेश और वस्तु समूह नहीं है, जिसके वे ज्ञाता और दृष्टा न हों, वे तो अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शनके द्वारा संसारके पूर्ण रहस्य को जानते हैं, इसीसे पहाड़ोंकी गुफा आदिका अन्तर (मध्यभाग) तकका गम्यकृ ज्ञान अपने सर्वज्ञत्व द्वारा जान लेते हैं, नारीकसे बारीक तथा एकान्त और मध्यप्रदेशके जाननेवाले हैं, अतः 'अरहोऽन्तर' नाम सार्थक ही है ।

(३) 'अरयान्त' ऐसी संस्कृतच्छायाके अनुसार यह अर्थ निकलता है कि—जिसके पास समस्त परिग्रहका अभाव है, और बुद्ध्या आदि उपलक्षण-वाला अन्त-विनाश नहीं है वह 'अरयान्त' है और वे वीतराग सर्वज्ञ देव होते हैं । जैसे—

“अविद्यमानो रथः स्यन्दनः सकल्पपरिग्रहोपलक्षणभूतः, अन्तर्ध्व
विनाशो जरायुफलक्षणभूतो येषां ते ‘अरथान्ताः’

(भगवतीसूत्र)

भावार्थ—जिनका आत्मरूपी ‘रथ’ अप्रतिहत शक्तित्वात् होनेसे कहीं
हक नहीं सकता, अर्थात् तीनलोक और अलोकधरे भी जयता है, अतः उतारी
‘अरथान्त’ संज्ञा इसी कारण सायंक मानी गई है ।

(४) “अरहन्त” शब्दका यह अर्थभी निकलता है कि—“शमद्वेषके
कारणभूत-प्रिलोहरती अमन्त पदार्थोंके क्षता-दृश होनेपर भी जो द्विती
पदार्थके भाविक नहीं रहता, शीतरथ स्वभावशील है, इससे ‘अरहन्त’
कहलाने हैं । जैसे—

“कचिदप्यासक्तिमगच्छत्सु पीतरागत्वात् प्रकृष्टरागादिहेतुभूतमनो-
ज्ञेतरविषयसम्पर्केऽपि पीतरागत्वादिक् स्व-स्वभावमत्यन्तोऽर्हन्तः ।”

(भगवतीसूत्रम्)

इसके अतिरिक्त “अरिहंत” पाठ भी प्रचलित है जिनके अन्वय यह
अर्थ होता है कि अरि-कर्मसंयुक्त नाश करनेसे अरिहंत कहे जाते हैं, यह
कहा है कि—

“अरिहननादरिहन्तृ (तः) नरकतिर्यम्बानुप्रेतावासमतारोपदुःख-
प्राप्तिनिमित्तत्वादरिभोंदस्यारोहंननादरिहन्तः ।”

(धवलसिद्धान्त)

“गौहरज-अंतराय-दृष्य गुणादौ च पाम अरिहंतो”

(मूल्यचार)

“मोह रज और अन्तराय कर्मका हनन करनेसे ‘अरिहंत’ नाम साधक है।”

राग दोस कसाये य, इंदियाणि य पंच य ।

परिसहे उवसगगे, णासयंतो णमोरिहा ॥

(मूलान्तर)

भावार्थ—राग-द्वेष और चारों कषाय तथा पांच इन्द्रियोके २२ विषयोंका और २२ परिपह एवं उपसर्गके विनाश करनेसे भी ‘अरिहंत’ कहे जाते हैं ।

राग दोस कसाए य, इंदियाणि य पंच वि परिसहे ।

उवसगगे नासयंता, नमोरिहा तेण बुधति ॥ ९९८ ॥

(विशेषावश्यक भाष्य)

इंदिय-विसय-कसाए-परिसहे वेयणा-उवसगगे ।

ए ए अरिणो हंता, अरिहंता तेण बुधंति ॥ ९९९ ॥

अद्वविहंषि य कम्मं, अरिभूयं होइ सन्व जीयाणं ।

तं कम्ममरिं हंता, अरिहंता तेण बुधति ॥ ९२० ॥

(आवश्यकभाष्य)

“रज या आवरणका नाश करनेसे भी ‘अरिहंत’ कहलाते हैं । यथांशु ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म रजक समान पाश और अन्तरंग प्रिकालके गमय विषयभूत अनन्त अर्ध-वर्णय और स्पंदन-पदार्थदुष्ट बलुओंसे विषय-हरने-वाले ज्ञान और दर्शनका आगूत करनेसे ‘रज’ कहते हैं, इसी प्रकार मोह भी रज है, यथांशु जैसे भूतसे भरे हुए मुचराके लोथोमें धर्मधी मन्दता देखी जाती है, उसी प्रकार मोहसे जिनका ध्यान स्वात्त है, उनमें भी अन्तोरसो-गधी मंदता का मुटिनका पाई जाती है । इन लिए रजरूप ज्ञानावरणादि कर्मके अनाशसे ‘अरिहंत’ कहाते हैं । यथा—

“रजो हननाद्वा अरिहन्तः, ज्ञानदूगावरणानि रजांशुं च बहिरंगा-
न्तरज्ञारसोपत्रिकाल्गोचरान्तरार्थञ्चंवनचरिणामात्मकवस्तुविषययोपानु-

भवप्रतिबन्धकत्वाद्वाप्ति, पुनर्मोहोऽपि रजः । मसारजसाऽऽपूरिता-
ननानामिव भूयो मोहावरुद्धात्मनां जलभावोपलम्भत्वात् ।

(धवलसिद्धान्त)

अथवा 'रहस्य' अन्तराय कर्मका नाम भी है, जिसके क्षय करनेसे भी 'अरिहंत' कहे जाते हैं, अन्तराय कर्मका नाश तीन पातिया कर्मोंके नाशके साथही नियमसे होता है । अतः भविष्यभाषी सुम्बन्धसे यह अर्थ निश्चलता है कि-जिसने चारों पातिया कर्मोंका नाश करके अपातिया कर्मोंको भी निश्चय बनादिया हो वे 'अरिहंत' कहल्यते हैं । यथा-

"रहस्यमन्तरायस्तस्य शेषपातित्रितयविनाश्याविनाभाविनो हि मण-
ष्ट-बीजवदिःशुद्धीकृतापातिकर्मणो-हननादरिहन्तः ।"

(धवलसिद्धान्त)

(५) एक पाठ 'अरुहंत' भी बनता है, क्योंकि 'रह' पातुषा अर्थात् 'अंकुर उगना' है, अर्थात् जिसका भवरूप अंकुर नष्ट होयगा है वे 'अरुहंत' कहलाते हैं, यानी कर्मरूपी बीजके जड़ जाने पर पुनः संसाररूप अंकुरकी उत्पत्ति नहीं होती । यथोक्ति-

"न रोहति भूयः संसारे न समुत्पद्यत इत्यरुहः, संसारकारणानां कर्मणां निर्मूलकत्वात् ।"

भगवती-प्रवचनसारोद्धार—

तथा च प्रज्ञापनासूत्रस्य कारिकायामप्येवं, पुनः "दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः ॥" इति भाषाटीका समाप्ता ॥

गुजराती अनुवाद—सुभनांचभंजी धीतीपेंदर प्रभुना गुजोना परमंन करता पीताना जम्बूनामा (समोपमं रहेनार) डिम्पने कसे रता ते के जे मय्य शशी आत्मने दुर्गातिनां यवतां पथववासात्य ज्ञान अने यथेप्रव्य धर्मंतुं, 'अरुहंत' भगवान् पासेषी मानपूर्व टेंज पद्विणन दुक्त आबिज्ञान धर्या अने

भक्तिपूर्वक चरित्रवान् यद्दने धवण करे छे, अने ल्यार पछी तेनुं मनन करी निदिध्यासन करे छे, ते आयुष्यादि सर्व कर्म बंधनोष्ठी मुक्त यद्द अपुनरावृत्ति याने निर्वाण पद प्राप्त करे छे, अथवा वीर्घायुष्य नाळा स्थानमा अनुकूल सुख भोगवतार 'अहमिन्द्र' बने छे, अथवा देव दानवोना अधिपति एवा इन्द्रपदने पावे छे, आ में 'अर्हन्' भगवान् ज्ञातपुत्र-महावीर प्रभु पासेधी जेवी रीते सांभज्युं छे तेज प्रमाणे तने कही संभज्युं छुं* ।

* 'अरहंत' आ प्राकृत भाषातुं शब्द छे, जेनी संस्कृतच्छाया 'अर्हन्' थाय छे, कोई कोई एना अरहोन्तर-अरयान्त-अरहन्त-वाचक शब्दो थाय छे, एम तेओनुं मन्तव्य छे, अही आ चारे अर्थ ऊपर आ प्रमाणे विचार करी सकाय ।

(१) 'अर्ह' धातुनो अर्थ भाव पूजा एवो थाय छे, ते अर्थ अनुसार अतिशय वन्दनीय, सेवनीय होवाधी 'अर्हन्' (अरहंत) कहेवाय छे, केमके तेमना पावे कल्याणकोमा देवो तेमज चौसठ इन्द्रो द्वारा अनेक जातनी सेवा मन्बन्धी केटलीए विलक्षण घटनाओ बनी छे, तेमज तेमनो आत्मा मनुष्योनी अपेक्षाधी पर छे, जेधी तेमनामा विशेषपणुं होवाधी 'अरहंत' नाम यथार्थ छे, 'धवल' ग्रंथमां पण कह्युं छे कं-

“जे वंदन तेमज नमस्कारने योग्य छे, सेवा अने सत्कारने योग्य छे, तिरि गमनने माटे उपयुक्त छे, माटे 'अरहंत' कहेवाय छे ।”

(२) “रहस्यो अर्थ एकांत थाय छे, एटले जे समस्त पदार्थोनी निकटना चाहे दूरना, स्थूल चाहे सूक्ष्म पदार्थोना समूहने दृष्येळी पर राखेल आम-ळानी माफक देखी रह्या छे, जेमने माटे शुभ के एकांत एवी कोई वस्तु या स्थान नथी ।”

(३) “अरयान्त-” ए संस्कृतच्छाया-अनुसार एवो अर्थ नीकले छे के रथ=अर्थात् बहिर तेमज अन्तर दृष्टिए समस्त परिग्रहो जेनी पावे अभाव छे एवा वीतराग सर्वज्ञ देवने 'अरयान्त' कहे छे ।” “अथवा जेनो आन्ना रूपी रथ अप्रतिहत सज्जिवात्तो होवाधी वयांस पण रोकाई सकतो नथी, अर्थात् प्रणे लोक तेमज अलोक मुधी पण पदोची बळे छे, याने जानी सके छे, जेधी 'अरयान्त' आ नाम पण सार्थक मानेलु छे ।”

प्रशस्तिः ।

महावीरो देवो विदितभवकीर्तिर्जिनवरः, सदा भव्याऽऽधारो
 निजशरणगैर्वन्द्यचरणः । मुद्राऽन्त्यो यस्तीर्थकर इति पदाब्जोऽस्ति
 नितरां, वचस्तत्त्वे तस्य प्रतिदिवसमेवार्पितमनाः ॥ १ ॥ फकीरेन्दुभिर्भुगु-
 रुरिति तमःस्तोमतरणिः, सुपुप्यस्तच्छिष्यो विनययुतमिक्षुर्विंधिरभूत् ।
 द्विपञ्चाङ्गन्द्वन्द्वे जननमभवद्यस्य कुतले, गृहीता सदीक्षा भवभयहरा-
 ऽसिंश्च व्रतितः ॥ २ ॥ रसाष्टाङ्गन्द्वन्द्वे सकलमुनिवृन्देऽतिविशदा,
 स चेदानां नाम्ना कुसुममुनिदासो शिवरुचिः । 'हिमागारे देशे'
 गिरिषु बहुशीतेषु विहरन्, गतो यो यत्रास्ते विविधतरुवृन्दोऽस्ति
 विमलः ॥ ३ ॥ प्रसिद्धे राज्ये च जिनमतधराब्धेन सहिते, समेतो
 'नादोने' गुरुभिरतिपूते निवसता । कृतं चातुर्मास्यं कलिकल्पतापौघ-
 शमनं, समाचीर्णं यत्राऽखिलजिनपथाऽऽराधनपरम् ॥ ४ ॥ 'सुमित्र'-
 स्यादौ हि हितकरसुदीक्षाऽपि नितरां, सदैवं पुष्पेन्दुर्विचरति सुमित्रेण
 सहितः । जिनाज्ञासंसक्तः परहितकरः साधुनिरतः ॥ स एवाऽयं भिक्षुः
 *सकलदलदोषेण रहितः ॥ ५ ॥ हिमाच्छादिते सुप्रदेशे च भ्राम्यन्,
 शिमाला (शिमला) †कुलुकादिदेशान्तरस्थः । दृगाङ्गानवचन्द्रकाब्दे
 प्रकाशः । मुहुर्दृष्टवान् भूरिशोभां नगस्वाम् ॥ ६ ॥ सहस्रक्रोशान्तं
 पदगमनशीलो मुनिवरः, सुपुष्पेन्दुभिर्भुः प्रथमगमनं यत्र कृतवान् ।
 सुमित्रेण स्नेन गुरुचरणभृङ्गेन सहितः, सुशिष्येणागम्यं नगरमभिगम्य
 प्रविततम् ॥ ७ ॥ 'कराची' सुस्थानं निखिलपशुरक्षां च विदधन्,
 दयागारं कृत्वा सकलजनश्चाद्वैः सह मुदा । निहालेन्दुर्यत्राधिपतिरपि

* सम्प्रदाय-पक्षवादादिना रहितः । † उहु इति भाषायाम्—

जातोऽत्र विषये, मुनि स्याते सिन्धोर्विषमविषये कोऽपि न मुनिः
 ॥ ८ ॥ जिनाञ्जसक्कानामपि च न गतः कोऽपि *मुमुनिः, सहसा-
 ब्देनापि विहरणमभूच्च न यतेः । मुनेः पुप्पेन्दोश्च गमनमभवच्च
 प्रथमं, ततः पूर्वनीत्वा दिशमपि मुडोल्यां च गुरुणा ॥ ९ ॥
 विहारप्रदेशोऽपि गत्वा च पूर्व, कृत्वा धर्मशिक्षा विशेषेण तत्र ।
 अयं चातिरम्यो विहारप्रदेशो, महावीरदेवस्य जन्मास्ति यत्र ॥ १० ॥
 अयं सुप्रदेशोऽधुना शस्युक्तः, तदा राक्षसप्रायजातश्च यस्मात् ।
 महाकालिकामंदिरे यत्र हिंसा, सदा जायते प्राणिनां कोटिशश्च ॥ ११ ॥
 शराकांकचन्द्रे मिते वत्सरेऽस्मिन्महावीरतीर्थकरस्य जयन्त्याम् ।
 नदीदीर्घदानोदराख्या तटे च, समागत्य पुप्पेन्दुसंज्ञो हि भिक्षुः ॥ १२ ॥
 अहिंसोपदेशं चलयकारिमामे, प्रदत्त्वा पशुतां त्रयं यूपमुग्रम्,
 वधस्नानमुत्साह्य यः क्षिप्तवांश्च, सदा वा प्रचारः प्रशस्तोऽस्ति यस्य
 सदैवं बहून्यन्यकार्यं विधाय, प्रदेशं भ्रमन्ततो याति नूतम् ॥ १३ ॥
 यश्चात्र प्रथमं सुरेतरमये देशे शुभे वत्सरे, बन्धकांकविधौ मिते च
 शरियामामे कृतं भिक्षुणा । चातुरमासकृतं ततश्च प्रथमं 'बंगे' गुरोः
 सेवकः, वेदाकांकविधौ समे च गुरुणा साकं गतः पुष्पकः ॥ १४ ॥
 सर्वानन्दमये शुभे च नगरे 'फालीयकण'ऽभिधे, यत्राष्टादशसख्य
 फ्राश्च शतका जैना मत्ताः श्रावकाः । चानुरमासकृतं महच्च सुस्ततो
 श्राद्धा मुनेः सेवकाः, यत्रास्ते कलिकृत्पत्तनवरा वीथी सु 'पोलोक'
 की ॥ १५ ॥ सन्ति स्थानकवासिनश्च बहवः श्रेताम्बराः श्रावकाः,
 ये कुर्वन्ति समाजकार्यमधवा यत्प्रापिषाः प्रेमिणः । संकृतं मुनिनेत्र-

संमिततरं श्रेष्ठा महान्तो मुहुर्जेनाराध्यमुनिष्वपि व्रतधरेष्वेवं गुणाः
 सन्ति च ॥ १६ ॥ जैनाः संघसुकार्यकारिणी सभा यत्रास्ति नित्यं
 मुहुः । सभ्याःश्रावककेऽपि सन्ति सततं नेत्रेन्दुसख्या गुणाः ॥ अत्रैवं
 मुनयः त्रयो नव मिते मासे निवासोऽभवत् । एवं चेन्मनुजो नैव
 वितते गर्भे मुहुर्जायते ॥ १७ ॥ सम्प्रदायस्य वादस्य पक्षपातस्य
 बन्धनम् । त्रोटयित्वा स्वयं जातः, स्वतन्त्रश्च सदा मुनिः ॥ १८ ॥
 ज्ञातपुत्रमहावीरजैनसंघे व्यवस्थितः । नीरक्षीरविभागार्हः, स्वयं तन्म-
 यतां ययौ ॥ १९ ॥ महावीरस्य च प्रभोः, स्तुतेष्टीका कृता वरा ।
 दिवसे दीपमालायां, याता पूर्णा च सवति ॥ २० ॥ फलिकाताख्य-
 नगरे, वेदांकनवचन्द्रके । श्रीपुष्पचन्द्रमुनिना, शिवाक्षिरसार्गुणैतः
 ॥ २१ ॥ मुनिभिः प्रार्थ्यते शश्वन्महावीरस्य शासने । स्वयं तन्मुनि-
 चर्यायां, मौनमाश्रित्य तिष्ठति । भवान् परिग्रहत्यागी, यद्यस्ति कथनी-
 हशः ॥ २२ ॥ सम्प्रदायप्रवादस्य, परिग्रहरतः कथम् । सम्प्रदायप्र-
 वादस्य, पक्षं कृत्वा पुनः पुनः ॥ २३ ॥ भवन्तः स्वसमाजेन सह
 यान्ति रसातलम् । भवन्तोऽनन्तससारपापसृष्टिं कृता कथम् ? वर्ध-
 यित्वा च स्वस्यैव पतनं कथमिच्छतः ॥ २४ ॥

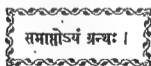
भुजङ्गप्रयातच्छब्दः ।

यदा जीवहिंसापरित्यागिनश्चेद्भवन्तस्तदा सम्प्रदायस्य जाले ।
 जनान् सर्वतश्चात्र घोरे निबध्य, कथं कुर्वते ज्ञानचारित्रनाशम् ॥२५॥
 अनेनाथ देहेष्वनन्तानुबन्धि-कषायस्य बन्धं कृतं तत्र नूनम् ।
 दृढं शृङ्खलावद्धजीवा भवन्तः, पतिष्यन्ति चैवं द्रुतं शर्करादौ ॥२६॥
 विपक्षानुरोधे महामोह एव, समानः स्त्रिया सर्वथा त्यागयोग्यः ।
 सदा सेवनेनास्य नाशं व्रजन्ति, भवद्गुरुचर्यादिकं शश्वदत्र ॥ २७ ॥

विपक्षाख्यवेश्याऽनुरागोऽपहेयः, सदा ब्रह्मचर्यानुरक्तैर्भवद्भिः ।
 महावीरदेवस्य नाम्ना स्वकीयं, मुदा जैनसंघं सृजन्त्वत्र जैनाः ॥ २८ ॥
 यतो बन्धनान्मुक्तभावं व्रजन्तु, भवाहुस्तराज्जन्मतो वापि दुःखात् ।
 यदास्य प्रसंगं भवन्तश्च जैना, न जातु त्यजन्ति युदन्ति भवस्थाः ॥ २९ ॥
 जनो ब्रह्मचारी न कोऽप्यस्ति लोके, नितान्तं व्यभिचारवन्तं न रम्यं ।
 महावीरतत्वोपदेशस्य सारमनेकान्तवादं बुधाश्चानमन्ति ॥ ३० ॥
 भवन्तः सदैकान्तवादे प्रवृत्ताः, स्वतश्चेतरेषां न द्वात्रिंशदाख्यम् ।
 स्वकं सम्प्रदायं विशुद्धं गदन्ति, तथाऽन्यं च निर्दां हि कुर्वन्ति नित्यम् ॥
 यतो वर्धमानस्य वाचो भवन्तो, विलुपन्ति मिथ्यैव किं सत्यमेतत् ? ।
 तदैवं भवन्तं हि जानन्ति सिद्धा, महाऽसत्यपापानुरागेऽनुरक्तम् ॥ ३२ ॥
 द्रुवन्तीह पक्षानुरागं विशेषमहं चामुके सम्प्रदाये प्रवृत्तम् ।
 सदा चेदृशं भावरोगं त्यजन्तु, न हि स्याच्च कल्याणभावं कदापि ॥ ३३ ॥
 परित्यज्य भेदात्मकीं बुद्धिमुग्रां, तदा वर्धमानस्य सिद्धान्तमानम् ।
 विजानन्तु श्राद्धाश्च वीरं भ्रजन्तु, सदाक्षेपवन्तो भवन्तो भवन्तु ॥ ३४ ॥

गुरुर्वो दीक्षायां ग्रहणसमये स्तैयकरणं, परित्याज्यं चेत्यं कथ-
 यति भवत्क्षेममनिशम् । परिशुद्धय्यं प्रतिपदविवादं च कुरुथ,
 तद्देवास्तेयाख्यं व्रतमपि प्रणष्टं प्रतिदिनम् ॥ ३५ ॥ ततो धर्मे नाशं
 श्रजति भवतां वृत्तिरखिला, अतस्त्वच्छ्वौरो न हि सुभुवि कश्चिन्मु-
 निवर ! अतोऽनित्यं साधो ! परिहर मताल्म्यनमहो ! न हि स्यात्क-
 ल्याणं कचिदपि विशेषं व्रतधर ! ॥ ३६ ॥ राग-द्वेषवियुक्तानां,
 समताभावमागताः । वीतरागाः प्रवर्तन्ते, साधवो न हि चेतरे ॥ ३७ ॥
 त्वय्यस्ति यदि रागश्च, द्वेषभावस्तथापरः । देहभावोऽप्यहंभावो-
 मोहभावस्तथैव च ॥ ३८ ॥ नो गतो यदि वो देहान्मुपैव वेपथा-

रणम् । तथोज्वलतरो वेपो, घूर्तत्वं प्रतिभावयेत् ॥ ३९ ॥ कैतवं
समनुप्राप्य, पापकृन्मुनिराडयम् । वीतरागा न केऽपीह, प्रवदन्तीति
योगिनः ॥ ४० ॥ अद्यप्रमृतिमुनिभिर्हीयतां पदवी मुहुः । माना-
पमानयोर्बुद्धिस्तुल्यैव परिधार्यताम् ॥ ४१ ॥ सर्वदा भिक्षुवर्यैश्च,
समदर्शिभिरेव च । ज्ञासनं जिनराजस्य, वर्धनीयं विशेषतः ॥ ४२ ॥
ज्ञातव्यं मुनिभिस्तत्त्वं, मानवधर्ममाचर ! वीरज्ञासनसेवायां, प्रवृत्ता-
श्चेतसा यदि ॥ ४३ ॥ पदवीधारणं मिथ्या, प्रवृत्तिस्तत्र निष्फला ।
नाग्रहस्तत्र कर्तव्य, इति चित्ते समाश्रय ॥ ४४ ॥ जगति *बहुले-
शस्य, मान्यता च सनातने (धर्मे) । तथैव जैनधर्मेषु, (मुनिवर्येषु)
ब्रह्मचार्यस्य मान्यता । इति रोगसमृद्धिः स्याद्विपरीतं कथं भवेत्
॥ ४५ ॥ स्वयं वैद्यश्च रोगार्तो, नान्येषां दुःखहो भवेत् । आचा-
र्याणां बहुत्वस्य, प्रथा हेया मनीषिभिः ॥ ४६ ॥ अखिलजैनसंघस्य
द्वेकश्चाचार्य एव च । कर्तव्यः सर्वथा विद्वन् ! न पुनस्तं विलोपयेत्
॥ ४७ ॥ समाजं कुष्ठवन्नित्यं, क्लिद्यतीति विभावय । कथनेन च
किं तद्वच्छ्रवणेन च किं बहु ॥ ४८ ॥ समाजोऽद्य प्रयागस्य तीर्थ-
वत्किन्वतां मुदा । धारात्रयं मिलित्वैव स्वच्छा स्याद्वादरूपिणी ॥ ४९ ॥
गंगेवेर्यं च ज्ञातव्यं, मुनिभिः सुधिभिः सदा । इत्येवं प्रार्थना शश्व-
त्पुन्दोर्मिभुक्तस्य च ॥ ५० ॥



* बहुलाः ईजसेति पदच्छेदः ।

परिशिष्ट नं० १ वीरस्तुति-गुर्जरगायनं

कंदखाकी-चाल

तार हो तार प्रभु मुझ सेवक भर्णी,
जगत्मां एदलुं सुजश लीजे ।

दास अवगुण भर्यो जाणी पोता तंगो,
दयानिधि दीनपर दया कीजे ॥ १ ॥

भावार्थ—किसी समय धीजिनागमके अभ्यास द्वारा संसार भ्रमण करते हुए, ज्ञानावरणादि आवरणोंसे ढंके जानेपर भी अपनी अनन्त शक्तिको जान पर अनादि परभावामुषंगताके दोषसे उद्धिप्त आत्मा अपनी साधक शक्तिको न देखकर परम निर्गमकके समान २४वें तीर्थंकर धीज्ञातृपुत्र-महावीर भगवान्के नामका शरण निर्धारित करता है, और धीवीरपरमात्माको अन्तरमें अनुभूत करके प्रार्थना सहित विनति करता है और अपनेको प्रभुका दास निश्चित रूपमें समझकर मानो पुकार पुकार कर कहता है कि—हे नाथ! हे दीनदयालो! हे प्रभो! मुझसा निर्बल तत्वसाधक आपकी आज्ञाओंके पालन करनेमें कहां समर्थ है, मुझे तो मात्र नामका सेवक समझ कर तार? तार? इस गुण-रोधकरूप दुःखसे निस्कार! ओह प्रभो! तुम से प्रभुको छोड़कर और किते कहुं? यह इतनासा सुयश आपही लीजिए और मुझे भवजलधिसे पार कीजिए! भगवन्! मुझे यह भी ज्ञात है कि—प्रभुको तो सुयशकी कुछ भी अभिलाषा नहीं है। परन्तु उपचारसे भक्तिवश आपके नाममें आवृत्त होकर यह सब कुछ कहकर मैं ही अपनी अज्ञानताका परिचय दे रहा हूं; यद्यपि मैं अपनेको आपका दास समझता हूं; मगर यह दास तो रागद्वेष-असयम-अनुष्ठानाशंसादि दोष-एकान्ततादोष-अनादर आदि दोषरूप अवगुणसे भरा हुआ है। तो भी मैं तेरा ही कहलाता हूं। अत एव हे दयानिधि! भावकदशासमुद्र! मैं दीन-रंक-अशरण-दुःखित-तल्पशून्य-सम्यग्ज्ञानादिसे-शून्य भावदर्द्रि, तत्वमार्गका विराधक-असंयमचारी-महाविकारशील-आपकी आज्ञासे विमुख-अनादिकालका उदत, आदि २ अनेक दुर्गुणोंसे पूर्ण हूं। इसी लिए मुझ दीन-हीन पर दया कीजिए। तेरी कृपा ही प्राण-शरणके योग्य हो जायगी। यद्यपि 'अर्हन्' प्रभु सदा कृपावान्

ही होते हैं तब उन्हें और नवीन कृपा क्या करनी है? तथापि अर्थाँको पर-
गांठका विचार नहीं होता, इसलिए यह वचन मुझसे 'अर्थी' का ही है, और
जो दयावान् होता है उसकी विशेषता इसी प्रकार वर्णन की जाती है।
अतः देव! तुम कृपाके भंडार हो, तुम्हारा अवलम्बन लेकर ही पार हो
सकूँगा, यह सत्य और निस्संदेह है।

राग-द्वेषे भयों मोह-वैरी नड्यो,

लोकनी रीतमां घणुंए रातो ।

क्रोध घश धमधम्यो, शुद्धगुण नवि रम्यो,

भम्यो भवमांहे हुं विषय मातो ॥ २ ॥

भाषार्थ—हां तो भगवन्! यह दास कैसा है? मुनिए, यह राग-द्वेषके
कीचडमें फँसा हुआ है, जगत्-सागरमें डूबा पडा है, गुणी जनोंसे ईर्ष्या करता
है, मोहके नशेमें वेमुध है, तत्वकी बातोंमें विस्फुल अज्ञात है, विपर्यासका कुछ
ठिकाना ही नहीं है। मोह वैरीने भारी क्षपट मारी है जिसके कारण अपने उस
मोहभावसे स्वयं उसके नीचे दब गया है। तथा लोककी रीतिभाति, चाल-ढाल,
अन्धप्रज्ञा, उलटी टेढी रुढी आदिमें खूब ही मस्य है, लोकोंकी गतानुगतिकता
भेदचालमें ही घरा मम है, अपनी गांठकी अकलसे कुछ भी नहीं निचारता,
लोकोंको प्रसन्न करनेकी बडी चाह लगी रहती है। लोकोंसे डरता भी खूब है
इसी कारण गुप्त अनाचार सेवन करता है, तब लोकोंने भी युगला-भक्तकी
ही उपाधि ली है। श्रेयसे पारा गर्म हो जाता है, चंडपरिणाममें धमधमाय-
मान है। जिस प्रकार भौकनीकी प्रेरणासे अग्नि तप उठता है इसी तरह क्या
बहके इससे भी अधिक क्रोधके द्वारा तप जाता हूँ। शुद्ध गुण जो सम्यग्दर्शन-
सम्यग्ज्ञान-परमशुद्ध चरित्र-क्षमा-मार्दव-आर्जव आदि आत्मगुण हैं, उनमें कभी
रमण नहीं करता, न कभी मैं उनमें तन्मय ही होता हूँ, अपने स्वरूपका प्रहण
भी कभी नहीं किया, सदैव तुसके समान निस्सार परभाव या विभावको ही
स्वीकार किया है, नरक-तियर्थ-अनुष्य-देव आदि चार गति रूप संसारचक्रमें
इसी कारण मारा मारा फिरता हूँ। तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, मानरूप संसृतिमें,
पांच इन्द्रियोंके विषय-स्वादमें उन्मत्त और उन्मत्त हो रहा हूँ। विषयप्रसन्न हो
कर इस भांति विश्वचक्रका कडवा अनुभव ले रहा हूँ, मैं वही अधमदास हूँ,

अतः मुझे तार, तार ! हे नाथ ! वीनबन्धो ! निष्कारण दयालो ! मुझे तार
भव दु खसे बचा, बचा ॥ २ ॥

आदर्शों आचरण लोक उपचारधी,
शास्त्र-अभ्यास पण कोई कीधो ।
शुद्ध श्रद्धान वळी आत्म-अवलम्ब्य विन,
तेहवो कार्य तेणे को न सीधो ॥ ३ ॥

भावार्थ—शायद कभी कोई यह कहे कि—आवश्यक कारणादि आचरण
बहुतपार स्वीकार किया है, मगर उस चरित्रको तो लोकोपचारसे ही किया था
जिससे फिर वह आत्मामें विष तथा गरलके समान परिणत हुआ, क्योंकि अभ्यास
अनुष्ठानसे क्या हो सकता है, यदि भावधर्म नहीं हो तो उसके बिना सब कुछ
वृथा है, और उसे उपचार-गतानुगतिकतासे अंगीकृत किया समझा जाता है ।
हमके उपरान्त कोई यह भी कहेगा कि—उत्तमोत्तम-यथोनामकर्म आदिके विपा-
कसे ज्ञानावरणीयके लयोपशयके योगसे शास्त्रोंका पूर्ण अभ्यास भी तो किया
है, शास्त्रोंका पठन-पाठन किया है, शास्त्रके मर्ममेंसे यथार्थ अर्थको निकाल कर
जगत्में उसका दिव्य प्रसार किया है । तथा अभ्यात्म-भावनासे स्पर्शज्ञानानुभावके
बिना उस श्रुतवा अभ्यास किया गया परन्तु शुद्ध और यथार्थ स्वाहादउपेत-
भावधर्मके बिना शेष भावधर्मकी रुचिसे दान दयादिक जो पुरुषार्थ किया गया
है उन सबको कारण समझना चाहिए परन्तु मूल धर्म नहीं । धर्म तो बस्तुकी
सत्ता है, और वह आत्माके अन्तर्गत-स्वरूपतासे पारिणामिकताकी दशासि स्थित
है । उसमें से जो धर्म प्रकट होता है, वह शुद्ध-श्रद्धान, शुद्धप्रतीति, तथा पुनः
आत्माके स्वरूपको प्रकट करानेवाली रुचि तथा आत्माके स्वगुण-सम्बन्धी
अवलम्बनके बिना जो आचरण किया जाता है तथा ज्ञान-वाससे यदि वह
कार्य किया जाता है, जिस कार्यसे आत्माका सम्बन्ध साधन होता है, उसे
किसीने निर्मित नहीं किया प्रकट नहीं किया । जिसके कारण जो आत्मगुण
प्रकट हो सकता था वह नहीं हुआ । अतः हे परमेश्वर ! इस अधमाधम
दासको सेरी ही कृपा पार कर सकती है इसलिए तार, तार, दास समझकर
तार, अपना दास बचकर तार ॥ ३ ॥

स्वामी दर्शन समो निमित्त लही निर्मलो,
जो उपादान ए शुचि न थासे ।
दोपको वस्तुनो अहवा उद्यम तणो,
स्वामी सेवा सही निकट लाशे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—स्वामी शोबीतराग हैं, जो अन्यके कार्यके भक्तार्ता हैं, पर-
भावादिके अभोषा हैं, इच्छा लीला, चपलता क्रीतुहल आदिसे सर्वथा रहित
हैं, क्योंकि इच्छा तो जनतावान् अर्थात् न्यूनतावालेमें होती है, और परमे-
श्वरतो पूर्ण आनन्दी सहजानन्दी है, इसीलिए स्वामी इच्छा रहित हैं, और
लीला भी मुखकी लालसावालेको ही होती है, और लालचीपना मुखकी जन-
तासे होता है, इसीकारण प्रभुमें लालचीपना भी नहीं है । ऐसे निजानन्द-
विहारी स्वामीके दर्शनके समान निर्मल निमित्तको प्राप्त करके, आत्माका उपा-
दान—मूलपरिणति यदि शुद्ध न होगी तो जानना चाहिए कि यतो वस्तुका
दोष (जीव अवगुणावृत्त) है, या शायद जीवका दल ही भयोग्य है,
कहना न होगा कि इस जीवकी सत्ता किस वंशकी है ? अथवा क्या अपने
उद्यममें कुछ कमी है ? क्योंकि कठोर प्रयत्न और सतत उद्यम करनेपर तो
आत्माका सुधार अवश्य होना ही चाहिए था मगर अबतक कुछ न हुआ ।
इससे स्पष्टसिद्ध है कि—यह जीव अपनी जनताके कारण अपने आत्मीय गुणोंका
स्मरण नहीं करता, इसलिए अब क्या करना चाहिए ? और कोई उपाय भी
तो नहीं सूझता । यही समझ कर श्रीअर्हन् भगवान् महावीर प्रभुकी सेवाको
ही मने आरम्भ स्मरणके लिए अभोष शस्त्र (सावन) समझा है । प्रभुसेवा
ही प्रभुकी समीपताको दिलायगी । क्योंकि बहिरात्मभाव तो इस अवस्थामें
अत्यन्त दुष्ट है । परन्तु जिनराजकी सेवनासे यह दुष्टता दूटजायगी ॥ ४ ॥

स्वामी गुण ओळखी स्वामीने जे भजे,
दर्शन शुद्धता तेह पामे ।

ज्ञान चारित्र तप वीर्य उल्लासथी,
कर्म जीपी वसे सुक्ति घामे ॥ ५ ॥

भाषार्थ—स्वामी अर्थात् शासनपति, अर्हन् प्रभु, श्रीमहावीर भगवान्के गुणोंको पहचान कर जो प्राणी अरिहंतको भजता है उनकी सेवा करता है, वह दर्शन अर्थात् सावरण केवलज्ञान सम्यक्त्व स्वस्वरूपकी छांकी अवश्य प्राप्त करता है । उसे दर्शनकी निर्मलता होती है, यथार्थ आत्म ज्ञान भासता है, चरित्र स्वस्वरूपमें रमण करता है, तप तत्वकी एकाग्रताको प्राप्त करता है, वीर्य आत्मसामर्थ्यका उद्भव करता है, उसके उद्भाससे ज्ञानावरणादि कर्मोंको जीत (क्षय कर) ता हुआ मोक्ष-निरावरण रूप सम्पूर्णसिद्धतारूप अपुनराश्रित धाममें जाकर निवास करता है ॥ ५ ॥

जगद् वत्सल महावीर जिनवर सुणी,
चित्त प्रभु चरणने शरण बास्यो ।
तारजो बापजी ! विरुद निज राखवा,
दासनी सेवना रखे जोशो ॥ ६ ॥

भाषार्थ—जगत् प्रब वत्सल (हितकारी) चौबीसवें महावीर जिन-
वर्के गुणोंको सुनकर मेरा मन प्रभुके चरण (चरित्र) रूपी शरण (मनन)
में बध गया है, अतः हे प्रभो ! भो परमेश्वर ! मेरा आत्मा पलटा छाकर
आत्मका समस्तसाधन करे, ऐसी शक्तियुक्त उद्भव तो मुझमें नहीं देख पड़ता,
इसीलिए सरल भक्तिका आश्रय लेकर कहता हू कि बापू ! मुझे दासके
आप ही पारकरना, और आप अपनी शरकताका विरुद सुरक्षित रखनेके लिए
इस दासकी सेवना (भक्ति) के सामने मत देखना, जो आपकी आज्ञानुसार
भक्ति करता है वह निस्सन्देह पार होता है, परन्तु जगतारक ! मेरे लिए
यह सब श्रुत होना दुर्लभ है, लेकिन जिसप्रकार काठकी सहायिसे लोह और
पत्थरभी पार हो जाते हैं इसी प्रकार आपके संयोगसे पार हो जाऊंगा, और
मुझे अब नियमरूपसे यही एक अन्तिम व्यापार प्रवृत्तरूपमें देख रहा है ॥६॥

विनति मानजो शक्ति ए आपजो,

भाव स्याद्वादता शुद्ध भासे ।

साधि साधकदशा सिद्धता अनुभवी,

“देवचन्द्र” विमल प्रभुता प्रकाशे ॥ ७ ॥

भावार्थ—प्रभो! मेरी इतनी विनय तो अवश्य मानलेना, और मेरा यह वचन भी सरल भक्तिकी प्रेरणासे निकला है। हां वह बात मानना कि मुझे एक बार आत्मसामर्थ्य अर्पण करना, और ऐसा भाव भी प्रदान करना कि- जिसभावसे वस्तुधर्म यानी स्याद्वादकी कसौटीसे नित्य-एक-अनेक-अस्ति-नास्ति-मेद-अमेदद्वारा छहों द्रव्योंके अनन्तशुद्ध धर्म, शंकादि दूषण रहित भासने लगे। साधकदशाकी साधना करके वे मेदरत्नत्रयी, सिद्धता, निष्पद्यता, वास्तविकताका अनुभव करके उसे भोगने लगे। समस्त देवोंमें चन्द्रमा के समान सिद्ध भगवान्की विमल-निर्मल प्रभुताको प्रगट करे, अर्थात् स्याद्वाद ज्ञानके द्वारा साधकता प्रगट होती है, और उस साधकतासे सिद्धता प्रगट होती है, वही एक विलक्षण सार पद्धति है ॥ ७ ॥

गुजराती भावार्थ—कोइक अवसरे श्रीजिनागमना अभ्यासे करीने संसार भ्रमण निमित्त जे ज्ञानावरणादि आवरणे आवृत पोतानी अनन्त आत्म शक्ति जाणीने अनादि परभावानुबंधता दोषने दुःखे उद्विग्न आत्मा ते पोतानी साधकता शक्ति अणदेउतो परमनिर्गमक समान चौवीसमा श्रीवीरभगवान्नां चरण क्षरण निर्धारिणे, श्रीमहावीरप्रभुनी आगत प्रार्थना सहित विनति करे छे जे-हे नाथ! हे दीनदयाल! हे प्रभुजी! मुझ सरीखो जे तत्वसाधक तथा आज्ञानिर्वाह मां असमर्थ, तेने मात्र नामथी सेवक जाणी तार, तार। ए गुण-रोधक रूप दुःखथी नित्यार, तुज सरीखा प्रभु विना बीजा कोने कहुं? जगतमां एटलें मुजश लीजे, यद्यपि प्रभु तो गुजसना कमी नथी, परन्तु उपचारे भक्ति आनुरताए कहे ॥ जे मुज सरीखो दास ते यद्यपि राग द्वेष असंयम अनु-ष्ठानाशंसादिदोष, एकतादोष अनादरादिदोषरूप अवशुणे करी भयो छे, तो पण ताहरो कहेवाय छे। ते माटे हे दयानिधि! भाव करुणाना विधान! दीन जे हुं रंक, अवशरण-दुःखित-तत्वज्ञान-ज्ञानादिसम्पदारहित-भावद्विष्टी-मार्गानो विराधक-असंयमसंचारी-महाविचारी-तमारी आज्ञाथी विमुक्त-अनादिनो उद्धत एहवा मुझ उमर कृपा करीजे, ताहरी कृपा तेहीज आप (क्षरण) थसे। यद्यपि अरिहंत तो कृपावंतज ॥ तो नवी. कृपा श्री करवी छे, तो पण अर्थो विचारे नहीं, माटे अर्थानुं ए वचन छे, जे दयावंतनेज एम कहेवाय छे, जे हे देव! तमे दयाना भंडार छे, तमनेज अवलंबे तरीश। ए सत्य ज छे ॥ १ ॥

दास कहवो छे, राग द्वेषे भयो, जगत्समां पव्यो, गुणथी ईर्ष्या करे छे, मोह जे मुंजितपणुं ते तत्त्वनी अजाणता-विपर्यासता, हेतुयें मोहवेरी नव्यो, तेथी दबाणो छे, तथा लोकनी जे रीत केतां चाल ते माहे घनोज मातो छे, लोकनी चाल (गतानुगतिकता) माहे भ्रम छे, लोकरंजनो अर्था छे, क्रोध जे ताता-चण्डपरिणाम तेहने विषे-धमधमी रखो छे, जेम धमण धमतां भमि तापे, सेम तपी रखो छे, शुद्धगुण जे सम्यग्दर्शन-सम्यक्ज्ञान-शुद्धचरित्र-क्षमा-दया-मार्हव-आर्यवादि आत्मगुण, तेने विषे रम्यो नही, तन्मयी न थयो । ते रूप न भ्रमं, वळी भयो=चतुर्गतिरूपं भवचक्रमाहे द्रव्य-ज्ञेय-यत्न-भावकूप संसार तेने विषे हुं विषय=जे पांच इन्द्रियनां खाद, ते माहे यातो=केतां मम थयो थको एम सप्तरचक्र अनुभव्युं ते हवे प्रभु मुछने तार, तार, हे नाथ ! रीतबन्धु ! निष्कारण दयाल ! मुजने तार, भव दुःखयी उगार ॥ २ ॥

। कदाचिद् कोई कहेशे जे, आवश्यककरणादिक आचरण आदर्शुं=अंगी-कार कर्युं, परन्तु ते सर्व लोकोपचारथी एटले विष तथा गरल तथा अन्यान्या-नुष्ठानथी भावना धर्म विना उपचारे अंगीकार कर्युं, तथा कोई कहेशे के उच-गोत्र यशोनाम कर्मादिकना विषाके ज्ञानावरणीय क्षयोपशमना योगे ब्राह्मिभ्यास पण, क्रीधो, शास्त्र भव्या, शास्त्रना-यथार्थ अर्थ पण, जाण्वा, तथा अप्यात्मनी भावनाए, स्पर्शशानानुभावविना श्रुताभ्यास क्रीधो, परन्तु शुद्ध अने-यथार्थ स्वाहावोपेत भावधर्म, विना शेष भावधर्मनी रुचिये जे दान-दयादिक प्रवर्तन करे छे, ते सर्व कारण समजवा, परन्तु मूलधर्म नथी, धर्म ते वस्तुनी सत्ता, आत्माने विषे स्व-स्वरूपपणे परिणामकताए रखो छे । ते माहे जे, प्रगट्यो ते धर्म, एहयुं शुद्ध ध्यान-शुद्धप्रतीति-तथा वळी आत्माणी स्वरूप प्रगट करवांरूप रुचि तथा आत्मानां स्वगुणने आठंवन विना जे आचरण तेषें आचरणे तथा श्रुताभ्यासे तेहहुं कार्य-जे कार्यथी आत्मानुं साधन भाव, ते कोई नीपन्नुं नहि, जे थकी आत्मगुण कोई प्रगटे ते थकुं नहि, ते माटे अहो परमेश्वर ! साहरीज कृपा पार उतारये, निष्कारये, ते माटे तार ! तार ! ॥ ३ ॥

स्वामी श्रीश्रीतरुण जे परकार्यना अकर्ता, परमाचारिना अभोक्त, इच्छा-लीला-चपलता रहित, एटले जे दरुछा होय छे ते तो ऊपतावंतने ॥, ते माटे
—त छे, वळी लीला पण मुखसुं बालच करवारने होय छे, अने लालची-सुनी ऊनताए धाय छे । ते माटे प्रभुमां लालचीपणुं नथी, एहवा दर्शन (मठ) धामान निर्मल निमित्त लहीने जो ए आत्मानुं उपा-

दान=मूल परिणति पवित्र नहि भये तो जाणवुं जोईये जे वस्तु=जीवनो ज दोष=अवगुण छे, एटले रखे ए जीवनो दल अयोग्य होय। ए जीवनी सत्ता केवी रीतनी छे? अथवा पोताना उद्यमनी खामी छे? केमके आकरे प्रयत्ने=उद्यम करीने तो आत्माने समरवो जोहये, तो ए जीव पोतानी जगाशने लीधे आत्मा समरतो नथी। ते माटे हवे शुं करवुं? जे नीजो उपाय कोई नथी, तो थीअरिहंतनी सेवा तेहीज निधे निकट केतां नजीकता लखे, केतां पमादशे, एटले भा आत्मा तो हवे दुष्ट जेवो थइ रह्यो छे, परन्तु थीजिनउजनी सेवनाथी दुष्टता तजी देखे ॥ ४ ॥

स्वामी जे थीअरिहंत तेहना गुणने ओळखीने जे प्राणी थीअरिहंतने भजे=सेवे छे, ते दर्शन=सम्यक्स्वरूप गुणने पामे छे, दर्शननी निर्मलता पाम्या पछी, ज्ञान=यथार्थ भासन, चरित्र=स्व-स्वरूपमा रमण तप=तत्त्वमां एकाप्रता-धीर्य=आत्म-सामर्थ्य, तेहना उल्लासथी ज्ञानावरणादि कर्मोंने जीपीने मुक्ति=निरा-वरणरूप सम्पूर्ण सिद्धतारूप धाम=स्थानकमा जइने ते बसे छे ॥ ५ ॥

जगन्नयवस्तुल=प्रण जगताना हितकारी, एहवा महावीर भगवान् चौवी-द्यमा जिनवर, तेहना गुण सांभळीने मारो मन प्रभुने चरणने शरणे बसाब्यो छे। ते माटे हे प्रभो! परमेश्वर! माहरो आत्मा तो पलटीने सर्वसाधन करे, एहवी शक्ति देखाती नथी, माटे भद्रक भक्ति कहुं छुं जे हे तात। हे शीन-बन्धो! मुज दासने तमे तारजो, तमारुं तारकतानुं विरुद राखवा माटे दामनी सेवना भक्ति सामु जोधो मा, जे ए आज्ञा प्रमाणे भक्ति करे तो तरे, ए बात तो स्वामिन्! माहुरामां थवी दुर्लभ छे, पण तमारे संयोगे तरीये, एहीज नियमा आधार छे ॥ ६ ॥

“माहरी एटली विनति मानजो, ए पण भद्रिकपणाथी भक्तिनुं बचन छे, जे शक्ति=एवी सामर्थ्य आपजो, ते कहे छे, जे भाव=वस्तुधर्म, ते स्याद्वादरीते नित्य-एक-अनेक-अस्ति-नास्ति-मेद-अभेदपणे छ द्रव्यना अनन्ताधर्म शुद्ध, शंकादि दूषणरहित भासे,=जापपणामां आवे, ते साधि=निपजावीने साधकदशा ते मेद रत्नत्रयी-सिद्धता-निष्पन्नता-अनुभवे=भोगवे, सर्वदेवमाहे चन्द्रमा समान, सिद्धभगवान् तेहनी निमल=निर्मल जे प्रभुतां, ते प्रकाशे=प्रगट करे, एटलेस्याद्वाद ज्ञाने साधकता प्रगटे, साधकताथी सिद्धता प्रगटे छे, एहीज सार पदति छे ॥७॥

वीरस्तुति—

वीर जिनेश्वर चरणे लागुं, वीरपुं ते मायुं रे ।

मिध्यामोह तिमिर भय मायुं, जीत नगाहं वायुं रे ॥ १ ॥

शब्दार्थ—वीर जिनेश्वर=शैवीसर्व वीर प्रमुको, चरणे लागुं=नमस्कार करता हूँ, (और) वीरपुं से=उनके समान, वीरपुं=शूरी वीर भाव, मायुं रे= मैं उनके पाससे यांच द्वारा यांग लेता हूँ; (उनका वीरत्व ऐसा है कि-जिसके सम्मुख) मिध्यामोह=मिथ्यात्व मोहनीय रूप, तिमिर भय=अंधकारका भय, मायुं=दूर भाग खडा हुआ है, और-जीत नगाहं,=जबका नगाह, वायुं= रे=पज रहा है ।

भावार्थ—मैं शैवीसर्व जिनेश्वर धीमहावीरस्वामीकी भाव वन्दना करता हूँ, और कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेके लिए उनमें जो बोद्धापन अथवा जैसा श्रीवीर भगवान्में वीरत्व है, मैं भी अपनेलिए वैसाही चाहता हूँ, और जिनमें मिथ्यात्व मोहनीय कर्मरूप अंधकारका भय नष्ट होययाहै, और फिर जीतका उका बजगया है ।

परमार्थ—मैं श्रीवीरभगवान्की भावसे वन्दना करके अपने लिए वीरत्व पानेकी रांग पेश करता हूँ, श्रीवीरभगवान् केसे हैं, ? जिनका कि-मिथ्यात्वादि मोह दूर होगया है, तथा कर्मरूपी शत्रुओंको पराजय करनेसे जिनका जयपट्ट बजने लगा है, ऐसे श्रीभगवान्को नमस्कार करके मैं वीरता मागता हूँ ॥ १ ॥

छउमत्थ वीरज लेश्या संगे, अभिसंधिज मति अगे रे,

सूक्ष्म थूल क्रियाने रंगे, योगी थयो उमंगे रे, वी० ॥ २ ॥

शब्दार्थ—छउमत्थ=छमत्थ अवस्थाकी, वीरज लेश्या=शायोपशमिक वीर्यवाली, लेश्या=आत्म परिणामकी एक दशा, (उसके) संगे=संयोगके द्वारा (तथा) अभिसंधिज=अभिसंधि जनित-योगाभिसंधिजनित-योगको ग्रहण-करनेकी-अपने आप ही होनेवाली इच्छसे उत्पन्न-मति=बुद्धि, (उसके) अगेरे=उसकी छायाके कारण (तथा) सूक्ष्म=आत्मिक, (और) थूल=व्यावहारिक, क्रियाने रंगे=क्रियाका समाचरण करनेके उत्साहसे (वीरभगवान्) योगी थयो=योगी बनगए, उमंगेरे=उमंगके साथ-न कि जबरदस्तीसे,

भाषार्थ—उद्यस्य अवस्थाकी छायोपशमिक वीर्यवाली आत्मपरिण-
तिके योगसे, और योगको ग्रहण करनेकी अपनी निजी इच्छासे उत्पन्न होने-
वाली बुद्धिसे, आत्मिक और व्यावहारिक क्रिया करनेके उत्साह द्वारा धीवीर
भयवान् बनी भारी उमंगके साथ योगी हुए हैं ।

परमार्थ—इस भाषाद्य भाषार्थ भक्ति प्रकार समाप्तमें नहीं आता,
अतः प्रसंग्यतासे इसका अर्थ समझना चाहिए । तथापि यथा मति लिखा
गया है, उद्यस्य अवस्थामें आत्माको छायोपशमिक वीर्यका उद्गम जब प्राप्त
होता है और उस समय उसके साथ बेशी ही शुभ उद्देश्या मिलजाती है, अतः
फिर अन्वयरूप वीर्यकेद्वारा कर्मग्रहण करता है, इस कर्मग्रहण करनेकी दशाको
अभिर्भूयिज कहते हैं, और तब फिर मति उपर्युक्त वीर्यको ग्रहण करती है ।

देहकम्पनरूप सूक्ष्म-क्रिया, और शरीरसंकुचनरूप, एवं उद्यस्य प्रसरण
करणरूप, प्रसारणकी क्रियाको स्पृन् क्रिया कहते हैं, इस प्रकार स्पृन् और
सूक्ष्म क्रियाके रंगसे सब आत्मा बनी उमंगसे योगी होते हैं । अर्थात् वे
मन-वचन- और शब्दके योगको प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

असंख्य प्रदेशो वीर्य असंख्यो, योग असंसित करेरे,

पुद्गल गण तेणे लेशु विशेषे, यथाशक्ति मति लेखेरे ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—असंख्य प्रदेशे=आत्माके असंख्य प्रदेश हैं, (अतः उन
उन प्रदेशोंका वीर्य एकत्र करने पर) वीर्य असंख्यो=असंख्य-जो गिना न जाय
इतना आत्म-मल है, (इसीसे आत्मा) योग असंसित=असंख्य योग-मन-
वचन-शब्द के व्यापार, (उनकी) करेरे=अमिलपित अर्थको पूर्ण करनेमें
समर्थ होता है, [और] पुद्गल गण=पुद्गलकी विविध वर्णनाओंको, तेणे=इसी
धरम, लेशु विशेषे=उद्देश्या विषयसे-भिन्न भिन्न उद्देश्याओंसे, यथाशक्ति=
शक्तिके अनुसार, मति=बुद्धि, अनुभवांकित रहती है, एकके पश्चात् एक
को ग्रहण करके माप करती रहती है ।

परमार्थ—आत्माके असंख्य प्रदेश हैं, और उन एक एक प्रदेशमें
असंख्य वीर्य-शक्ति है, इससे असंख्य योगी आकांक्षा उत्पन्न होती है,
और योग सामर्थ्यके अनुसार आत्मा कर्म-वर्णनके पुद्गलोंको यथाशक्ति
ग्रहण करता है ॥ ३ ॥

उत्कृष्टे वीरजने वेसे, योग क्रिया नवी पेसे रे,

योग तणी ध्रुवताने लेसे, आत्मशक्ति न सेसे रे ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—(लेकिन) उत्कृष्टे वीरजने वेसे=उत्कृष्ट, कार्यके आवेशमें जब कि सबसे अधिक वीर्य-उत्सव होता है तब, योगक्रिया=मन-वचन-कार्यरूपी योगका व्यापार, नवी पेसेरे=प्रवेश ही नहीं करता, होता ही नहीं, (क्योंकि उस समय) योगतथी=योगी, ध्रुवताको=अचलताको, लेसे=लवलेशमात्र भी, आत्मशक्ति=आत्मबल, न सेसेरे=डिगाता नहीं, योग स्थिर हो जानेके कारण ।

भावार्थ—जब आत्मामें सबसे अधिक वीर्य प्रगट होता है तब मन-वचन और कार्यका कर्म बंधनरूप कार्य प्रवेश ही नहीं करता, कारण यह है कि—उस समय आत्मबल है, उस योगके अचलत्वको लवलेश मात्र भी डिगा नहीं सकता, ॥ ५ ॥

परमार्थ—उपरोक्त कथनानुसार आत्मा योगकी शक्तिके अनुसार कर्म पुद्गलको ग्रहण करता है, परन्तु यदि आत्मामें उत्कृष्ट वीर्य प्रगट होगया हो तो फिर मन-वचन-कार्यके योग लगभग बंद हो जाते हैं, और कर्मवन्धनरूप क्रियासे फिर आत्मामें कर्म-बंध नहीं होता ।

योगी ध्रुवताका लेश तब आत्माओंमें होता है, और उस लेशमात्रसे भी आत्माके अठ दबक प्रदेश कर्मवन्धसे निरक्त (अलग) रहते हैं । यह दृष्टान्त है । अत एव ज्यों ज्यों आत्मामें उत्कृष्ट वीर्य प्रगट होता रहता है, त्यों त्यों कर्मबन्ध भी कम हो जाते हैं, और अन्तमें सम्पूर्ण वीर्यत्व प्रगट होने पर वीरभगवान्की तरह समस्त कर्मबंधका नाश हो जाता है और शुद्ध चैतन्यत्व प्राप्त होता है, अतः हे भगवान्! मुझे वीरता अर्पण करो ! ॥ ४ ॥

काम वीर्य वशे जेम भोगी, तेम आत्मा थयो भोगीरे,

रूपणे जातम उपयोगी, याय तेह असोगी रे ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—कामवीर्य वशे=श्री लिंगकी इच्छा होने पर, वीर्य बलसे, जेम=जिस प्रकार भोगी=भोग कर्ता होता है, जेम=इसी तरह, आतम थयो भोगीरे=आत्मा, (जबने वीर्यत्वसे दाय ज्वरने पुर्णोच्च) भोगी बनता है,

(और) शूर पणे=शौर्य गुणके बलसे, आत्म-उपयोगी=अपने भावमें उपयोगवान् रहकर, थाय तेह अयोगीरे=वह आत्मा उसी समय अयोगी गुणस्थान पर आरूढ होता है।

भावार्थ—क्षीसंगकी इच्छा होने पर वीर्य अर्थात् धातुके उल्लाससे जिस प्रकार जीव भोगकर्ता सिद्ध होता है, इसीप्रकार आत्मा अपने वीर्य उल्लाससे अपने गुणोंका भोगी बनता है, और शौर्यगुणके बलसे निजभावमें उपयोगवान् रहकर वह आत्मा नुरत अयोगी-गुणस्थानारूढ होता है।

परमार्थ—जिसप्रकार कामी पुरुषमें वीर्यकी अधिकता होनेके कारण उसे प्रबल कामेच्छा होती है, इसीप्रकार पुरुष स्त्री की, और स्त्री पुरुष की इच्छा करती है, अथवा काम अर्थात् इच्छा, वह द्रव्यादिककी इच्छावाला जिस प्रकार द्रव्यकी इच्छा करता है, और पर-भावकी वाञ्छा करता है, इसी तरह आत्मा भी स्व-स्वरूपको न जाननेके कारण पर-पौद्गलादिक भोगोंकी वाञ्छा करता है।

परन्तु जब आत्मामें शूरवीरताका संचार होनेपर वीरभाव प्रगट होता है, तब कर्मोंका क्षय होने पर अपने स्वरूपको जानता है। इससे उसे पर वस्तुओंपर अभाव- (अप्रीति) होता है, आत्मा निजगुणमें रमण करता है, मन-वचन और शयके योगको स्थिर करता हुआ नवीन कर्मोंको नहीं बांधता। और अन्तमें अयोगी हो जाता है। इस लिए वीरत्व प्राप्त होने पर आत्माका कार्य सिद्ध होने वाला समझ कर भगवान्के पास वीरता ही मांगी है ७५ ॥

वीरपुं तु ते आत्म ठाणे, जाण्युं तुमची वाणे रे,

ध्यान विनाणे शक्ति प्रमाणे, निज ध्रुव पद पहिचाणे रे, वी० ॥६॥

शब्दार्थ—वीरपुं=शूरवीरता, (उसे,) ते आत्म ठाणे=वह आत्मगुणस्थानपर चढता हुआ, [परिपूर्ण होना चाहिए इस प्रकार] जाण्युं=मैं जान सकाहूँ, [किसके द्वारा जान सकाहूँ ?] तुमची=आपकी, वाणे रे=वाणी द्वारा-आपके प्रतिपादन किए हुए आगम द्वारा, (तथा) ध्यान विनाणे शक्ति

प्रमाणे=अपनी शक्तिके प्रमाणसे ध्यान और विज्ञानसे, निज=अपना, ध्रुवपद= (परिणामकी स्थिरताको पाकर) शांतिरूप अचल पद, पहिचाने=पहचानने से ।

भाषार्थ—आरमगुणस्थानपर चढतेसमय परिपूर्ण शूरवीरता होनी चाहिए जिसे मैं अब जान सक्र हूँ, किसलिए ? आपकी वाणी द्वारा, अर्थात् आपके उपदेशसे, पुनः मेरी निजी शक्ति के अनुसार ध्यान और विज्ञानके साहाय्यसे भी कुछ जाना है, यानी ध्यान और विज्ञानका जितना बल होता है, उतना ही, अथवा उसी प्रमाणमें अपनी वीरताका स्थिरपद जीव इन निमित्तोंसे पहचान लेता है ।

परमार्थ—भगवान्के पाससे वीरताकी यांचा का विचार करते समय भगवान्के प्रतिपादन किए हुए उपदेशका स्मरण हुआ, इससे स्वयं ही प्रसन्न होकर कहता है कि प्रभो ! मेरी जो जो भूल हुई हैं उनका मुझे भान हुआ, अब तक मैं आपसे वही निवृत्ति करता रहा था कि—मुझे वीरता अर्पण करें, परन्तु मांगसे पहिले आपने कर्मादा है कि—समस्तआत्माएँ मेरे समान हैं । अतः जो वीरतामें पहिले आपसे मांग रहा था, वही वीरता मुझमें भी है । परन्तु खेद है कि इस बातकी मुझे जरासी भी खबर न थी, परन्तु आपकी वाणीसे—आपके तत्वपूर्ण उपदेशसे मुझे विश्वास हुआ है कि यह वीरता मुझमें भी पर्याप्त और अर्याद है ।

तब यह प्रश्न होता है कि—जब आपके समान वीरता अपनेमें भी है तब तुम उसे क्यों नहीं जानते थे ? और भगवान्ने कहा है कि—इसके अतिरिक्त वीरता अपने आत्मामें है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है, इसी प्रकार गुरु परम्परासे यदि विलोप ज्ञान प्राप्त हुआ हो तो उससे भी अनुभव हो सकता है, जिस प्रकार ध्यान और ज्ञानकी विशेषता है, इसी प्रकार आत्मानुभवकी भी विशेषता जाननी चाहिए । मुमुक्षुओंको ज्ञान और ध्यान को गुरुगमतासे जान कर आत्मानुभव करनेमें प्रवृत्ति करनी चाहिए, क्योंकि इस स्वदनका आशय यही है, और हमारी धारणा भी यही है ॥ ६ ॥

आलम्बन साधन जे त्यागे, पर परिणतिने भागे रे,

अक्षय दर्शन ज्ञान वैरागे, 'आनन्दधन' प्रभु जागे रे, ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—[पूर्ण वीर्योत्साससे शूरवीर बन कर] आलंबन=असमर्थ दशामें लियाहुआ आश्रय, (तथा) साधन=समस्त साधन-उपकरण, (उनको) जो=जो महात्मा, त्याग=छोड़ देते हैं, पर परिणति=आत्मासे धन्य-पुद्गलादिका स्वभाव (उससे), मागेरे=दूर होजाता है, (वह) अक्षय=जिसका क्षय न हो, ऐसे शाश्वत, दर्शनज्ञान वैरागे=ज्ञान-दर्शन और चरित्रके द्वारा, आनन्दपन=आनन्दसे भरपूर, प्रभु=परम समर्थ-परमात्मा-ईश्वर, (होकर) जागेरे=(सदैव) ज्ञानसे जागृत रहता है ।

भाषार्थ—सम्पूर्ण वीर्योत्साससे शूर वीर होकर जो पुरुष असमर्थ दशामें पहले लिए हुए आलंबनों को और समस्त (अत्यावश्यक) उपकरणोंको भी छोड़ देता है, उस आत्मासे पर जो पुद्गलादिका विभाव है वह दूर होजाता है, पुनः वह महात्मा पुरुष जिसका कमी क्षय न होने पावे, ऐसे शाश्वत ज्ञान-दर्शन और चरित्रसे, आनन्दपदसे भरपूर परमात्मारूप होकर सदैव ज्ञानपूर्वक जागता रहता है, अथवा 'आनन्दपन' कवि कहते हैं, कि-प्रभु-आत्मा जाग जाता है, यानी अनादिकी कंपसे आत्मा जागृत हो जाता है अर्थात् विभावदशाको त्याग कर स्वयं परमानन्दरूपमें मग्न हो जाता है ।

परमार्थ—आत्मा अनादिकालके पुद्गल सम्बन्धी आधारसे अपना कार्यकरना त्यागदेता है, तब आत्माका अखंड-शुद्ध-चेतन्यत्व सम्यग् ज्ञान-दर्शन और चरित्रद्वारा प्राप्त करता है । और अनादि-कालसे आत्मा जिस पुद्गलके संगमें पड़ा कंथ रहा है, उसीसमय जग कर स्वयं अपने स्वरूपको प्राप्त करता है अथवा 'आनन्दपन' कवि कहते हैं कि-यह आत्मा पर वस्तुका संग छोडदे और अपना निजी अवलम्ब रखे, तथा परानुयायीपन छोडदे तो उस रत्नत्रय के आराधनसे यह आत्मा तुरन्त मोक्षको प्राप्त होता है, ॥ ७ ॥

गुजराती भाषार्थ—चोवीसमां जिनेश्वर श्री महावीर स्वामीना चरणोमा हुं वन्दन कर्षं हुं अने कर्मरूपी शत्रुओने हणवामां जे योद्धापणुं, अथवा जेवुं धीवीर भगवाननुं वीरपणुं छे, तेवुं वीरपणुं हुं मायुं छुं, बव्ये जे प्रभुनो मोहनीय कर्मरूपी अन्धकार-भय नष्ट ययो छे, अने कर्मरूप शत्रुओनो पराजय करवाधी जेभनो जयपटह वाग्यो छे, एवा धीवीरभगवान्ने पगे त्यागीने हुं वीरपणुं मायुं छुं, ॥ १ ॥

આ ગાથાનો ભાવાર્થ મને ચરાચર સમજાયો નથી, માટે ગુરુમયી ધારવો, તો પણ ચયામતિ લલ્લો છે, છત્રસ્થાવસ્થામાં આત્માનું ક્ષાયોપશમિક વીર્ય હોય છે, અને તેની સાથે તેવીજ લેશ્યા મળે છે, એટલે જોડાયેલાં વીર્યે કર્મ-પ્રહણ કરે છે, આ કર્મ પ્રહણ કરવાની દશાને અભિસધિજ કહે છે, અને મતિ ઉપર્યુક્ત વીર્યને પ્રહણ કરે છે ।

દેહકમ્પનરૂપ સૂક્ષ્મ ક્રિયા અને શરીર સકોચવા રૂપ સેમજ તેનો પ્રસાર કરવારૂપ પ્રસારણની ક્રિયાને સ્પૂલ ક્રિયા કહે છે, એટલે તે મન-વચન અને કાચના યોગને પામે છે । ॥ ૨ ॥

જેની સંખ્યા ન આવે તે અસહ્ય કહેવાય. આત્માના અથવા વીજા પ્રથોના સૂક્ષ્મમાં સૂક્ષ્મ આક્રમણના વિભાગમાં રહેલો જે ભાગ તે પ્રદેશ કહેવાય છે । આત્માના આવા અસહ્ય પ્રદેશો છે, અને તે એકે એક પ્રદેશમાં અસહ્ય વીર્ય છે, તેવીજ આત્મા મન-વચન-અને કાચના અસહ્ય યોગની કાક્ષા-અભિલાષા ધાય છે, અર્થાત્ તે યોગો સાધ્ય-પ્રગટ કરવાને સમર્થ છે, અને તે હેતુથી પુદ્ગલની જુદી જુદી વર્ગબાઓને વિવિધ પ્રકારની લેશ્યાઓથી ઘાકિમુજબ ભુક્તિ-લેતી રહે છે, અર્થાત્ એક પછી એક પ્રહણ કરીને ચાપતી રહે છે । ॥ ૩ ॥

આત્મા યોગની ઘાકિને અનુસારે કર્મપુદ્ગલ પ્રહણ કરે છે । પણ જો આત્મામાં ઉત્કૃષ્ટ વીર્ય પ્રગટ થયું હોય તો પછી મન-વચન-કાચના યોગ ભગ બંધ ધાય છે, અને કર્મબાંધવા રૂપ ક્રિયા થી આત્મામાં કર્મબંધ પતી નથી ।

યોગની ધુવટાનો લેશ નષ્ટા આત્મામાં હોય છે, અને તે લેશમાત્રથી પણ આત્માના આઠ રુચક પ્રદેશ કર્મ બંધથી મિરલ રહે છે, એ દ્યન્ત છે । માટે જેમ જેમ આત્મામાં ઉત્કૃષ્ટ વીર્ય પ્રગટ થાય, તેમ તેમ કર્મબંધ કમલી થાય, અને છેવટે સમ્પૂર્ણ વીર્યપણું પ્રગટ થતાં વીર ભવવાનની પેઠે સમસ્ત કર્મ-બન્ધનો નાશ ધાય, અને શુદ્ધ ચૈતન્યપણું પ્રગટ ધાય તેવું છે । માટે હે ભગવાન્ ! મને વીરપણું આપો ! ॥ ૪ ॥

જેમ કર્મી પુરુષમાં વીર્યનો વધારો થતાં તેને પ્રવલ કામેચ્છા ધાય છે, તેવી પુરુષ સ્ત્રીની અને સ્ત્રી પુરુષની ઇચ્છા કરે છે । અથવા કામ એટલે ઇચ્છા, તે દ્રવ્યાદિકની ઇચ્છાવાલો જેમ દ્રવ્યની ઇચ્છા કરે છે, અને પરભાવને વાંછે

छे, तेम आत्मा पण स्व-स्वरूपना अजाणपणाची पर जे पुद्गलादिक तेना भोगनी वापटा करे छे ।

पण ज्यारे आत्मामां श्रुतपणुं अथवा वीरपणुं प्रगट नाय छे, ह्यारे कर्मोनी क्षय यतां ते पोतानुं स्वरूप जाणे छे, तेथी पर वस्तुपरधी तेने अभाव थाय छे, आत्मा पोतामां रमण करे छे, मन वचन अने कयना योगने स्थिर करी नवां कर्मों बांधतो नशी, अने छेवटे अयोगी पण थाय छे । तेथी वीरपणुं प्राप्त यतां आत्मालुं कर्म यवालुं जाणी प्रभु पाछे वीरपणुं माग्युं छे । ॥ ५ ॥

भगवान् पाछे वीरपणुं मागवानुं विचार करतां भगवाने करेला उपदेशनुं स्वरण ययुं । तेथी पोतेज सुशीयईने कहे छे के हे प्रभो ! मारी जे भूल छे, ते मने जणाई, अलार सुधी में आपने विनंति करी के मने वीरपणुं आपो, पण मारी मागणी पहला आपे कहेलुं छे के ममाम आत्मा मारा जेवा छे, एटछे जे वीरपणुं हुं आपनी पाछे माग्युं लुं, ते वीरपणुं मागमांज छे, पण ते वातनी मने खबर न होती, परन्तु आपनी वाणी थी एटछे आपना उपदेशची मारी पात्री थई छे के ते वीरपणुं मागमां छे ।

ह्यारे प्रथम थाय छे के ज्यारे वीरपणुं तमागमां छे तो तमे केम न होता जाणता ? अने भगवाने क्युं छे के ते शिवाय वीरपणुं पोताना आगमां छे । ते जाणवाने थीनुं साधन छे के केम ? तेनो उत्तर कहे छे के ध्यान करवाची वीरपणुं पोतानां उद्भव थाय छे, अने तेनो प्रत्यक्ष अनुभव थई शके छे तेमज गुह्यरम्यपणी विशेष ज्ञान प्राप्त ययुं होय तो तेथी पण अनुभव थई शके छे, ज्ञान अने ध्याननी जेम विशेषता थाय छे तेम आन अनुभवनी पण विशेषता जाणवी, मुमुक्षुभीए ज्ञान अने ध्यानने गुह्यमथी जाणी आत्मअनुभव करयामां प्रवृत्ति करवी ए आ स्वप्ननुं रहस्य छे एम हुं धाहं लुं ।

आत्मा पुद्गलना आधारची पोतानुं कर्म करतानुं त्यागे, अने पुद्गलनुं आलम्बन जो छोटी दे तो अखंड शुद्ध चैतन्यपणुं सम्यग्ज्ञान-दर्शन अने चरित्रवडे प्राप्त करे, अने अनादिकालची आत्मा जे पुद्गलना संगमां जंघलेतो पडेले छे, ते जाणीने पोतानुं स्वरूप प्राप्त करे छे, अथवा आनन्दधन कवि कहे ॥ के आत्मा पर-वस्तुनो संघ छोडे, पोतानुं अवलम्बन राखे, अने परानु-चामी पणुं तजे तो रत्नप्रवीना आरुपनची मोड पाने ।

: वीरस्तुति-

धन धन जनक 'सिद्धार्थ' राजा, धन विशाल देवी मात रे प्राणी ।
 ज्यां सुत जायो गोद खिलायो, वर्धमान विख्यात रे प्राणी,
 श्रीमहावीर नमो 'वर प्राणी,' शासन जेहनो जाण रे प्राणी,
 प्रवचन सार विचार हिए में, कीजे अर्थ प्रमाण रे प्राणी, २
 सूत्र-विनय-आचार-तपस्या-चार प्रकार समाधि रे प्राणी,
 ते करिये भवसागर तरिये, आत्म भाव आराधि रे प्राणी, ३
 ज्यों कंचन सिंहुं काल कहीजे, भूषण नाम अनेक रे प्राणी,
 त्यों जगजीव चराचर योनि, हे चेतन गुण एक रे प्राणी, ४
 अपना आप विषे थिर आत्म, सोऽहं हंस कहाय रे प्राणी,
 केवल ब्रह्म पदारथ परिचय, पुद्गल भरम मिटाय रे प्राणी, ५
 शब्द-रूप-रस गंध-न जामे, नहीं स्पर्श-तप-छांह रे प्राणी,
 तिमिर-उद्योत-प्रभा-कलु नाहीं, आत्म अनुभव मांहि रे प्राणी, ६
 सुख-दुःख जीवन मरण अवस्था, ए दशम्याण संगत रे प्राणी,
 इणयी भिन्न विनयचंद रहिये, ज्यों जलमें जलजात रे प्राणी, ७

भावार्थ—'सिद्धार्थ' राजा और 'विशाल' देवी प्राणीके धन्वदाह है, जहां 'वर्धमान' जैसे पुत्र उत्पन्न हुए, उन्होंने अपने अंकमें उसको खिला रमा कर अपनी शोष पूरी की, और वर्धमान नामसे तो तीनों लोकमें विख्यात हुए, अपर नाम महावीर भगवन् । जो भेष्ट और निर्मल केवलज्ञान युक्त हैं, जिनका इस समय शासन बल प्रचलित हो रहा है, और भावी कालमें भी १८५०० वर्ष तक चलेगा, उन्हें भेष्ट योग और करणकी श्रुतिसे नमस्कार है, जिनके प्रवचनका सार आत्मभान और परमात्म विचार है । यदि उसका मनन और निदिध्यासन किया जाय तो यह आत्मा मोक्षकी पूर्ति क्षीप्र ही कर सकता है ।

ज्ञात-नन्दन महावीरप्रभुने 'सूत्र' 'विनय' 'आचार' और 'तपस्या' ये चार प्रकारकी समाधि मन्व ऋषियोंके कल्याणके अर्थ प्रतिपादन की हैं,

जो जितेन्द्रिय संयमी सदैव अपने आत्माका विनयसमाधि-श्रुतसमाधि-तपः समाधि और आचारसमाधिमें रमण करते हैं वास्तवमें वे सबे परिष्कृत होते हैं.

विनय समाधिके चार प्रकार—विनय समाधिके चार भेद इस प्रकार हैं जिस गुरुके पाससे शिक्षण प्राप्त किया है, उस गुरुको महा उपकारी समझकर उसकी सेवा करे, उसके समीपमें रहकर विनयका समाचरण करे। गुरुके वचनका यथार्थ रूपमें पालन करे। और विनयी होनेपर अहंकारी न बने। मोक्षार्थी साधक सदा हितविधाकी इच्छा रखता है, उपकारी गुरुकी सेवा करता है, गुरुके समीपमें रह कर उनके वचनका पालन करता है, और अभिमानसे मग्ने गर्बिष्ठ नहीं बनता। वही विनय समाधिका आरधक समझा जाता है।

श्रुत समाधिके चार प्रकार—“अभ्यास करनेसे मुझे सूत्र विद्वान्तका परिपक्व ज्ञान होगा” यह समझ कर अभ्यास करता है, “अभ्यास करनेसे मेरे मनकी एकाग्रता होगी” यह जानकर श्रुतका अभ्यास करता है। “अपने आत्माको उत्तम और सद्धर्ममें परिपूर्णतया स्थिर रहूंगा” यह मान कर अभ्यास करता है, यदि-में समता पूर्वक धर्ममें स्थिर रहूंगा तो औरोंको भी धर्ममें स्थापन कर सकूंगा। श्रुतसमाधिमें अनुरक्त रहनेवाला साधु सूत्रोंको पढ़कर ज्ञानकी, एकग्र चित्तकी, धर्मस्थिरताकी तथा औरोंको धर्ममें स्थिर करनेकी शक्तिका सम्पादन करता है, अतः साधकको श्रुतसमाधिमें तल्लीन रहना चाहिए।

तपः समाधिके चार प्रकार—सच्चा साधक इस लोकके स्वार्थ-सुखके लिए तप नहीं करता, परलोक स्वर्ग सुखके लिए तप नहीं करता; फीति, वर्णन (श्रम) के लिए भी तप नहीं करता, और पाप कर्मको बखेरनेवाली निर्जरके अतिरिक्त किसी भी अन्यकारणसे तप नहीं करता, वही तपसमाधिके योग्य होता है। तपसमाधिमें सदैव लगा रहनेवाला साधक भिन्न-भिन्न प्रकारके सद्गुणोंके अण्डाररूप तपमें सदैव तन्मय होता है। किसी भी प्रकारकी भाषा रखे बिना कर्मशील करनेवाली निर्जरा भावनाके लिए प्रयत्न करे तो तपकेद्वारा वह पुराने पापकर्मोंको दूर कर सकता है।

आचार समाधिके चार प्रकार—कोई भी साधक इस लोकके स्वार्थकी पूर्तिके अर्थ ग्रमणके सदाचारोंका सेवन नहीं करता, पारलौकिक

स्वार्थके लिए भी सदाचारों का सेवन नहीं करता। कीर्ति-वर्ण-शब्दके लिए भी साधुके आचारोंका पालन नहीं करता। (अर्थात्) अहर्नन्देके फर्मानके मुजब निर्जराके हेतुको छोड़ कर किसी भी स्वार्थके लिए आचारका पालन न करके मात्र निर्जराय ही आचार पालन करता है। जो साधक दमितेन्द्रिय है, सब-रित्रसे आत्मसमाधिक अनुभव करता है, महावीरके वचनोंमें अपनेको अर्पण कर चुका है, वाद-विवादसे विरत और सम्पूर्ण क्षयिकभावको पाकर जिसका आत्मा मुक्तिके निकट हो जाता है। वह साधक इन चार समाधिओंसे आत्माका आराधक होकर-मुविशुद्ध होकर चित्तकी मुसमाधिकी साधमें लगकर परमहितकारी और अपना, एकान्त, भुषणकारक क्रियाणस्थान खुद ही प्राप्त करता है। समाधिसे जन्म और मरणके चक्रसे मुक्त होकर शाश्वत सिद्ध होता है। यदि थोड़े बहुत कर्म बांधे रह गए हों तो महान् ऋद्धियुक्त उच्च और सर्वोत्तम कोटिक 'देव' होता है ॥ ३ ॥

आत्मा सुवर्णकी तरह है, धामूषणोंकी तरह वह पर्यायी है, बराबर जगत् और चौरासीलख जीवयोनि चारगति इसके पर्याय हैं। परन्तु चेतना गुण धमका एक है, समान है, किसीका किसीप्रकारसे अन्तर नहीं है।

‘अपने आत्माको निजस्वभावमें स्थापन कर, तब सोहं का भास होगा, इस अनुभवके पश्चात् (हंसः) परमात्मरूप (स्वच्छ) हो जायगा, परभावको छुड़ाने वाला केवल-ब्रह्मपदार्थका परिचय पुद्गलपरिणतिका भ्रम मिटा देगा। इसीका अभ्यास चरित्र-भात्म रमणता है, जो कर्मरजको छनकर आत्मद्रव्यको पृथक् प्रगट करदेता है।’

“इस आत्मामें शब्द-रूप-रस-गंध-स्पर्श-आतप-छाया-अन्धकार-उद्योत-प्रभा-आदि कुछ भी नहीं है, और आत्म-अनुभव होनेपर ब्रह्म पदार्थका मोह और ये दश जड वस्तुएं आत्माके पास कभी फटक ही नहीं सकतीं।”

“तथा सुख-दुःख जीवन-मरण-सम्बन्धी अवस्थाएँ इन १० वाह्य प्राणोंके साथ हैं, इनका पवित्र और स्थायी-प्राणोंके साथ कोई संबन्ध नहीं, विनयधर्मकी साधनामें चन्द्रमाके समान उच्च और पवित्र महावीर प्रभु उनसे इतने प्रकार भिन्न हैं जिसे प्रभर प्रखर कीचट और गंभीर जलसे उत्पन्न होकर कमलदल पानी और कीचटसे अलग रहता है।”

विनयचंद्र (कुंभट)

महावीर थुई नो गुजराती काव्यानुवादः

आज सुधर्मा केहेता प्यारा जंबुने, वीरप्रमुना पंचम गणधर घीरजो,
 संयमसागर शिष्य बडा ते जंबुजी, पूछे गुरुने अम भांगो गंभीर जो ।
 कहो गुरु आ भवसिंधु उतारवा, कोणे आप्यो उत्तम अमने धर्म जो,
 साधु संघने अन्य पंथना सज्जनो, पूछे आवी धर्म तणो सौ नर्म जो ।
 अनन्य मंगल धर्म दीधो जे व्यक्तिष, ते समजावो टळवा सौ अनर्थ जो,
 गुरु ज्ञानी छो आप महा आ विश्वमां, तेथी पूछुं प्रश्न तणो हुं अर्थ जो १
 कहो स्वामी ते ज्ञान धरे कइ जातना, कइ पंक्तिना तेना दर्शन शील जो,
 श्रवण कर्युं के जोयुं जे आपे प्रभु, बोले ! खोली दिलना द्वार अखिल जो २
 मधुर वाणी आ सुणी सुधर्मा बोलीया, जाणे चाली सुधा शब्दनी धारजो,
 विश्वसकळनो दुःख जाणतो नाथ जे, वीरप्रभु ते आव्या आ संसार जो ।
 कर्मरिपु संहार करी ते पामीआ, अनन्त दर्शन-ज्ञान तणो भंडार जो,
 सूक्ष्म विषये दृष्टि तेनी स्थिर छे, कुशल प्रभु ते दीप्या जग मोझार जो ३
 सर्व दिशामां बसता जे त्रस स्थावरो, मान्या तेने 'नित्य' अने 'अनित्य' जो
 द्रव्य थकी तो मानी तेनी नित्यता, पर्याये तो मान्या छे अनित्य जो ।
 घोर तिमिर जे विश्व मही व्यापी रहुं, अनन्य दीपक तेहना छे भगवान् जो
 सर्व जीवोपर राखीने समभावने, अर्पण कर्ता धर्म तणुं तो पान जो ४
 सर्वदर्शी सर्व विषयने जाणता, जीत्या चारे गति-श्रुत आदि ज्ञान जो,
 केवळज्ञानी निज आत्मांमां स्थिरते, शुद्धचरितनां गातां जन गुणगान जो
 सर्वपुरुषमां पुरुषोत्तम ते ज्ञानी छे, परिग्रह केरो संग नहीं तळभार जो,
 लोक तणा तो मय तेने नहि पागता, जन्ममर्णनो स्पर्श नहीं लगाए जो ५
 प्रज्ञा तो बहु तीव्र हती भगवान्नी, वन्धन विण ते करता सदा विहार जो,
 भवसिन्धुनी पार गया छे स्वामी ते, पाप्या ते श्री अनन्त ज्ञान भंडार जो ।

वृक्ष मर्हि तो शाल्मलीने जाणवुं, काननमां नहि नन्दनवननी जोडजो,
 शाल्मलीने नन्दनवनना आशरे, सुपर्ण सरखा देव करे प्रमोद जो
 शाल्मलीने नन्दनवन तो क्यां मळे, अद्वितीय स्थानो लोक मर्हि पंकायजो,
 शाल्मलीने नन्दनजेवा जंबूजी, वीर बुद्धिने ज्ञान चरित अंकाय जो १८
 शब्दमर्हि तो मेघशब्द क्यांथी मळे? मेघसणुं तो गंभीरगर्जन होय जो,
 ग्रहोमर्हि तो चंद्र सम छे ग्रह नहि, मनहर जेनी शीतळता प्रसराय जो;
 सुगन्धिओमां मलयजसम छे वासक्यां? लोकमर्हि ए चंदन श्रेष्ठ गणायजो,
 मेघ चंद्रने मलयज जेवा जाणवा, मुनिवर्गमां वीरना विरक्त भाव जो १९
 सिंधु मर्हि तो स्वयंभू रमण जाणवो, ऋषि करता देवो ज्यां सहर्ष जो,
 भवनवासीमां भव्य नागकुमार छे, मय्यरूपथी मनपामे उत्कर्ष जो;
 सर्व रसोमां ईश्वरसने जाणवो, मधुरताथी मनहुं शीतल थाय जो,
 ईशु-स्वयंभू-देवनाग सम वीरल, वीरप्रभुना प्रधान तप जप होय जो २०
 हस्ती मर्हि ऐरावत सम छे हस्ती नहि, पशु मर्हि तो सिंहकेसरी एक जो,
 निर्मळ जळमां गंगाजळने जाणवुं, विहंगोमां गरुड एक निशंक जो;
 ऐरावत मनगमतीलक्ष्मी लावतो, लाव्या लक्ष्मी त्रिशला धर वीर जोध जो,
 गरुड-गंगा-ऐरावतने हस्ती सम, मोक्षवादीमां वीरना मुक्ति बोध जो २१
 योद्धाओमां वासुदेव मशहुर छे, प्रिय पुष्पमां पंकज सम नव कोय जो,
 क्षत्रीओमां चक्रवर्ती प्रधान छे, विरल गुणना विरलां स्थानो होय जो;
 वासु तणुं वळ अष्टापद वीरलखनुं, पंकजने छे नवली मीटी वास जो
 वासु-कमळने चक्रवर्ती सम जाणवा, ऋषिवर्गमां वीर महर्षिस्तास जो २२
 दान मर्हि तो अभयदानने जाणवुं, सत्य मर्हि तो 'निर्वच' निश्चित जो,
 सर्व तपो मां ब्रह्मचर्ये विशिष्ट छे, आत्मवृत्ती जागे तेथी ज्योत जो,
 अभयदानथी दूर जती हिंसा सहु, निरवचर्या परपीडा नवी थाय जो,

ब्रह्मचर्यथी उत्तमवळ तो आवंतुं, लोक महीं एम उत्तम वीर मनाय जो २३
सुरपदोमां सर्वार्थसिद्धि श्रेष्ठ छे, सुधर्म केरी सभा अनुपम थाय जो,
सर्वधर्म तो श्रेष्ठ मुक्तिने मानता, जीव मात्रनो परम हेतु ते होय जो;
सर्वार्थसिद्धिना सुखनी तो वातशी, सौधर्म केरी सभा अनेरी होय जो,
रतिमुक्तिनी बाणी तो नहिं कहीशके, प्रभुसमा उत्तमज्ञानी नवकोयजो २४
परिपहो तो धरे पृथ्वी सम नाथ ते, पृथ्वीवत् ते सौनो छे आधार जो,
अष्ट कर्मने नष्ट कर्या ते स्वामी ए, कर्यो गृद्धीने अभिलाप संहार जो;
पाम्या छे ते ज्ञान महा उपयोगनुं, प्रयास विण ते जाणे वस्तु रूप जो,
अनन्तभवने तरी गया छे वीर ते, अनन्तचक्षु नित्य अभयस्वरूप जो २५
महारिपुजे आत्मदोष संसारना, क्रोध मानने मोह लोभ पर्याय जो,
दूर करीने अर्हत् पदने पामीआ, करे करावे पाप नहीं ऋषिराय जो २६
विध विध पंथो लोक महीं चाली रखा, क्रियावादीके अक्रियवादी कोय जो
रमे कोई अज्ञानवाद के विनय मां सर्व पंथना ज्ञान वीरने होय जो;
क्रियावादीनी मुक्ति क्रिया मां रही, अक्रियवादी समजे मुक्ति ज्ञान जो
विनयवादितो विनय एज मुक्ति गणे, अज्ञानी तो मुक्ति गणे अज्ञान जो;
सर्व पंथने समजीने आ स्वामीए, विकसाव्यो छे लोक महीं जैन धर्म जो,
ज्ञानक्रियामां मोक्ष मानता वीर ते, लीघोसंयम समजाववा सहुमर्म जो २७
मोक्ष तणो मार्ग कछो आरीति थी, करी बताव्यो जगने देवा बोध जो,
सकल पापने भस्म करीने स्वामीए, रोक्यो वहेतो कर्मरिपुनो धोध जो;
मनुष्य केरा के नरकादिक लोकनां, वीरप्रभुए जाण्या पूर्ण स्वरूप जो,
स्वरूपजाणी लोक अने परलोकनां सर्वलोकने छोड्या छे तद्रूप जो २८
धर्म परूप्यो अर्हते आ प्रेमथी, अर्थ पदोमां केवळ जे निर्दोष जो,
सुणी तत्व आ श्रद्धाथी जन पामता, इन्द्र सुखके मोक्ष लक्ष्मी सतोप जो २९

परिशिष्ट नं० २-प्राकृतस्तोत्रविभागे

(पद्मापामयं वीरस्तोत्रम्)

विद्यानां जन्मकन्दस्त्रिभुवनभवनालोकनप्रत्यलोऽपि,
 प्राप्तो दाक्षिण्यसिन्धुः पितृवचनवशात्सोत्सवं लेखशालाम् ।
 जैनेन्द्रीं शब्दविद्यां पुरत उपदिशन् स्वामिनो देवतानां,
 शब्दब्रह्मप्यमोघं स दिशतु भगवान् कौशलं त्रैशलेयः ॥१॥ (संस्कृतम्)

जो जोईसरपुंगवेहि हियए निचंपि ज्हाइज्जए,
 जो सवेसु पुराणवेयपभिइमांघेसु गीइज्जए ।
 जो हत्थट्ठियआमळं व सयलं लोकचयं जाणए,
 तं वंदे तिज्जयमुळं जिणवरं सिद्धत्थरायंगयं ॥ २ ॥ (प्राकृतम्)

देविंवाणवि बंदणिज्जचलणा सवेवि सबनुणो,
 संजादा किर गोतमा अवि तथा जस्सप्पसादा दुते ।
 सो सिद्धत्थभिहाणनूवदिसदो जोगिंदचूडामणी,
 भवाणं भवदुक्खलक्खदलणो दिज्जा मुहं सासदं ॥३॥ (शौरसेनी)

दुस्टे संगमके शुले भयकले घोलोवसग्गावलिं,
 कुबंतेवि न लोशपोशकलुसं येणं कदं माणसं;
 इंदे भत्तिपले ण गेह बहुलं योगीशलमामणी,
 शे वीले पलमेशले दिशतु मे नेडन्तपुत्तचणं ॥ ४ ॥ (मागधी)

कंपंतक्खित्तिमंडलं सडहडप्फुट्टंतवंभंडयं,
 उच्छलंतमहत्तवं कडयडतुट्टंतसेल्लायं ।
 पातग्गेन मुमेळ्ळंपनकरं बालचलील्लवलें,
 वीरस्स पहुणो जिनाल जयतु क्खोनीतले पायडं ॥५॥ (पेशाची)

इहो वेदणरेसि जासु महया हल्लोहलेणागओ,
जज्झाई मुणिहंसओ हियडए अक्खे निरुंमेविणु,
साहु ब्रोप्पिणु जासु कोइ महिमा नो तीरए माणवो,
पाए वीरजिणेसरस्सु नमहुं सीसल्लडे-अम्हडे ॥ ६ ॥ (अपभ्रंशः)

आसाडे धवलाइ छट्ठि चवणं चित्तस्स तेरस्सिए,
सुद्धाए जणणं सुक्किण्हदशमी दिक्खायममारस्सिरे ।
जत्सासी बइसाहसुद्धदसमी नाणं जणाणंदणं,
मुक्खो कचि अमावसाइ तमहं वंदामि वीरं जिणं ॥

कणयसमसरीरं मोहमल्लेगवीरं, दुरियरयसभीरं पावदावग्निनीरं;
सुगहियभवतीरं लोअलंकारहीरं, पणमह सिरिवीरं, मेरुसेलेसधीरं ॥

जय जय जय जणवच्छल ! नवजलहरपवणवणयसमणयण नय-
णमणपमयवद्धण ! धणकणयलक्खणयसमण ! ॥ १ ॥ समणमणभ-
सलजलसय ! सयत्थसत्थत्थपयडणसमत्थ ! मत्थयनमंतनर वर ! वर-
वरयवरंग गयसंग ! ॥ २ ॥ संगरगररससयगय ! गयमच्छर ! रयण-
मयणददजलण जलणजलसप्पभयहर ! हरहसधवलयरजसपसर ! ॥ ३ ॥
सरणपवणसरन्नय नयसयगमरम्मसम्ममयसमय ! मयमयगल्लनहप-
हरण ! रणरणयभयन्ममसवत्त ! ॥ ४ ॥ वत्तसयवत्तगहवर ! वरक-
लसलसंतसंखचक्कं ! कंकफलसरल्लनयण ! नयपमय असत्तअपमत्त !
॥ ५ ॥ मत्तगयगमण ! गयमण मणगयसंसयसहस्सतमतवण तवण-
यप्पहपहयर ! हयतमपरमपयनयरस्स ॥ ६ ॥ इय पढमसरनिवद्धं धण-
क्खरं गहिय मुक्खयपयद्धं भत्तीए संथवणं रइयं मुणिचंदमुणिणा ॥ ७ ॥

(वीरस्य चतुर्विंशदतिशयस्तवनम्)

श्रोस्सामि जिणवरिदे, अब्भुअभूएहि अहसयगुणेहि, ते तिविहा
साहाविय, कम्मक्खइआ सुरक्या य ॥ १ ॥ देहे विमलसुगंधं, आम-
मपासेहि वज्जिअं अरअं, सहिरं गोक्खीराअं, निच्चित्तं पंडुरं मंसं
॥ २ ॥ आहारा नीहारा, अदिस्सा मंसचक्खुणो, सययं नीसासो अ
सुगंधो, जम्मप्पभिई गुणा एए ॥ ३ ॥ खित्ते जोयणमित्ते, जं जिय-
कोडीसहस्साओ माणं, सबसमासाणुगयं, वयणं धम्मावबोहकरं ॥ ४ ॥
पुत्तुप्पजा रोगा, पसमंती ईयक्खरमारीओ, अइतुट्ठी-अणावुट्ठी, न होइ
दुब्भक्खडमरं वा ॥ ५ ॥ देहाणुमगाल्मां दीसइ, भामंडलं दिगय-
राअं, एए कम्मक्खइया, सुरभत्तिक्या इमे अत्ते ॥ ६ ॥ चक्कं छत्तं
रयणज्जओ अ, सेयवरचामरा पडमा, चउमुहपायारतियं सीहासण
दुंदुही असोगो ॥ ७ ॥ कंटय हिट्ठा हुत्ता, ठायंति अबट्ठियं च नहरोमं,
पंचेव इंदियत्था, मणोरमा हुंति छप्पिरिअ ॥ ८ ॥ गंधोदगं च वासं,
चासं कुमुमाण पंचवण्णाणं, सउणा पयाहिणगई, पवणणुकूलो नमंति
वुमा ॥ ९ ॥ भवणवट्ठ-चाणमंतर-जोइसवासी-विमाणवासी-अ, चिट्ठंति
समोसरणे, जट्ठणयं कोटिमित्तं तु ॥ १० ॥ इंतेहिं जंतेहिं, बोहिनि-
मित्तं संसयत्थीहिं, अविरहियं देवेहि जिणपयमूलं सयाकालं ॥ ११ ॥
चउहां जम्मप्पभिइ, इकारस कम्मसंखए जाए, नव दस य देव जणिए
चउतिसं अइएस वंदे ॥ १२ ॥ चउतीसजिणाइसया एए ने वण्णिआ
समासेणं, दिंतु मम जिणवसगा सुवनाणं बोहिअमं च ॥ १३ ॥

(पञ्चविंशजिनवाणीगुणस्तवनम्)

जोअणगमद्धमागहं सबमासाणुवाइणि वाणिं, पणतीसपवरगुणकि-
रणेण धुणिमो जिणंदाणं ॥ १ ॥ मेहमणोहरसुगुहिरनिम्भोसं १ वंस-

धंससोहिलं, २ मुहुमुहुरमालओसियपमुहरायरायं भवविरायं ३ ॥ २ ॥
 सकयपमुहसलक्खण, -सकारजुअप्पुडक्खरपयाई, गमाण.....चउ-
 वचारपरं ४ उदात्तसरं ५ ॥ ३ ॥ पडिरवपूरिअगयणंइ ६ सरलणु-
 कूलत्तओ सुदक्खिवणं ७ इअ सत्त सहअइसय.....सामि जिण-
 वयणं ॥ ४ ॥ तह अत्थासय अडवीसअइसयं अप्पगंथसुमहत्यं ९
 अब्बाहयाभिधेयं पुष्ठावरचक्क अविरोहा ॥ ५ ॥ सिद्धत्थसूइसिद्धं सिद्धं
 व.....उत्तमाविकसं ३ परदूसणाविसयओ अवहरिणुत्तराइसया
 ४ ॥ ६ ॥ संसय असंभवेणा संदिद्धं ५ सोअजणमणाइहरं ६ देस-
 द्दाइ पत्थावुचिअं ७ उदिअत्थत्तपरं ८ ॥ ७ ॥ अविक्किण्णपसरि-
 अमसंदिद्ध धिकारातिवित्थरविओगा वरसबंधपसरणा ९ मिहपइवक्काइ
 सकंखं १० ॥ ८ ॥ अइमिद्धमहुरिमगुणं सुहियं संवेसिं घयगुडाइघ
 ११ नियविसए कयसोआरलोअवित्थिण्णअच्छरिअं ॥ ९ ॥ जमगा-
 इगुणविसेसो अत्तुच्छ अभिधेअओ बुदारत्थं अप्पयपरभूमि अणुसारि
 वैसणाइहिं अभिजायं ॥ १० ॥ तिहुअणपरसंसणिज्जं परमंमावेहयं च
 अबिलंबं, १७ सथुइपरनिंदरहिअं १८ धम्मत्थवभासपडिवद्धं ॥११॥
 लिंगवयणकालतिए परुक्खपच्चक्खवकारगाज्जत्थो, उवणयवयणचउके
 अविपरीअत्थं अतुरिअं च ॥१२॥ पत्थिअवत्थिसरूवा वण्णणाणेगजाइ
 सुविचितं २२ चत्तपयवण्णवक्कं २३ वयणंतरओ विसेसजुअं ॥१३॥
 अभिधेएमणमंती अविन्भमोणादरो अविक्खेवो, किर्लिक्किंचिय मिच्छा-
 भय रोसायसुजुगवमसइकरणं च ॥ १४ ॥ इअ विन्भामाइमण-
 दोसविरहिअं सत्तसाहसोवेअं आ अत्थसिद्धिमच्छिन्नहेउमायासरहिअं
 २६ च ॥ १५ ॥ इअ संबवयणपणतीसइसयसाहिअवओ जिणो
 थुणिओ, सद्धम्मकित्तिविज्जाणंदयरं.....हेउगिरं ॥ १६ ॥

जियमोहमहावीरो चरमो 'तित्यंक्रो' 'महावीरो' ।

असमसमो असमसमो निरंतरं कुण्ड कक्षाणं ॥ १ ॥

श्रीवीरसप्तविंशतिभवस्तोत्रम्

तिसळासिद्धत्वसुअंसीहंकं सचहृत्य ऋणयनिहं, भवसत्तावीसकह-
णेणं, बद्धमाणं शुणामि जिणं ॥ नयसारो सुग्गामे पढमे १ चीए भवे
पहु ! सुहम्मे २ । तइए मरिइ तिवंडी ३, विणिआइ चउत्थए वंभे
४ ॥ कुल्लामि कोसिअदिओ, पंचमि ५ संसारचउरछट्टुभवे ६ ।
धुणाइ पूसमिओ सत्तमि ७ सोहम्मि अट्टमए ८ ॥ नवमे अग्गिज्जोओ,
वेइअगामम्मि ९ दसमि ईसाणे १० । इगदसमि अग्गिभूइ, मंदिरि ११
चारसमि सणकुमारो १२ ॥ तेरसमे १३ सेअविआ, भारद्वाओ मर्हिद
चउदसमे १४ ॥ रायगिहि यावरदिओ, पवरसमे १५, सोल्लसे वंभे
१६ ॥ रायगिहि विस्सभूइ, सत्तरसि १७ अट्टारसे महासुक्को १८ । गुण-
वीसे पोअणपुरि, तिविट्टु १९ वीसे तयतमाए २० ॥ पहु ! इगवीसे
सीहो, २१ पंकाइ दुवीसमम्मि २२ तेवीसे । मूआपुरि पिअमिओ
चवी २३, सोहम्मि चउवीसे २४ ॥ पणवीसे छवग्गाइ, नंदणो २५
पाणयम्मि छवीसे २६ । सच्चियकुंडग्गामे, सत्तावीसे महावीरो २७ ॥
मग्गसिरवइदसमि वयं कत्तिअमापसि तियं सिआसाडे, छट्टि जुइ
विसाहदत्तमी नाणु भवो चित्तेरसिए । इअसिरिवीरजिणंदो धुणिओ
भत्तिअमरनमिरदेविंदो, वरधम्मकित्तिविद्धि विज्जाणं देउ मह सिद्धि ॥

श्रीमहावीरस्तोत्रम्

जइज्जा समणो मयवं, महावीरे जिणुत्तमे । लोगनाये सयंबुद्धे,
लोगंतिअविबोहिए ॥ १ ॥ वच्छरं दिण्णदाणोहे संपूरियजिणासए ।
नाणत्तयसमाउत्ते, पुत्ते सिद्धत्तराइणो ॥ २ ॥ चिच्चा स्वं च रइंच,

पुरं अतिउरं तथा । निक्खमिच्च अगाराजो, पबइए अणगारियं ॥३॥
 परीसहाण नो भीए, भेरवाण समाखमे । पंचहा समिए गुत्ते, बंभयारी
 अर्किचणे ॥ ४ ॥ निम्ममे निरहंकारे, अकोहे माणवज्जिए । अमाए
 लोभनिम्मुक्को, पसंते छिन्नबंधणे ॥ ५ ॥ पुक्खरं व अलेवे अ, संखो
 इव निरंजणे । जीवे वा अप्पडिग्धाए, गयणं व निरासए ॥ ६ ॥
 वाएवा अपडिबद्धे, कुम्भो वा गुत्तइंदिए । विप्पमुक्को विहंगुब्ब,
 खगिंसिगाबएगगे ॥ ७ ॥ भारंढे वाऽपमत्ते य, वसहेवा जायधामए ।
 कुंजरो इव सोंडीरे, सिंहो वा दुद्धरिस्सए ॥ ८ ॥ सागरो इव गंभीरे,
 चंदो वा सोमलेसए । सूरु वा दित्ततेउल्ले, हेमं वा जायरूवप ॥ ९ ॥
 सत्वंसहे धरित्ति घ, सायरिंदुब्ब सच्छहे । सुद्धु हुअहुआसब्ब, जलमाणे
 य तेयसा ॥ १० ॥ वासी चंदणकप्पे य, समाणे लेट्टुकंचणे । समे
 पूयावमाणेसु, समे मुक्खे भवे तथा ॥ ११ ॥ नाणेणं दंसणेणं च,
 चरित्तेणयणुत्तरे । आलएणं विहारेणं, मद्दवेणज्जवेण य ॥ १२ ॥
 लाघवेणं च खंतीए, गुप्तीमुत्ती अणुत्तरे । संजमेण तवेणं च, संवरेण
 मणुत्तरे ॥ १३ ॥ अणेगगुणमयाइण्णे, धम्मसुक्काण ज्ञायए । घाइ-
 क्खएण संजाए, अणंतवरकेवली ॥ १४ ॥ वीयरएय निमांघे, सधच्चू
 सधदंसणे । देविंददाणविदेहिं, निघत्तियमहामहे ॥ १५ ॥ सधभा-
 साणुगाए य, भासाए सधसंसए । जुगवं सधजीवाणं, छिदिउं भिच्चगोयरे
 ॥ १६ ॥ हिए सुहे अ निस्सेसकारए पावपाणिणं । महब्बयाणि पंचेव,
 पण्णाविच्चा समावणे ॥ १७ ॥ संसारसायरे बुद्धजंतुसंताणतारए ।
 जाणब्ब देसियं तित्थं, संपत्ते पंचमिं गइं ॥ १८ ॥ सेसिवे आलये
 निच्चे, अरुये अयरामरे । कम्मप्पवंचनिम्मुक्के, जए.वीरे जए जिणे
 ॥ १९ ॥ से जिणे चद्धमाणे य, महावीरे महायसे । असंखदुक्ख-

स्त्रिणाणं, अम्हाणं देउ निव्वुइं ॥ २० ॥ इअ परमपमोआ संधुओ
वीरनाहो, परमपसमदाणा देउ तुल्लत्तणं मे । असमसुहदुहेसुं सग-
सिद्धिभवेसुं, कणयक्यवरेसुं सत्तुमिचेसु वा वि ॥ २१ ॥

१. पयडीव सइ पह्माणं, सीसेहिं जिणेसराण सुगुरुणं ।

२. वीरजिणथुयं एव, पढउ कयं अमयसूरीहिं ॥ २२ ॥

परिशिष्ट नं० ३-वीरस्तुतिः-संस्कृतस्तोत्रविभागे

नमदमरशिरोरुहसंस्तसामोदनिर्निद्रमन्दारमालरजोरजितहि धरित्री-
कृतावन वरत्तम संगमो दारतारोदितानङ्गनार्यावलीलापदेहेक्षिताम्रोहि-
ताक्षो भवान् । मम वितरतु वीर निर्वाणशर्माणि जातावतारो धरा-
धीशसिद्धार्थधाम्नि क्षमालंकृता, -वनवरत्तमसङ्गमोदारतारोदितानङ्गना-
र्याव लीलापदे हे क्षितामो हिताक्षो भवान् ॥१॥ समवसरणमत्र यस्याः
स्फुरत्केतुचक्रनकानेकपद्मेन्दुख्वचामरोत्सर्पिसालत्रयी, सदवनमदशोक-
पृथ्वीक्षणप्रायशोभातपत्रप्रभागुर्वराराद् परेताहितारोचितम् । प्रवितरतु
समीहितं सार्हतां संहतिर्भक्तिभाजां भवाम्भोधिसम्भ्रान्तमभ्यावलीं सेवि-
ता-सदवनमदशोकपृथ्वीक्षणप्रायशोभातपत्रप्रभागुर्वराराद्परेताहितारो-
चितम् ॥ २ ॥ परमततिमिरोग्रभानुपभा भूरिभंगेर्गभीरा भृशं विश्ववर्ष्यै
निकाय्ये वितीर्य्यात्तरा, महति मतिमते हि ते शस्यमानस्य वासं सदा
तन्वतीतापदानन्दधानस्य सामानिनः । जननमृतितरङ्गनिष्पारसंसारनी-
राकरान्तर्निमज्जजनोचारनौर्भारतीतीर्थकृत, महति मतिमतेहितेशस्य
मानस्य वा ससदातन्वतीतापदानं दधानस्य सा मानि नः ॥ ३ ॥
सरमसनतनाकिनारीजनोरोजपीठीलुठचारहारस्फुरद्दशिसारक्रमाम्भोव्रहे,
परमवसुतरङ्गजा रावसचाशिताराति, भाराजिते मासिनी दारतारा

बलक्षेमदा । क्षणरुचिरुचिरोरुचञ्चत्सटासकटोत्कृष्टकण्ठोद्भटे सखिते
भव्यलोक त्वमम्बाम्बिके, परमव सुतरा गजारावसत्रा शितारातिभा
राजिते भासिनीहारताराबलक्षेऽमदा ॥ ४ ॥

वीरस्तव

त्रिजगदीक्षण ! केसरिलक्षण ! क्षणमपि प्रभुवीर ! मनोगिरौ ।
गुणगणान्मम मास्य विरज्यतामुदयिता दयितादयि तावकात् ॥१॥
भृशमदभ्रमदभ्रमदभ्रमप्रथमन सुमन सुमन स्तुत,
असुमत सुमत सुमतोऽवदातपरम परमक्षरमो जिन ॥ १ ॥
चलनकोटिविघट्टनचञ्चलीकृतसुराचल ! वीर ! त्रगद्गुरो !
त्रिभुवनाशिवनाशविधौ जिनप्रभवते भवते भगवन् । नम ॥ १ ॥
जयति य सुरसङ्गममानहत्, जगति वीरजिनो जगतीसुहृत् ।
भवतु भीतिहरो मम सर्वदा, स शरण शरण गुणसम्पदाम् ॥१॥



महानन्दशुद्धाश्रित देवदेव, महीनाथसिद्धार्थपुत्र पवित्रम् ।
यथाकामित दत्तवार्षिक्यदान, त्रिकाल स्तुवे श्रीजिन वर्धमानम् ॥
चतुष्पष्टीदेवेन्द्रयोगीन्द्रबन्ध, सुधाशालिसशुद्धवाक्य वरेष्यम् ।
दयासागर शुद्धसन्मार्गयान, त्रिकाल स्तुवे श्रीजिन वर्धमानम् ॥
अनन्तोत्तरज्ञानचारित्रलीन, जरारोगसम्भोहसन्तापहीनम् ।
क्षणोद्भूतनिर्मूलमायावितान, त्रिकाल स्तुवे श्रीजिन वर्धमानम् ॥
शमस्वादपायोधिससर्गसक्त, सदा कर्ममर्मप्रपञ्चप्रमुक्तम् ।
प्रचण्डप्रतापेन भास्वत्समान, त्रिकाल स्तुवे श्रीजिन वर्धमानम् ॥
मनोहारिकल्याणवर्ष विशाल, विदीर्णान्तरारिप्रणालिं कृपालम् ।
गमीर विशालैर्गुणैर्वर्धमान, त्रिकाल स्तुवे श्रीजिन वर्धमानम् ॥

जगज्जीवसन्दोहजीवादिभूतं, भवभ्रान्तिरिक्तं नमत्राकिभूतम् ।
 लसत्सर्गिनिर्घाणरुग्मीनिदानं, त्रिकालं स्तुभे यीजिनं वर्धमानम् ॥
 इत्थं भक्तिवशेन मुग्धमतिना श्रीवर्धमानः स्तुतः, प्रोयदेहपवि-
 त्रकान्तिकलितः श्रीज्ञातपुत्रो जिनः । याचे नैव कलत्रपुत्रविगर्भं
 नो काममोगश्रियं, किन्त्येकं परमोत्तमं शिवपदं श्रीबालचन्द्रार्चितम् ॥

। (वीरश्रितस्तवनम्)

विश्वश्रीद्व ! रजश्छिदे गरिमदत्यादर्पनाशे क्षयं,
 सद्वाचं स्तुवयाश्रवं परिहरन् क्ष्मासूर्य ! दुःखक्षमम् ।
 निरुन्दं तपनद्वसुं दुरितसूदारिवश । वीर ! शिवरं,
 रम्यश्रीविरसोऽसकामनिकृति मद्राल्यं शररम् ॥ १ ॥

। [चतुर्गुणनामकं चक्रम्]

तनुते यमुतिं जन्माजिद्राजं मुदिता द्रुतम्
 तं स्तुभे धीततन्द्राजिभयं भावेन भासता ॥ २ ॥ [मुद्रालम्]

ततयास्त्रनृणां मुक्त्यै, या नीरुक्तनवे नता ।
 त्पारर्भाभार तापास स पाताशर रक्ष ताः ॥ ३ ॥ [शूलम्]

तुतकृष्टानलीलाबलीलाब्ज श्रीवरा रवाः ।
 ताररावंश्रुतौ वीर खीद्वाम सुरास्तव ॥ ४ ॥ [शङ्खः]

तज्ज्ञासदमलेक्ष्वाकुर्विदजेयुः शर्मिस्तव ।
 वरेष्यान्न विधेश, शरणं शुशुस्केच्छवः ॥ ५ ॥ [श्रीकरी]

तन्शमीश विशस्तवात्मवदन्त घनारव ।
 वधवह्यम बन्धिवधो, वरिवर्तिं वदी वरः ॥ ६ ॥ [चामरम्]

तरणे चिररुद्रामतमस्तु नरणादरः ।
 रतिकस्तव सूर्यास, सेवनेऽनल्पमानसः ॥ ७ ॥ [हलम्]

तत्यजेऽत्र तकाश्चण्डपाश्वेभिन्द्रस्तुताहस ।

सर्वदोषैस्तत्क्षयाक्षां, शान्ताघ ददतो विश्वाम् ॥ ८ ॥ [भङ्गम्]

तरीवाचरसि ज्ञानोदारनि.शेषभूस्पृशाम् ।

शान्तिदुष्टिकरापारभावाब्धौ विश्ववन्दित ॥ ९ ॥ [धनुः]

तम्यतिक्रम्यतेऽत्यन्तमोहदुःखमयीशितः ।

तवेन सेवयाऽवश्यं, भवैः स्थिरशिवस्थित. ॥ १० ॥ [शम्भा लङ्गः]

तमहं विनमामीततन्द्र वीर सतां मत ।

तपो यस्त्वं व्यधा विश्ववित्तं वीतरिपोऽत्मः ॥ ११ ॥ [शक्तिः]

तपः शमरमारामतर श गुणसत्तम ।

मम गुप्तश्रिताचीश ! मरणक्लेशहृदिश ॥ १२ ॥ [छत्रम्]

तविषे लसत्यमोहाशय चारुरुचायशः ।

शकाली त्वन्नतेर्ज्ञानभासुराऽपपरा सुमी. ॥ १३ ॥ [रथपदम्]

तवीत्यवीतसाराज्ञा प्राणिना मास्तमीः शुभा ।

भाराशोऽशेषभावारीन् शिवदा तव रंहसा ॥ १४ ॥ [पूर्णकलशा]

तत्वसार तरसा ना त्वयि राज्य दधीरसा ।

साराद्भुतेऽमोहधीरा रज्यते वीर मोदतः ॥ १५ ॥ [अर्धभ्रमः]

तरसाऽस्तमोहत्वेत तत्त्वेह प्रशमान्वित ।

तन्विमान्यवनीतात त्तानीष्टान्यसारत ॥ १६ ॥ [कमलम्]

तवाही वन्दते साऽनुकम्प यः साऽय भाक्तः ।

तस्य नानागुणस्याऽन्यो, नम्यो नोदितैरसः ॥ १७ ॥ [शर.]

तत्परः सतत शिश्रीषामि त्वां दारिताहसम् ।

सम्पदादाऽपसंसार, रसाऽस्तन्तमसं मत ॥ १८ ॥ [त्रिशङ्कम्]

नमाऽनाश्रितशर्मासु, नेहमन्ददयान्वित ।

तथा त्वत्तः सुरेश त्वं, वेत्तुबोधिवियं हितः ॥ १९ ॥ [वज्रम्]

यस्तेऽष्टादशचित्रचक्रविमलं वीर ! त्वत्वं सशिवं,

भवत्यैवं कुलमण्डनोऽस्त महाज्ञानातनुथीशुभ ।

मुक्तेशीयुतचन्द्रशेखरगुरुभ्रमसाबावसु,

॥ तात्तत् वरः ॥ शान्ततम श भासा ततः सन्ततम् ॥ २० ॥

[परिधिकाव्यम्]

चक्राऽयोमुखशूलशंखसहिते सुथीकरीचामरे,

सीरं भल्लशरासने असिहता श्चच्यातपत्रे रथः ।

कुम्भार्धभ्रमपङ्कजानि च शरस्तस्मात् त्रिशूलाशनी,

चित्रैरेभिरभिष्टुतः शुभधियां वीर ! त्वमेषि धिये ॥ २१ ॥

इति वीरस्तवः

(अथ वीरस्तवनम्)

चित्रैः स्तोत्र्ये जिहं वीरं, चित्रकृत् चरितं मुदा ।

प्रतिलोमानुलोमचैः, सत्राद्यैश्चातिचारुभि ॥ १ ॥

चन्देऽमन्ददमं देवं, यः शमाय यमाश्रयः ।

नायेनप घना येनापाकृता ममत्पङ्कपा ॥ २ ॥

[प्रतिलोमानुलोमपादः]

दासता तव मागारा, न चेयायमतामस ।

समतामययाचेन रागाभावतता सदा ॥ ३ ॥ [अनुलोमप्रतिलोमः]

वरदानवरादिन्व न्वदिशक्नदारव ।

याज्यदेव भयान्यास सन्याया मवदेज्यया ॥ [अर्धप्रतिलोमानुलोमः]

श्रीद वीर विरेभ त्वं दमिताक्षं गताऽशुभ ।

वीभाक्षमारम्भितारे रक्ष मां सदरं गवि ॥ ५ ॥ [अर्धत्रयः]

गीस्ता जनता रन्दे ! घीस्तास्थिरतारसा ।

सारतारश्रुताऽबन्ध्या, सुरताजनतावकी ॥ ६ ॥ [मुरजबन्धः]

ये पश्यन्ति तवेहास्यारविन्दं भक्तिबन्धुराः ।

न पतन्ति भवे शस्यास्ते विदो भगवन्नराः ॥ ७ ॥ [गोमूत्रिका]

नमासाररसामान भारिताक्षक्षतारिना ।

सातामयायामतासारक्षया म महाक्षरः ॥ ८ ॥ [सर्वतोमद्रः]

तिर्यगूनरसुराकीर्णा भासतेननते समा ।

त्वन्माहात्म्याल्लुताश्वयं या श्रिता तत्तता श्रिया ॥ ९ ॥ [पदम्]

रेगौराङ्गोरुगीर्गङ्गगौरीगुरुरोगरूक् ।

गोरंगागररागारिरैरैरौ गुहं गिरिम् ॥ १० ॥ [द्व्यक्षरः]

लललालोललील्ललं ततता ततिता तते ।

ममाममामममुमाऽननानेनोननानन ॥ ११ ॥ [प्रकाक्षरपादः]

कककिकाककंकौकः केकाकोकककेकिकम् ।

कककाकुककोकैकककुः कौकककांककाम् ॥ १२ ॥ [एकाक्षरः]

मरुभूमौ तप ऋताविव चारुसरोवरम् ।

कुतः मुकृतहीनानां सुलभं तव शासनम् ॥ १३ ॥ युग्मं [असयोगाक्षरः]

सारणिः पुष्यवन्त्याया ज्यायमौक्तिर्युक्तिक (!)

कामधेनुर्नयविदां, बोधोद्भासनसालसा ॥ १४ ॥

सारं स्वाद्वादमुद्रायास्त्रिपदी भवतोऽङ्गसा ।

सा मे मुहृदि कान्तैकास्त्रिलेन रहितैनसा ॥ १५ ॥ [द्वाभ्यां सप्तः]

श्रीसिद्धार्थकुलव्योमदिवाकर ! निरञ्जन !

न के क्षतैकान्तवादिमतं तीर्थं तव श्रिताः ॥ १६ ॥ [मुशळम्]

का या त्वयि भव्याली धन्या घचेस चेतसा ।

मता तामरसाकायमकासा गङ्गासागरम् ॥ १७ ॥ [त्रिशूलम्]

त्रिशलाकुक्षिपाथोजराजहंस ! जगद्धिमो !

भोगास्तृणमिव त्यक्तास्त्वया मोक्षदिदृक्षया ॥ १८ ॥ [हलम्]

सुरासुरनरास्तुभ्यं, नमस्तन्ति जिनोत्तम !

मनःप्रसादसन्दर्भे (!) दलिताऽऽशुभवासनाः ॥ १९ ॥ (धनुः)

कथं कर्तुं जनो मोहव्यपोहमहह क्षमः ।

मनसा सादरं यस्त्वां, न स्त्रौति तिमिरापहम् ॥ २० ॥ (शरः)

बाल्ये मेहशिरः कम्पसम्पत्प्रथितविक्रमः ।

मनोज्ञोऽनोकहव्याह ! मम स्वामी भवाऽऽभवम् ॥ २१ ॥ (शक्ति)

मानितायकामार रमाग्यकन्दमाधव !

वधमार्गे ममाकास सक्रामा धीः प्रतानिमा ॥ २२ ॥ [अष्टदलकमलम्]

वन्ययान ! धनस्नान ! ध्यानमौनकनद्धन !

ज्ञानस्नान ! जिन ! श्रीन ! धनमेन. 'स्ननस्व'नः ॥ २३ ॥

[षोडशदलकमलम्]

जय हेमवपुः श्रीक ! जगन्मोहापहारक !

जराहिवीनसिंहाङ्ग ! जन्मनीरधिनाविक ॥ २४ ॥

[स्तुत्यनामगर्भे वीजपूरम्]

तुभ्यं नमोऽनुत्कनयस्थितिकाय भीतिवन्त्यासु पावक ! सुरस्तुत !

वीर ! नेतः ! विद्यालताविपुलमण्डप ! हेमरूप ! कल्याणशीकरणदश

नतेदमीन ॥ २५ ॥

[हारवन्धः]

भ्रमोक्त्यपथो जिनेश्वरवरो भव्याब्जमित्रः किर्या-
दिष्टं तत्त्वेविगानदोपरहितैः सूक्तैः श्वेत्स्वर्षणः ।
जन्माचिन्त्यसुखप्रदः सुरचितारिष्टक्षयो व्रः सदा,
दाता शोभनवादिधीः कजदलयामेक्षणः संविदा ॥ २६ ॥

[कविनामगुप्तः]

श्रीमद्वामसमप्रविग्रहभया चित्रस्त्रवेनाऽमुना,
नूतस्त्वं पुरुहतपूजित ! विमो ! सद्य प्रसवैधि माम् ।
ख्यातज्ञातकुलावतंस ! सकलत्रैलोक्यकृसान्तर-
स्फारकूरतरज्वरस्मरतरत्संरब्धरक्षारतः ॥ २७ ॥

वीरस्तवः

मुक्तोमन्दोदयोर्बी शमद कलकलाऽऽसातमोहारिवोऽश्री-
मुक्तोमन्दोदयोर्बीश मदकलकलासाऽऽमो हारिवोऽश्रीः ।
नीरागो वर्धमानाऽयमहजयभयासामहीनः सुधीरा-
नीरागो वर्धमानाऽयमहजयभया साम हीनः सुधीरा ॥

प्रवरकुण्डनराधिपनन्दनं, वरमहाप्रतपञ्चविकाशकम् ।
कृतसुराधिपमोक्षमहोत्सवं, चरमतीर्थपतिं सुतरां स्तुवे ॥ १ ॥

कणयसमसरीरं मोहमल्लेगवीरं, दुरियस्यसमीरं पावदावगिनीरम् ।
सुगहियभवतीरं लोअलंकारहीरं, पणमह सिरिवीरं मेरुसेलेसधीरम् ॥

त्रिदशविहतमानं सप्तहस्तांगमानं, दलितमदनमानं सद्रुणैर्वर्धमानम् ।
अनवरतममानं क्रोधमत्यस्यमानं, जिनवरमसमानं संस्तुवे वर्धमानम् ॥

भक्तितो मतिजुषो भजन्ति यं, वर्धमानमहमानमामि तम् ।
जन्तुजाततमसो निशातनं, वर्धमानमहमानमामितम् ॥

श्रीवर्धमान नतमानमशोध यन्ति, सैरं यशासि भुवन त्व शोधयन्ति ।
बुद्ध्या चकोरनिकरा शतशो धयन्ति, चन्द्र युतामपरदेवयशोधयन्ति ॥

मोहादतीतस्य त्वेश्व ! वीर ! सुवीर ! सौभाग्यमुदग्रमायात् ।
मुक्त्यंगनालोमन ! यः स्तुते स, सुवीरसौ भाग्यमुदग्रमायात् ॥१॥

(वीरस्य सप्तविंशतिभयोत्कीर्तनस्तवचमम्)

पूर्वं त्वं नयसारभूपति १ रभूः सौधर्मवृन्दारक २ श्युत्वा नाम
मरीचि ३ रत्र सुमनाः सेपञ्चमे ४ क्रोशिकः । ५ देवः प्राणिवि ६
पुष्पमित्र ७ इति यः सौधर्मकरूपे सुरो ८ ऽभिद्योत ९ स्त्रिदशो
द्वितीयतविपे १० पिप्रोऽभिभूत्याह्वयः ॥ ११ गीर्वाणस्तु सतलुमारत्र-
विपे १२ विप्रामणीर्नामतो, भारद्वाजगृही १३ चतुर्थतविपे लेसो
१४ द्विज.स्वावरः । १५ नाकी पचमके सुराल्यवरे १६ श्रीविश्व-
श्रुतिर्नृपः, १७ शुके निर्जरकुंजरो १८ ऽथ भरते विप्युत्तिष्ठोऽ-
भवः १९ ॥ सप्तम्यां भुवि नारको २० मृगपति २१ स्तुर्यावनौ नारकी,
२२ चक्री च प्रियमित्रक २३ सुरर्वर. शुके २४ नृपो नन्दनः २५ ।
श्रीपुष्पोत्तरके विमानकवरे श्रीपाणतस्वर्भगेनाकी २६ कीर्तितसप्तविंश-
तिभवो भूयाः स वीरः ! श्रिये ॥ (त्रिभिर्विशेषकम्)

(शासनाधीशवर्द्धमानजिनस्तवचनम्)

श्रीत्रिशूल्य ! श्रितशुद्धजापकलो भवन्तं जिन ! यो ज्ञाप । महा-
मतिरोपितसर्वपापल्यो न वंकोऽपि नरः दशाय ॥ १ ॥ विद्यासकृन्द्यत्य

मनस्यपापजनिर्भवान् स्वीयवचांस्युवाप । यतिप्रियः क्षितविश्वतापशिलं
वचः शीततमं ललाप ॥ २ ॥ शुभा भवदृष्टिरितानुतापहेला जनं यं
भगवन्नवाप । मत्ताशयः कोऽपि न हि प्रलापविपत्तिपत्तिस्तभरिस्तताप
॥ ३ ॥ जज्ञे भवान् वीर ! लसत्कलाप ! यस्याशये प्रीणितसत्कलाप ।
कृत्येष्वनैषद्विवदीयलापतिग्मद्युतिस्तं प्रणताचलाप ! ॥ ४ ॥ इति
मुदितमनस्को भूर्धगाचार्यनामाऽश्वरकमलनिबन्धैर्बन्धुरैः संस्तुतो यः ।
कमलविजयसङ्ख्यावद्विनेयाणुरेणौ, स भवतु मयि देवो दत्तदृष्टिः
सतुष्टिः ॥ ५ ॥ इति पौडशदलकमलबन्धवन्धुरं श्रीशासनाधी-
शवर्धमानजिनस्तवनम् ॥

अनवरतममरनरवरशतनतपदकमलयमल ! मलदलन ! अनपशद-
चरणचयनय ! ततरभरधरणधवल ! जय ॥ १ ॥ जयसरसवचनवश-
जन ! समधन ! सदवयवसरलकरचरण ! जलजदलनयन ! गतमल !
शशधरवरवदन ! गजगमन ॥ २ ॥ जय सदय ! सनय ! भवदवकवलन
[शमन] नवजलदसमयसम ! अचलबल ! सकलभयहर ! शमदमल-
यभवन ! जगदवन ! ॥ ३ ॥ अदमतमकरणगजगणस्वरतरस्वरनस्वर-
नस्वरभवधरण ! अबतमसमसममधमयमपहर मम समयतपतपद !
॥ ४ ॥ हतसततभवजगमचर मत कर लसदभय दहन कमनग !
अपनय मम भवरसमरभशरणजनशरण ! गतमरण ! ॥ ५ ॥ असदय-
वशभवदवकरगतरसदलपटलहरणस्वरपवन ! मम वचनमनसमहमह-
रवतर कनकनगवदतरल ॥ ६ ॥ जनमथनमदनधनमदफ्रणधरगरल-
दरदमनपतगवर ! हतशकलमव मम जननजलगतलवणकगवदमलय
॥ ७ ॥ नमदमलनयनकजवनदशशतकरवहलगहनभवदहन ! अकरणगम-

परवलरणजयभट ! जय परमपदसदन ! ॥८॥ इति भक्तिरचित-विमला-
क्षरमालया महावीर ! शुभभावदेवसुरिस्तुत ! केवलमक्षरं देहि ॥९॥

त्वया जितान्यदेवद्विर्वर्षमानप्रभावतः । त्वयि देवाधिदेवत्वं वर्द्ध-
मान ! प्रभावतः ॥ १ ॥ जातलक्ष्मीं तमो हर्तुं, वर्द्धमान ! प्रभो !
दयाम् । देहिमद्य' विधेहि त्वं वर्द्धमानप्रभोदयाम् ॥ २ ॥ वीरो
जिनपतिः पातु, तन्वानः काञ्चनश्रियम् । विभ्रन्नम्रेषु निस्तीर्णा तन्वा नः
काञ्चन श्रियम् ॥ ३ ॥ वरिवस्यति यः श्रीमन्महावीरं महोदयम् ।
सोऽधुते जितसम्भोहमहावीरं महोदयम् ॥ ४ ॥

श्रीवीरजिनस्तवनम्

- जय श्रीसर्वसिद्धार्थ ! श्रीवीर शतनन्दन ! मुमैरुधीर ! गम्भीर !
महावीर ! जिनेश्वरः । ॥ १ ॥ योऽप्रमेयप्रमाणोऽपि, सप्तहस्तप्रमोषित',
पूर्णेन्दुवर्ष्यवर्णोऽपि स्वर्णपर्णसवर्णकः । ॥ २ ॥ सदृशं कौशिके शक्रे,
सर्पे च क्रमसंस्पृक्षि । पीयूषवृष्टिस्रष्टा यं, दृष्टा दिष्टा विदुर्बुधाः
॥ ३ ॥ विष्टपत्रितयोत्सगरङ्गदुत्तुञ्जकीर्तिना, स्नाथ येन नाथेन, विश्वं
विश्वम्भरातलम् ॥ ४ ॥ यस्मै चक्रे नमः सेवाहेवाक्रोत्सुकमानसैः ।
वीराय गतवैराय, मर्त्यामर्त्यामुरेश्वरैः ॥ ५ ॥ यन्माहेपादयो दोषाः,
क्षिप्रं क्षीणाः क्षमास्तनेः । दोषा पूषमयूखेभ्य, इव हर्यक्षलक्षणात्
॥ ६ ॥ यदेहद्युतिसन्दोहसन्द्रेहितवपुर्दधौ, रविः सद्योतपोतपुत्याडम्बर-
विडम्बनाम् ॥ ७ ॥ भविनां यत्र चिचसे, स्युर्धाष्टद्विसिद्धयः । तं वर्ष-
मानमानौमि, वर्धमानमुभावन- ॥ ८ ॥ इति यत्ने वास्तवं पठति वीर !
जिनचन्द्र ! जातरोमाश्रः । गत्यपवर्गं स द्रुतमसत्रगर्घारिर्गर्गजयी ॥९॥

सकलकमलदलकरपदनयन ! प्रहृतमदनमद ! भवभयहरण ! सत-
 तममरनरनतपदकमल ! जय जय गतमद ! मदकलगमन ! ॥ १ ॥
 अमलकनकनगवर ! गतरमण ! क्षतजननमरण ! शमरससदन ! श्रमण-
 कमलवनतपन ! गतभव ! भवभयमपहर मम जनमहन ! ॥ २ ॥ अभ-
 यद् ! भवदरजलधरपवन ! सबलमदनवनदहनजलधर ! व्यपगतमद !
 शशधरवर वदन ! जगदघहर ! जय ततनयसमय ! ॥ ३ ॥ तरलकरण-
 ह्यवरदमनकर ! कनककजनवकगमन ! वरवचः ! प्रथमपरमपदमप-
 दर धवलध्वज ! घनघनवररव ! जनशरण ! ॥ ४ ॥ परमपद-
 रमण ! फमनकजरद ! शशधरकरहरनगधवल्यशः परमतकजगज !
 सकलजनमनः फलकरलसदमरनग ! रचय शम् ॥ ५ ॥

सिरिवद्धमाण सिरिवद्धमाण सिरिवद्धमाण जिणचंद । परमाणव पर-
 माणव परमाणवर्णसि वेदिज्जा ॥ १ ॥ सुहसायर सुहसायर सुहसायर
 भवसमूहनिम्महण ! जयणायग जयणायग जयणायगहं निवारिज्जा ॥ २ ॥
 रयणायर रयणायर रयणायर नाणदंसणसिरीणं, सुरमोहण सुरमोहण
 सुरमोहणयं पयं कुज्जा, ॥ ३ ॥ सरणागय सरणागय सरणागय वज्ज-
 पंजरपइड्ड, कमलासण कमलासण कमलासण सरिसमहहुज्जा ॥ ४ ॥
 सब्बविजय सब्बविजय सब्बविजय थुणियगरिड्डपहो, महसययं महसययं
 महसययं सिवपयं नयसु ॥ ५ ॥

परिशिष्ट नं० ४-हिन्दी कविता विभाग

(महावीर प्रभाती)

श्रीमहावीरजी कृपा करो अब, मैं आधीन तुम्हारा श्लोका सिद्धार्थराजा के
 नन्दन, त्रिशला अगज प्यारा ! कंचनवरणी क्या सोहे, रहे जगद से न्यारा

आयंविंश उन्नतीस उदार ॥ ६ ॥ नित भोजन वीरजीए नहीं कर्यो, न
 लियो चौथो आहार । थोडो तप बेलो कियो, समलो तप चौविहार ॥ ७ ॥
 मनुष्य पशु देवे जे दिया, सखा परिपद ते आप, दोय घडी उपरांत नींद
 नवी लही, पद दोय तेरे पाख ॥ ८ ॥ वीरजी कीधां तीनसे पारणा, अने
 बली उन्नपंचास, इण बळे स्वामी केवल पाभियो, विचर्या देश मंसार
 ॥ ९ ॥ बारा परिपद नर नरि सांभळे, वीर तणो समास, शूरवीरोए तप
 कियो, पद ऋतु मन हुलास ॥ १० ॥ गणधर ग्यार जाणिए, चवदा
 सहस्र भणगार, सहस्र छतीस वीरजी रे साधियां, ते प्रणमं मुलकार
 ॥ ११ ॥ लाख थावक पडिमाधरे, ऊपर उन्नसठ हजार, तीन लाख तेहनी
 श्राविका, अरुपुनी सहस्र भठार ॥ १२ ॥ धन्य त्रिशूलदेवी मातने, धन्य
 सिद्धार्थ राय, ज्ञातनन्दन धन्य जन्मियां, नाम लियां जाय पाप ॥ १३ ॥
 गौतम आदिक सातसो केवली, अजियां चउदासो सार, निजकर शीशित
 एटला पहुचां मुक्ति मंसार ॥ १४ ॥ (कलश) इम वीर जिनवर सकल
 दुखकर, एवा दुकर तपकरी । संयम पाली कर्म गाली स्वामी शिवरमणी
 बरी । सेवक यूं जेपे वीर जिनवर । चरण सेजं गुम तणां । संसार सागर
 पडत राखो, टालो स्वामिन् ! दुखमनां ॥ १५ ॥



(दीवाली)

पूर्व दिशामे हुई पावापुरी, धन्य धन्य ऋदि समृद्धिभूं भरी, हस्ती-
 पाल बसे तिहां भूपाली, वीर मुक्ति विराजे दिन दिवाली ॥ गौतमने सेवाकी मन-
 मानी, एक रातमें हुए केवल ज्ञानी, चौदारजु रखा भाळी ॥ वीर० ॥ १ ॥
 अठारह राय हुआ भषा, दोय दोय पोसा कीना लगता । वीर सन्मुख, रखा
 निहाली ॥ वीर० ॥ २ ॥ दिन दोयरो संघारो सीधो, सोल्य पहर लगे उपदेश
 सीधो । प्रभु मुक्ति गया कर्मने वाली ॥ वीर० ॥ ३ ॥ सातसे चेला ने चवदासो
 चेली, जाने मुक्ति महम्ममें दिया भेली, ज्यांरा कर्मार नीज दिया वाली,
 वीर० ॥ ४ ॥ प्रभु तीसवर्षवये संयम लीधो, निज आत्म कार्यने सिद्धीधो,
 वर्ष मयालिस वीक्ष पाली, वीर० ॥ ५ ॥ एक राणी बरी हुई एक बेटी,
 जिके मुक्तिगयां दुख दिया भेटी, जमाता हुआ ज्यांरो जमाळी, वीर० ॥ ६ ॥
 प्रभुने एक बहन अने एक भाई, जिके खगें गया समकित पाई । थावकना

मत् शुद्ध पाती, वीर० ॥ ७ ॥ ऋषभदत्तने देवानन्दा माता, नयणां निरली
 पावें शाता, दोऊ मुक्तिगण दुःख दिया छली, वीर० ॥ ८ ॥ सिद्धार्थराज
 प्रियता राणी, साये संयारो कियो समता आणी, १२ वें देवलोके उपज्या
 चाली, वीर० ॥ ९ ॥ जिण रातमें वीरे मुक्ति पाणी, केवलज्ञान लियो
 गौतमस्वामी, ज्यारों जापजपो भवहरवाली, वीर० ॥ १० ॥ मुघर्मा स्वामी
 हुआ पाठ धर्मा, जांरी यज्ञकीर्तने महिमा धणी, जिनमार्ग दियो उजवाली,
 वीर० ॥ ११ ॥ ज्यारे पाटे जंबू वैरागी, आठराणी परणीने प्रभाते स्वामी ।
 सोल्ल वर्षामें छाटी कमे जाली, वीर० ॥ १२ ॥ आठों भामिनी वैरागे भीनी,
 प्रातः पियासावे दीक्षाणीनी, माता पिताने संवम पण लियो जाली, वीर०
 ॥ १३ ॥ प्रभव पण राजानो बेडो, जिणरो जंबू कर्कर से दुभो नेडो,
 पांचसे छुं वैराग्य पाया तस्काळी, वीर० ॥ १४ ॥ वीर जिन सम्मेदधिखर
 सीमा, अष्टपद मिरनार दोय सीमा, कमुपुज्य सीमा चम्पा चाली, वीर०
 ॥ १५ ॥ महावीर गण मुक्ति पावापुरी, कार्तिक यही अभावस्थाने मुक्तिवरी,
 सुनतां भगतां मंगल माली, वीर० ॥ १६ ॥ दिन दिवालीरोपायो टापो,
 रात्रि भोजन पण नहीं खापो, ज्यारो जापजपो सीलमतपाली, वीर० ॥ १७ ॥
 मुहचेलारी जोनी सूर्यशशी, ऋषि रायचंद्र कहैं मारे मनमेंवसी, मुक्तिसे जोड
 जोडी टंकहाली, वीर० ॥ १८ ॥

(दिवालीका दिन बडा)

- दौहा-भजन करो भगवात् का, गणधर गौतम स्वामी, जप प्रगटे तारन
 तरन, नित उठ करो प्रणामि ॥ १ ॥ वीवाली दिन आवियो, राखो धर्ममें सीर,
 गौतम केवल पाणियो, मुक्ति गवे महावीर ॥ २ ॥ वीवाली का दिन बडा,
 मत कर मोटे पाप, निन्दा बिक्या परहरो, करो जिनजीरो जाप ॥ ३ ॥
 वीवाली दिन आवियो ॥ टैक ॥ सामायिक पौषप करो, परिहमणो दोखल,
 हम आतम उजवालजो, हृद्य मत करो क्खाल ॥ ४ ॥ नव महीने नवलपछी,
 देस अठारना राय, वीर समीपे आविने, सीधा पौषप टाय ॥ ५ ॥ कार्तिक
 बरी अभावस्था, टान्या आतम दोष, भव जीवने स्वरने, वीर पङ्कुवा मोक्ष
 ॥ ६ ॥ देवदेवी पणा भाविया, स्वामी जगमय उयोति । खबरज एक भयो तिहा,
 रसां तपो उपोव ॥ ७ ॥ मोह कर्मने टाखने, ध्यायो शुद्धन ध्यान । भमित

पणो भायो इस्यो, पाभ्यो केवळ ज्ञान ॥ ८ ॥ मोक्ष नगर का दायका, भगवान्
 भीमहावीर, तेहना मुख आगळ हुआ, गौतम स्वामी वजीर ॥ ९ ॥ मोटा
 जिन घासन धनी, पहोंचा शिवपुर ग्राम । गौतम लब्धि तथा धनी, जगमें
 प्रस्यो नाम ॥ १० ॥ तिन कारण मंगलीक दिन, नाम जपो मनवीर । आरंभ
 सभारंभ छोडिने, नियम पालो शील ॥ ११ ॥ -वार २ मानुष देही, पामखी
 मही रे गवोर, जोरा झांठा राखी, मंत्र मंत्र निवार ॥ १२ ॥ झाडा झपटा
 मत करो, मत करो पद काय घात, चार जाप जपो मन्त्र, मोटी दिवाली की
 रात ॥ १३ ॥ काया रूपी देहरो, ज्ञान रूप जिन देव, तस सज्जाय संखडडपी,
 कर सेवा नितमेव ॥ १४ ॥ दया रूपी दिवलो करो, संवर रूपी बात, समकित
 ज्योति उजाली ने, ज्यों मिथ्या तम नष्ट जात ॥ १५ ॥ संवर रूप करो
 कांकणो, ज्ञान रूपी करो तेल, आठ कर्म प्रज्वलित करो, घोर भंघेरो ठेल
 ॥ १६ ॥ काया हाट तेल जालणो, ज्ञान वस्तु महीं सार, कारण करो जिनउजयो
 वागिज्य परतपकार ॥ १७ ॥ धीरज मन घर धूपणो, तप कर भगरज खेय,
 घरघाधूप ज्ञान जल थकी, इम सेवा निजदेव ॥ १८ ॥ सीमंघर आदि देहने,
 जघन्य जिनेधर बीस, अढाई द्वीपमें परगव्या, उरकूट एकसो सितेर ॥ १९ ॥
 भजन करो भगवान् को, ज्युं धारो सुधरे काज, काल अनन्त गयो कृपा,
 अवसर काप्यो हाय ॥ २० ॥ हिंसा से देव राजी हुए, भोला । यह मत भूल,
 सांचोमन नबकारनो, एम चढावो फूल ॥ २१ ॥ दुःख कोहने देणो नहीं,
 प्रवचन सानो निहार, जिनवरना गुण गुंथिने, ऐसी चढावो माल ॥ २२ ॥
 दानशील तप भावना, मनवच काय मुप्याय, ज्ञान दर्शन परित्रना, यह तु
 अक्षत चढाय ॥ २३ ॥ करण करावण अनुमोदना, हणवो जीव न कोय, नव
 सत्व धारो निर्मल, एहवो नैवेद्य होय ॥ २४ ॥ अवली गत संसारनी, घन
 लक्ष्मी के काज । टिचकार करतां थकां, पीठा कूटे छाज ॥ २५ ॥ टिचकार
 करता थकां, दाव पाछा घीरे जाय, लक्ष्मी इम करतां थकां, किम पंसे पर
 मांय ॥ २६ ॥ लीपणो टोळणो मांडणो, करो जीवांतो जतन, भव भव मांदि
 दोहिलो, मानव भव रतन ॥ २७ ॥ राणी श्री जिन देवकी, मुख ठपाडे मत
 गाय, यज्ञा करजो जुगत सुं, ज्यों शिव मंगल गाय ॥ २८ ॥ भाख्यो दिवाली
 दिन मोटको, बाधे पापना पूर । इम करतां रे प्रामियां, शिवपुर करे दूर
 ॥ २९ ॥ ज्ञान रूपी दिवलो करो, तपसा कर जज्वाल, नियम प्रत कर

मंडणा, विनय विवेक घी घाल ॥ ३० ॥ क्षमारूपी खात्रला करो, वैराग्य घृत भरपूर, उपशम मौण घालवे, शुद्धमन मोठीचूर ॥ ३१ ॥ भाव दिवाली इन करो, उतरो भवजल पार, जप तप सेवा भावसुं, लाहो ल्यो तुमलार ॥ ३२ ॥ वीचाली दिन जाग्गिने, घन्य निजघर माहीं, धर्मध्यान मनभादरो, अजर अमर पद पाही ॥ ३३ ॥ पूजे दिवाली ने दिने, बही लेखनी मचीपात, एम ज्ञानने पिण पूजजो, माधे पुण्यना छठ ॥ ३४ ॥ पर्व दिवाली जाग्गिने, उजलावे घर हाट, इम तुम प्रतः उजवाळजो, दीपे अथिकी वात ॥ ३५ ॥ घर कुटुंब धन नालझ, जिम वालहा ल्यगे तोय, तैसो नेह करो धर्मसुं, ज्यों मुक्ति मुख होय ॥ ३६ ॥ जाग्या थका खुटका करे, ठो बोलो मतिघर, जो असंयति जागसी, करसी छ कायानीपात ॥ ३७ ॥ ध्यान स्वाध्याय भली करो, गुणो बोल ने चाल, आजको दिनछे मोटको, वीचालो मत पाल ॥ ३८ ॥ पर्व दिवाली जाग्गिने, धार पाक्षा मत कूट, धर्मध्यान ध्याओ सदा, नको धर्म नो खूट ॥ ३९ ॥ चैत्र सुदी तेरस दिने, जनम्या श्री वर्षमान, कार्तिक बरी क्षमावत्सा, पाम्या मोक्ष निदान ॥ ४० ॥ मनुष्य जन्म छे दोहिलो, पाम्यो भारज खेत जोय मित्यो साधा तणो, चेत सके तो चेत ॥ ४१ ॥ सेवाकरो सुगुह तणी, साओ ज्ञान घन घेर, दीय घरी शुद्ध भावसुं, नवकरवाली फेर ॥ ४२ ॥ अंग उपांगने छेदमें, जीव दया प्रत पाल । तार्ते ऋषि जयमल कहे, इसी दिवालीने मान ॥ ४३ ॥

(महावीर स्तवन)

वीर जिनेन्द्र शासन धणी, जिम त्रिभुवनस्वामी । ज्यारे चरण कमल चित्त नित धरूं, प्रणमूं शिरनामी । सुर स्थिति नगरी पिता मात विन्द अवगाहना, वर्ण आयु पुनी कुमर पद सपन्न परमाना । चरित्र बल प्रभु गुण घना है छरमत्य केवल ज्ञान, तीर्थ गणघर केवली जिन शासन परमाण ॥ १ ॥ देवलोक दशवं वीस सागर पूर्णस्थिति पाए, कुण्डजपुर नगरी में चवी थी जिनवर आए । पिता सिद्धार्थ पुत्र, मात त्रिशलादेवी मन्दा, जननी मुक्तिमें अवतरो धीवीर जिनन्दा । ज्यारे चरण लक्षण सिद्धनोए अवगाहना कर साठ, सन कंचन करी शोभता, ते प्रणमूं जयनाथ ॥ २ ॥ बहुतेर वर्षनो आऊयो पायो गुलकारी, तीसवर्षकेवल्यदे रक्षा अभिग्रह घारी । उपसर्ग परिपह घहन करत पुनी घमरस भोजो, अनन्तबली भगवन्त जाव वीर नाम जु वीनो,

ज्यांय मातपितां स्वर्गतिं लब्ध्वाए, पुनी लियो संयम, भार। तपसा कीर्धी
 आकरी, सादा बारह वर्ष महार, ॥ ३ ॥ नव चौमासी तप कियो, इक कियो
 छमासी। पांच दिन ऊणां अभिप्रह। पद्द मास विमासी। एक एक मासी
 तप कियो, प्रभु द्वादश विरियां। बहत्तर पक्ष दोय २ मास छविरिया करियां।
 दोय अदाई दिन दोय ए बली डोटमासी दोय। भद्र-महाभद्र शिवभद्र तप
 करी, इम सोलह दिन होय, ॥ ४ ॥ भिक्खुनी पडिमा अष्ट भजिनी द्वादश
 कीनी। दोयसे ने गुणतीस छठम तप गिनती लीनी। ग्यारह वर्ष छमास
 पचिस दिन तपसा केरा। ग्यारह मास उगणीस दिवस पारणा भठेरा। इन
 विधि स्वामी तप कियोए पछी उपज्यो केवलज्ञान। तीस वर्ष ऊणां विचरिया,
 ते प्रणमूं वर्षमान, ॥ ५ ॥ प्रथम 'अस्थि' बीजो 'चम्पा' बो कहिए, 'वैशाला'
 ने 'वाणिज्ज' दो मिल। द्वादश लहिए। चतुर्दश 'नालंदे' पाके 'मिथिला'
 छभविया, 'महलपुरमें' दोय, सबे मिल अठतिस गिणिया। एक 'आलंभिका'
 एक 'सावथी', एक अनार्य में जाण, चरमचौमासो 'पावापुरी' जहा पहुंचे
 निर्वाण ॥ ६ ॥ मुनिवर चवदे सहस, सहस छत्तौस आर्यिक, इकलत्र गुणसठ
 सहसश्रावक, तीनलखश्राविका, अधिक अठारह सहस ग्यारह गणधर की
 नाळा, गोतमस्वामी शिष्य बडा, सती चन्दनबाला। ज्यारे केवलज्ञानी
 सातसौ, प्रभु पहाँचे निर्वाण। शासन नते स्वामीने, अब्द इकिस सहस प्रमाण
 ॥ ७ ॥ पूर्वा तीनसो धार, तेरासौ अवधि ज्ञानी, मन पर्यय पांचसे जान,
 नातसौ केवलज्ञानी ॥ विक्रिया लब्धिरा जान, सातसो मुनिवर कहिए। बाटी
 चारसौ बडे, भिन्न भिन्न धरचा लहिए ॥ एकाकी चारित्र लियो, एकाकी
 निर्वाण। चौसठ वर्ष तक चाळियो, दर्शन-केवल ज्ञान ॥ ५ ॥ बारह नरबल
 वृषभ, उपभ दश ज्यो ए हय नर, बारह हय एक महिप, महिप पांचसो सुं
 गयवर। पांचसे गज हरि एक, सहस हरि इक अष्टपद, दस लख अष्टपद
 एक रान, दोय राम एक वासुदेव। दोय वासुदेव एकचक्री, कोड चक्री इक
 सुर लियो, कोदी सुरा इक इंद वनन्तासुं नहीं नमे, चिट्ठी अगुत्री अप्र जिनेंद्र
 ॥ ९ ॥ आप तणां प्रभु गुण अनन्त, कोई पार न पावे, लब्धि प्रभावे कोठि,
 घाय कोदी सीस बनावे। तिर २ कोडा कोदी वदन, कोड कोड जिभ्यानी,
 जिभ्या २ सुं कोड २ गुम करे मुत्तानी। कोडा कोदी सागर लोए, करे ज्ञान
 गुण गार। आपतणां प्रभु गुण अनन्त, कोई कहत न आवे जी पार ॥ १० ॥
 वीर. १९

चन्दे रात्रु लोक भरे बालदा करियां, सर्वे जीवन्ती रोमरुप नही शके
 निमिना । एक बाल तप करे, गुण गण करे भक्तन्त, पूज्य प्रसाद शक्ति
 बालचंद कहे नहीं आवे अन्त । संवत् १८९२ ए-मास शुभ मृगशिर चंद ।
 स्वामपुरे गुणप्राप्तिका, पत्र २ वीर चिहंद ॥ ११ ॥

वीरस्तुति-परिशिष्ट नं० ५

शान्तरसपूर्ण शान्तिप्रकाशः

प्राथेनाङ्गम्-

प्रेमसहित चन्दौ प्रथम, जिनपद कमल अनूप ।
 ताके सुमरत अधमनर, होवत शांति स्वरूप ॥ १ ॥
 पूर्वं तमामि संस्रहं, जिनाङ्गिकमंडं शुभम् ।
 यल स्मृता बरा नीचा, जायन्ते छान्तिरुपचः ॥ १ ॥
 तुम शरणे भायो प्रभु, राख लेऊ निज डेक ।
 निर्विकल्प मम सिद्धजी, वेधो विमल विवेक ॥ २ ॥
 शरणं ते प्रभो ! शरणं, सरस्वो निरभयुकः ।
 हस्मनातीतछिद्रेच । शोभं चित्त निर्ममम् ॥ २ ॥
 फलं यद्वना भावयुत, प्रिविध योग धिर धार ।
 रतन ! रतन सम देय मुझ, ज्ञान जवाहर सार ॥ ३ ॥
 पूजा स्वेर्च प्रियोगेण, सभारं प्रणाम्यहम् ।
 देहि मे रत्न ! विज्ञानं, रत्नसुखं शुभं परम् ॥ ३ ॥
 उपाध्याय अध्ययन श्रुति, निशिदिन करत अन्यास ।
 दीनयन्तु मुझ दीजिप, राम वम ज्ञानविलास ॥ ४ ॥
 श्रुताध्ययनसनिश, विलमन्वदिसंस्तः ।
 उपाध्यायाः प्रदत्ताय, ज्ञानं छान्ति रमं वरम् ॥ ४ ॥
 सो साधु चाधा हरो, कर्मदायु रणजीत ।
 निपुण जोहरी ज्यो लक्ष्यो, आतम रतन पुजीत ॥ ५ ॥
 कर्मचक्रुं रणे जित्वा, दत्ताश्रित्यहम् ।
 भास्वरसं शुभं वैस्तु, वंशितं ज्ञानचभुषा ॥
 छाथवः कृपया द्याय, नम बाधा हरन्तु ते ॥ ५ ॥

अधिक प्रिय नव रसनमें, है रस शान्ति विशेष ।

स्थायी भाव निर्वेदसे, मेटो सकल कलेश ॥ ६ ॥

नवस्वपि रसेष्वत्र, प्रेष्ठः शान्तो विशेषतः ।

निर्वेदात्स्वैर्यमायतः, कृत्स्नं क्लेशं हरत्वयम् ॥ ६ ॥

विकलमति अभिलाष अति, कपटक्रिया गुणचोर ।

में चादत कछु शान्त रस, तुमसे करी निहोर ॥ ७ ॥

महेच्छुर्विमतिः स्वामिन् । निर्गुणो दम्भसंयुतः ।

त्वां प्रमिपत्य याचेऽहं, किञ्चिच्छान्तं रसं प्रियम् ॥ ७ ॥

कापे जाचुं जायकर, तुम सम नहीं दातार ।

करुणानिधि करुणा करी, दीजे शान्त विचार ॥ ८ ॥

यत्नाऽहमत्र कं याचे, स्वत्समो नहि दायक ।

दयानिधे । दयां कृत्वा, शान्ति मे यच्छ सस्विराम् ॥ ८ ॥

में गुलाम हूँ राखरो, मेरो यिगरत फाज ।

ताहि सुधारे यनि रहे, मेरी तेरी लाज ॥ ९ ॥

दासोऽस्मि ते प्रभोऽहं वै, कृत्यं नश्यति मेऽधुना ।

साकृत्ये तस्य मे ते वै, लज्जा स्थास्यत्यसंशयम् ॥ ९ ॥

शान्ति छयि निरखत रहूं, जाचूं नहीं कछु और ।

अरजी हुकम चढाय घो, पखो रहूं तुम पौर ॥ १० ॥

नान्यत्किमप्यहं याचे, याचेऽहं केवलं विभो ।

लोकेऽस्मिन्वीक्षणं दुःखाः, शान्तेरस्तु सदा मम ॥

आवेदने मयाऽऽदेशस्त्वया देयः प्रभो । ह्ययम् ।

भूत्वा चैवं कृतार्थोऽहं, द्वारे विप्रमि ते सदा ॥ १० ॥

जिहि गुणतें खुश दोहु तुम, सो गुण नहीं लवलेश ।

तुम चर्णन आथित रहूं, सो बुध देहु जिनेश ॥ ११ ॥

प्रसादस्ते गुणेन स्वायेन सत्पोऽपि मे स न ।

मठिर्विनेश । सा देया, यया स्वां चरणाथितः ॥ ११ ॥

तडफत दुःखिया में अति, पलक परत नहीं चैन ।

अव सुदृष्टि करि निरखिप, ढीले रहे वने न ॥ १२ ॥

- ; विकलोऽतीव दुःखेन, सुखं प्राप्नोमि न क्षणम् ।
 अधुनेक्ष्यः सुदृष्ट्याऽहं, सिद्धिर्नोऽपि क्षणे कृतेः ॥ १२ ॥
- यह सम्बन्ध भलो बन्यो, हम तुमसौं सर्व्वज्ञ !
 त्यागे ताहि न संग रखे, पिता पुत्र लखि अज्ञ ॥ १३ ॥
- मया त्वया च सर्व्वज्ञ ! जातः सज्जः मुशोभनः ।
 नो त्याज्यथ सदा रक्ष्यः, पित्रेऽपि पुत्रकः ॥ १३ ॥
- भेटहु कठिन कलेश तुम, परमात्म परमेश ।
 दीन जानिकर एकसिये, दिन दिन ज्ञान विशेष ॥ १४ ॥
- परमात्मन् । परेश । त्वं, क्लिष्टं क्लेशं विनाशय ।
 वीरं ज्ञात्वा च देहि त्वं, नित्यं ज्ञानं भुवं मम ॥ १४ ॥
- कृपा करो निर्वुद्धि पै, लखुं जुं अनुभव रीति ।
 अशुभ और शुभ देखके, करुं न कबहुं प्रीति ॥ १५ ॥
- कृप कृपां च निर्वुद्धौ, येनेक्षेऽनुभवरुमम् ।
 बोक्ष्याऽशुभं शुभं चैव, सुख्यो नो तत्र संरतिम् ॥ १५ ॥
- सध प्रकार धनवन्त हो, सुनहु गरीब नियाज ।
 आरत-रुद्र कुध्यानते, एकसि एकसि महापज ॥ १६ ॥
- शृणु त्वं वीरबन्धोऽसि, सर्व्वेषुर्षसंपुतः ।
 आर्ताश्रीश्राकुशानाथ, सर्वो वारय मां प्रभो । ॥ १६ ॥
- धर्मं शुक्लं ध्यावत रहं, दोय ध्यान सुखकार ।
 या जग ममता उदधि ते, दीजे पार उत्तार ॥ १७ ॥
- ध्यायामि सुखदं ध्यानं, धर्मं शुक्लं च नित्यतः ।
 निस्तारय विभो ! मां तु, लोकसम्मोहशागणव ॥ १७ ॥
- करुणा करिके भेटिये, विषय वासना रोग ।
 में कुपथी वेदन प्रबल, लखि मत जोग अजोग ॥ १८ ॥
- दयां विषय देव । त्वं, विषयेच्छामयं हर ।
 ममोन्मार्गस्य सम्भावो, योग्याऽयोग्यं न पश्य भो ॥ १८ ॥
- में गरजी अरजी करुं, सुनिहो जग प्रतिपाल ।
 चाह सत्तावे दास कौं, यह दुःख दीजे टाल ॥ १९ ॥

निवेदयाम्यहं ह्यर्थां, शृणु? त्वं लोकपालक । ।

तर्पस्तु बाधते दासं, दुःखमेतद्दिनाशय ॥ १९ ॥

प्रभु, तव सन्मुख हो रहूं, जगकूं देऊं पूठ । . .

कृपादृष्टि अस करहु तुम, ज्युं भव जावे छूट ॥ २० ॥

लोकं तु पृथतः कृत्वा, त्वत्समक्षः प्रभो ब्रह्म ।

स्यामेवं तु कृपादृष्टिः, कर्तव्या भवमोचनात् ॥ २० ॥

मैंने जे फुकरम किये, दीखत हैं सय तोय ।

महर करो ज्युं दीन पे, फेर न दुःख दें मोय ॥ २१ ॥

मया कृतानि पापानि, सर्वानि देव ! पश्यसि ।

तथा वीने कृपा काप्यां, याधन्तां नो यथा पुनः ॥ २१ ॥

विपति रही मो घेरके, सुनी न अजहु पुकार ।

मेरी विरियां नाथ तुम, कहां लगाईं यार ॥ २२ ॥

नाधुनाप्यशुर्लक्ष्यं, विपन्नां परितः स्थिता ।

मम वारे स्वया नाथ । विलम्बं क्रियते कथम् ॥ २२ ॥

पेसी विरियां में किधों, टरि गये दीनदयाल ।

बिना कहां कैसे रहूं, अय तो करि प्रतिपाल ॥ २३ ॥

इदस्या किल वैलस्यां, वीनबन्धो ! कुतस्त्वगाः ।

उत्तया विना कथं स्थयामधुना रक्ष मां विभो ॥ २३ ॥

जो कहलाऊं और पे, न मिटे मम उर झार ।

मेरी तेरे सामने, मिटसी मनकी रार ॥ २४ ॥

अन्येनोषी न शान्तः स्याच्चित्तोद्वेगः कथंचन ।

समक्ष एव चातस्ते, मनोवादे* विनह्वयसि ॥ २४ ॥

बुष्ट अनेक उधार के, थकि रहे किधों दयाल ।

धीरे धीरे तारिये, मेरो भी लखि हाल ॥ २५ ॥

गतिं ममाऽपि संवीक्ष्य, वनैः सन्तारय प्रभो !

उद्धार्याऽनेकदुःखान्वा, जातः धान्तो दयानिधे ! ॥ २५ ॥

॥ इति प्रार्थनाश्चम् ॥

॥ अथ रागनिवारणाङ्गम् ॥

अरे जीव मय वन विषे, तेरा कवण सहाय ।
 जाके कारण पचि रह्यो, ते सब तेरे नाय ॥ २६ ॥
 भवारब्धेऽत्र रे त्रिव । सहस्रः कोऽस्ति ते वद ।
 यदर्धं पितृसे नित्यं, तव ते सन्ति नो भुवि ॥ २६ ॥
 संसारी को देखले, सुखी न एक डिगार ।
 अथ तो पीछा छोडदे, मत घर सिर पर भार ॥ २७ ॥
 परव संसारिणं जीवं, न कोऽपि मुक्तयाम्भुवि ।
 अनुसृति लजेदानी, सीपें मा धर भरकम् ॥ २७ ॥
 झूठे जगके कारणे, तू मत कर्म बंधाय ।
 तू तो रीता ही रहे, धन पेला ही खाय ॥ २८ ॥
 मिथ्यासंसारमुदित्य, कर्मबन्धं तु मा कुव ।
 रिक्तो वासवि जीव । त्वं, भोक्ष्यन्ते हीतरे धनम् ॥ २८ ॥
 तन धन संपत् पायके, मयन न हो मन मांय ।
 कैसे सुखिया होयगा, सोयत *लाय लयाय ॥ २९ ॥
 तनुं वित्तं विभूतिं च, कर्ष्या इष्टस्तु मा भव ।
 बन्धि प्रज्वाल्य देवे किं, स्वास्त्यि त्वं क्वं सुखी ॥ २९ ॥
 ठाठ देख भूले मति, यह पुद्रल पर्याय ।
 देखत देखत ताहरे, जाती धिर न रहाय ॥ ३० ॥
 भूति दद्या श्रमाय त्वं, मेवं जाता तु इदंतेः ।
 नक्ष्यति पश्यतस्ते वा, न स्थिरैवं कदापि च ॥ ३० ॥
 लूटेंगे छानादि धन, ठगसम यह संसार ।
 मोठे चचन उन्मारिके, मोह फांसी गळ डार ॥ ३१ ॥
 श्रियं प्रोच्य गते मोहपापं क्षिप्या त्रिषे जनाः ।
 शान्तिपनहारं वे, करिष्यन्ति प्रबन्धनः ॥ ३१ ॥
 किधौं भूत तोकी लग्यो, करे त तनक विचार ।
 ना माने तो परखले, मतलबको संसार ॥ ३२ ॥

कैसे गाफिल हो रहा, नेडा आंत करार ।

निपजी खेती देय क्यों, वाटी सटे गधार ॥ ३९ ॥

प्रमत्तोऽसि कथं श्रतययात्वाश्रुतमन्तिकम् ।

प्रतिपच्छसि रौदर्यं *कथं सजातशस्त्रकम् ॥ ३९ ॥

धर्मविहार कियो नहीं, कीन्हो विषय विहार ।

गांठ खाय रीते चले, आके जग हटवार ॥ ४० ॥

धर्मान्धारः कृतो नाऽग्र, विहारो विषये कृतः ।

॥ लोकापणे समागल, मूलधी रिक्तको गतः ॥ ४० ॥

काज करत पर, घरनके, अपनो काज धिगार ।

सीत निवारे जगत्का, अपनी झौंपरी पार ॥ ४१ ॥

विनाश्म त्वं सखं कार्यं, कुरुषे परकुलकम् ।

कुटीं निजा तु सञ्चाल्य, लोकसीतं म्यपोदसि ॥ ४१ ॥

नहिं विचार तेने किया, करना था फया काज ।

उदय होयगा कर्मफल, तव उपजेगी लाज ॥ ४२ ॥

आसीकि तव कर्तव्यं, कृता नाऽस्य विचारणा ।

कर्मविपाककाले च, शीघ्रां याससि वै सखे ! ॥ ४२ ॥

झूठी संसारीनकी, छूटेगी जब लाज ।

तव सुखिया तू होयगा, इनते अलगा भाज ॥ ४३ ॥

असत्संसारिभोगानां, यदा नंक्ष्यसि वै रुचिः ।

एतेभ्यस्तु पृथग्भूत्वा, तदा शीक्यमवाप्ससि ॥ ४३ ॥

अपनी पूंजी सौं करो, निश्चल कार विहार ।

चांध्या सोही भोगले, मत कर और उधार ॥ ४४ ॥

आत्मीयेनैव धितेन, कार्यमाचर निश्चलम् ।

वदमेव हि मुंक्षस्व, ऋणमन्यत्तु मा कुरु ॥ ४४ ॥

नया कर्म ऋण फाटके, करसी कार विहार ।

देणा पडसी पारका, किम होसी झुटकार ॥ ४५ ॥

कर्मणं नूतनं कृत्वा, यदि कार्यं विधाससि ।

उद्धारस्तु कथं भावी, दातव्यं स्यात्परस्य यत् ॥ ४५ ॥

विषय भोग किम्पाक संग, लखि दुःख फल परिणाम ।

जब विरक्त तू होयगा, तब सुधरेगा काम ॥ ४६ ॥

भोगः किम्पाकतुल्योऽस्ति, तदन्ते वीक्ष्य सद्दुटम् ।

विरक्तस्तु यदा भावी, तदा कर्म्यं तु सेत्स्यति ॥ ४६ ॥

परे ! मन मेरे पथिक, तू न जाव वहाँ ठोर ।

यटमारा पाँचों जहाँ, करै साहकों चोर ॥ ४७ ॥

मम पाथ मनस्त्वं रे ! गच्छ मा तत्र कर्हिचित् ।

दस्यवो यत्र पश्चापि, साधुं चौरं प्रकुम्भते ॥ ४७ ॥

आरम्भ विषय कपायकों, फीनी बहुतिक वार ।

कारज कहु सरिया नहीं, उलटा हूवा रघार ॥ ४८ ॥

भोगारम्भकपायास्तु, बहुषो विहितास्त्वया ।

कार्येतिद्विस्तु नो ज्ञाना, जातः प्रयुत रुजितः ॥ ४८ ॥

चारों संझामें सदा, सुते निपुण चित्त लाग ।

शुभ समझार्थे कठिनसँ, उपजे तउ न विराग ॥ ४९ ॥

प्रनोधयति सज्ञाभिर्युक्त्वतसभिर्भुवम् ।

ज्ञानाव चित्तधैराम्यं, जायते ते तथापि नो ॥ ४९ ॥

खैर हुआ जो कुछ हुआ, अब करनो नहीं जोग ।

बिना विचारे तैं किया, ताका ही फल भोग ॥ ५० ॥

अस्तु जातं तु यज्यातं, प्रमादं नाधुना कुरु ।

असनीक्ष्य कृतं यत्तु, भुंक्त्व तस्य फलं ध्रुवम् ॥ ५० ॥

इति रामनिवारणाद्वम्

अथ द्वेषनिवारणाङ्गं कथ्यते

शुरो कहे कोऊ तो भर्नी, तो तू भला जु मान ।

बूरा मीठा होतहै, सब वनिहै पकवान ॥ ५१ ॥

अप्रियं *वकित यस्तुभ्यं, त्वं तु जानीहि तत्प्रियम् ।

शूरा †मिष्टं भवत्यत्र, पक्वानं तेन जायते ॥ ५१ ॥

* 'शुरा' इति भाषायाम् । † 'भला' इति भाषायाम् । ‡ 'शुरा' । इति
नन्दस्य दीर्घोकारत्वेन प्रयोगस्तदा भाषायां शर्करापर्यायः ।

कटु तीक्ष्ण अति विषमरी, गाली शख समान ।
 अशुभकर्म गुम्मड भिषो, यों जिय सुलटी जान ॥ ५२ ॥
 कटुस्त्रीष्णा विषोपेता, शखतुल्या हि मालिका ।
 भुवेति तां विजानीहि, स्त्रोटो भिन्नः कुर्मजः ॥ ५२ ॥
 कटुक घचन कोऊ कह दिया, लगे जु दिलमें तीर ।
 समदृष्टि यों समझले, मोय जान्यो अतिवीर ॥ ५३ ॥
 कृत्तिः परसम्प्रोक्त, वाणवद्विनति सा ।
 समदृष्टिर्विजानीमाज्ज्ञातोऽहं वीरसुख्यकः ॥ ५३ ॥
 चैरी होता तो कचहु, नहीं कहता कटु वात ।
 सज्जन दीसत माहरो, कज लखि कटुक खवात ॥ ५४ ॥
 अभविभ्यदयं शत्रुनां वदिभ्यत्तदा कटुः ।
 सखनो दृश्यते मेऽयं, कटुघवति रोगरुह ॥ ५४ ॥
 अचगुण सुनिके आपणां, रे मन ! सुलटी धार ।
 मो गरीयकों जानिके, लीना योस उतार ॥ ५५ ॥
 आत्मनो दोषमाकर्ष्यं, सर्वं धारय हे मनः ।
 ज्ञात्वाऽनेन तु मां वीनं, स्त्रीर्षाद्गारोऽवतारितः ॥ ५५ ॥
 में भूल्यो शुभ राहकों, इननें दई बताय ।
 दुर्जन जानि पेरे नहीं, सज्जन सो दर्शाय ॥ ५६ ॥
 शुमाणो विस्मृतो नूनं, मया चार्यं भ्यवोभयत् ।
 शायते दुर्जनो नायं, सखनस्तु विलभ्यते ॥ ५६ ॥
 ज्ञान अस्त सूरज हुआ, में भूल्यो निजलाह ।
 निन्दा रूप मसालले, इने दिखाइ राह ॥ ५७ ॥
 अहं गते हि बोधार्क, जातोऽहं विस्मृताधकः ।
 निन्दाप्रवीपमादाय, जातोऽयं मार्गदर्शकः ॥ ५७ ॥
 सुनि निन्दकके वचनकों, चित मति करे उचाट ।
 यह दुर्गन्धित पवन अति, बहती कुं मति डाट ॥ ५८ ॥
 निन्दकोक्ति समाकर्ष्यं, स्थानि मा कुह मानसे ।
 रुन्धि मा. त्वं सखे ! प्रतिगन्धं वाते सनीरपम् ॥ ५८ ॥ ...

कुचचन शर फया कर सके, तू होजा पापाण ।
 तेरा कुछ विगरे नहीं, चाका ही अपमान ॥ ५९ ॥
 सखे ! पापाणवद्भ्याः कृषियुः किं करिष्यति ।
 न स्याते कापि वा दानिर्ह्यपमानस्तु तस्य च ॥ ५९ ॥
 कुचचन गोलीके लगे, जो ले मनको मार ।
 आपही ठंडी होयगी, होजा शीतल मार ॥ ६० ॥
 कृषिगोलीसमापाते, मनः शान्तं करोति यः ।
 भविता सा खवं शीता, शान्तस्त्वं भव हे सखे ! ॥ ६० ॥
 तैने ऊपरसौं कही, मैंने समझी ठेठ ।
 खटका सयही सिटगया, एक रह गयो पेट ॥ ६१ ॥
 उपरिष्ठास्त्वया शोकं, तरवं शुद्धं मया किल ।
 चिन्ता कृत्वा विनष्टा मेऽवशिष्टा समता खल ॥ ६१ ॥
 रे चेतन मुलटी समझ, तेरा सुधरा काज ।
 कुचचन घर घर ताहरी, इणने सौंपी आज ॥ ६२ ॥
 सम्यक् चेतन ! बुध्यस्व, सिद्धं कार्यं तवाद्य वै ।
 तावकः कृषिनिक्षेपोऽग्नेनेदानीं समर्पितः ॥ ६२ ॥
 होगी सोई नीसरे, यस्तु भरी जिहि माहिं ।
 याका गाहक मत बने, तेरे लायक नाहिं ॥ ६३ ॥
 यस्मिन् वस्तु यदेवास्ति, निस्सरिष्यति तत्किल ।
 नोषितं वै समस्त्येद्गाहकस्त्वस्य मा भव ॥ ६३ ॥
 अपना अवगुण सुणकरी, मत माने जिय रीस ।
 मनमें तू यों समझले, मुझको देत असीस ॥ ६४ ॥
 आत्मदोषं समाकर्ष्य, चित्तं खेदं तु मा कृथाः ।
 आश्रितं मे ददालेप, कार्या वैषा विचारणा ॥ ६४ ॥
 क्रोध अगन दिल मत लगा, सुनि अयथारथ बोल ।
 क्षमारूप जल छिडकिय, नेक न लागे मोल ॥ ६५ ॥
 असदुक्तं वचः श्रुत्वा, क्रोधाप्रौ शिष्य मा मनः ।
 सिद्धं वारि क्षमारूपं, भवेत्तापो न कथन ॥ ६५ ॥

दुर्जन चुप हो है नहीं, तू तो छिन चुप साथ ।

तूण विन.परिहे अगनि कहुं, आपहि होय समाध ॥६६॥

न तूष्णीं दुर्जनः स्थाता, त्वं तु तूष्णीं भव क्षणम् ।

निस्तूष्णे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ॥ ६६ ॥

तू तूण सम कट्टु बचन सुन, क्रोध अगन मत दाइ ।

उपल नीर सम करहु मन, तव मिलिहै शिवराज ॥६७॥

श्रुत्वा तूणनिभां कूकिं, कुदमिं मा श्रवीष्य ।

कुरु नीरसमं स्वान्तं, मुक्तिपञ्चं तदैभ्यसि ॥ ६७ ॥

आई गई कर गालिफों, क्रोध चंडाल समान ।

न तर पिछानि चंडालिनी, पह्लो पकरे आन ॥ ६८ ॥

उपेशल सखे । गालिं, सज कोपं श्वाकवद् ।

श्वपाक्यनुगता नोचेद्गृहीता ब्रह्मसन्दशाः ॥ ६८ ॥

प्रभु सहाय नहीं होयँगे, रे जिय सांची जान ।

क्रोध करी ज्युं होगयो, साधु रजक समान ॥ ६९ ॥

ईशोऽपि नो सहायः स्यात्सत्यं मन्यस्य चित्त । इ ।

पश्य कोपं विधायैवं, साधु रजकतां गतः ॥ ६९ ॥

आत्म धरु मेला लखी, इणने दीना धोय ।

कट्टुक बचन साधुन करी, निबल जानिके मोय ॥ ७० ॥

निर्बलं वीक्ष्य मानेप, आत्मवत्त्वं मलीमसम् ।

कट्टुकितापनेनाऽऽश्रु, तदधावर्याद्रकः ॥ ७० ॥

औदरी व्हेके मति करे, कुंजडी के संग रार ।

रतन विखरसी तादरा, भाजी सट्टे गवाँर ॥ ७१ ॥

विवादं शाकविकेभ्या, रात्रिकस्त्वं हि मा चर ।

भविता रत्रविक्षेपो, शाक्यं मूढ । घत्वरम् ॥ ७१ ॥

सांलाफी गाली दर्द, यह विचार चित ठार ।

भगिनी सम इनकी प्रिया, मोय समश्यो यतघार ॥७२॥

श्रुत्वा शाक्यकगालिं तु, चित्तं चिन्तय तत्क्षणम् ।

भार्यासहचरदसेति, सम्यग्नुदं प्रवृत्तं मम ॥ ७२ ॥

किरतघनी घननो न ह्यौ, दद गारि इण मोहि,
 अस आतम शीतल करौ, मम उधार तव होहि ॥ ७३ ॥
 दत्ता मम गालिरेतेन, कृतप्रो भवित्वासि नो ।
 एवं कुर्यां यदा शीतं *खं तदोदारमाप्नुवाम् ॥ ७३ ॥
 गाली एक ही होत है, बोलत होत अनेक ।
 रे जिय! तू घोले नहीं, तो वही एक की एक ॥ ७४ ॥
 गालिरेका प्रतीवादेऽनैका सेष विज्ञायते ।
 विचाप्यैवं तु मा ब्रूहि, सा स्यादेकैव तित्ता ह ॥ ७४ ॥
 अनन्तकाल पहले प्रभु, देख रखे यह भाव ।
 परिहै कट्टु बच थवणमें, ते किम टास्यो जाय ॥ ७५ ॥
 प्रागेवानन्तकालाद्दे, जिनो भावं निरैक्षत ।

कद्रक्तिपतनं श्रोत्रे, शक्यं वारयितुं कथम् ॥ ७५ ॥

इति द्वैपनिवारणाङ्गम्

अथ धैर्यधारणाङ्गम्

अय दिल चाहे परमपद, उर धीरज गुण धार ।
 निन्दा स्तुति रिपु प्रिय, एक हि दृष्टि निहार ॥ ७६ ॥
 निर्व्वानिच्छामनस्ते चेतदा धैर्यं गुणं धर ।
 निन्दास्तुति रिपुप्रीतौ, समदृष्ट्या विलोक्य ॥ ७६ ॥
 धीरज धर भ्रमको तजो, एह पुद्गलको ख्याल ।
 पर परछांही पर रही, तू तो चेतन लाल ॥ ७७ ॥
 धैर्यं धृत्वा स्यन्न भ्रान्तिभेतत्पुद्गलनाव्यक्तम् ।
 चेतनोऽसि प्रिय । त्वं तु, त्वयि निम्बं परं गतम् ॥ ७७ ॥
 चञ्चलताको छोडिदे, धीरजकी कर हाट ।
 कर विहार गुण माल को, ज्युं होवे बहु ठाट ॥ ७८ ॥
 स्यक्त्वा स्थैर्यं पिपेहि त्वं, धैर्यहृदं सजे । मम ।
 आद्रियस्व गुणधामं, येन सर्व्वं सुखं भवेत् ॥ ७८ ॥

चाह किए कछु ना मिले, करिके जहँ तहँ देख ।
 चाह छाँडि धीरज धरहु, पद पद मिलत विशेष ॥ ८६ ॥
 इच्छयाऽऽप्नोति नो किञ्चित्पश्य कृत्वा नु मानव ।
 विहायेच्छां कृते धैर्ये, विशेषासिः पदे पदे ॥ ८६ ॥
 सुनि उझले मति रे जिया ! कर विचार चुप साध ।
 यही अमोलिक औषधि, मेटे भत्र दुःख व्याध ॥ ८७ ॥
 शुभोत्पत्त मनो मा त्वं, मौनं धृत्वा विचारय ।
 अमूल्यमौषधं ह्येतद्भवतापाऽऽमयाऽपहम् ॥ ८७ ॥
 रे चेतन ! संसार लखि, दृढ कर नेक विचार ।
 जैसी दे तैसी मिले, कूपकी गुंजार ॥ ८८ ॥
 चेतन ! वीक्ष्य संसारे, कुरु धृत्वा विचारणाम् ।
 लभ्यतेऽत्र यथादत्तं, कूपप्रतिष्वनिर्यदा ॥ ८८ ॥
 चञ्चलताकौं छाँडीकै, काट मोह गल फांश ।
 सम दम यम दृढता किये, निज गुण होय प्रकाश ॥ ८९ ॥
 ह्यक्त्वा आपत्यमाच्छिन्धि, गलपार्श्वं च मोहजम् ।
 शमे दमे यमे दाढ्ये, कृते स्वगुणभासनम् ॥ ८९ ॥
 अभिलाषाकौं त्यागिके, मनकौं रख मजधृत ।
 तब कुछ सुझे अगमकी, यह सांची करतूत ॥ ९० ॥
 अभिलाषं परिलज्य, मानस कुरु निश्चलम् ।
 तदायत्नामुकर्तव्यं, द्रक्ष्यते च यथार्थतः ॥ ९० ॥
 धो तो ह्यां ही वस्तु है, जाकी तेरे चाय ।
 क्षण इक धीरज धारले, सहजे ही मिलजाय ॥ ९१ ॥
 अभिलाषोऽस्ति ते यस्य, तद्रस्त्वत्रैव विद्यते ।
 क्षणं धैर्यं कुरु खान्ते, विनाऽऽयातेन लप्स्यते ॥ ९१ ॥
 मतकर परगुणमें रमण, ज्यों न लगे गल तोष ।
 निश्चल रह निज गुणनमें, आपही होगी मोक्ष ॥ ९२ ॥
 रमसाऽन्यगुणे मा त्वं, येन दोषो भवेन्नहि ।
 निश्चलः स्वगुणे भूयाः, स्वतो निर्व्याणमेष्यसि ॥ ९२ ॥

निश्चलतासुं होयगा, रे जिय ! ब्रह्म समान ।
 तृण का ही घृत होत है, गाय चरे पय पान ॥ ९३ ॥
 स्वैर्येण मखिता जीव । ब्रह्मनुस्यो त्वसंशयम् ।
 सर्पित्तेन तृष्णं स्वाद्यन्नैथरति जलेन च ॥ ९३ ॥
 जो तू चाहे अमर पद, करि दृढता अखत्यार ।
 याल न यांका होयगा, जीवत ही मनमार ॥ ९४ ॥
 यश्मरपदेच्छा ते, धैर्यमन्नीकुरुष्व वै ।
 जहि मनस्तु जीवदा, नैवं केशस्य चकता ॥ ९४ ॥
 धीरज गुण धारण किये, तब ही दुःख कट जाय ।
 जैसे ठंडे लोहसे, तत्ता लोह कटाय ॥ ९५ ॥
 धृतधैर्यगुणे सर्व, दुःखं नश्यति सत्वरम् ।
 यथा क्षीतेन लोहेन, तत्ताऽऽयश्छियते ध्रुवम् ॥ ९५ ॥
 अल जिम निर्मल मधुर मृदु, करत तप्तको अन्त ।
 इम धीरज गुण चार लखि, करो ग्रहण युधघन्त ॥ ९६ ॥
 निर्मलं मधुरं वाहि, मृदुस्वापविनाघनम् ।
 एवं चतुर्गुणं धैर्यं, वीर्यं गृणीत वै बुधाः ॥ ९६ ॥
 कला घटत अरु बढत है, नहीं शक्षिमण्डल जान ।
 जन्म मरण गति देहकी, यों लखि धीरज ठान ॥ ९७ ॥
 हानिरुद्धी कलायाथ, नहीन्दुमण्डलस्य वा ।
 देहस्यैवं गतिं जन्म, मृत्युं वीर्यं गृतिं धर ॥ ९७ ॥
 सुखदुःख दोनों एकसे, है समक्षणको फेर ।
 एक शब्द दो अर्थ ज्यों, लाख टकेकी सेर ॥ ९८ ॥
 सुखदुःखे समे वै तु, बोधभेदस्तु लक्ष्यते ।
 लोके *लाख टकाकी सेरेदं द्वयर्थक्याक्यकम् ॥ ९८ ॥

* "लाख टका की सेर" इदं वाक्यं लोके द्वयर्थकमस्ति, तद्यथा—पण-
 द्वययेन लाक्षा प्रस्थमिता मिलतीति प्रथमोऽर्थः । लक्षसंख्याकरणाद्युक्तैः किय-
 ज्ञानवस्तुप्रस्थपरिमितं मिलति, इति च द्वितीयोऽर्थः ।

सुखदुःख दोऊ वेदे मति, वेदे तो सम भाव ।
 जैसे मकरी जालकों, पूरे अरु छा जाय ॥ ९९ ॥
 सुखदुःखानुभूति मा, कुरु नो चेत्समानतः ।
 दत्ताजानं यथा पूर्णं, कुरुतेऽद्यापि तत्र वा ॥ ९९ ॥
 समताको धारण किये, क्यों न डटे मन लहर ।
 भरणी सृणु २ कर मिटे, स्यांषां हुंदा जहर ॥ १०० ॥
 समताधारणे किं वा, मानसोर्मिर्न शाम्यति ।
 पश्य सर्वविषं शुक्वा, गारुडी नश्यति युष्म ॥ १०० ॥
 इति पैर्याङ्गम्

अथानुभवविचारखानाङ्गम्

कुकस विषय विकार सम, मति भखि मूढ गवाँर ।
 अनुभवरस तू चाखिले, गुरु मुख करि निर्धार ॥ १०१ ॥
 मूढ ! धनीण ! मा भुङ्क्ष्व, भोगान्कूचं कसिभान् ।
 गुरोर्मुखात्तु धम्प्राप्य, अनुभूतिरसं पिय ॥ १०१ ॥
 किये पाठ अनुभव विना, न मिटे भीतर पाप ।
 याहर शीशी धोयके, करी चहै तू साफ ॥ १०२ ॥
 अनुभूत्या विना पाठरुपापं नश्यति नान्तरम् ।
 काचक्रीं बहिर्धावाभिर्मलं कर्तुमिच्छसि ॥ १०२ ॥
 अहभार पापाणको, जिमलायत जल माहिं ।
 तिमि अनुभव विच कर्मको, बहुचन्धन छै नाहिं ॥ १०३ ॥
 अल्प एवात्मनो भारो, यथा तोये प्रतीयते ।
 अनुभूत्या तथा कर्मचन्धो भूरिर्न जायते ॥ १०३ ॥
 मन वच-तन धिरर्तं भयो, जो सुख अनुभवमाहिं ।
 इन्द नरिन्द फनीन्दके, ता समान सुख नाहिं ॥ १०४ ॥
 स्थैयं देहमनोवाचामनुभवे तु यत्सुखम् ।
 तादृक् सुखं न शक्य, मानवेन्द्रफणीन्द्रयोः ॥ १०४ ॥
 अनुभवसौं प्रभु मिलतहै, अनुभव सुखको मूल ।
 अनुभव चिन्तामणि तजि, मति भटके कहुं भूल १०५
 वीर. २०

अनुभूत्याः प्रभोः प्राप्तिः, एवं गूलं मुखस्य च ।

लकटा चिन्तामणि मूडाऽनुभूतिं कापि मा त्रम ॥ १०५ ॥

अति अगाध संसार नद, विषय नीर गम्भीर ।

अनुभव विन पार न लहत, कोटि करहु तदवीर ॥१०६॥

भवो नदोऽस्त्यगाधोऽत्र, विषया बहु वापिनत् ।

क्षोब्धपायेऽपि पारं नो, बालानुभूतिमन्तर ॥ १०६ ॥

जिहिं विचारतें पाय है, मनकीं धिर सुसदौर ।

ताकाँ अनुभव जानिये, अनुभव नहिं कुछ और ॥१०७॥

मन-स्यैर्व्ये सुखस्थानं, येनाऽऽप्नोति विचारतः ।

मुष्मलानुभवं सं च, परन्त्वनुभवो न हि ॥ १०७ ॥

विना विचारे ज्ञानके, तू जहलको रोह ।

मिथ्या यों ही पचत है, क्यों न करे अब खोज ॥ १०८ ॥

विना ज्ञानविचारेण, भारण्यभवयो ननु ।

व्यर्थं खेदमवप्नोति, कुरुते किं न विचारणाम् ॥ १०८ ॥

मन मतक वश करनकीं, धानाकुश चित धार ।

क्षमार्थभसे यांधकर, लज्जा शृंखल डार ॥ १०९ ॥

मनो गजं वधं कर्तुं, चित्तं ज्ञानशृणि धर ।

क्षमा क्षम्येन यथा च, क्षिप लज्जां मुशङ्कलाम् ॥ १०९ ॥

अमतो मन रवि आटिछे, ज्ञान मुकुरके म्यान ।

बिंदु सुभ उपयोगसे, कर्म तूलकी ज्ञान ॥ ११० ॥

अमन्मनो रविं शन्धि, ज्ञानदर्पणके वृषे ।

विन्दुना सूपयोगेन, कर्मतूलविनाशनम् ॥ ११० ॥

सीसा सम संसार है, गुरु कृपा आदित्य ।

ज्ञान जेत्र विन किम लखे, आपनपो सुपवित्र ॥ १११ ॥

संसारो दर्पणमस्तु, भारकरोऽस्ति गुरोः कृपा ।

विशुद्धात्मत्वबोधस्तु, ज्ञानेत्रं विना न हि ॥ १११ ॥

विषय-वासना करत जो, आवे ज्ञान जंगीश ।

त्रेशदका उन समयमें, छिन्नमें होय छत्तीस ॥ ११२ ॥

भोगानां वासनायां चेज्ज्ञानमुदयोतते सखे ।
 सद्यत्रिपदिसङ्गमायाः, पद्मत्रिद्वयते युक्तम् ॥ ११२ ॥
 जो तू चाहे ज्ञान सुख, तो विषयन मनफेर ।
 और ठौर भटके मती, अपने ही में हेर ॥ ११३ ॥
 व्यावर्तय मनो भोगाद्दोषसौख्यं यदीच्छसि ।
 रे रे ! त्वं भ्राम्य माऽन्यत्र, वदाऽऽत्मनि च मार्गय ॥ ११३ ॥
 ज्ञानरूप दीपक कने, न यचे कर्म पतङ्ग ।
 जो रहे तो दोनोनमें, झूठो एक प्रसङ्ग ॥ ११४ ॥
 अन्तिके ज्ञानवीपस्य, नो कर्मफलमः स्थिरः ।
 तिष्ठतो यदि तौ द्वौ वा, मृषैकस्तु प्रसङ्गकः ॥ ११४ ॥
 ज्ञान सञ्चरे जिहि समें, न रहे कर्म समाज ।
 और न पंछी डट सके, जहां वसेरा याज ॥ ११५ ॥
 यदा सञ्चरति ज्ञानं, कर्मजालं तु नो तदा ।
 श्येनवासो भवेद्यत्र, तत्र तिष्ठन्ति नो खगाः ॥ ११५ ॥
 घर नहिं छूट्यो एकसौं, छूट्यो कर्म कुडंग ।
 ज्ञान तणे सत्सङ्गधी, देखो ठाणायंग ॥ ११६ ॥
 गृहं लज्जे न वेकेन, लज्जे कर्म तु कुलितम् ।
 सारवज्ञोत्पन्नबोधेन, पश्य स्थानाङ्गसूत्रकम् ॥ ११६ ॥
 क्षण एक ज्ञान विचारले, विषय दृष्टि कौं फेर ।
 मेरी मेरी त्यागदे, यों होवे सुरक्षेर ॥ ११७ ॥
 भोगादृष्टि परात्त्व, क्षणं विन्तय बोधकम् ।
 खलु सयो मनस्वं च, सर्वं सम्यग्भविष्यति ॥ ११७ ॥
 भाठ पहर ढिग राखले, ज्ञान सरूपी ढाल ।
 मोह अरीके विषय शर, लगे न ताकी भाल ॥ ११८ ॥
 संरक्षायामु यामेषु, ज्ञानरूपं तु चर्मकम् ।
 विषयेषुर्न-मोहारेमंस्तके न लविष्यति ॥ ११८ ॥
 माया मोह निवारके, विषयनसौं मनर्षीच
 जो सुख चाहे आपणा, तो रहो ज्ञानके वीर ॥ ११९ ॥

मायामोहं निवाप्यैवं विषयेभ्यो मनो हर ।

बान्धव्यात्मसुखं चेद्वि, ज्ञाने विहर मे सखे ॥ ११९ ॥

मेद लहे विन ज्ञानके, मत भूसे जिम स्वान ।

लोग गडरिया चाल तज, आपनपो पहिचान ॥ १२० ॥

मा कुरु भयणं श्वेव, ज्ञानमेदातिमन्तरा ।

॥ लोकमेपीगति त्यक्त्वा, स्वारमानं परिवोधय ॥ १२० ॥

कामधेनु अरु कल्पतरु, इण मघ सुख दातार ।

इणभव परभव दुहुनमें, ज्ञान करत निस्तार ॥ १२१ ॥

कल्पटुः कामधेनुथ, लोकेऽत्रैव सुखप्रदौ ।

निस्तारयति बोधस्तु, जगत्पत्र परत्र च ॥ १२१ ॥

जगत् मोह फांसी प्रबल, कटै न और उपाय ।

सत्सङ्गति कर ज्ञानकी, सहज मुक्ति हो जाय ॥ १२२ ॥

मोहपाशो हटो लोके, चिद्यते नान्ययत्नतः ।

कुरु बोधस्तु सत्सङ्गं, मुक्तिः स्वास्त्वयमेव हि ॥ १२२ ॥

धिच पारस अरु ज्ञानके, अन्तर ज्ञान महन्त ।

यह लोहा कञ्चन करत, वह गुण देय अनन्त ॥ १२३ ॥

पारसादमनि बोधे च, जानीहि महदन्तरम् ।

लोहं स्वर्णं करोत्येव, स त्वनन्तगुणप्रदः ॥ १२३ ॥

प्रथम ज्ञान पीछे दया, यह जिनमतको सार ।

ज्ञान सहित किरिया करूं, तव उतकं भव पार ॥ १२४ ॥

जैनसिद्धान्तसारोऽयं, पूर्वं ज्ञानं ततो दया ।

सज्ञाना चेत्किर्यां कुर्यां, तदा स्यां भवपारगः ॥ १२४ ॥

अधोपसंहारः

अति आलस परमादियो, भञ्जुलाल मुझ नाम ।

ज्ञानोद्यम कछु ना बने, किम सुधरे मुझ काम ॥ १२५ ॥

अहं च भञ्जुलालकृतः, प्रमत्तश्च मुसायकः ।

ज्ञानोद्यमो न मे कश्चित्कथं कार्यं तु सेत्स्यति ॥ १२५ ॥

दर्शन पुनि निश्चल नहीं, नहीं निश्चल चरित्र ।
मन भ्रमतां निशिदिन रहे, नहीं ठहरे एकत्र ॥ १२६ ॥
सम्यक्त्वं निश्चलं मे नो, चारित्र्यमपि नैव च ।
नित्यं भ्राम्यति चित्तं तु, तदेकत्र न तिष्ठति ॥ १२६ ॥
ऐसी करी विचारणा, रे जिय ! अवतो चेत ।
घार घरण गुरु 'रतनजी', ऐसो करि सङ्केत ॥ १२७ ॥
एवं जाते विचारे तु, चेत जीव । किलाधुना ।
चतुर्वर्णगुरु 'रतनजी', सङ्केतं कृतवानिमम् ॥ १२७ ॥
घार घर्णं गुरु 'रतनजी', तास मेद चौवीस ।
तामें मेद जु तेरवें, करी ज्ञान बकसीस ॥ १२८ ॥
चातुर्वर्ण्यगुरु 'रतनजी', तद्भेदा युगविद्यतिः ।
त्रयोदशे तु भेदे च, ज्ञानदानं व्यधादसौ ॥ १२८ ॥
ज्ञान पाय हुलसी मती, शुक्ला छठ मधुमास ।
संबत् रसं अग्नि कं भू, रच्यो शान्ति परकाश ॥ १२९ ॥
ज्ञानं प्राप्य मतिर्दृष्टा, रमाऽऽम्बेन्दुरन्दके ।
स्तिते पद्मा मधौ "शान्तिप्रकाशो" रचितो मया ॥ १२९ ॥

आशिवचनम्

अरिहंत-सिद्ध-गण-ईशजी, उपाध्याय सब साध ।
पंच परमगुरु दीजिये, निम्मेल ज्ञान समाध ॥ १३० ॥
अर्हन्सिद्धोऽथवाऽऽचार्य, उपाध्यायो मुनिलया ।
पञ्चैते गुरवो दयुः, शुद्धबोधसमाधिकौ ॥ १३० ॥

इति श्रीमज्जैनाचार्यमञ्जुलालकृतशान्तिप्रकाशः समाप्तः ॥

"मुसंस्कृतानुवादस्तु, कृतः पुष्पेन्दुभिक्षुणा
शान्ते वीररसं प्राप्य, मोक्षः सञ्जायते ध्रुवम्"

वीरस्तुति-परिशिष्टं नं० ६

वीरस्तु भगवान्स्वयम्

जैनेषां निखिलाऽमराऽऽनुतपदं सर्वान्तरायापहं, हार्दध्वान्तरावि च योग-
सदनं धाद्वैकगम्यं परम् । संसारार्णवपोतमत्र निखिलाऽऽनन्दालयं तापहं,
ध्यायेऽहं मनसा धिया च सततं श्रीवर्धमानं जिनम् ॥ १ ॥ महावीरं नमस्कृत्य,
स्याद्दादगीःपतिं जिनम् । निगद्ये तज्जन्मवृत्तं, भव्यानां हितहेतवे ॥ १ ॥
भवार्णवोद्धारकरः, श्रीवीरभगवान् प्रभुः । पवित्रं शासनं यस्य, तदुत्थाने मनोऽ-
र्पय ॥ २ ॥ अतश्च शासनोत्थाने, भवन्तः पक्षपातिनः । सम्बन्धादिति
विह्वेयाधोत्थानस्तपके मुदा ॥ ३ ॥ सजितं भाविसोत्थानकुसुमं स्ववशां नय ।
सम्भवेऽस्ति त्रिरत्नादिजलधेचनकैरपि ॥ ४ ॥ स्वत्पत्यादुपचारस्य, चास्मिपुत्या-
नरूपके । सौरभाभावहेतोश्च, मनो मधुको न हि ॥ ५ ॥ भवज्ञो भगवतं
चेदं, निशामय ततः परम् । स्वयकस्य प्रभावेण, इत्यस्त्ववशमानयेत् ॥ ६ ॥
कृपाकटाक्षं जानीत, भगवत्स्त्वन्विन्दिताः । अस्त्वेतावश्च चैतस्य, स्वल्पत्वं
किञ्चिदस्ति हि ॥ ७ ॥ अस्य विधासमात्रेण, प्रयत्ने करणे पुनः । घादुसत्वं
न सञ्जातमस्मिन्नवसरैऽपि नः ॥ ८ ॥ शासनोत्थानपुष्पास्तर्गतो निरतिथा-
यकः । मकरन्दः कियानस्ति, प्रोत्थानरूपपुष्पके ॥ ९ ॥ 'वीरस्तु भगवान्
स्वय'मिति स्वादे रसस्य हि । अभित्यपो यदोत्पन्नसदा पाठकसङ्घकः
॥ १० ॥ विशिद्धारय धैर्यं तु, मत्तः सर्वं प्रयासतः । निबन्धस्यास्य सम्बन्धे,
कथनीयं कियमया ॥ ११ ॥ प्रथमं प्रतिपादस्य, विषयस्येदमस्ति हि ।
सिद्धिः प्रमाणतो ज्ञेया, सिद्धान्तस्तेति सम्मतम् ॥ १२ ॥ सौत्र सिद्धान्त-शास्त्रस्य
प्राचीनेयं मुपदतिः । जैनशास्त्रेषु सूत्रेषु, मुख्यत्वेन मुवर्णितम् ॥ १३ ॥
'सम्प्रज्ञानं प्रमाणं' च, प्रलक्ष्णैतरमेदतः । द्विविधं शास्त्रतो ज्ञेयं, श्रुतिज्ञानादि
भावय ॥ १४ ॥ अवधिमनःपर्ययायेकदेवप्रत्यक्षकौ । केवलं सर्वप्रलक्षं,
परोक्षे मतिश्रुतेऽपि च ॥ १५ ॥ इति नीत्या मुविज्ञेयं, प्रमाणद्वयसम्मतम् ।
प्रलक्षं च परोक्षं च, नान्यदस्ति पृथक् पुनः ॥ १६ ॥ एतद्वयप्रमाणे वै,
अन्तर्भावोऽन्यकस्य हि । अतश्चैतद्वयस्यैव, निबन्धेऽस्मिन्नियोजनम् ॥ १७ ॥
हि केषांचिन्मवे न स्यादेतयोरन्तरं पुनः । मान्यतयाऽनयाभावे, वार्ता किं
बहुल्यतः ॥ १८ ॥ सुसकेतोपलम्पिभ्यां, शंका विषयज्ञा पुनः । निवा-

रणीया यत्नेन, नात्र कर्मा विचारणा ॥ १९ ॥ वार्ताऽन्याप्यस्ति चात्रैव,
 लेखगृद्धिः प्रजायते । वास्तवज्ञानशून्यं स्यात्कथिन्यं विदुषां भवेत् ॥ २० ॥
 इति शंका भिया नैव, प्रलेकविषयस्य हि । प्रमाण स्पष्टरूपेण, न निर्दिष्टमिह
 स्फुटम् ॥ २१ ॥ जिज्ञासूनां विजिज्ञासा, दृढाय ह्यनुरूपतः । तदा तेषां
 विनिर्देशोऽवश्यं स्यात्प्रकटं पुनः ॥ २२ ॥ हेतुस्तृतीयो ज्ञातव्यो, विवेचनमवा-
 प्यति । प्रस्तुतविषयस्यापि, *सम्प्रदायानुसारतः ॥ २३ ॥ लक्ष्ये विशेषं
 संस्थाप्य, सूक्ष्ममात्रैकदृष्टितः । प्रलेकस्यात्र लेखस्याऽनुभवारच्छात्रतस्तथा
 ॥ २४ ॥ सर्वसिद्धान्ततः सार्वभौमस्य व्याप्तिरूपतः । अस्ति सम्भावना चास्य,
 ज्ञानं सम्यक्त्वपूर्वकम् ॥ २५ ॥ कस्यचिद्देतुतक्षिते, शङ्कोरपतिर्भवेन्न हि ।
 विचारणन्तरं तेषां, शङ्का स्याच्चिर्मूलिका ॥ २६ ॥ सर्वत्र मेऽस्ति विधासो,
 नैवं शंका कदापि हि । चतुर्था च मुवातेवं, कस्याऽपि विषयस्य च ॥ २७ ॥
 प्रतिपादयितुं शक्यत्कयापि भाषया भवेत् । चतुर्विधत्वं सामग्र्या, अपेक्षा
 जायते ध्रुवम् ॥ २८ ॥ विज्ञेया सा च सामग्री, निम्नलेखक्रमेण च ।
 निर्णयस्त्वसंधानां, प्रथमानुयोगरूपतः ॥ २९ ॥ विचारार्थं च वस्तूनां,
 साक्षाद्विषयवर्णनम् । कथनोपकथनाशेषि, नान्यो हेतुर्मनामपि ॥ ३० ॥ शास्त्रे
 पूर्वानुयोगं च, धर्मकथानुयोगकम् । कथ्यतेऽत्र विचारेण, तत्त्वज्ञानाधिभिर्मुदा
 ॥ ३१ ॥ “धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशमगन्वितम् । पूर्ववृत्तकथोपेतमितिहासं
 प्रचक्षते” ॥ ३२ ॥ दृष्टवैतयेतिहासोऽपि, चेतना कथ्यतेऽधुना । स्थानात्रेऽपि
 कथा सेयं, चतुर्थाऽभिनिगद्यते ॥ ३३ ॥ मुख्यं फलं कथायाश्च, तत्त्वनिर्ण-
 यमेव हि । यः शब्दो यत्परधात्ते, तदर्थोऽपि च एव हि ॥ ३४ ॥ लक्ष्ये
 धृत्वा पदार्थं यं, शब्दस्य कस्य चैव हि । प्रयोगं यदि कुर्वीत, ॥ शब्दध्वार्थवान्
 भवेत् ॥ ३५ ॥ सर्वेषां सम्मतं चेदं, सिद्धान्तं संस्फुटं सदा । तदा सम्पद्यते
 भावः, सर्वत्रैवं विचारय ॥ ३६ ॥ वक्ता चोपयितुं यं हि, वाञ्छयोचार्य्यतेऽ-
 सकृत् । श्रोत्राऽपि शब्दः स एव, ज्ञायतेऽर्थसमन्वितः ॥ ३७ ॥ ततोऽन्यार्थ-
 प्रतीतेश्च, श्रोतुर्भवति विभ्रमः । भोजनावशरे यद्द्वैतैन्धनेति पदात्ततः ॥ ३८ ॥
 जन्यते लवणाऽऽबोधो न चान्योऽर्थोऽप्रतीयते । प्रस्थाने हयबोधश्च, तद्ब्रह्म-
 मधारय ॥ ३९ ॥ धोत्रैवं शुद्धिचार्य्यार्थो, नान्योऽर्थः प्रतिपद्यते । अबोधार्थ-
 ज्ञापकत्वे, सति शास्त्रप्रमाणकम् ॥ ४० ॥ प्रमाणं तु तदंतत्स्याप्रमाण-

विषयस्य च । वास्तविकं च सत्यं च, येन ज्ञानं प्रजायते । आत्मा-
 तन्दे परं योऽरे रमतेऽहर्निशं पुमान् । उत्पदाम्भोजयुग्मेऽस्तु त्रिकातं मम
 वन्दना ॥ ४१ ॥ अत्यालौकिकविधस्य, दृष्टमहृदयमुत्तमम् । स्फुटं विज्ञायते
 विधं, विधमानन्दपूतितम् ॥ ४२ ॥ आनन्दापेक्षया विधं, विधस्त्रिभङ्गताऽस्ति
 च । जगतो हि जगदमो भिन्नभावं यतोऽस्ति न ॥ ४३ ॥ एकैकप्राणी विध-
 स्याऽस्त्यानन्दमय एव हि । अस्त्यानन्द-धियस्त्रेपामतस्वतृपित्तव्या ॥ ४४ ॥
 अभिगन्तुं तमानन्दं विधधर्मो हि साधनम् । तान् धर्मान् प्राणितो नैजान-
 न्दायैवोदपीपदन् ॥ ४५ ॥ आनन्दापेक्षया सन्ति, प्राणिनः सदृशाः क्षमे ।
 श्यक्तिस्त्रापेक्षया किन्तु, नरा उत्कृष्टप्राणिनः ॥ ४६ ॥ आनन्दस्याभिष्टुभं,
 मानवा मुमनोहरान् । आरुपंचानुशाखाऽनेकान् विरचयन्ति ते ॥ ४७ ॥
 आत्मानन्ददर्शुपायेषु, मनुष्यरचितेषु च । सर्वोऽकृष्ट उपायस्तु, धर्म एवास्ति
 केवलम् ॥ ४८ ॥ आनन्दस्य स्वरूपं हि, तुभ्यं प्रलेकप्रामिनाम् । सामर्थ्य-
 मात्मनश्चुल्यमस्ति प्रलेकदेहिनाम् ॥ ४९ ॥ तुभ्यं वास्तविकं रूपमस्ति प्रलेकदे-
 हिनाम् । भवेत्साधनधर्मस्य, सत्येवं तुभ्यतोचिता । समानमेव सम्पूर्णमस्त्ये-
 तदनुसारतः ॥ ५० ॥ मनुष्यस्तादृशः प्राणी, प्रवीचकारोऽस्ति यत् ।
 आत्मानन्दाभिष्टुभिं च, कर्तुं शक्नोति निश्चितम् ॥ ५१ ॥ एतावदेव न परमन्व-
 द्दृष्टुत सज्जनाः । अनन्तानुभवं प्राप्ता, आत्मानन्दस्य ये नराः । ते स्वप-
 क्षाद्भविष्यन्त्या, नरजातेः कृते यत् । प्रज्ञानसाधनाधर्मं, स्वस्य ह्यकृता दिवं
 गताः ॥ ५२ ॥ तेन धर्मस्वरूपेण, साधनेनेतरा नराः । आत्मनो लौकिकानन्द-
 मवाप्तुं शक्नुवन्ति च ॥ ५३ ॥ लोकेऽन्यप्राणिनश्चास्य, प्रत्यक्षजगतः यत् ।
 अलौकिकप्रभातुर्नैर्भवत्यानन्दनुन्दिलाः ॥ ५४ ॥ परन्तियह मनुष्याख्यदेहिनेस्तु
 स्वयं किल । निजानन्दमया भूत्वा, तत्रैवानन्दसम्पदा ॥ समन्वविधाप्रतिमाऽऽ-
 नन्ददृन्दाभिवर्धनम् । उपादेवं तुभ्यं च, विधानं पारयन्ति च ॥ ५५ ॥
 यो धर्मोऽस्ति तृणां सैवालौकिकानन्दसम्पदा । अभिष्टुदेरिहादर्शरूपोऽस्तीति
 विभाव्यताम् ॥ ५६ ॥ इयं सृष्टिरनाद्यनन्तकृतास्तदनुबन्धिनी । अनन्ततर-
 रूपेषु, यथावत्संप्रवर्तते ॥ ५७ ॥ आत्मीयानन्ततरेषु, सा सृष्टिर्बुधरूपतः ।
 अलौकिकस्वरूपे चानन्ततरस्वरूपतः । अनन्तकालपर्यन्तं सत्यसाधारणतः ।

अलौकिकानन्दरूपे, विल्याऽवस्थाऽस्य ते स्थिरा ॥ ५८ ॥ विचित्ररूपेयं
सृष्टिरस्त्यलौकिकवस्तु च । स्थिरा नित्या च साऽस्तीति, सृष्टिमीमांसका जगुः
॥ ५८ ॥ अस्त्यालौकिकसामर्थ्यमृतालंकरणेषु च । सर्गस्य धर्म एवैकं, सर्वो-
त्कृष्टं विभूषणम् ॥ ६० ॥ धर्ममीमांसका लोकेऽनेके समभवन्निह । ते लौकिक-
परिष्काररूपेण हितकांक्षिणः ॥ नैजधर्मविचाररत्मकप्रसादेन मञ्जुना । एतन्म-
हीतलं चालं, चक्रिरेऽलं कृपालवः ॥ ६१ ॥ इदानीं समये चामलौकिकप्रसा-
दिनाम् । निम्ननिर्दिष्टनामानो, भवन्तीक्षणगोचराः ॥ ६२ ॥ वेदान्तः सांख्य-
योगौ च मीमांसा द्वितयी पुनः । न्यायो वैशेषिको शैबो, वैष्णवस्तात्रिकास्तथा ॥
स्वामीनारायणो जैनो, बौद्धो मोहम्मदः पुनः । ईशायी पारसीयश्च, यहुदी-
यादयः परे ॥ ६३ ॥ एषां तद्वितरेषाञ्च, भिन्नभिन्नताधिताम् । धर्मालङ्कार-
भूतानामुद्देश्यं त्वस्ति केवलम् । आत्मानन्दाधिगमनमिरथं तत्त्वविदो विदुः
॥ ६४ ॥ उद्देश्ये सर्वधर्माणामेकीभावमुपायते । तत्साधनानि सध्वानि,
मजन्तीहैकरूपताम् ॥ ६५ ॥ पृथक् पृथक् देशकालावाधारीकृत्य ते ननु ।
अन्योऽन्यभिन्नरूपैश्च, सम्प्रवृत्ता भवन्ति च ॥ ६६ ॥ तत्रार्हतानां तूद्देश्यं, शान्तं
केवलमात्मनः । किं च तस्य हि कैवत्यप्रापणं केवलोदयात् ॥ ६७ ॥ एतदेवा-
भिमन्यन्ते, योग-वेदान्ति-वैष्णवाः । स्वामिनारायणश्चापि, जैनेनेत्थमिहोच्यते
॥ ६८ ॥ “जे एगं जाणइ से सर्वं जाणइ” एकं जानाति यो नाम, सध्वान्
जानाति स ध्रुवम् ॥ ६९ ॥ वेदान्तीया भगवती, धुतिरप्याह तद्यथा ।
“आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति” शान्ते सत्यात्मने शान्तं, भवतीदम-
शेषतः ॥ ७० ॥ “अप्पा सो परमप्पे”ति, जैना अभिदधत्यय । वेदान्त-
कान्तसिद्धान्तभारतीत्यमुदीर्यते ॥ “अहं ब्रह्मास्मि” “तत्त्वमसि” “प्रज्ञानं
ब्रह्म” “अयमात्मा ब्रह्म” ॥ ७१ ॥ अहं ब्रह्माऽस्म्यसि त्वं तत्, प्रज्ञानं ब्रह्म
कीर्त्यते । अयमात्माऽपि तद्ब्रह्म, सच्चिदानन्दरूपि यत् ॥ ७२ ॥ सन्ति वेदस्य
चत्वारो, भागास्तेषु चतुर्षु च । अस्यैकेकं महावाक्यं, दृश्यते तद्यथाक्रमम्
॥ ७३ ॥ “अहं ब्रह्मास्मि” “यजुषः” साम्रखत्वमसीति च । “प्रज्ञानं ब्रह्म”,
ऋग्वेद’ “स्वयमात्मैत्यधर्मवः” ॥ ७४ ॥ चतुर्वेदेषु वाक्येषु, वाक्यं
तत्त्वमसीति ह । उपबोधितरं शयन्मननीय प विद्यते ॥ ७५ ॥
जैनानेद्यन्तसिद्धान्तनियमधायमस्ति च । “नापे पुण नियमा आया” शानेन

॥ ७६ ॥ अर्हतेऽच्यते जन्ममृत्युरुषा तु संस्थितिः । कर्मद्वारा प्रचलति, तच्च कर्मे जडं स्मृतम् ॥ ७७ ॥ कर्मणोऽस्य नियन्तात्माऽस्तीत्येवं सर्वसम्मतम् । अधिष्ठानं कर्मजन्मं, छेदेरात्माऽयमस्ति च ॥ ७८ ॥ वेदान्तेनोच्यते मायाद्वारं जन्मादिसम्मतम् । अहमरूपेश्वरयास्यानिबानकमुवीर्यते ॥ ७९ ॥ स्याद्वादिनो वदन्त्येवं, कर्मोपाधौ तयं यते । आत्माऽयं जन्ममरणवन्धनान्मुच्यते-तराम् ॥ ८० ॥ वेदान्तकान्तसिद्धान्तवायत्रेत्यं प्रवर्तते । भायोपाधौ, सर्वं प्राप्ते, भवादात्मा विमुच्यते ॥ ८१ ॥ जैनेनाऽपुणराविधीत्युक्तेऽथमभिधीयते । भक्त्यापुनरावृत्तिर्भवे मुक्तस्य चात्यनः ॥ वेदान्तोऽभिदधात्वात्मा, पुनरावर्तते न हि । गीताया कृष्णचन्द्रेण, प्रोक्तमित्यं महात्मना ॥ “यद्रत्ना न निपतन्ते, तद्धाम परमं मम” ॥ ८२ ॥ “एने आये” इति वाक्येन, जैनस्त्वित्यर्थे प्रभाषते । ‘एकोऽस्त्वात्मा’ शुभ-शुभ-पर्यायापेक्षया यत् ॥ “एकोऽहमिति” वेदान्तोऽप्यत्रार्थे कृतसम्प्रतिः ॥ ८३ ॥ जैयना च मते ‘तर्को, नात्मानं वेत्ति तत्त्वतः । तथा धीव्यात्मरूपं हि, नामुं यत्रोति यात्ववम् ॥ ८४ ॥ दितो निवर्तते वाणी, सदैव मनसा मुहुः । जैना दवन्ति चाखण्डं, परिपूर्णतमं परम् ॥ ८५ ॥ जानयन्ति ये च तद्ब्रह्मैवम्यं प्रमुवन्ति ते । वेदान्तिनोऽपि ह्येव्यास्मिन्भवे ब्रह्म सनातनम् ॥ ८६ ॥ व्यापक सच्चिदानन्दस्वरूपं वर्णयन्ति च । शास्त्रेऽष्टोपनमेवं च, तथाऽदाह्यमशोष्यकम् ॥ ८७ ॥ अवध्यनस्मिन्नगति, नात्मा नैव प्रहस्यते । कदापि च नं पशुभ्यां, सुषुप्त्यन्त विवर्जितः ॥ ८८ ॥ सच्चिदानन्दरूपश्च, जीवात्मा हि स्वभावतः । शिलायाश्च भूतेषु, नक्षत्रेष्वपि सयंतः ॥ ८९ ॥ परिपूर्णतमसद्ब्रह्मैतन्मशुणसंयुतः । जीवात्मा चैतनारूप-सच्चिदानन्दविग्रहः ॥ ९० ॥ न तदिकं क्षिप्रिदपि, स्वानं पाश्चि भवे कश्चिद् । चैतन्याभयजीवस्य, दृष्ट्य, सर्वं विहात्मकम् ॥ ९१ ॥ स्वययात्मा च सर्वज्ञ, इति वेदान्तिनोऽप्युक्त् । तथा जैना वदन्तीत्यमात्मान्जन्तव्यं ज्ञानयुक् ॥ ९२ ॥ सनातनं व्यापकं च, ब्रह्मवेदान्तिनो विदुः । स्वयं मुक्ते विमुदध, निजानानन्दरूपभाक् ॥ ९३ ॥ सर्वज्ञः सर्वदर्शीति, जैनायैवं वदन्त्यदः । सुब्रह्मा-

“तथा जल्पे च विजिद्, मद् तस्य ण गहिता ।” † “यतो वाचो. विवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह” । ‡ “देवत्यपदमस्तु ते” । § “विशेषपूर्णगुणविग्रह आत्मतत्त्वो, निधेतनस्वरूपस्य शिरोऽर्थ, हीनः । आकन्दनाप्रकरपादनुत्तोरुदि, सर्व्यं च विनिधनेदमित्तितात्मा ॥ १ ॥

चार्यसिद्धान्ते, स्थितिरेषा सनातनी ॥ ९४ ॥ निर्दोषः पूर्णगुणवानात्मानन्द-
 गुणाधितः । स्वतन्त्रः सर्ववित्साक्षी, शरीरगुणवर्जितः ॥ ९५ ॥ तथात्मा
 करपादादिमुखादीन्द्रियवर्जितः । स चावयवादिभेदेन, कल्पनाकरणेऽपि च
 ॥ ९६ ॥ सदानन्दमयो निलो, वासनारहितो विभुः । श्लोकोक्तात्मतत्त्वस्य,
 कल्पनावयवस्य च ॥ ९७ ॥ केवलानन्दरूपश्च, नास्वन्न च विकल्पनम् । जन्म-
 मृत्युजरादिभ्यो, व्यतिरिक्तश्च सर्वदा ॥ ९८ ॥ जन्मोत्पत्तिप्रभङ्गादिभेदशून्योऽ-
 स्ति निर्मलः । जन्मादित्रिविधो भेदस्त्रिचं चात्मरूपकम् ॥ ९९ ॥ ब्रह्मभा-
 चार्यस्य मते, ज्ञेयं तत्त्वदर्शयिभिः । सर्वज्ञमतसिद्धान्ते, नात्मा कर्तृति निधयः
 (निधयनयेनेत्याद्यः) ॥ १०० ॥ साङ्ख्यशास्त्रविदश्चाह, *कर्ताऽहङ्कार एव च ।
 न कर्तृत्वं चात्मनश्च, निर्लेपत्वादविक्रियात् ॥ १०१ ॥ किन्तु पुरुषोऽकर्तृव,
 प्रवदन्ति मनीषिणः । ईश्वरः सर्ववित्तिलो, रागद्वेषादेवर्जितः ॥ १०२ ॥
 ज्ञानविज्ञानमम्पन्न, इत्येवं वर्णयन्ति च । जनाद्येत्थ योगशास्त्रं, ज्ञेयकर्म-
 विपाकतः ॥ १०३ ॥ आद्येनापरमृष्टधेश्वरः पुरुषोत्तमः । रागद्वेषादयो
 भावा, न वृष्टान्ति सरीश्वरम् ॥ १०४ ॥ सर्वज्ञत्वमीश्वरे चास्ति, आत्मा
 चैतन्यरूपवान् । एवं निगद्यते शास्त्रे, चानन्तो निष्कलोऽग्नयः ॥ १०५ ॥
 निर्विवादः सदात्मास्ति, चैतन्यगुणः संयुतः । निष्कियो निष्कलस्तद्गुहा-
 पको गुणतः पृथक् ॥ १०६ ॥ तन्माया जयता कर्मा, चिच्छक्तिर्गुण-
 विग्रहा । ईसत्यज्ञानमनन्तश्च, ब्रह्मेति श्रुतिधम्मतम् ॥ १०७ ॥ ब्रह्म-
 स्वरूपे पापपुण्ये, न तो दुःखमुखे तथा । नास्ति किञ्चिज्जगत्सिन्ध्यापकत्वं
 विना स्थितम् ॥ १०८ ॥ सच्चिदानन्दरूपेण, शिवोऽहं नेतरः क्वचित् ।
 केवलज्ञानसम्पन्नोऽत्रैव मोक्षानुभावकः ॥ १०९ ॥ इति जैनमतं धार्म्यजार्गति
 प्रभुरीश्वरः । इदमेव मतं ज्ञेयं, सहजानन्दस्वामिनः ॥ ११० ॥ अक्षर-
 स्थानमात्मैव, स्वयं चाश्रयरूपवान् । आत्मानं च विजानीयादक्षरं परमं
 परम् ॥ १११ ॥ तज्ज्ञानं सत्यमित्युक्तं, तदन्यत्सकलं मुघा ।

* “अहङ्कारः कर्ता न पुरुष इति साख्यः” । † “ज्ञेयकर्मविपाकाद्यैरपरम-
 मृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः” ‡ “तत्र सर्वज्ञत्वमीश्वरः” § सत्यं ज्ञानमनन्तं
 ब्रह्म । § न पापं न पुण्यं न दुःखं न सुखं न, चिदानन्दरूपं शिवोऽहं

व्याकथादिस्थले यच्च, ज्ञानं सिध्यामय । न उक्त ॥ ११२ ॥ प्रथमिपार्श्व-
 यिणो, देवचन्द्रदयो मुहुः । स्वसम्प्रदानके निखं, निजानन्दमतं जगुः
 ॥ ११३ ॥ दृष्टाऽनया दर्शनेन, भारतेऽत्र सुधर्मिणाम् । जनानामारमवत्वस्य,
 सिद्धान्तप्राप्तये मुदा ॥ ११४ ॥ मादृग्मदोऽपि वदति, भवेऽस्मिन्यत्प्रतीयते ।
 चेतन्यमेव तत्सर्वं, नान्यत्किञ्चिद्भिग्नव्यते ॥ ११५ ॥ सुदा निरखनः साक्षी,
 तिरकारोऽतिशक्तिमान् । तेजोमयो ह्यनन्तश्च, सर्वत्र इति निययः ॥ ११६ ॥
 मोमिनाख्यश्च, सततं, कृपालुं स्वसमीपगम् । परवलेवं सुदाऽहं च, सुदा-
 र्हायो निजात्मनः ॥ ११७ ॥ जितिसकृद्दृष्टमतं, तद्वक्तुर्षाकृष्णपरि ।
 विभूर्भिराजते व हि, भूषात्मा परिकीर्तितः ॥ ११८ ॥ भूषाद्य तं प्रपश्यन्ति,
 तथा भूमण्डलेऽपि । विख्यातकीर्तिबुद्धोऽपि, स्पष्टं समुक्तवानिति ॥ ११९ ॥
 "प्रेमैवात्मा" जगत्कस्मिन्, प्रत्येक प्राणिनो मुदे । स्थापनीयं च प्रेमैवामेदभाव-
 समाश्रयैः ॥ १२० ॥ तत्त्वज्ञानस्य दृष्ट्या तु, दर्शनेन प्रतीयते । जैनो वेदान्त-
 योगौ च, सांख्यबौद्धौ तथा पुनः ॥ १२१ ॥ अनुभवं चैकतायाः, कुर्वन्-
 न्तीति विभाषय । नेतुं वै चैकतायास्तु, तथान्वर्त्यैतदये ॥ १२२ ॥
 भिन्नं च भावतं कर्तुं, निजधर्मस्तथा पुनः । भिन्नो वेद्यस्तथा बरलो, विभिन्ना
 पदतिः पुनः ॥ १२३ ॥ भीमांसर्कैर्विनिर्दिष्टा, विभिन्नं सर्वसाधनम् । अथ
 एव बहिर्दिष्टा, ज्ञावते महकर्मणाम् ॥ १२४ ॥ भेदाभेदकिया सर्वा, तथापि
 त्रिक्रियान्वयम् । कुर्मास्त्वभेदभावं च, भजते प्रेमभावरतः ॥ १२५ ॥ जैनाद्या-
 हुर्महामतं, यौद्धास्तत्त्वशीलकम् । योगे पञ्चमकं प्राह, यमं धमदमादिकम्
 ॥ १२६ ॥ वेदान्ते प्रवर्तनीयो, नियमोऽपि महात्मभिः । प्रत्येकं धर्मेनीतिर्हि,
 दयापरोपकारिता ॥ १२७ ॥ प्रेनादिसामान्यमिति, सर्वसामान्यनिर्गदे ।
 नियमोऽपि गृहस्थानां, तथा धर्मं समानता ॥ १२८ ॥ उपयोगितोपभोदश्च,
 कुर्वन्तीति निसाम्यताम् । वैराग्यलक्षणं सद्भक्तसमत्वं तुल्यमेव च
 ॥ १२९ ॥ सर्वत्र प्राप्य चैकमेवमिति सन्धार्यतां मुहुः । ज्ञानिनां वर्तने
 दृष्ट्या, जैनानां वर्तनं तथा ॥ १३० ॥ सर्वप्रशिक्षिभेरिलेवं, समं भाव-
 समानता । स्थापनीया न न्यूनविभक्तिव्या नियमस्तथा ॥ १३१ ॥ इमवीति

* "धमदमोपरवित्तिशिक्षाध्यादयः समाधानाः ।" "दित्तिने सम्ब-
 भूपसु" † "भारमयसर्वभूतेषु" मिश्रस्यै च्युषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ॥
 गङ्गवेद १८-३ ॥

नियमं चैव, शायतामित्यतः पुनः । सर्वे मित्रवदापश्येदात्मवत्सर्वे-
 प्राणिषु ॥ १३२ ॥ ज्ञानी जनो निजात्मानं, जीवात्मानं तथैव च । एकी-
 भावेन सम्पश्येदिति ग्राह्यं शुक्तिर्मुहुः ॥ १३३ ॥ देहमीमांसकानां च, अने-
 कान्तिकदृष्टितः । औदारिकं तेजसं च, कामणं यच्च कथ्यते ॥ १३४ ॥ शरीरं
 चैव वेदान्तमतान्मन्वन्तत्पराः । स्थूलं सूक्ष्मं कारणं च, त्रिविधं वर्णयन्ति च
 ॥ १३५ ॥ ज्ञानविज्ञानयोर्वच, कारणं प्रोच्यते बुधैः । जैना यजामतं स्मरं,
 तुरीयं प्रवदन्ति च ॥ १३६ ॥ वेदान्तेऽपि तथैवास्ति, त्रिधाऽवस्था स्वरू-
 पतः । तथा संसृतिमीमांसाज्ञानज्ञाः प्रवदन्ति च ॥ १३७ ॥ मनसः
 परिणामेन, बन्धो मोक्षो हि जायते । सृष्टिः सङ्कल्पतो ज्ञेया, वेदान्तम-
 तद्वाङ्मनः ॥ १३८ ॥ मानसिकं तु जैनानां, *परिणाममपाऽपि वा । अभ्य-
 वसायं च वेदान्ते, संकल्पं चैकमेव हि ॥ १३९ ॥ प्रत्यक्षं हरयते चैकः,
 साधनाभेदभावतः । साध्यधात्मा हि प्रत्यक्षं, ज्ञायतेऽभेद एव हि ॥ १४० ॥
 अनुभवेऽप्येवमेवं, प्रत्येकं च मुमुक्षुभिः । जीवारमनि प्रेमभावः, स्थापनीयं
 सदैव हि ॥ १४१ ॥ सर्वावस्थासु सर्वत्र, मर्मवास्ति स्वरूपकम् । पठित्वेदमभे-
 देन, प्रेमैव स्थाप्यतां सदा ॥ १४२ ॥ एतत्प्रमाणतथात्मानन्दात्तेः साधनानि च ।
 कुर्वन्समन्वयं सर्वभेदभावेन सर्वदा ॥ १४३ ॥ चलंस्तिष्ठन्नुपविशन्निपयन्त्वा-
 वन्यसन्स्वपन् । सर्वक्रियासु सर्वत्र, ह्युदधेतन्यरूपवान् ॥ १४४ ॥ भह-
 मात्मा चेदृशी वै, भावना स्थाप्यतां मुहुः । न चैतावदि विज्ञानं, भूतमार्गं
 मरीयकम् ॥ १४५ ॥ स्वरूपं प्रत्युतैवं च, ज्ञातव्यं च विशेषतः । ज्ञातव्यं
 प्रतितामभक्तया, प्रेमभावप्रवर्षणम् ॥ १४६ ॥ कर्तव्यमित्थं ये चैव, पुरुषा
 जगतीतले । स्थापयन्त्यभेदभावं, वीतरागास्त एव हि ॥ १४७ ॥ पूर्णाश्च
 कृतकृत्वाश्च, ते सन्ति भुवि चोत्तमाः । वीतरागो देवदेवो, महावीरः प्रताप-
 वान् ॥ १४८ ॥ धन्वोऽस्ति योहि निष्पक्षपातेन सुन्दरो मुहुः । मार्गोऽभेदा-
 त्मको भावो, दर्शितो जनतामुदे ॥ १४९ ॥ विनिःस्वार्थतया यो हि, प्रकटं
 कृतवान्मुहुः । सत्यस्वरूप एवास्ति, स एव परतः परः । स्वतन्त्रत्वस्य
 यथास्ति, द्वारमेतत्प्रधार्यताम् ॥ १५० ॥ भावार्थः—जो पुरुष केवल आत्मा-
 नन्दमें ही अहर्निश रमण करते हैं, उनको त्रिकाल बन्दना है । इस

अलौकिक विश्वके मुख्य और सौन्दर्यपूर्ण दृश्यही और दृष्टि फैलानेपर स्पष्टतया नजर आता है कि अखिल विश्व आनन्दसे परिपूर्ण है। अर्थात् अखिल विश्वमें आनन्दकी अपेक्षासे एकता है। जगत्से उसके धर्म भिन्न नहीं हैं, विश्वके प्रत्येक प्राणी आनन्दमय हैं, उन्हें आनन्द ही प्रिय है अतः उसीकी इच्छामें तन्मय हैं। उस आनन्दसे प्राप्त करनेके लिये साधन रूप ही विश्वके धर्म हैं, और उन धर्मोंको प्राणियोंने अपने 'आनन्द' के लिये ही उत्पन्न किये हैं, और आनन्दकी अपेक्षा जगत्के सब प्राणी समान हैं। तथापि व्यक्तिकी अपेक्षासे यदि देखा जाय तो मनुष्य एक उत्कृष्ट प्राणी है, और वह आनन्दकी अभिवृद्धिके लिये अनेक आकर्षण एवं मुख्य उपायोंकी रचना करता रहता है। मनुष्यके रचे हुए आत्मानन्दकी अभिवृद्धिके उपायोंमें धर्म ही एक सर्वोत्कृष्ट उपाय है। प्रत्येक प्राणीके अन्तर्गत आनन्दका स्वरूप समान है। प्रत्येक प्राणीके आत्माका सामर्थ्य समान है। प्रत्येक प्राणीका बाल्विक स्वरूप भी समान है। तब तो इस अपेक्षासे साधन रूप धर्मोंका होना भी समान ही ठीक है, और उसके अनुसार सम्पूर्ण समान ही हैं। मनुष्य कुछ ऐसा प्राणी है कि वह आत्मानन्दकी अभिवृद्धि बहुत जल्दी कर सकता है। इतना ही नहीं बल्कि जो जो मनुष्य आत्मानन्दका अनन्त अनुभव प्राप्त कर चुके हैं वे वे मनुष्य अपने पीछेकी अर्थात् भविष्यकी मनुष्य जातिके लिये पाया हुआ आत्मानन्द साधन रूप धर्म भूतलवासी मनुष्य जातिके लिये स्वरूप रूपसे छोड़ गये हैं। उस धर्म रूपी उपकरण वा साधन द्वारा इतर मनुष्य आत्मानन्दके अलौकिक आनन्दत्वको प्राप्त कर सकते हैं। जगत्के अन्य प्राणी इस प्रत्यक्ष विश्वकी अलौकिक प्रभासे आनन्दित होते हैं। परन्तु मनुष्य संज्ञका प्राणी तो स्वयं निजानन्दमय बन कर उस अपने आनन्द द्वारा अखिल विश्वके अप्रतिभ आनन्दमें मुख्य तथा उपादेयकी अभिवृद्धि कर सकता है। मनुष्योंका जो धर्म है वही अलौकिक आनन्दकी अभिवृद्धि साधन रूप है। वह सृष्टि अनन्त कालसे अनन्ततत्त्वके रूपमें ज्योंकी त्यों चली आ रही है, और ध्रुव रूपसे अनन्त तत्त्वमें अनन्त तरंग रूपसे अलौकिक स्वरूपमें अनन्त ध्रुव तक शाश्वत स्वरूपमें ही—सब स्वरूपमें ही अलौकिक आनन्द रूपसे स्थिर और निश्चल रहेगी। सृष्टि भीमाकार छापी नी वही कथन करते

हैं कि यह सृष्टि अलौकिक वस्तु है, और यह निम्न तथा दाश्वत है । इस सृष्टिके अलौकिक सामर्थ्यसे भरपूर अलंकारोंमें धर्म ही एक सर्वोत्कृष्ट अलंकार है । जगत्में अनेक धर्ममीमांसक हो गये हैं, और वे अलौकिक अलंकार रूपसे अपने धर्मविचाररूप प्रसादीसे इस भूतलको अलंकृत कर गये हैं । इन अलौकिक प्रसादियोंमें इस समय वेदान्त, जैन, बौद्ध, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा, शैव, वैष्णव, स्वामी-मारायण, मुस्लिम, इसाई, यहूदी, पारसी आदि मुख्यतासे दृष्टिगोचर होते हैं । इनका तथा इनके अतिरिक्त और और अनेक धर्मालंकारोंका हेतु केवल आत्मानन्दको ही प्राप्त करनेका है । सर्व धर्मका हेतु एक होकर उनके साधन भी एक ही हो जाते हैं, और वे अलग अलग देस कालपर आधार रखकर अलग अलग रूपोंमें प्रवृत्त हो रहे हैं । जैनका हेतु केवल आत्माका पहचानना और उसे मोक्ष तक ले जाना ही है । वेदान्तिक, वैष्णव, स्वामीनारायण, तथा योगीजन भी यही कहते हैं । जिनमें जैन कहते हैं कि—‘एगं जाणइ से सन्नं जाणइ’ जो एकको जानता है वह सबको जानता है । वेदान्तकी भगवती श्रुति भी कहती है—‘आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति ।’ एक आत्माके जाननेसे यह सब कुछ जाना जा सकता है । जैन कहते हैं कि—“अप्या सो परमप्या” आत्मा ही परमात्मा है । तब वेदान्त कहता है कि—‘अहं ब्रह्मासि, तत्त्वमसि, प्रज्ञानं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म ।’ ‘मैं ब्रह्म अर्थात् परमात्मा हूँ’ ‘तू भी वही है’ प्रकर्ष तथा सम्बन्धान ही ब्रह्म है’ ‘यह आत्मा ब्रह्म है’ । वेदके चार खंड हैं, इन चारों खंडोंमें एक एक महावाक्य है । ‘प्रज्ञानं ब्रह्म’ यह ऋग्वेदका, ‘अहं ब्रह्मासि’ यह यजुर्वेदका, ‘अयमात्मा ब्रह्म’ यह अथर्ववेदका और ‘तत्त्वमसि’ यह सामवेदके छादग्योपनिषद्का महावाक्य है । जैन सिद्धान्तका नियम है कि—“भाणे पुण नियमा आया ।” ‘ज्ञानमें नियमसे आत्मा है’ वेदान्त भी यही कहता है कि—“प्रज्ञानं ब्रह्म” ‘प्रज्ञान ही आत्मा है’ जैन कहते हैं कि—जन्ममृत्यु रूपक सृष्टि कर्मके द्वारा चलती है, और वे कर्म जड़ हैं । इन कर्मोंका नियामक आत्मा है । यानी आत्मा कर्मजन्य सृष्टिका अधिष्ठान है । वेदान्त कहता है कि—मायाके द्वारा ये जन्मादि हैं और इसका नियामक आत्मारूप ईश्वर है । जैन कहते हैं कि—कर्मों-

पाधिका प्रलय होनेपर आत्माका मोक्ष होता है । वेदान्त कहता है कि मायो-पाधिका प्रलय होनेपर आत्माका मोक्ष है । जैन कहते हैं कि—आत्माका मोक्ष होनेपर 'अपुण्यविति' संसारमें पुनरागमन नहीं होता अर्थात् आत्माको फिरसे जन्म मरणके चक्रमें नहीं आना पड़ता । वेदांत कहता है कि—“न पुनरावर्तते” आत्माकी पुनरावृत्ति नहीं होती । गीताजीमें भी कृष्णचन्द्रजीने कहा है कि—“यद्गत्य न निवर्तन्ते, तद्धाम परमं मम” ‘जहां गये बाद फिर आना नहीं पड़ता’ वही मेरा परमधाम है । अर्थात् परमात्माके धामको परमधाम कहते हैं या मोक्ष कहते हैं । वहां जानेपर फिर वापस नहीं आना होता । जैन कहते हैं कि—‘एगो आया’ आत्मा इव्य गुण पर्यायकी दृष्टिसे एक है । वेदान्त कहता है कि “एकोऽहम्” मैं एक हूँ । जैन कहते हैं कि—“तदा जय ण निव्वह, मह तथ ण गाहिता” तर्क आत्माके स्वरूप तक नहीं पहुंच सकता, और मति उस आत्माके स्वरूपको ग्रहण नहीं कर सकती । वेदान्त कहता है कि—“यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह” जहांसे वाणी यापर फिर जाती है वह आत्म-स्वरूप मन द्वारा अप्राप्य है । भावार्थ यह है कि—मन और वाणी उस आत्मा का वर्णन नहीं कर सकते । जैन कहते हैं कि—आत्माको सम्पूर्ण या अखंड रूपमें जानने वाले मनुष्य कैवल्य ज्ञानको पाते हैं । वेदान्त कहता है कि—“कैवल्यपदमस्तुते” आत्मा कैवल्य पदका अनुभव करता है । वेदान्त कहता है कि—अखिल विश्वमें सच्चिदानन्द परब्रह्म सर्वव्यापक है । जैन कहते हैं कि—अखिल विश्वमें मारनेसे मरता नहीं, जलानेसे जलता नहीं, काटनेसे कटता नहीं, भेदन करनेसे भेदित नहीं होता, और चर्म-कञ्चु द्राघ बीज नहीं सकता, ऐसा सच्चिदानन्द स्वरूप जीव स्वाभाविकतासे सघन ; रूपमें भरे पडे हैं । आकाश, पर्वत, पृथ्वी, नक्षत्र आदि कोई भी स्थान जीवसे खाली नहीं है । अर्थात् चैतन्यलक्षणयुक्त जीवकी दृष्टिसे देखनेपर चैतन्यदेव समस्त लोकमें भरपूर है । वेदान्त कहता है कि आत्मा स्वयं सर्वज्ञ है, जैन भी यही कहते हैं कि आत्मा अनन्त ज्ञानमय है । वेदान्त कहता है कि ब्रह्म सनातन है । जैन कहते हैं कि आत्मा स्वयं शुद्ध-बुद्ध आनन्द स्वरूप है और सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी है । वेदान्त और सांख्यादि भी यही कहते हैं । ब्रह्माचार्य मतप्रवर्तक कहते हैं कि—निर्दोष-

पूर्णगुणविग्रह आत्मतन्त्रो, निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः । आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः सर्व्वे च त्रिविधभेदवियर्जितात्मा ॥
 आत्मतन्त्र अर्थात् मात्र आत्म-स्वरूप निर्दोष है । पूर्णगुण विग्रह है । पुनः जडात्मक शरीर और गुणसे भिन्न है । ॥ आत्म स्वरूपके हाथ, पैर, मुख, उदर इत्यादि अवयवोंकी कल्पना करने पर मात्र आनन्द ही है अर्थात् सम्पूर्ण आनन्दमय भेद भाव रहित है । आत्म-तत्त्वके अवयवोंसे श्लोकमें की गई कल्पनामें केवल आनन्द ही इसके अवयव हैं । यह स्पष्टतासे समझमें आ जाता है । इस आत्म-स्वरूपमें जन्म, जरा और मृत्यु रूपी भेद नहीं है । उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय रूप त्रिविध भेदसे यह आत्म-स्वरूप भिन्न है । जैन कहता है कि—निश्चय नयसे तो आत्मा अकर्ता ही है । संख्य शास्त्र कहता है कि—“अहंकारः कर्ता न पुरुषः ।” कर्ता, धर्ता अहंकार है पुरुष नहीं, अर्थात् आत्मा कुछ नहीं कर्ता, प्रत्युत अकर्ता है । जैन कहता है कि—“ईश्वर सर्व्वज्ञ होता है, तथा उसमें राग द्वेष आदि कुछ भी नहीं हैं । योग शास्त्र कहता है कि—“क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।” क्लेश, कर्म, विपाकके भास्योंके साथ असंस्पृष्ट-अलिप्त है, वही पुरुष विशेष पुरुषोत्तम और ईश्वर है यानी ईश्वरको राग द्वेष क्लेश कर्मविपाक नहीं छू सकते । “तत्र सर्व्वज्ञवीजं” उस ईश्वरमें सर्व्वज्ञत्व होता है । आत्मा अनन्त तत्त्व रूप है । वेदान्त कहता है कि—“सर्व्वं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।” ब्रह्म स्वरूपमें पाप, पुण्य, सुख या दुःख नहीं है । पुनः वेदान्त कहता है कि—“न पापं न पुण्यं न दुःखं सुखं न । चिदानन्दरूपं शिवोऽहं शिवोऽहं ॥” “मेरा आत्म-स्वरूप शिव है, और उस शिवस्वरूप आत्मामें पाप, पुण्य, सुख दुःख नहीं है, क्योंकि वह सच्चिदानन्द रूप है । जैन कहते हैं कि—केवलज्ञानी यहाँ ही मोक्षका अनुभव करते हैं । इसीसे मिलता जुलता स्वामीनारायण मत प्रवर्तक श्री सहजानन्द स्वामीका भी यही मत है कि—“अक्षर धाम यही है, आत्मा स्वयं अक्षर स्वरूप है । जो आत्माको यहाँके लिये भी अक्षरधाम समझता है उसीकी समझ सच्ची है, और जो अक्षरधामको किसी अन्य स्थल आकाशादिमें समझते हैं उनकी समझ मिथ्या है । प्रणामीपंथ अर्थात् खीत्रडापंथ प्रवर्तक महाराज ठाकुर तथा श्री देवचन्द्रजी वीर. २१

अपनी सम्प्रदायको निजानन्द सम्प्रदाय कहते हैं। इस दृष्टिसे देवनेपर पता चलता है कि भारतके धर्मात्मा गुरुपूर्वक सिद्धान्त आत्मानन्दके पानेका ही है। मुहम्मद साहब भी यही कहते हैं कि जगतमें जो भी कुछ चैतन्य प्रतीत होता है वह खुदाकी रवानी है, खुदा निरंजन, निराकार, तेजोमय और सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ है। मोमिन तो कृपाळु खुदाको अपने पास ही देखते हैं। खुदाका धर्म भी खुद ही होता है। जिसिसफाहस्टका भी यही उपदेश है कि चाँधे आसमानपर प्रभु विराजमान हैं। वह प्रभु भक्तोंका आत्मा है, और परम भक्त उस प्रभुको मास करते हैं। अखिल भूमण्डलमें सर्वोत्कृष्ट कीर्तियोंके पानेवाले सुखदेव भी स्पष्ट कह गये हैं कि प्रेम ही आत्मा है। अतः जगत्के प्रत्येक प्राणीमें अनेक प्रेम रक्तो। तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे देखा जाय तो जैन, बौद्ध, बौद्ध, सांख्य, बौद्ध-आदि सब एकताका ही अनुभव करते हैं। एकता पानेके लिये अर्थात् आत्मानन्दमें अभिष्टि करनेके लिये साधनोंको भिन्न भिन्न धर्म भीमांसकोने भिन्न-भिन्न देश कालमें भिन्न-भिन्न पद्धतिसे समझाया है। अतएव बहिर्दृष्टिसे देखा जानेपर उन मतोंकी क्रियाओंमें भेद जान पड़ता है। तथापि उन क्रियाओंका समन्वय किया जाय तो ये भेद भी अनेक भाव भजने लगते हैं। जैन जिसे पांच महाप्रद कहते हैं, बौद्ध उन्हें पाच शील कहते हैं, और बोगी उन्हें पांच धम कहते हैं। वेदान्तके शम, दम, उपरति, विसिधा, शब्द और समान भी ऐसे ही हैं। परमदंडोंके बर्तव करने योग्य नियम भी अन्तमें एक ही हैं। प्रत्येक धर्मके नीति, दया, परोपकार, प्रेम आदिके सामान्य और सर्वमान्य नियम भी गृहस्थ धर्ममें सयानता तथा उपबोगिताका उपनोग करते हैं। समतादि वैराग्यके लक्षण भी सबमें समान रूपसे ही पाये जाते हैं। ज्ञानी पुरुषोंके बर्तवकी ओर दृष्टि डालते हुए जैनोंका बर्तव "मिस्ति मे सब्य भूयेसु" सब प्राणियोंके साथ मित्रता अर्थात् समान भाव रक्षना चाहिये न्यूनाधिक न होना चाहिये। वेद भी कहता है कि— "मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।" "सबको मित्रकी दृष्टिसे देखना चाहिये।" "आत्मवत्सर्वेभूतेषु" ज्ञानी पुरुष अपनी आत्माके समान सब जीवोंको देखते हैं। वेद भीमांसकोंकी तरफ दृष्टि डालनेपर जैन मुख-

साते, औदारिक, तेजस, कामेण शरीर कहते हैं। इसी प्रकार वेदान्ती भी उन ही शरीरोंको स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर कहते हैं। जैन जिसे जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और उच्चागर या त्र्यावस्था मानते हैं, उन अवस्थाओंका वर्णन वेदान्ती भी उसी प्रकार करते हुए सन्तोष प्रगट करते हैं। संसृति मीमांसकोंके कथनको देखते हुए जैन यह कहते हैं कि—“परिणामो बन्धो परिणामे मोक्षो ।” “बन्धके परिणामसे ही बन्ध और मोक्ष है।” वेदान्ती संकल्पसे उष्टि मानते हैं। जैनोका मानसिक अध्यवसाय और परिणाम तथा वेदान्तका संकल्प एक ही बात है। इन प्रमाणोंसे आत्मानन्दकी अभिवृद्धिके साधनोंका यानी धर्मोंका समन्यय करते हुए वे सब अनेक भावमें प्रत्यक्ष समान्ये हुये दीखते हैं। साधन अनेक होनेसे साध्य आत्मा भी प्रत्यक्षमें अनेक ही समझा जाता है, और अनुभवमें भी यही आता है। अतः प्रत्येक सुसुष्ठु जीवको प्रत्येक जीवमें प्रेम भाव रखना चाहिये, और सब जगहोंमें ही सर्वत्र मेरा ही स्वरूप है, यही पाठ पठकर अनेक प्रेम रखना चाहिये। हलते, चलते, उठते, बैठते, खाते, पीते इत्यादि सब क्रियाओंमें शुद्ध चैतन्य आत्म-स्वरूप हूं यही भावना रखनी चाहिये। इतना ही नहीं, बल्कि—जगत्के सब भूत भी मेरे ही स्वरूप हैं। यह जानकर उनके प्रति अनेक प्रेमकी बर्षा करनी चाहिये। इस प्रकार जो पुरुष सब जगत्पर अनेक भाव रखते हैं, वे ही वीतराग हैं, पूर्ण हैं, और कृतकृत्य हैं। धन्य उग वीतराग देवको है कि जिसने निष्पक्षपातसे ऐसा सुन्दर अनेक मार्ग जगत्के कल्याणके लिये निस्वार्थभावसे प्रगट किया है।

शातार्थस्य पदार्थस्य, ज्ञानं प्रबोधनाद्भवेत् ॥ १५१ ॥ तदनुवादरूपं हि, जिज्ञेयं न प्रमायता । प्रबन्धस्यायं साक्षरस्य, निर्णेतुं यस्य कल्पचित् ॥ १५२ ॥ निवारोऽत्र प्रकर्तव्यो, नान्यथा सिद्धिरुच्यते । यथोपक्रमप्रारम्भावुपसंहार-समाप्तिकौ ॥ १५३ ॥ अभ्यासः स हि जिज्ञेयो, यद्विचारं समभ्यसेत् । अपूर्वं नूतनं क्रियिद्यद्बन्धो विनिरूपितम् ॥ १५४ ॥ फलं मुपरिणामं चाप्यर्थवा-दस्त्वैव च । प्रसूतलक्ष्मणस्यं च, सोपपत्तुपपादनम् ॥ १५५ ॥ सम्प्रधा-यौक्याश्रयं च, प्रकृतमकरन्दकम् । तदसास्वादं सम्यक्, कर्तव्यं रसतत्त्ववत् ॥ १५६ ॥ कुतस्सनस्तर्जावाप्तु, भव्यमुत्तरसस्य हि । आसादनार्थमेवात्र, प्रवृत्ताथ तृपार्दिताः ॥ १५७ ॥ मुवार्तेयं द्वितीयाऽस्ति, तथेष्टा करणेऽपि च ।

प्राप्यते नाऽपि गौणेन, लभ्यते स्वादनं ततः ॥ १५८ ॥ तदेदमपि शातव्यं,
 गौणतोपाधिकारणम् । पुद्गलस्यैव सम्बन्धाज्जायते न च बल्लुतः ॥ १५९ ॥
 सच्चित्तुषे तु गौणत्वमेतदयमवेह्यते । यदानादिस्रभावेन, बहिरङ्गत्वमेव हि
 अन्तरङ्गत्वदृष्ट्या तु, केवलानन्दरूपकः ॥ १६० ॥ आत्मानन्तकर्मणवर्गणा
 सन्धितो भवेत् । 'गुणविकाराः पर्यायाः' पर्यायेण समन्वितः ॥ १६१ ॥
 कर्मणवस्तु सर्वत्र, सर्वदा परिवर्तते । परिवर्तनं परं साक्षात्मानुकूलमिदं भवेत्
 ॥ १६२ ॥ तत्रेष्टाऽनिष्टयोर्योगस्थान्योऽन्वं मिथितः स्थितः । प्रवृत्तेरात्मन्यतः
 संविभावादेश दुःखकः ॥ १६३ ॥ सम्बन्धवन्मन्त्रभावात्प्रवृत्तिः स्वस्य भावना ।
 कार्यं करोति सर्वत्र, क्षेत्रं सर्वं विचारतः ॥ १६४ ॥ सच्चिदानन्दकन्दस्य,
 सत्तापाथेति बोधनम् । सुगमत्वेन संसिद्धेदिपयेऽखिलभ्रान्तिता ॥ १६५ ॥
 अनुमानापमानस्य, करणं जायते ततः । परिणामस्य यस्यास्ति, निग्रहत्वं ततः
 स्फुटम् ॥ १६६ ॥ अतो यस्मिंश्च कर्मणवर्गणानामवाधतः । अज्ञानताभाव एव
 साद्रिष्टद्वंद्वं भगवत्पदम् ॥ १६७ ॥ लभ्यते तदि परमं, नान्यथा कोटियत्नतः ।
 परं यत्र नृपेहेन, सहितो भगवत्सपि ॥ १६८ ॥ चतुष्टयमनन्तं च, भाति
 तद्भगवत्पदम् । अर्थान्सर्वानतीतावीर, शातम्योऽवदनमेव च ॥ १६९ ॥
 यस्मिन्नेश्वर्यदीर्घे च, यशो धर्मस्य ह्यनकम् । धीर्वैराग्यं तथा मोक्ष, इमे
 पदसंख्यका गुणाः ॥ १७० ॥ समुदायस्य द्वात्रेषु, 'भगवत्पदा' प्रकीर्तिता ।
 भगवच्छब्दकस्याऽस्य, लक्षणं समुदाहृतम् ॥ १७१ ॥ कुण्डिनेशनरेशस्य,
 सिद्धार्थनन्दनेन च । त्रिशलाङ्गजवीरेण, त्रिजगद्गुणामुहुः ॥ १७२ ॥
 सम्पूर्णपीला विज्ञातस्तेन तत्रास्ति लक्षणम् । इति विवेचनेनैव "वीरस्तु भगवाद्
 स्वयम्" ॥ १७३ ॥ इत्यस्याक्षरशार्थो, भविष्यति समर्थनम् । विरूपणं तथा
 तस्य, रानेष्यति विचारतः ॥ १७४ ॥ "विश्वर्यस्य समग्रस्या" इत्यस्यार्थोऽनुक्त-
 लतः । भगवद्दीरदेवस्य, जन्मकालत्वत्ततो मुहुः ॥ १७५ ॥ निर्वाणपदप्राप्त्यन्तं,
 जन्मकालादनुग्रहात् । निखिलस्येतिहासस्य, प्रत्येकं लघुभावतः ॥ १७६ ॥
 सिद्धोऽस्तीति महावीरो, भगवानादिपूरुषः । सम्प्राप्य पूर्णरूपेण, चतुष्टयम-
 नन्तयम् ॥ १७७ ॥ अनन्तशक्तियोगेन, सर्वैश्वर्यं तथासत्त्वात् । अनन्तवैज-
 र्वादश्च, प्रथमयाऽवस्थया मुदा ॥ १७८ ॥ सकलैश्वर्यसात्त्वेन, युक्तधात्रीभि-
 धामय । स्वर्गाजातकपर्ष्यावपूर्तिं कृत्वाऽथ नःकृतः ॥ १७९ ॥ स्वर्गात्पूर्णाथ
 देवायुः, शरीरं वैश्विं तथा । एवमद्वारसम्पूर्णं, कृत्वा रश्मिः, शुक्लितः

॥ १८० ॥ त्रिशल्लयाः समुद्रय, चतुर्दशविधं पुनः । महास्त्रं प्रदष्टं च,
 स्वर्गवृष्टिरसंख्यका ॥ १८१ ॥ जन्मोत्सवं सुराणां वै, शकस्यागमनं तथा ।
 विधानुत्सवं सर्वं, सुरेन्द्रसेवनं पुनः ॥ १८२ ॥ प्रतिक्षणसपर्यायाः, सामभ्या
 च मुहुर्मुहुः । नेयमल्पस्य वीर्यस्य, वार्तास्त्रि सुप्रबुध्यताम् ॥ १८३ ॥
 स्वसयमस्य येलयां, तेनानन्तस्ववीर्यतः । ऐश्वर्यस्यानुकूलत्वप्रतिकूलवधातना
 ॥ १८४ ॥ इति परिषहं जित्वा, सम्प्राप्य विजयं तथा । जिनत्वं तेन संलब्धं,
 तदाऽसंख्यसुरासुरैः ॥ १८५ ॥ नरैर्नरेन्द्रैर्देवेन्द्रैः, समुत्कृष्टभयोपशमात् । एत-
 द्गारैव सद्भावाऽनुभवश्च कृतो महान् ॥ १८६ ॥ “स्वयन्तु भगवान् वीर”
 इति निखिल मानसे । रागाद्यान्तारिक्कन्शात्रून्, विनिर्जित्य विभुर्जिनः ॥ १८७ ॥
 अतथानन्तरूपेण, प्राप्त्यनन्तरमेव हि । भगवद्गीरदेवस्य, समप्रैश्वर्यरूपकम्
 ॥ १८८ ॥ सुस्पष्टं लक्षणं चास्त्रि, विवरणत्वं तदाधिकम् । निरूपणत्वमेवं च,
 नावश्यं तस्य वर्णनम् ॥ १८९ ॥ “समग्रस्य च धर्मस्य”, लक्षणं संनि-
 रूप्यते । तथा साधनसामभ्या, धर्मो नाप्रोच्यते बुद्धः ॥ १९० ॥ दुर्गतौ
 पतमानं यो, जीवं धारयते मुहुः । स एव धर्मो विज्ञेयो, यतोऽनन्तसुखोद्भवः
 ॥ १९१ ॥ दुर्गतौ पतितं तद्बुद्धन्तं जीवमित्यपि । संरक्षत्युक्ततिरपि, तिरो
 भावं करोति न ॥ १९२ ॥ “स चात्मपुरुषार्थस्य, धर्म इत्युच्यते बुधैः ।”
 तदाऽऽत्मपुरुषार्थस्य, धर्मसंज्ञा मुक्तिश्च । एतद्दृष्ट्वा तु भगवान्, सदा वीरो
 हिताबहः ॥ १९३ ॥ धर्ममूर्तिस्त्वया साक्षादभूदिति निश्चामय । “परमेष्ठी
 परज्योतिर्विरागो विमलः कृती । सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः सार्व्वः शास्त्रो-
 पलास्यते ॥” इत्युक्त्वानुरोधेन, भूत्वा सर्वोपदेशकः ॥ १९४ ॥ सच्छास्त्र-
 द्वादशाहस्य, गिरां प्रख्यानकं पुनः । विधाय शास्त्ररूपे च, कृतवान् परिणतं
 मुदा ॥ १९५ ॥ “आप्तोपज्ञमनुलङ्घयमदष्टेतिरोषकम् । तत्त्वोपदेशकृत्सार्व्वं,
 शार्धं कापयघटनम् ॥” शास्त्रमित्यं च निरवयं, प्रदाय भगवान् जिनः ।
 स्वीयाभूतमयं रूपं, तथेष्टं सकलं पुनः ॥ १९६ ॥ अनेकान्तं समाश्रित्य, धेष्ठो-
 पदेशकैरपि । तथाऽऽदर्शमयाऽनन्तं, चरित्रं नः प्रदर्श्य च ॥ १९७ ॥ एवं
 चानुपमं दिव्यं, आवकश्रवणार्हकम् । गृह्णिधर्ममनागारं, साधुधर्मरहस्यकम्,
 ॥ १९८ ॥ कृतकृत्वं भव्यसृष्टेः, कृतवान् यः समासतः । विनिर्वाणपथादर्शो,
 भूत्वा भव्यात्मनां मुहुः ॥ १९९ ॥ कर्मणर्वर्णणानां च, श्ररमुत्तार्य यत्नतः ।
 लघूस्त्वान् कृतवान् सर्वान्, वर्धमानो नयान्वितः ॥ २०० ॥ प्रयात्मकं ययो

द्विष्टं, रत्नं नयप्रमाणकम् । तत्त्वनिक्षेपसंज्ञं वै, गभीरत्वं महत्त्वकम् ॥ २०१ ॥
 परिपूर्णं तदाऽप्यासीच्छुत्वमहत्त्वयोः । चतुरश्रेण वै तद्वह्नाख्येने देवने
 तथा ॥ २०२ ॥ वर्णनं कचिदस्त्वोह, ज्ञेयमन्यद्विचारणात् । स्थालीपुताकन्या-
 येन, प्रत्येकं व्युभावतः ॥ २०३ ॥ विविन्मुक्तत्वभावेन, दिग्दर्शनमतोऽ-
 करोत् । निगद्यते पुनः स्पष्टं, भगवद्दीरखामिनः ॥ २०४ ॥ निर्व्याणं परमार्थेन,
 सह व्यवहारिणी दशा । क्रियदुघातिरूपेण, तथा पुष्कलभावतः ॥ २०५ ॥
 आसीद्यतः सहस्रेषु, जबरतम्बकमात्रतः । गार्हस्थ्यजीवनं तेषां, समुज्वल-
 तथाऽस्ति चेत् ॥ २०६ ॥ तत्रप्रमाणान्नाभूतं हि, उपाधकदशाङ्गके । सूत्रेऽपि
 विद्यते तावदीमता तत्र दृश्यताम् ॥ २०७ ॥ गृह्यश्रमे बहुविधे, कार्यादर्शक-
 रूपिणि । कुर्वन् परिणतं त्वासीत्स्वयं तच्च निशामय ॥ २०८ ॥ (१) 'वीरस्तु-
 भगवान् प्रभुः', पितृरावभितः प्रति । पूर्वं बर्माशये मातुर्जनकस्य च सेवकम् ॥
 कृत्वाऽथ दर्शनावैभवं, ज्ञानानुभवतस्त्वया ॥ २०९ ॥ स्वयं प्रतिज्ञां कृतवान्,
 यावन्मे जननी पित्त । जीवतस्तावदसन्तमर्हरीक्षां सुसंयमम् । योनाभ्यासं न
 श्वाहं वै, स्त्रीकरोमि कदापि हि ॥ २१० ॥ यतो मे जनको भता, मोहदृष्ट्याऽ-
 नुरागवान् । न तु समतया दृष्ट्या, इति चिन्तापरोऽभवत् ॥ यतोऽहमनयो-
 रमत्वे, संन्यासं संवमं मतम् ॥ २११ ॥ चरिष्यामि प्रसंगेऽपि, न हेतोऽव्य-
 नयोर्नयः । हृदये पुनराघातः, स्यान्महानिति मे यतिः ॥ २१२ ॥ दुःसाध्यं
 न भवेत्तस्मात्सहर्षं चेतसा कुतः । जीवनसाऽनया रीत्या, सत्तारसावर्दधित्री
 ॥ २१३ ॥ घटनयाऽनया विद्या लभ्यते नो विद्यामय । पित्रोराज्ञां विना
 तद्वदौदासीम्यं न कर्हिषिद् ॥ २१४ ॥ कोऽपि त्यक्त्वा शहरम्भं, मुनिवर्षं
 न धारयेत् । घटनयाऽनया तेषां, बदाज्ञापालनं तयोः ॥ २१५ ॥ विज्ञावा-
 नश्यकत्वेन, सेवायाश्च क्रियत्फळम् । संसाध्य दर्शनं तस्य, मौलिकं च विभावयेत्
 ॥ २१६ ॥ तीर्थद्वारोऽपि भगवान्, प्रथमे जीवनेऽपि यत् । सेवाधर्मस्थापनं
 वै, कुप्ये दिक्भावतः ॥ २१७ ॥ कम्पतां किं च वीरस्य, क्षामिनधरमद्भुतम् ।
 आदर्शकं सेवायाः, पितृणां किमनत्यकम् ॥ २१८ ॥ महत्वं विषयधाति,
 सुहृमदृष्ट्याऽवलोक्यताम् । प्रतिज्येष्ठं भ्रातरं च, अत्युपोदारशीलता ॥ २१९ ॥
 नन्दीवर्धननामानं, भ्रातरं भगवान् ब्रह्म । एकस्मिन् दिवसेऽवोचन्, मरीयोऽ-
 मिमहोऽपुन । सम्यग्नेऽग्यतथाय, भवदाज्ञां प्रष्टव्य ॥ २२० ॥ कीदृशेक्षां
 करोम्यद्य, तदा ज्येष्ठोऽवब्रीह्वनः । निर्मोहं च प्रसुं ज्ञत्वा, स्वयं नु मोहपीठितः

॥ २२१ ॥ भवन्तं ज्ञायते शुद्धं, स्वर्गारोहणयोगतः । पितुर्मातुः स्फोटकोर्ध्वं,
 लवणक्षेपणैः समः ॥ २२२ ॥ भविष्यति न सन्देह, इति कृत्वा दयां भवान् ।
 मदीयकथनेनैव, समुपित्वा गृहे पुनः ॥ २२३ ॥ अन्दद्वयसुपर्यन्तं, दर्शनार्ध-
 मुदारताम् । दर्शयेच्चन्महान् देवानुग्रहः स्यान्मयि प्रभो ॥ २२४ ॥ तथैव
 भगवान् वीरः, कृतवाञ्छान्यथा क्वचित् । भ्रातुः पूज्यतमस्यापि, चेच्छया
 वापि नम्रतः ॥ २२५ ॥ त्यागोऽनुकूलगमनं, नोचितोऽथ निवृत्तितः । तथापि
 भगवान् वीरः, स्वयं च जगदीश्वरः ॥ २२६ ॥ ज्येष्ठो भ्राता दर्शनेन, विनयेन
 च तोषितः । तद्वच मुक्तिनः कृत्वा, ज्येष्ठभ्रातुः भुसेवनं ॥ २२७ ॥ पाठोऽपि
 पाठितस्तेन, वर्षद्वयमभूद्गृही । भ्रातुराज्ञानुरोधेन, वीक्षाऽपि नैव धारिता
 ॥ २२८ ॥ एवं संयमसंफलं, हित्वा निर्घ्याणदं ध्रुवम् । प्राश्नुकमोजी भूत्वा
 च, गृह्णेवाधयत्पुनः ॥ २२९ ॥ धन्योऽसि ! भगवत्स्वं हि, नाऽप्रसन्नः कृतोऽ-
 नुजः । अतः पाठमिमं लोक, स्वयमाप विना धमम् ॥ २३० ॥ भगवद्दी-
 रवत्स्वस्य, भ्राता पितृसमः स्मृतः । इति ज्ञत्वा सेवया च, मुक्तिनं तं विधाय
 च ॥ २३१ ॥ सन्नुद्यत्वेन संस्थाप्यस्वथा भान्योऽनुजो मुहुः । तेऽपि रक्षयाः
 प्रयत्नेन, धर्मोऽयं ध्यावहारिकः ॥ २३२ ॥ तद्दार्ढ्ये च वैराग्यमद्यविंशति-
 सख्यकं । वयस्यैव सुसम्पन्ने, पित्रोः स्वर्गतयोस्तदा ॥ २३३ ॥ तदा वर्षद्वयं
 स्थित्वा, गृहेऽध्यात्मस्वरूपके । चिन्तनं योनिचर्यायाः, समारम्भोऽप्यकारि च
 ॥ २३४ ॥ तेनास्माद्योगतः सम्यग्बोधिता वीक्षणैस्त्वव । वीक्षाधारणतः पूर्वं,
 गृहिधर्मं समभ्यसेत् ॥ २३५ ॥ विशेषतो योगचर्यां, यया विशदया सदा ।
 चर्याया च सुभाविन्या, स्याच्चित्तितिर्यथाकमम् ॥ २३६ ॥ इत्थं तस्याः स्वयं
 ज्ञानं, जायेत तदनन्तरम् । सहिष्णुतायास्स्यायस्य, भवेज्ज्ञानं तथा पुनः
 ॥ २३७ ॥ अशावधिक्रियजातमुदारोत्तीर्णता यदि । अभिप्रायोऽस्ति मे चाद्य,
 सचर्यायां विपाकतः ॥ २३८ ॥ भूत्वा दृढस्वतः पादौ, धर्तव्यस्ताडुषाधने ।
 न तु पूर्वं उतथैवं, विज्ञानां गतिरीदृशी ॥ २३९ ॥ (३) राजनैतिक-
 शिक्षायाः, शिक्षको यत्र कलके । अमालनृपतीनां च, पुत्राणां भूभुजां
 पुनः ॥ २४० ॥ यदाऽभूज्ज्ञानमेतदि, नरपञ्चसिद्धार्थमत् । महिष्या त्रिपा-
 ल्याऽदार्शं, सप्रथमुर्दशविधः ॥ २४१ ॥ यौवने सावंभौमश्च, चक्रवर्ती भवि-
 ष्यति । एतद्दत्तान्तधवणाच्छ्रेणिकेन्दुप्रद्योतनौ ॥ २४२ ॥ दधिवाहनप्रभृतिराज-
 पुत्राः समागताः । भगवद्दीरसेवायां, संलम्बाश्च मुहुर्मुहुः ॥ २४३ ॥ क्षत्रिया-

ह्यंविता सेवा, ततोऽतिरिक्ते शिष्ये । प्रहृता भावुकत्वात्, मुग्धादोचित-
 कर्मणि ॥ २४४ ॥ तेभ्योपि भगवान् वीरो, गृहस्थक्षात्रशोरपि । बोधयित्वा
 च सद्धर्म्मं, सदैवान् सम्प्रयुज्य च ॥ २४५ ॥ व्यवहारेऽव न्याये च, निपुणत्वं
 स्वधर्मणि । निदुक्ता रत्नपुत्रास्ते, चान्तराजस्रभावतः ॥ २४६ ॥ जाताव-
 बोधस्तेनायं, धर्मधीधनुरन्तकः । चक्रवर्ती तथाऽयं हि, भविष्यति न संशयः
 ॥ २४७ ॥ तन्निरीहविचारोप्राप्तान्प्रतिस्पर्षद्भूतः । प्रभावस्तेन ते सर्वे,
 स्वराज्ये मुक्तप्रकम् । परंप्रहे च सन्तोषं, आप्याऽऽगता यथागृहम् ॥ २४८ ॥
 राज्यशासनकर्मादौ, दधं प्रजासको ह्यभूत् । प्रजारक्षणनिष्ठावान्, भूत्वा तद-
 वर्नं कृतम् ॥ २४९ ॥ “दमनं तु शयानां चावनमस्रठानां तथा । समाधितानां
 भरणं, राज्यचिह्नमिति स्मृतम् ॥ २५० ॥ चरितार्थमेतदुक्तेः, कल्पे
 जातं निरन्तरम् । अथातः सम्प्रयस्यामि, धार्पिण्यावमुत्तमम् ॥ २५१ ॥
 अथ सांघस्यैकदानम्-धीसाधारणतः पूर्वमेकवर्षप्रमाणतः । त्रिंशद्द्वर्ष-
 समारम्भे, जिताचारमुभावतः ॥ २५२ ॥ निरीहत्वेन यद्दानं, वीरवैऽनुपकारिणे ।
 इत्यादिदानधर्मस्य, प्रारम्भं कृतवान् मुदा ॥ २५३ ॥ वर्षावधिं मुभय्येभ्यो,
 मानवेभ्यः प्रदत्तवान् । पुष्कलत्वेन दानं बलमर्षं तेनाऽऽवृष्यः कृताः ॥ २५४ ॥
 केऽपि कस्यापि न जाता, शृणिन इति मुप्रथा । तथा पुद्गलवर्गे च, ममत्वं तु
 ह्यपाकृतम् ॥ २५५ ॥ रीत्याऽनया पुनस्तेषां, न मोहस्मृतिविभ्रमः । न जातं
 च ततश्चेयं, शिक्षा नः स्थापिता पुरा ॥ २५६ ॥ नीत्वा संन्यासमैश्वर्यं,
 भौतिकाच्च तथेयती । समुत्तीर्ष्य पदार्थास्तु, यतो भाविविकर्मणि ॥ २५७ ॥
 नात्मावरोधो जायेत, तथारम्भपरिग्रहात् । निवृत्तोऽप्रतिवद्धश्च, भूत्वाऽध्यात्मन्य-
 मायसा । ततो विलीनो भावाच्च, भवेदत्र न संशयः ॥ २५८ ॥ अथ शौदावे
 निर्भयक्रीडनम् । वस्तुतोऽन्तकपर्यन्तं, निर्भयत्वेन संस्थितः । परं भयं
 न बाल्येऽपि, कृतवान् स कदापि हि ॥ २५९ ॥ विपान्वितोरयं रत्नमिवो-
 त्पाप्य अक्षिप्यते । द्यापदाजीवसंघर्षाथ, सदासच्चान्स्वतेजसा ॥ २६० ॥ करोति
 स्म भवन्तं च, दृष्ट्वैव दूरमामजनम् । महतो भयङ्कसन्देहानमुरान् राक्षसास्तथा
 ॥ २६१ ॥ बलिनो विद्विपस्तद्दनायासेन छीलया । त्रिजिल नवन्याप्राति,
 संशयं नात्र कर्हिचित् ॥ २६२ ॥ अथाबोधामीरकप्रकरणम्-अबोधाऽऽ-
 भीरुवन्द्यानां, गोमहिष्यादिचारिणाम् । अस्मिन्देसे च तेषां वै, संज्ञा ‘पाली’ वि-
 कस्यते ॥ २६३ ॥ जलद्विर्मनुवैः साकं, मुपैव वदुषर्षणम् । अज्ञान

क्रोधकरणं, क्षेत्रविध्वंसनं तथा ॥ २६४ ॥ प्रतिद्वन्द्विनामिदं कर्म, तेषां सुगम-
मस्ति हि । ध्यानमग्नौ बने संस्थः, कवोत्सर्गे न्यवस्थितः ॥ २६५ ॥ तत्क्षणेऽ-
ज्ञानावस्थाध, रज्जुभिस्ताडयन्ति च । निर्माय तस्य पार्श्वे तु, त्रुटिहकां पायसं
यदा ॥ २६६ ॥ पाचयन्ति क्षणे तस्मिन्, तापयन्त्यग््नितस्तया । न च वीरतया
सर्वं, सोढवात्त च दुःखभाग् ॥ २६७ ॥ एकमेव क्षोप्यबोधो, विनोदेन शत्रु-
कया । बंधस्य तीक्ष्णया कर्णे, भेदितो रक्षधारया; आप्ततश्च ततः काये,
दुर्बलत्वमजायत । तथाऽप्यनुग्रहस्त्वसौ, कृतस्त्रेण महात्मना ॥ २६८ ॥ नानिष्टं
प्रोक्तबोस्त्वसौ, किञ्चिदपि च दुःखतः । दृष्ट्वा समानया तद्वत्समभावनया तथा
॥ २६९ ॥ यातनां सहनशीलोऽप्यभूत्सदित एव सः । ध्यानावस्था दृढा जाता,
मानसीवृत्तिरीदृशी ॥ २७० ॥ मेरुवत्सस्य सप्ताता, ध्यानवृत्तिः सुनिश्चला ।
सागरवच्च गम्भीरा, सूर्यवत्सा प्रकाशिका ॥ २७१ ॥ सद्विष्णुता समुत्पन्ना
स्वर्गेऽपि सत्प्रशंसनम् । सभायां शक इन्द्रोऽपि, प्रशंसां कृतवान्मुहुः ॥ २७२ ॥
दुर्बिदग्धाः सभायां ये, ज्ञानशून्याः सुरास्रथा । विश्वास नैव कुर्वन्ति, दर्शना-
द्येन वज्रिता ॥ २७३ ॥ देवाग्रनासहस्राणि, गृहीत्वैकः समागयी । परीक्षार्थं
भगवतः, सङ्गमध्याव्रवीत्पुरः ॥ २७४ ॥ “ध्यानव्याजेत्यादि” चेति, वामयं
तद्विषुधाधर्मः । ध्यानं तु केवलं देव । व्याजमात्रं प्रदर्श्यते ॥ २७५ ॥ नेत्रे
सम्नीत्य भगवन् ! त्रियां वामपि ध्यायसे । देव ! त्वदग्रे वामोऽपि, हावभावसु-
विभ्रमैः ॥ श्रियः कटाक्षपातं हि, कुर्वन्ति त्व मनोहरम् ॥ २७६ ॥ किञ्चिदु-
म्नीत्य नेत्रे च, दृश्यतां नो जगत्प्रभो ! वामबाणापदितास्तास्तु, सम्नीत्य हृदयं
मुहुः । स्थिताः क्षिप्रं गृहीत्वैव, बाहुं स्ववद्यमानय ॥ २७७ ॥ भवान् दयालुः
पद्मपररक्षणे सम्प्रवर्तते । परं नो मन्मथो देव ! सन्तापं कुरुते रहः ॥
सत्प्रतीचरहेतुश्च, भवानेव हि दृश्यते ॥ अतो वयं भगवतः, चरणं च भग्मा-
नताः ॥ २७८ ॥ वचनार्थमतः स्वामिन् ! तवाङ्घ्रिपतिता वयम् । देहि नो स्थानं
भगवन् ! शरणा रवां हि कृपानिधिम् ॥ २७९ ॥ चरणपागता इति ज्ञात्वा,
शीनानां प्राहि मारतः । महान् खेदस्य निषयो, यच्च वा रक्षतीधर ! ॥ २८० ॥
न किञ्चिच्छयतेऽस्माकं, न चोत्साहं प्रीयते । प्राता भूत्वा न कुरुते, रक्षामपि
दयापरः ॥ २८१ ॥ सुस्पष्टं ज्ञायतेऽग्नेन, मिथ्याव्यहमिद्यो भवान् । वर्तते
ययं कुर्मः, सेवां न त्वं प्रसीदसि ॥ २८२ ॥ कर्णान्ते ते न यूद्यसि, चलते
चित्ततः परम् । वयं पशुवयं मत्वा, ज्ञातवन्तस्ततोऽपिष्म ॥ २८३ ॥ नान्योऽ-

विनिर्घृणतरो, बटोरहृदयोऽपि च । तत्समो नास्ति संगरे, परिपको दया-
 तिथे । ॥ २८४ ॥ एवमुक्त्वा चालयन्तो, प्यानाद्बुद्धिममानसाः । समाश्रित्य
 स्वमागं ता, गता स्वसदनं प्रति ॥ २८५ ॥ अतोऽस्माकमियं शिक्षा, सामा-
 यिके च संवरे । प्रौपथे प्रतिक्रमणे, समाराधनके क्षणे ॥ २८६ ॥ रचनीये
 दृष्टी चर्या, यतः स्यादचल्यजनया । भूत्वा विषयतस्तद्द्विजयःस्यादनुकमाद्
 ॥ २८७ ॥ इत्युपदेश्य सञ्जातो, ज्ञावता मनसा हृदा । अथ शरणागतान्
 रक्षणम्—अथार्ताभ्ररणापञ्चान्प्रति वीरस्य सद्गुरोः । छत्रावस्था त्यागपदं,
 निष्कामजीवनं ततः ॥ निर्वाह्यति सुसारे, तपवर्यान्तेन च ॥ २८८ ॥ आर्ताः
 सन्तापिताक्षान्धैर्यैदा तच्छरणागताः । तेषामाह्वानमादौ हि, शृणोति च यथा-
 र्थतः ॥ २८९ ॥ तस्मात्प्यानं तपवर्यां, तेषां रक्षा कृताऽनिशम् । महतोऽ-
 साध्यकष्टाश्च, सुरक्षयति तान् श्रमात् ॥ २९० ॥ ए चर्मेन्द्रो हि शकस्य,
 ह्यपमानं विधाय वै । पलायतोऽश्निपाताद्भवनाथं च तस्य हि ॥ २९१ ॥
 शरणं पादपद्मस्य, समागत्य स्वजीवनम् । शक्रोम्यहं न जेतुं तं, तेनेत्युक्तं यदा
 प्रभुः । ततो रक्षितवोस्तं च, वीरः सद्ययवान् जिनः ॥ २९२ ॥ एकदा
 मगधे देशे, भरुनीस गोपालकः । यदा तत्पृष्ठो जातो, वीक्ष्यमेकं तपस्विनम्
 ॥ २९३ ॥ परस्तु वृक्षशाखां, लम्बमानमधः शिरः । कृतोर्ध्वपादं यक्षोप्रं, तप-
 स्तपति नित्यशः ॥ २९४ ॥ तज्जटाजूदतो यूय, निस्सख्य पतिता भुवि । तदा
 ता दयया युक्तः, पुनः स्वकचमण्डले । स्थापयति च तं दृष्ट्वा, गोपालकं
 प्रहस्य वै ॥ २९५ ॥ उवाच नेहरो दृष्टो, यूकाशम्नातरस्तथा । इति दुष्ट-
 खभावेन, ह्यवर्त्त कृतवान्पुनः ॥ २९६ ॥ गठं प्रति च शायं वै, कुर्यादिति
 विचार्य च । कोपावेशसमाविष्टस्त्वपस्वी स्वतपोबलात् ॥ २९७ ॥ नेप्रहारेण
 प्रति तं, तेजोऽभ्रतीक्ष्णरश्मयः । पातिवा येन तडितो, यातनेवातिदुःसहम्
 ॥ २९८ ॥ प्राप्य दुःखं ददाहायो, खरमन्देन प्राह च । शरणागतं च मां
 ग्राहीत्वेवं वारं जगाद सः ॥ २९९ ॥ तदा पितामहर्षेवं, दयां कृत्वा
 खनेत्रतः । हिमवच्छीतला देस्या, तस्योपरिप्रक्षिप्तवान् ॥ ३०० ॥ तमनाथं
 मृत्युपाशान्मुक्त्वान् कृपया मुहुः । विभो! त्वं हि धन्यतरस्त्वरीयेयं कृपा मयि
 ॥ ३०१ ॥ न कृत्रिमा नास्त्विक्रि, स्फुटं मे सुप्रतीयते । श्रीमद्भगवतश्चैर्दं,
 चारेणं शिक्षणप्रदम् ॥ ३०२ ॥ प्रविष्टमिति तथिते, पदत्रयप्रतिपालकम् ।
 शंकरान्मोचनीयं च, प्रथमं चोपदेशनम् ॥ ३०३ ॥ कृतवैद्य स्वयं सार्था-

हृदये चावधार्यताम् । अपुनरावृत्त भावस्य, पन्था तेनैव दर्शितः ॥ ३०४ ॥
 अथ मनुष्यवन्मूकपशुरक्षणम्—मनुष्यवन्मूकपशुरक्षणरक्षयत्स्वयं जिनः । यदा
 हि वाममार्गाणां, प्रसारमधिकं ह्यभूत् । तदा ते दयया हीना, व्याजाद्यज्ञाच
 कोटिदाः । पशवो बहवस्तैश्च, हता मूक्य निरगसाः ॥ ३०५ ॥ तस्मिन्काळे
 च दामिना, घातकास्ते तपोबलात् । अवहृद्वाश्च नीर्येणानन्तश्चक्या तथा पुनः
 ॥ ३०६ ॥ न हन्तव्या न हन्तव्या, घोषणैयं मुहुः कृता । अवहृष्य भीषणं
 क्राण्डं, सत्सारस्थितप्राणिनाम् ॥ ३०७ ॥ रक्षिताथानन्तजीवास्तथाऽसिघात-
 नादपि । तस्यायमुपकारस्तु, धर्मोऽयं च पुरातनः ॥ ३०८ ॥ मुद्राङ्किताः कृता-
 स्तेन, तस्मृतिर्वर्ततेऽधुना । महोदयो बालगङ्गाधरतिलकर्सङ्गफः ॥ ३०९ ॥
 नेता श्रीभारतस्यासीद्दम्यचाक्षं प्रवृत्तवान् । जैनसमाजहृन्देभ्यो, नैतन्ना-
 ल्पमहत्त्वकम् ॥ ३१० ॥ अपकर्तृपशुद्वारो, मनुष्य इव सत्कृत । हिंसकादेरप-
 कर्तुः, पशोरप्यपकारणम् ॥ ३११ ॥ सदोपेक्षैव सद्भावा, कृता तेतिरिति संस्फुटम् ।
 हिंसावृत्तिरतानां तु, पशूनां वृत्तिपाशवीम् ॥ मोचयित्वा समाधेय, दत्त्वा
 बोधमनामयम् ॥ ३१२ ॥ सदाचाराधिकारं च, ददाति स्म न संशयः । यथा
 चण्डकौशिकेन, विपाक्रान्तमहोरगे ॥ ३१३ ॥ वेदना दंशजा शश्वच्छान्त्या
 सर्वं विशोढवान् । कृपया तं च सन्मागं, सदाचारे तथा पुनः ॥ ३१४ ॥
 स्थापयित्वा प्रबोधेन, श्रीमुखेन च भाषितम् । चण्डकौशिक! धुष्यस्व,
 श्रान्तियुषो निशामय ॥ ३१५ ॥ शब्दा एवं प्रकथिता, नरकायेन रक्षितः ।
 पतनतोऽवनं जातो, जगद्गुरुप्रसादतः ॥ ३१६ ॥ शान्त्यैवं सुबोधितोऽपि,
 ह्युत्सावस्थां गतोऽव्यसौ । शिष्यं जागरितो बुद्धो, विवेकसमशक्तितः ॥ ३१७ ॥
 साधयति स्म कार्यं च, किं मया श्रूयतेऽधुना ॥ एवं विचारितस्तेन, किं शब्दोऽयं
 कृपामयः ॥ ३१८ ॥ पूर्णा दया च तस्याऽस्ति, न वा चेति विचार्यते ।
 एतद्वाक्यरुदम्बानां, न जाने स्वाशयं पृथक् । एतद्दधिरपानेन, सितां च शर्करा-
 मपि । तिरस्करोति स्वादेन, नो लब्धा चेदृशी मया ॥ शोते मयाद्य
 संचारः, शान्तेरस्य च नादियु ॥ ३१९ ॥ आज्ञा नामापि नास्त्यत्र, शृद्युभवस्य
 का कथा । परमस्ति क्षमायास्तु, पराकृष्टेति धारय ॥ ३२० ॥ अपकारकारि-
 ण्यपि, क्षमा स्वाभाविकी कृता । आवस्यकाधिकानन्ता, शान्त्याख्यकवचोपरि
 ॥ ३२१ ॥ सन्मागं मा च ह्यानेतुं, क्रियच्छ्राप्यो महानपि । समालोचनपूर्वं
 हि, तस्मै स्वदर्शनं वभौ ॥ ३२२ ॥ जातिस्मृतिकं सजातं, ज्ञानं गतजन्मस्मार-

कम् । क्रोडोऽयं चातिपापात्मा, सच्चरित्राच्च मां पुनः ॥ ३२३ ॥ पातितवानत्र
 योनौ, निकृष्टायामिति स्थितिः । जन्मत्रयेणात्र बद्धो, विभो ! वन्दिगृहाच्च
 माम् ॥ ३२४ ॥ भीषणावंत्रणाच्छ्रेष्ठं, मोक्षय मामिति प्रार्थना । प्राप्य
 चैवं विरुवादां, विवेकपद्धतिं गतः ॥ ३२५ ॥ सम-संवेद-निर्वेदं, बलादध्यात्मकं
 रसम् । पियत्रास्ये मुखैर्नैव, आयुरन्तिमकान्तकम् ॥ ३२६ ॥ श्वासोद्भू-
 तकर्पण्यन्तं, परमुत्कृष्टसमाधिना । सत्सखनायाः प्रारम्भं, कृतयान् शान्ति-
 तत्परः ॥ ३२७ ॥ अभ्यस्तपारिणमहानासः पद्यमके दिने । मृत्वाऽष्टमसहस्रा-
 रक्षणातिविश्रज्जायत ॥ ३२८ ॥ धन्योऽस्ति भगवत्सर्वं हि, पश्यन्पि मनुष्यवत् ।
 धादधर्माधिकारं च, दत्त्वा तेभ्योऽपि तान्पुनः ॥ ३२९ ॥ भव्यात्मकौस्तुभ्या
 चके, भाद्रुकानथ भावतः । घटनयाऽनथा स्वष्टं, सिद्धं जातं पुरातनम्
 ॥ ३३० ॥ यथा भम प्रियाः प्राणास्तथाऽन्येषां हि देहिनाम् । इत्युक्तेन प्रका-
 रेणाऽहिंसापुनतधारणे ॥ ३३१ ॥ “क्रोधाद्बन्धच्छविच्छेदोऽधिकभाराधिरोप-
 णम् । प्रहाराच्चादिरोधथा, हिंसायाः परिकीर्तता” । जीवान्स्थापितकर्तात्तौके,
 तेभ्यश्चात्मतपोबलान् । सिद्धान्म्यात्मयोगस्य, दत्तबाह्याययोगतः ॥ ३३२ ॥
 यतस्ते भवतो मुष्ठा, पश्यन्मिति ज्ञायताम् ॥ अधास्पृश्यमानामुद्धारम्-
 पतितोऽस्पृश्यकोद्धार, इति सिद्धान्तभावनाम् । संस्थांश्च सर्वजातीनां, मनु-
 ष्येषु स्वयं प्रभुः ॥ ३३३ ॥ तुल्यधर्माधिभारथ, सुप्रदत्तो विधानतः । “शूद्रो
 भवति धर्मात्मा, सृष्ट्वच्छान्तिं नियच्छति” इति कृत्वाऽनुशादं च, उषावच-
 विभागशा ॥ ३३४ ॥ स्पृश्याऽस्पृश्यविचारस्य, सेवारात्स्थानमुद्रतम् । स च
 निर्मलसङ्गे स्त, ‘हरिकेशबल्ये’ यथा ॥ ३३५ ॥ जाला चाण्डालयोनिस्तौ,
 मुनिसङ्घे स्थानमातवान् । ऐतिहासिकदृष्ट्या तु, घासनेऽपि तस्य हि ॥ ३३६ ॥
 उत्तराध्ययनसूत्रेषु, सुवाक्यगारवेण च । दृश्यते भूयते चापि, तत्र हेतुरयं
 पुनः ॥ ३३७ ॥ यथा ‘तेन्दुक’ देवोऽपि, तदप्यारं भक्तिमकृत । तस्येदमेव
 मन्तव्यं, गुणस्थानप्रतिक्षणम् ॥ ३३८ ॥ यद्य कथं समाकृद्धो, न शोषं तस्य
 पातकम् । बहुगुणस्वानसंरुद्धिरतरोत्तरभावतः ॥ ३३९ ॥ न हि तावच्च निर्व्या-
 षांपुनर्यत्तिसन्निधिम् । गतोऽजो धार्मिके तद्ब्रह्मपावहारिक्ये पुनः ॥ ३४० ॥
 नो विचारोऽस्ति जालादेः, कर्हन्तिसन्धिनाऽनया । घासनस्य चजावयः,
 शौकरः पशुपातकः ॥ ३४१ ॥ जातीयस्याप्यभेदेन, विधामो विडितस्यतः ।
 भावोऽयं तस्य विज्ञेयः, स्पृश्याऽस्पृश्यस्य बन्धनम् ॥ ३४२ ॥ विधिल्लरं प्रदुर्धैव,

समूलं तद्विनाशितम् । प्राचीनव्यवहारस्य, सन्मतेन स्थिरं पुरा ॥ ३४३ ॥
 विश्वाखिलावतारैस्त्वं निर्वहणं कृतम् । यथा शासनपतेर्वारभगवतः शास-
 नादनु ॥ ३४४ ॥ अयं सारतरखेत्यं, विचारस्य हृदा पुनः । अथ शश्रूणामुप
 खपि-परोपकारिता-शत्रुं प्रत्युपकारस्य, करणे रच्यन्स्वयं प्रभुः । सङ्गमः
 शूलपाणिश्च, व्यन्तरीकटपूतना । दानवैः पशुभिर्धैवोपसर्गं च महत्कृतम्
 ॥ ३४५ ॥ इति दायुगणैर्दत्तां, यञ्जणां दारुणां तथा । सहिष्वा साम्यभावेन,
 कृतं परिपहे जयम् ॥ ३४६ ॥ पण्मासान्तं च सततं, ददन्कष्टं महाऽगुरः ।
 तदाऽवस्थगितो भूत्वा, हारितः स गतस्तथा ॥ ३४७ ॥ तदा तक्षयनाम्भोजा-
 दक्षुविन्दुद्वयं त्रिकम् । पतितं च यथा न्याये, इत्यवेहि च मानसे ॥ ३४८ ॥
 “कृतापराधेपि जने” इत्यायुक्तं पुरैव च । अभिप्रायोस्ति तस्यायमपराधशुस्तथा
 ॥ ३४९ ॥ पात्रोऽयं सचितस्यास्य, कुत्सितस्य च कर्मणः । भावि तत्परिणामं
 हि, फलं सऽश्नति कुत्र वा ॥ ३५० ॥ दुस्सहं यद्भवेच्चैतदेतदर्थं निशामय ।
 अहो विज्ञायते चाय, शत्रूपरिशिवस्पृहाम् ॥ ३५१ ॥ कृतमाभ्यस्थभावेनौदार्य-
 गाम्भीर्य्यौर्ष्यकम् । इति शुणसमूहानां, वैतक्षण्यं क्षमा वरा ॥ ३५२ ॥
 महिमा चेति नान्यास्मिन्वीराद्भिरे प्रदश्यते । अनार्यदेशेऽपि तथा, विहारो
 भ्रमणं तथा ॥ ३५३ ॥ निरन्तर नावरुदं, धर्मात्मसदृशं मुहुः । दर्शन-
 नार्प्यसपेभ्यो, धर्मकोटिनयाम च ॥ ३५४ ॥ म्लेच्छदेशेऽपि तस्मात्सीदनि-
 वार्य्यभ्रमणं मुहुः । तस्माऽपि च भवन्तं हि, कश्चिज्जानाति दूरग ॥ ३५५ ॥
 देशान्तरस्थं कश्चिच्च, भेदकं तस्करं तथा । ज्ञात्वा प्रन्ति च यध्नन्ति, कृपाधो
 लम्बयन्ति च ॥ ३५६ ॥ ते केचित्तच्छरीरे च, मृगयारसिका मुहुः । सारमेया-
 नबोधध, लगयन्ति च ते पुनः ॥ ३५७ ॥ स्वतीदणनखाघातैर्दन्तैश्च तच्छ-
 रीरके । शतं कुर्व्वंश्च जातस्यै, सशशा स्थगिता रहः ॥ ३५८ ॥ परं स्वयं
 स गिरिवदचलोऽभूदवनीतले । तथाऽधमा नराधेदं, दृष्ट्वा धैर्य्यं सहिष्णुनाम्
 ॥ ३५९ ॥ प्रभावाद्भाविता भूत्वाऽऽधर्म्युक्ताश्च तेऽभवन् । ततः पराजिता
 जाताः, पतितास्तत्पदाम्बुजे ॥ ३६० ॥ ततश्च धृदया जैने, भूत्वा ध्रुदाल्घो
 मते । महाप्रताऽणुप्रतयोर्लौनाः संसाधने मुदा ॥ ३६१ ॥ अनन्तां यातनां
 भुक्त्वा, मिथ्यावादिष्वनार्यकेष्वनिवार्यजनेष्वत्र, जैनधर्मस्य चोत्तमाः ॥ संस्कारः
 स्थापितस्तेन, सत्यं सत्याग्रहान्मनाम् । कठोरदृश्यानां च, लब्धवान् विजयं
 तथा ॥ ३६२ ॥ चर्य्यायाऽनया नश्च, शिक्षा सञ्जायते परा । भगवतो वीर-

देवस्य, सुपुत्रो निर्भयो भवेत् ॥ ३६३ ॥ अनायुर्नयतिनां राक्षसोक्तानां वीर-
 स्वाभिनः । धर्मोऽप्यनादिसङ्घेऽपि, गत्या च प्रसरेदिति ॥ ३६४ ॥ तत्राबोध-
 नरास्तादृग्दम्भं सरत्तम्भं वदिता । श्रमिनी ये च तत्रापि, धर्मोऽनेकान्तिकस्य हि
 ॥ ३६५ ॥ संस्थापितो मूलतरुस्तौथ धीवीरस्वाभिनः । सुधर्मस्थाप्यनुगामिनः,
 कृतवान्म दयापरः ॥ ३६६ ॥ हृद्यदिदमहं वक्ष्ये, मरीया मुनिभ्रातरः ।
 न वत्तं ध्यानमत्रापि, कदापि न हि सम्मतम् ॥ ३६७ ॥ भूत्वा प्रयुतदेशस्य,
 ग्रामस्य नगरस्य च । पिण्डोलक्रे मोहवसे, ममतायां प्रमादके ॥ ३६८ ॥
 कृत्वा कलङ्कितं स्वं च, नोचितं म्लानतां गतम् । तत्रैतत्स्वरणं श्रेयं, प्रार्थनाथ
 मुनेरिदम् ॥ ३६९ ॥ वाराणसीति पार्श्वस्य, क्षेत्रं भगवतः परम् । वीरस्य
 कुण्डिनपुरी विख्यातं ममथे पुनः ॥ ३७० ॥ विहारशरीफनामध, मण्डले
 वर्तते च वा । पुःच्छब्देव नायातं, मुनिप्रमगमिलपि ॥ ३७१ ॥ धर्मप्रचारः
 श्रवणे, नायातश्च यदानये । भगवतो वीरदेवस्य, रंकरिषसहस्रकम् ॥ ३७२ ॥
 शासनस्य प्रचारः स्थातदा किं कारणं वद । तच्छसनसगृह्यार्थं, नात्रि
 तस्य च पूजयाम् । प्रसन्न ये जनाध्यायैस्तज्जन्ममुदि मानयाः ॥ ३७३ ॥
 तेषु धर्मप्रचारोऽपि, न भवेदिति चिन्तने । शोचनीया मुक्तये, सहाप्रमग्य-
 भ्रातरः । एतदुपतिक्तालेऽपि, भयन्तधेम्मते परम् । जैनं तस्य नोदनार्थं,
 यद्यपि परिचयो महान् ॥ ३७४ ॥ ज्ञातव्यं भवतां नाम, संनदपति
 गजेन्द्रवत् । अतो हि विदुषां तद्विक्रियाऽऽपन्नमुनीवपि ॥ ३७५ ॥ पुधरत्न-
 प्रविज्ञानां, यकनूनां सर्वसम्मते । व्याख्यानवाचस्पतीनां, संन्यासपारिर्णा
 तथा ॥ ३७६ ॥ चिन्तयामि यदा सम्यक्सप्रचारस्य क्षेत्रम् । भगवता
 वीरदेवेन, समं कुरु विद्यालक्षम् ॥ ३७७ ॥ जैनधर्मं तथा श्रद्धिभूयसाभ्यं
 तथा कुरु । भवन्तो तेषु चास्यैव, रोगस्य परिवाजंशः ॥ ३७८ ॥ शूलोप-
 धितराश्राप्र, न वा चेति विचार्यताम् । अथ भक्तः गृहस्वान्प्रति-रानघन्य-
 दस्थान्प्रति जीर्णक-तौकरियदिम् ॥ ३७९ ॥ पूर्णमेति स्वधर्मे च, दृढयेति
 वितृण्कः । सरतेन तथा चासीत्प्रसंवा च सर्गिता ॥ ३८० ॥ गीर्णस्य भक्ति-
 भावना, पूर्णदस्य सानायिम् । मुनिभेदुः पूनिभेति, सदाधि जीमिभ पुनः
 ॥ ३८१ ॥ सानायिकं पवित्रं च, सैरेकस्वाऽप्यनुमतम् । जैव संसारकृत्यन्तं,
 न हि तद्विस्मरिष्यति ॥ ३८२ ॥ इतोऽद्विरेषे तस्मात्ति, सुभागमनसूचना ।

यदा भग्यानुभावेभ्यो, भक्त्येवथापि जायते ॥ ३८३ ॥ नगराच्च बहिर्देवो,
निर्जने कानने स्वयम् । वीरथ भगवान्स्वागी, समायातोऽतिपुण्यतः ॥ ३८४ ॥
दाक्रदिदेवैः सर्वैश्च, समवसरणनिर्मितम् । महान् कलरवो जातो, नगरेऽपरिमिता
जनाः ॥ ३८५ ॥ धर्मानुराधाः श्रोतारो, विज्ञासव इतीतरे । तेभ्योऽति-
रिक्तपश्चादिधापदाः पक्षिणस्तथा ॥ ३८६ ॥ आयातित समितौ ते तु, रचिते
समवसरणके । महत्सम्भेतनं जातं, तदा ये जातिभावनाम् । स्वाभाविकं पाश-
विकं, व्यथा हि वैरभावनाम् । घान्तिच्छटां नीतवन्तो, जातास्त धम्मंतत्पदाः
॥ ३८७ ॥ उपदेशानन्तरं भूषाः, सार्वभौमास्तथाऽपरे । राज्यसत्तां परित्यज्य,
गृहीतमुनिमुनताः ॥ ३८८ ॥ गृहीणोऽपि गृहे स्थित्वा, पश्याणुनततरराः ।
तृष्णाभारं समुत्तार्य, सम्यक्त्वभावमागताः । जीवनं सफलं जाता, कुर्वन्तस्ते पदं
परम् । आदासिन्यं हृत्प्रभावं, भोग्यं कर्मोपभुज्य च ॥ ३८९ ॥ अन्ते निश्चि-
त्तार्थं च, लब्धाऽङ्गयमुखं पुनः । अनेकानि प्रमाणानि, न्यतेऽनेकशक्त्या
॥ ३९० ॥ अथ शास्त्रार्थप्रकरणम्—अथ शास्त्रार्थरत्तीनां, वादिना प्रतिवादि-
नाम् । ऋतुवालिङ्गनवाध, तटे इयामाकक्षेत्रगे ॥ चतुष्टयानन्तमापन्ना, सद्धर्म-
प्रतिपत्तये ॥ ३९१ ॥ गोरस्रमण्डले प्रामे, 'पडरोपेति' विश्रुते । पावापुर्या चोपवने,
घ्राजवे स्म जगत्प्रभुः ॥ स्नाद्वादमहाशया, महानावेन शब्दिताः ॥ ३९२ ॥
दिशाः कुर्वन्तदा काले, यस्यचिद्गणस्य हि । महाश्वरोत्सवो जातस्त्वैन्द्रादय
पण्डिताः ॥ ३९३ ॥ श्राहुतास्तेन्द्रभूतिर्महानान्यथ वेदगः । आसीत्स्याभवे-
ऽष्टाश्राथत्वारिश्चष्टतसहस्रगाः ॥ ३९४ ॥ वेदाध्ययनसम्पन्ना, विद्यार्थिन इति
हृदाः । भगणितानां च देवानानामव्ययादि गौतमः ॥ ३९५ ॥ ज्ञानं जातं
तथैवात्रोऽनेकान्तवादविज्ञया । समायातो जिनेन्द्रथ, सर्व्वेज्ञो विश्वरक्षकः
॥ ३९६ ॥ शास्त्रार्थं तेन साकं वै, शर्मा समवसरणकम् । गच्छति स्म तदा-
ऽऽयातं, रष्ट्रा तं जगतः प्रभुः ॥ ३९७ ॥ आगन्तुकस्य सशिशुचारं शिक्षणाम
च । स्वभावविगणधरस्य, स्वागतं चेन्द्रभूतये ॥ ३९८ ॥ तत्कमानसिकं भावं,
तस्य सशयसंतिनम् । तच्चिह्नितः कृता तेन, तथा सवेदिनी मुतः ॥ ३९९ ॥
शिक्षा दत्ता प्रभावोत्था, चार्हसी चोपकारेणी । तदिन्द्रभूतये तद्ब्रह्मवेद-
मेताय च ॥ ४०० ॥ महानुभावधेयेभ्यः सुप्रदत्ता गरीचसी । देयं ह्येमुपादे-
नमिति च त्रिपदी मता ॥ ४०१ ॥ ज्ञानोत्पादविश्रीं ग्वा, सोत्तराव्ययध्रान्वयकम् ।
पद्दन्व्यात्मकं वैध, द्वादशमिगिरि सह ॥ ४०२ ॥ चतुर्दशानकं पूर्वं, गदुर्ध

तद्विशालके । ज्ञाने परिणतं कृत्वा, स्वमिरान् रुद्रसंख्यकान् ॥ ४०३ ॥ गणघर-
 पदे सम्यक्स्थापिताः सर्वसंयतैः । प्रथमं चेत्यमनिशं, स्वस्तीवानन्तज्ञानके
 ॥ ४०४ ॥ लाभमुत्पाद्य तेभ्यश्च, खणदिद्विन् ४४०० द्विजातये । दत्ता निर्व्याण-
 मार्गं च, तत्पयि पथिकः कृता ॥ ४०५ ॥ अधानायवातिकोद्धरणम्-अधा-
 नायवाटिकाया, उद्धरणं कृतं स्वयम् । सार्धद्वादशवर्षाणां, तथा पञ्चदशे दिने
 ॥ ४०६ ॥ [उद्यावधौ दुष्करं च, तपः कुर्वन्श्च विश्वदक्] तदैकस्मिँल्लु काठेऽव,
 ज्ञयोद्घयिधारमकः । कृतो भीष्माभिप्रहश्च, कृतवान् पणधारणम् ॥ पम्मासान्तं
 न यत्पूर्णं, न शक्यं भवितुं पुनः ॥ ४०७ ॥ परन्तरयं त्वचलितस्तस्मात्पणमया-
 स्प्रभुः । प्रयागमण्डलतद्दत्तकौशाम्बीं नगरौ ततः । अमन्तं धन्दनाख्यायां,
 बालायाः कर्तुमुत्सुकः । सूदारं धनवाहस्य, धेष्ठिनश्च गृह्यज्ञमे ॥ ४०८ ॥ समा-
 गल्य स्थिरधाभूद्गृहस्यास्य सुशोष्ठके । द्वागमे च सती बाला, चन्दनाऽवीव-
 भक्तिः ॥ ४०९ ॥ शृङ्खलानिगदेर्वंदा, तिष्ठतीति विलोक्य च । अन्येषुते तथा
 मार्गं, भगवतो धर्मतत्परा ॥ ४१० ॥ अनाया वन्दिनी वीरं, भगवन्तं निरीक्ष्य
 च । मुह्यं प्रकटं कृत्वा, कुर्वन्ती भावचन्दनाम् ॥ ४११ ॥ प्राह जगद्गुरो ! देव !
 सूर्ये लोहमये पुनः । मापात्रबाहुली चास्ति, तद्गृहीत्वा च मां पुनः ॥ ४१२ ॥
 कृतकलां द्रुतं कुर्या, इति मे प्रार्थनां दृष्टु । समयेऽलत्र तस्याश्च, प्रफुलितपुरा-
 म्भुजम् ॥ ४१३ ॥ परं भगवतथासा, स्वल्पमस्मिन्नभिप्रहे । तथाऽप्यशुप्रवाहस्य,
 न्यूनत्वं चालयतैत ॥ ४१४ ॥ स्वयं स च पण्डित, धलवानीपदूतिल्लतः ।
 चन्दनाऽपि तदाऽपदयद्ग्राह्यहीना गृहं मयि ॥ ४१५ ॥ स्वयं देववरो भानुः,
 समागलालर्यं मम । स्वप्रवादी समाह्वय, पश्यन्त्या मे यतोऽलत्रम् ॥ ४१६ ॥
 अस्मां दद्याथां वीनायाश्चाथलयाः प्ररोदनम् । विनाऽन्यद्वर्षने तस्मै, नालि कस्य
 प्रयोजनम् ॥ ४१७ ॥ चक्षुर्भ्यां यमुनागदाप्रवाहो वहति द्विधा । महाद्याद्वीरस्या-
 भिप्रहं पूर्णतां गतम् । स्वाभिप्रहस्य दृष्ट्वा तु, स्वादृश्य भक्तिवत्परा । तदा
 सक्तानुरागायाः [कथन्] मापधान्यस्य माकल्पम्* । गृहीत्वा दानातिशयादेर्वैमुक्ताश्च
 यन्धनात् । केवलज्ञानभवनात्पथादार्यात्मिणाप्लव्दि ॥ ४१८ ॥ दत्त्वा स्वतन्त्रतां
 तस्यै, जीवन्मुक्तचयोगतः । कथितथाविकृतेन, लक्ष्यं तत्त्वायमुत्तमम् ॥ ४२० ॥
 शेषमायुं प्रभुत्वा च, निर्व्याणपदमागतम् । वीरस्येति प्रभावाद्या, चन्द्यागनात्मकं

* अभिप्रह्यशुतधान्यस्य अकल्पप्रसङ्गेति भाषायाम् ।

वातगतो ः धर्मकण्ठाचलितान्निबिधिमद्यते । कर्मिधित्तमये ः राजगृहाधीशः
 सुध्रेणिकः ॥ ४४४ ॥ तनयस्वस्य - चैकोऽस्ति, मेघकुमारनामकः । शुलोपदेशं
 वीरस्य, संवेगात्प्रतिजगृहे ॥ ४४५ ॥ वीक्षोत्तमा तदा, तस्य, रीक्षितस्य नवस्य च ।
 सर्वमुनीनां पथात्तु, तदाऽऽसनमवेशयत् ॥ ४४६ ॥ परन्त्वावदयकं अर्थ, कर्तुमा-
 यान्ति यान्ति च । मुनयोऽनुपयोगत्वाभिशायाः समयस्तथा ॥ ४४७ ॥ तेषामो-
 र्याभङ्गवशात्पादस्थो सुहुर्मुहुः ॥ ४४८ ॥ जातस्ततः परामुय, व्याजुलोऽभूमहामनाः
 ॥ ४४९ ॥ निद्राऽभावसमापन्नो, विचारे तत्परोऽभवत् । किं मेघायुर्मदीयं च,
 पादप्रहरणाद्गतम् ॥ ४५० ॥ प्रसह्यैवं व्यतीतं ह्याबद्धेतस्यै मुनिर्मतः । प्रातरेष
 हि दत्वेदं, धर्मोपकरणं मुदा । गत्वा च जनवीं खां च, मिलिष्यामि सुप्रेमतः
 ॥ ४५१ ॥ साधुरथैव सम्भूय, रक्षितः पादस्तमतः । नेत्वं विनिर्वहेषाय, प्रहृष्टं
 पूर्वमेव तत् ॥ ४५२ ॥ सदा चावावि मत्तयैव, तदाऽप्यादृतोऽवदत् । अथ भूत्वा
 सुसंयमबाणं जानन्ति कथंचन ॥ ४५३ ॥ न जानन्ति कथं चाय, किमाश्चर्यमतः
 परम्] निदानन्त्वत्र प्रातर्हि, मुनिर्मघकुमारकः । वीरस्य घरणाभोज-
 वन्दनार्थं समागतः ॥ ४५४ ॥ गुरोः प्रहृष्टं समुत्पन्ना, लब्धा तस्य मुनेरदः ।
 नतं शिरश्चकाराद्यु, कुमारः क्षत्रियस्य च ॥ ४५५ ॥ स त्वन्तेषां भूत्वा च,
 तस्य च सद्गुणाभयः । संसारतारक्ये वीरो, विशादृतं च ज्ञातवान् ॥ ४५६ ॥
 सर्वभूतं निशाजन्वं, निगद्य पुनरुक्तवान् । रात्रौ वत्स [मुनीनां च, पादप्रहारं
 तत्त्वया ॥ ४५७ ॥ लब्धा निद्रा न खान्तर्वे, तेनातंभ्यानमागतम् । अतो
 निद्रा मुविच्छिन्ना, निशाऽतीताऽतिक्रम्य ॥ ४५८ ॥ परं विवेकरुग्धानं, मार्गयत्
 समागतः । तदा स्यात्पूर्वकं ज्ञानं, जन्म षडविकं तव ॥ ४५९ ॥ तत्र कष्टं
 महत्किं वा, निशापादप्रहारकम् । एतावन्तं प्रतिश्रुत्वा, ये पन्नात्रो मुनेर्दत्तम् ४५९
 जातिसरोऽभवत्पूर्वं जन्मद्वयगतस्य च । तिर्यग्भावात्ता वार्ता, समारुद्धा स्मृतेः
 पथम् ॥ ४६० ॥ पूर्वसंवेदिनी तद्दृष्ट्वा जातेयमद्भुता । तदा योगी पुनर्जातो,
 वीक्षादानविधानतः ॥ ४६१ ॥ तर्पक्यासप्यन्तः, धृत्वा सङ्घेयनां गुरोः । अन्ते
 द्वाविंशतिसर्गासाहसिन्द्रोऽभवत्ततः ॥ ४६२ ॥ कम्पमाननगं चेमं, गुस्तिरं कृत-
 वान्पुनः । भगवान्वीरदेवथ, ज्ञातव्यमुत्तमं तपः ॥ ४६३ ॥ प्राणमृतामसह्या-
 नामित्थं अमरजालके । मग्ना नौरुद्धता वीरदेवेन भवचकतः ॥ ४६४ ॥ भवा-
 म्मोघेत्वारकत्वात्तारकः परिणीयते । निपुणः शक्तिमत्त्वाच्च, कर्तेत्यपि च कथ्यते
 ॥ ४६५ ॥ अथ सहर्षं प्रति-यदानन्दकमदेवादिपन्नां गृह्येधिनाम् । गृहिणः

भवन्ति । च तदुपायः । बुद्धकस्या जनायापि, बद्धकः स्वमुखेन वै ॥ ४८९ ॥
 ज्ञातपुत्रमहावीरस्यदन्तचरित्रकम् । मुक्तकण्ठेन तस्यापि, सन्वञ्जत्वं प्रसंखिदे
 ॥ ४९० ॥ आध्यात्मिकस्य तरुवस्य, पदारथे तरुचिन्तव्यः । वे वे प्रसिद्धा लोकेऽ-
 स्मिन्महापुत्रभवभावित्वाः ॥ ४९१ ॥ यान् यान्साद्द्विस्त्रयिण्ये, प्रन्थान्प्रति सुधी-
 मतः । अगन्महावीरस्यादर्शजीवनरूपकम् ॥ ४९२ ॥ चरितोपदेशकानां वः,
 प्रभावः पठितो मुनिः । सूचीप्रविनिर्माणं, सर्वथा तदसम्भवः ॥ ४९३ ॥
 एतावदेव सङ्क्षेपात्कथितं च महोदयैः । एताश्चो जनः भेष्टस्तथा साहित्यत्वमिदं
 ॥ ४९४ ॥ संसारे विरलधास्ति, ज्ञात्वाऽज्ञात्या विज्ञेयतः । भगवन्महावीरस्य, जिनस्य
 प्रतियासरम् ॥ ४९५ ॥ अचेकन्तवाद्तरुवस्य, सेतिलुसोपदेशकैः । लाभो नोत्या-
 पितो लोकेऽप्यतां परमायतः ॥ ४९६ ॥ यत्र धीवर्धमानस्य, जिनस्य न हि
 रयते । चिन्हं किञ्चिन्मस्त्वत्वं, सर्वत्रैवं विचारय ॥ ४९७ ॥ साधारणात्मव्यधीनां,
 महत्वं न वचस्सपि । परं भारतवर्षस्य, यावन्तथेतिहासके ॥ ४९८ ॥ महान्तो
 मनुजा जातास्तेऽवश्यं वीरस्वामिनम् । येन केन प्रचरेण, स्मृतयन्तो मुहुर्मुहुः
 ॥ ४९९ ॥ इति पार्श्वतिरिक्तं च, सिद्धं जातमिति स्फुटम् । विज्ञातः पूर्वम-
 लीना, वर्धमानजिनस्य च ॥ ५०० ॥ चरिते स्याद्वादकस्य, विज्ञान्तस्य प्रसन्नम् ।
 पठितं परमाधिक्यं, नानाख्यानान्वितं पुनः ॥ ५०१ ॥ पठनायस्य शास्त्राणे,
 ज्ञास्यन्तीति विज्ञेयतः । पाथासौर्निसिलैर्लेखनीयेषुपुस्तकस्य पृथक्ते ॥ ५०२ ॥
 तथापि महावीरस्य, चरित्रे जीवनस्य हि । तथा सतुपदेशस्य, सिद्धिरेये लघु-
 र्भूतम् ॥ ५०३ ॥ तदा किमियमाद्य नै, न कर्तुं शक्यते मया । पाथास्यभाषिणि
 भवे, वीरस्य विरक्त्यापिनः ॥ ५०४ ॥ प्रभावोऽयतनानुस्या, ज्ञानस्वाद्य वा
 मुदा । प्रत्युतानन्तप्रख्यातप्रचरत्वेन संस्फुटम् ॥ ५०५ ॥ मुत्तायासंजर्जरेषु,
 वर्णितं मुक्तकण्ठतः । भगवन्तं श्रेष्ठतमं, मन्यन्ते न्यानुभायतः ॥ ५०६ ॥
 मुत्तास्यर्षमिदं तस्य, समग्रयज्ञासः परम् । लक्षणं च महावीरे, परिपूर्णम-
 न्वयः ॥ ५०७ ॥ धियः समग्रयाः—धीर्माद्य मकवान्नीचे, जन्मज्जानात्प-
 तुमः । स्त्रीयः गणधरदेन्द्रभूतिस्यस्यै द्विजाय च ॥ ५०८ ॥ विपजान-
 कविज्ञानं, इत्येत्यं द्वादशाक्षरम् । चतुर्दशपूर्वज्ञानं, तन्मै धीर्मात्माय च ॥ ५०९ ॥
 पूर्वधरधुतेऽपारपातीनं मुनिपाय तम् । गणपदे मुनिपुत्रवं, शृगवान्याश्यात्मनः
 ॥ ५१० ॥ यस्मानन्तज्ञानलक्ष्या, जेतुं स्वभे च शेरुः । गणेशादिनादाद्यधर्मं,
 भगवतां पञ्चमात्रके ॥ ५११ ॥ इतर्वासादिज्ञेयं, ज्ञातव्यं सुयज्ञकैः । किं

तन्मुक्तावसङ्गानां, प्राणिनां प्रेपके पत्नौ ॥ ५१२ ॥ मुखौ त्रियः समप्राया, लक्ष-
 नेति समन्वये । निरूपणे त्रयाऽवस्थं, यजः क्षर्यो विशेषतः ॥ ५१३ ॥ यद्य
 सहपतेथापि, वसुमम्पत्तितो *रहः । सम्पत्तिमन्तं कृतवानिति जानीत ज्ञानतः
 ॥ ५१४ ॥ वैराग्यस्य समग्रस्य-चतुष्टयाऽनन्तसम्पत्प्रातिहाय्याद्यनेकधा । धर्म-
 सम्पत्सिद्धसम्पत्कीर्तिसम्पत्तथाऽपरा ॥ ५१५ ॥ अष्टैव प्रातिहाय्याख्यासुरवैभव-
 सम्पदः । एतावन्त्यो यत्र सन्ति, भगवत्सखिलेश्वरे ॥ ५१६ ॥ तद्गार्हस्थ्योऽपि
 वैराग्यसम्पत्तिरपवृद्धिता । तथाऽनाद्यकिसम्पत्तिर्विर्वर्ति सा तत्र वै ॥ ५१७ ॥
 [तदद्भुतं धनकारं, यो वा वर्णयितुं समः ॥] पुष्कलं भोगमासाद्य, तत्रोत्पद्य स्वयं
 मधुः । पङ्कजं पङ्कजमिव, पृथगेव विभाव्यते ॥ ५१८ ॥ स्वयं तस्यागवैराग्यसम्पत्तिः
 सिद्धिदायिनी । विद्योत्से भवति, वैराग्यस्येति लक्षणम् ॥ ५१९ ॥ मोक्षस्याथ
 समग्रस्यापुनरावृत्तिरूपकः । समन्वयो यथाह वै, जायते तन्निश्चयताम् ॥ ५२० ॥
 आचारान्तं तथा व्याख्यासुप्रज्ञत्यादिरूपकम् । आधारभूतेतिहासाद्य, सिद्धं
 तन्निर्विबाधतः ॥ ५२१ ॥ महावीरभगवान् वीक्षादशातः पूर्वतोऽपि वा । पुद्गल-
 स्यप्रबन्धेषु, पदार्ये कन्धने पुनः ॥ ५२२ ॥ भावसंयतपुष्पोऽभूष्ठापेक्षा विद्यते विभोः ।
 सर्वथा ते च मुक्त्यर्थं, सवेष्टाः सन्ति भावतः ॥ ५२३ ॥ सम्बन्धे चात्र चैत-
 न्यकथनं जातमलं तथा । अनन्तचतुष्टयमाप्य, जातः सिद्धः सत्प्रयिकः ॥ ५२४ ॥
 जीवन्मुक्तोऽभवत्तत्र, विज्ञेयं तन्नारित्रकम् । प्राणिनस्तस्य घरभं, समायाताश्च वेऽ-
 निशाम् ॥ ५२५ ॥ स्वयं तेभ्यः मुमोक्षस्य, सम्प्रदावरहस्यकम् । स्वसमाप्ते कृता-
 स्तेन, तत्सहाशु निसेवनम् ॥ ५२६ ॥ मुष्मिलं पर स्थानं, तदस्तीति विभावय ।
 तत्र मोक्षसमग्रस्य, समन्वयप्रसक्तितः ॥ कथं प्रभावकाशः स्यादित्थं च बुध्यतां
 धिया ॥ ५२७ ॥ अतो भगवते मोक्षसमग्रस्य समन्वयः । षष्ठमलक्षणस्याऽयं,
 समन्वय इति स्फुटम् ॥ ५२८ ॥ अथोपसंहारः-एवमुक्त्वाडाख्यानाऽऽलक्ष-
 णानां समन्वयात् । सिद्धो जातस्तु जगति, "वीरस्तु भगवान् स्वयम्" ॥ ५२९ ॥
 अस्ति सर्वज्ञ इत्थं यः, समदर्शी च वीर्यवान् । हितैषी सर्वजीवानां, तथातोऽ-
 नन्तशक्तिमान् ॥ ५३० ॥ शास्त्रा सर्व्वः स एव स्याज्जगद्गुरीहार्तिहः । अतस्त-
 द्दक्षणं प्रोक्तं, निम्नं तन्निबोधतः ॥ ५३१ ॥ "गुह्यरस्त्वन्वकारस्तु, वकारस्त-
 न्नितोधकः । अन्यद्वरविनास्तेन, गुरीरित्यभिधीयते" ॥ अज्ञानं च गुह्यन्दस्य,

दशब्दस्त्रिभुवर्तकः । मिलित्वा च द्वयोरर्थो, गुणरित्युच्येते बुधेः ॥ ५३२ ॥
 अज्ञाननाशनाज्जातो, जगद्गुरुर्योच्यते । सर्वज्ञश्चापि सोऽनैव, "वीरस्तु भग-
 वान्स्वयम्" ॥ ५३३ ॥ यतोऽन्यदज्ञाननाशं, कृत्वा च स स्वयं प्रभुः । "त्रिपाण"
 मित्याशखिलो, न्यायस्त्रयमुच्यते ॥ ५३४ ॥ रत्नत्रयस्वरूपस्य, "वीरस्तु भग-
 वान्स्वयम्" ॥ वारयित्वा खनमदो, देवगुर्वो रहस्वधम् ॥ ५३५ ॥ तथा धर्म्म-
 रहस्यं च, सम्प्रकाश्य स्वयं प्रभुः । सर्वसंसारमुक्तेध, मार्गं संवरनिजरे ५३६
 ज्ञापितोऽप्यस्ति यस्येत्यं, करणादनुभवस्य हि । मवनध्याममोक्षस्य, साधनाऽऽ-
 सकचेतसः ॥ ५३७ ॥ जना हि निविलस्रः सन्तः, क्षीप्रं प्रापुमंष्टामनः । अतो
 हि भगवान्बीरो, भवस्यास्यासितस्य च ॥ ५३८ ॥ कलेऽवतीर्षिणीसरे, चतु-
 विंशतिसङ्ग्रहः । तीर्थदूरोऽन्तिमोऽप्यस्ति, गुर्वन्योऽपितैर्नरैः ॥ ५३९ ॥
 तद्दशितोऽस्ति दशधा, व्याप्तो धर्म्मो दिवन्तरे । जैनधर्मः स एवात्र, सर्वदा
 नाऽपरः कश्चित् ॥ ५४० ॥ इत्थं भगवतो महावीरदेशोपदेशतः । शुद्धभावेन
 परमस्तत्त्वनिष्पेहेतुकः ॥ ५४१ ॥ पदार्थं स्वात्मनीलेखं, कृत्वा सन्धानमेव च ।
 तदागमस्य सिद्धान्तमार्गस्य मननं तथा ॥ ५४२ ॥ जुर्व्यन्ननुभवं तद्गच्छुद्गुभगसधि-
 देशाम् । गद्गदान्वितकण्ठेन, गार्वेहाट्टुणविग्रहम् ॥ ५४३ ॥ रत्नयं मा प्रमाही-
 धेति चर्यासमाहितः । अमूल्यममयं स्वस्य, वापयन्तु मुष्यानतः ॥ ५४४ ॥
 धन्यः ॥ एव लोकेऽस्मिन्धीर्निमाद्य-मुधीर्गुणी । कुतः स एष संसरे, स्यादाद-
 लकृष्टो नरः ॥ ५४५ ॥ तदस्वगतं सर्वमंहिकं शान्तिमत्युनः । जीवनोत्थं मोक्ष-
 रूपमपुनरोत्थिसंनयम् ॥ ५४६ ॥ समुत्थानमयं श्लोके, चाक्षयं वन्धवर्जितम् ।
 कुक्षिन्व सैव विज्ञेया, अम्यावापस्य धामनि ॥ ५४७ ॥ पबोद्वेनवंभूतयं, विक्रमा-
 र्कस्य संवति । मधुमाशेऽथ धवले, पञ्चे दशमीर्वात्तपौ ॥ ५४८ ॥ विष्णोऽयं
 समाप्तध, धीपुष्प-मिन्धुणा कृतः । श्रीमत्फकीरचन्द्रस्य, मुनेः शिष्येण
 धीमत्या ॥ श्रातपुत्रमहावीरजैनसङ्गानुयायिना ॥ ५४९ ॥

मङ्गलं भगवान्बीरो, मङ्गलं गौचमः प्रभुः ।

मङ्गलं स्थूलमद्राद्या, जैनधर्मस्तु मङ्गलम् ॥

शिवमस्तु सर्वसंगतः, परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः ।

दोषाः प्रयान्तु नाशं, सर्वत्र सुखितो भवन्तु लोकाः ॥ १ ॥

वीरस्तुति-परिशिष्ट नं० ७ ।

॥ अथ वीरयोगतरङ्गः ॥

॥ मङ्गलाचरणम् ॥

योगाज्जानाति स्वात्मानं, योगः शान्तिं प्रयच्छति । योगान्मोक्षोऽभिसंयाति, योगाद्देशसमुच्चतिः ॥ योगाग्निर्वरतामेति, समाधिरचला भवेत् । योगेन समताऽऽप्याति, तस्माद्योगात्मने नमः ॥ १ ॥ योगिनां सर्वतो मैत्री, योगी सम्मुदितां गतः । फलान्वितो भवेद्योगी, योगे माप्यास्व्यभावना ॥ २ ॥ योगशास्त्रे तथाऽन्यत्र, योगस्य प्रतिमाहिता । तेन योगतरङ्गस्य ध्याख्या पथेन गीयते ॥ ३ ॥ योगेन भित्वा पद् चक्रं, वायुं सस्थाप्य मूर्दनि । ब्रह्मरंध्रस्थचमले, सहस्रदलसंश्रुते ॥ ४ ॥ स्नान्तमाकृष्य विषयाजलयुद्बुदराशिभात् । संस्थाप्य ज्ञानतो बध्वा, ध्रुवं ब्रह्मणि निष्कले ॥ ५ ॥ द्विविधं कर्म संन्यस्य, योगी यात्यपुनर्भवम् । तस्माच्च योगमाहात्म्यं, वर्तते सर्वतोऽविचम् ॥ ६ ॥ अतश्च योगशास्त्रस्य, महत्त्वं वर्णितं दुर्धः । तज्ज्ञाह्वयानं मयेदानीं, गीयतेऽभीष्टसिद्धये ॥ ७ ॥ योगो निर्मलचेतसां वितनुतेऽप्यष्टाङ्गसिद्धिं पुनर्योगाग्नेन मनो नियम्य यतयो याताः पदं निर्भयम् । योगोऽज्ञानमयान्धकारतरणियोंनात्त चान्योऽपरस्वस्माद्योगमुपाश्रयन्त्वनुदिनं यो योगिनामिष्टदः ॥ ८ ॥ संसारेऽत्र मुखं प्राणं, हेयं दुःखमिति स्थितिः । शूलनुसल्य बान्छन्ति, मुखं प्रत्येकप्राणिनः ॥ ९ ॥ दुःखं तत्कारणं वेत्ति, तेनेच्छन्ति कदाचन । तस्मात्सुखाप्तये योगः, सेवनीयः सुरार्थिभिः ॥ १० ॥ न ह्येतावद्धि मात्रेण, प्रत्युतैवं सुखदैवे । निर्लभं कुर्वन्सुपायं ते, दातारो यन्नतो मुदा ॥ ११ ॥ तैरुपायैर्येदात्मन्तं, जायते सफलः क्रियाः । तदानन्तमुपायाति, लब्ध्वा यान्ति कृतार्थताम् ॥ १२ ॥ इत्थं मत्वा सुखाप्त्यर्थं, सर्वसाधकसाधने । सुखो धर्मो न चान्योऽस्ति, तस्माद्दर्ममुपाश्रयेत् ॥ १३ ॥ स च योगात्परो नान्यो, ज्ञातव्यो योगसाधकैः । एवं धर्मो धारणीयः, सत्सुखाप्तिकरो यतः ॥ १४ ॥ योगतो लभ्यते स्वर्गोऽपवर्गश्च महात्मभिः । कस्यस्य चैधते कान्तिरुच्चलत्सुखोदया ॥ १५ ॥ वर्तमाने युगे चास्मिन्ननेकमतवर्त्मनि । पार्दिचाजी सम्प्रदायसद्वाङ्गच्छटोलकः ॥ १६ ॥ वर्तन्ते ये च धर्मस्य, नामोपरिचलन्ति ते । तेऽमरशहीदका भुक्त्वा विहरन्ति यथेच्छया ॥ १७ ॥ योगसाधनतस्ते च, विमुक्तो निजशिष्यके । सुखसाधनदानार्थमसमर्था भवन्ति ते ॥ १८ ॥ स्वसम्प्रदायसधर्षा

निर्वहार्थं बहुक्रियाः । परम्परया विज्ञानं, बोधयन्ति सद्धारिणः ॥ १९ ॥ तथा
 परम्पराचक्रानुसारेणैव शिष्यकाः । कुर्वन्ति ताः क्रियाः शश्वत्तर्तनर्तनमुदा ॥ २० ॥
 अस्यां दशायां केचित्तु, कदाचित्सुखवाञ्छया । प्राग्निधेदशाः सन्ति, येषां
 चित्तं न सुस्थिरम् ॥ २१ ॥ सन्तोषः सुखसिद्ध्यर्थमसन्तोषाद्दृष्टेदृष्टी । भद्र-
 रीणामयन्तो, जीवाः सुखविवृद्धये ॥ २२ ॥ रक्तं खेदं च कुर्वन्ति, सर्दकीभाव-
 मास्थिताः । रजः प्रक्षेपणेऽप्येवं, न पृथग्भावमधुते ॥ २३ ॥ सुखं तत्साधनं
 तद्वत्समं ये चानुवन्ति ते । नान्यथाऽभ्यन्तरोपर्यर्दयतामिह चार्थिभिः ॥ २४ ॥
 एवं प्रवर्तितं चक्रे, तदग्रे सफलीभवेत् । सत्त्वामरुष्य सर्वस्य, सुखस्य साधनं
 बहु ॥ २५ ॥ समये प्राप्नुवन्त्वेवं, न वाचेति सनातनम् । इत्थं दयामयी तेषां,
 स्थितिं प्रतिपुत्रकथते ॥ २६ ॥ सद्यं ज्ञानुं स्वयिर्न च, मुदं वात्सविकं पुनः ।
 सज्जसाधनसम्भारं, कर्तुमप्रात्यवश्यम् ॥ २७ ॥ स्वससाधनयोगो हि, सर्वोपरि
 विराजते । तथाऽद्वितीयं संमान्यं, चमत्कारकरं पुनः ॥ २८ ॥ अस्ति साधनकं
 पुण्यं, प्राप्यते तद्वरोमुंजात् । उपयोगे प्रकुर्वन्तः, स्वल्पकालेन तत्सुखम् ॥ २९ ॥
 अवश्यमेव लब्धव्यमस्तस्यमव्ययं ध्रुवम् । योगयैतादृशं वस्तु, न स्वयं ज्ञायते
 क्वचिद् ॥ ३० ॥ योगयुक्तादात्मविदः, कस्मादपि महात्मनः । ज्ञातव्यो विपदा-
 सक्ताभाष्यते स हि योगिनः ॥ ३१ ॥ यद्योदरभरो योगी, संसारसक्तचेतनः ।
 बाह्यतः साधुवद्वृत्तिसक्तौ योगोऽस्ति दुर्लभः ॥ ३२ ॥ एवं भूतायोगिनश्च, नाप्यते
 योगसाधनम् । तस्माच्छिष्यपरोयोगः, शिष्यणीयो महात्मनः ॥ ३३ ॥ दोगिनोऽप्य
 न लभ्यन्ते, भारते योगधारकाः । परे प्रयासकरणाच्छ्रेयभ्या योगिनोऽपुना
 ॥ ३४ ॥ मुयोगाम्यासतो निर्लं, समाधानेन चेतसा । अथवा दूरतः स्वैर्यं,
 कंचियोगविदं जनम् ॥ ३५ ॥ समाधयन्तु येन स्यात्साध्यसाधनमुत्तमम् । पर-
 न्द्वियं कर्तव्यं, स्मरणं साधनं विना ॥ ३६ ॥ नाप्यते सत्सुखं वैधिरिति
 जानन्तु साधकाः । परन्तु स्वसमीपेऽस्ति, तत्सुखं सात्वानि स्थितम् ॥ ३७ ॥
 अन्तर्दृष्टितोऽभ्यासाज्ज्ञापयन्ति सुखं परम् । येषां सनातनस्वैवं, मुजानीशोपलब्धये
 ॥ ३८ ॥ योगसाधनवाञ्छा चेतोवनीयं मनो मुहुः । योगस्य योगिनां चान्,
 महत्त्वं परमोन्नतैः ॥ ३९ ॥ गीताया तच्च कृष्णेन, सर्वमुक्तं महात्मना । तपस्वि-
 भ्योऽधिष्ठे योगी, इति श्लोकेन वार्णितम् ॥ ४० ॥ अनेकभोपकसादितपो
 दीर्घाद्विदीर्घकम् । श्रवाऽपि च न लभ्येत, योगी पश्चिन्वहोदयः ॥ ४१ ॥ अतो
 योगी महानस्ति, सर्वतो भारते क्वचि । नयनिष्ठेपदेसदेऽपुप्यभङ्गकं तथा ॥ ४२ ॥

जीवादिसंख्यां संख्यातुमुत्सुक्ञ्ज ज्ञानिनां वराः । तेभ्योऽप्यस्त्रि महान् योगी, तथा
 कर्मकरादपि ॥४३॥ अतोऽर्जुन ! भव त्वं हि, योगी योगात्परो न हि । योगयुक्तो
 विशुद्धात्मेत्यादिश्लोकेन वर्णितम् ॥४४॥ धीमत्कृष्णेन महता, चार्जुनाय विदे मुहुः ।
 तदाशयथेत्थमस्ति, ज्ञातव्यो योगवित्तमैः ॥ ४५ ॥ आत्मजेतेन्द्रियाहर्ता, तथा
 भूतेषु भावना । स्थापनीया समा शश्वदिति शास्त्रमतं सदा ॥ ४६ ॥ योगी जनः
 कर्मं कुर्यान्निष्कर्मैव स जायते । अर्थात् कर्मलेपनाच्च, न कदापि स लिप्यते ॥४७॥
 यथाऽभवि गतं परं, न स्पृशेत्तज्जलं क्वचित् । तथैव योगसम्पन्ना, न लिप्यन्ति
 च कर्मभिः ॥ ४८ ॥ एवमेव च सम्प्रोक्तं, जैनशास्त्रेऽपि न्यायतः । [अगमं च मूलं]
 चे त्यादिश्रेयं स्वाद्बदकं पुनः ॥ ४९ ॥ मूलकर्माऽप्रकर्मणो, मेदं ज्ञात्वा विवे-
 क्तः । एवं ज्ञात्वा मुकर्माऽपि, निष्कर्मा साधको भवेत् ॥ ५० ॥ निष्कर्मकारिणां
 चैतयं, न भवेच्च कदाचन । उपाप्युत्पातकं चेति, लौकिकं सर्वकर्म च ॥ ५१ ॥
 केवलं दर्शनार्थाय, इत्येते चेदयं क्वचित् । योगयुक्तात्मनः कर्म, योगक्षेत्रस्य
 बाहकम् ॥ ५२ ॥ भवेद्यं च योगो हि, चिरकालत्समागतः । प्रवर्तकथास्य
 योगस्यानादेः श्रमभो जिनः ॥ ५३ ॥ तीर्थकृत्यामादिभूतः, श्रीमाद्युपनदेवकः ।
 जिनराजोऽभवयोगी योगिनां प्रवरो मुनिः ॥ ५४ ॥ मनोनिग्रहणाऽऽदेशो,
 निर्दिष्टः पूर्वमेव च । तेनाज्ञा च प्रदत्ताऽत्र, सर्वाधिक्येन ज्ञानतः ॥ ५५ ॥
 बहुजीवनिष्पयानां, सम्मुख जगतः परम् । दृष्टिमात्रेण यत्क्षोभं, मनः प्राप्तं च
 यन्मुहुः ॥ ५६ ॥ भूत्वाऽधुन्धं पुनश्चात्मसंमुखं यत्प्रवर्तितम् । पुनस्तदेवानन्तं
 च, लब्ध्वा प्रत्यक्षमेव वा ॥ ५७ ॥ करोल्लनुभवं तस्य, मनसोऽतो निरोधनम् ।
 कर्तव्यं हि तदेवास्त्रि, योगो योगविदां मते ॥ ५८ ॥ इदमेव हि योगस्य, लक्षणं
 प्रोक्तवानिति । पतञ्जलिमुनिश्चापि, योगसूत्रेण ज्ञायताम् ॥ ५९ ॥ चित्तवृत्ति-
 निरोधाख्यो, योगद्योक्तः पुरातनः । अत्युत्तमस्य योगस्य, पात्रं हि क्षीनरादयः
 ॥ ६० ॥ चतुर्वर्णाश्रमाणां च, लोकात्मना च अस्त्रि वै । अधिकरथ योगस्य,
 साधनेनास्त्रि निर्णयः ॥ ६१ ॥ योगेनैव यशस्वेजो, वर्धते योगिनां मुहुः । योग-
 तत्त्वरूपं च, नित्योर्ङ्गं याति साधकः ॥ ६२ ॥ निर्वाणपदमागल्य, जगमरणव-
 जितः । अतोऽत्र निर्णयो नास्त्रि, योगे जातिभिदो मुषा ॥६३॥ जातिमेदात्मके
 मेदो, नावद्या प्रविचारणा । चाण्डालजातिसम्पन्नो, जनोऽपि योगवित्तमः ॥६४॥
 भवितुं शक्यते योगी, महात्माऽपि स्वतन्त्रतः । पञ्चविंशतिसतात्पूर्व, हरिकेशी
 मुनीश्वरः ॥ ६५ ॥ स च चाण्डालजातीयो, ज्यतथेति तथाऽपि च । योगतो

योगाभ्याससंविद्धिसत्रैव खलु जायते । यत्सुखं वीतरागस्य, मुनेरेकान्तवासिनः ।
 तत्सुर्यं देवराजस्य, चक्रिणो न कदाचन ॥ ९१ ॥ नासनेन विना सिद्धिर्जायते
 न रजोवृते । रहःस्थाने चेदासनस्य, ज्ञेयमावश्यकं मुहुः ॥ ९२ ॥ दर्भासनं प्रशस्तं
 स्याद्योगिनां च मुदे पुनः । कम्बलेन तदाच्छाद्यं, सर्वथा योगधारकैः । एतादृशे
 साधकानामासने शक्तिरुज्ज्वल । जायते ननु कायस्य, विलुत्कोटिसमप्रभा ॥ ९३ ॥
 युद्धिरत्युत्तमा वेति, नो विशेत्सूत्रकासने । तत्रासने स्यधनरवे, योगो निष्फलतां
 प्रजेत् ॥ ९४ ॥ भगवत्यादिसूत्रेषु, प्रोक्तं दर्भासनं शुभम् । 'दध्म-संधारणं'
 वेति, सूत्रार्थेनोपवर्णितम् ॥ ९५ ॥ गणधरस्य मुनेध, गौतमस्य तथा पुनः ।
 केशिखामीत्यादिना च, स्वागतार्थं समाहितम् ॥ ९६ ॥ आगन्तुकेभ्यो नितरां,
 मुदर्भासनमेव हि । प्रदत्तं चोपवेशार्थमित्येवं च तदासनम् ॥ ९७ ॥ प्रशस्तं
 सर्वांसनेभ्यो, मुदर्भासनमुच्यते । जैनानां च तथा रीतिरेषा दर्भासनार्पणे ॥ ९८ ॥
 तदभावे प्रशस्तं स्यात्कम्बलासनमेव च । दर्भासनोपरिग्राह्यु, कम्बलासनमिष्यते
 ॥ ९९ ॥ ततः पद्मासनं बद्धा, मनसोऽप्यनुकूलतः । पुनरासनेदृशे च, साधनं
 सनुपविश्य च ॥ १०० ॥ साधयेच्छुद्धमनसा, योगं योगस्य सिद्धये । दिशि पूर्वं
 चोत्तरे च, मुखं कृत्वा समभ्यसेत् ॥ १०१ ॥ तदेवोक्तं 'पुररथामिमुष्टे'
 'सपलियंफनिसण्णया' इत्येवं कथितं सर्वमासनं कमतो जिनैः ॥ १०२ ॥
 कमलाख्ये वा पर्यङ्के, स्थित्वा चाप्युत्तमान्ने । मुखं पूर्वदिशि कृत्वा, वामहस्ते च
 दक्षिणम् ॥ १०३ ॥ करं धृत्वा कटिं तद्गतकण्ठे चैवं च मस्तकम् । सर्वैकपक्षौ संस्थाप्य,
 साधयेदप्रमादतः ॥ १०४ ॥ स्थाप्यं श्मश्रुविभागेऽधो, हनौ खन्तर्गते पुनः ।
 ईदृगासनमाह्वो, योगी याति परं श्रमम् ॥ १०५ ॥ प्रार्थार्दिनान्ते च पुनर्निश्चारां,
 पूर्वं परे वामभजे च कण्ठे । मध्याह्नवेलायुसमाहितः सन्, योगी सदाऽनेन सदास-
 नेन ॥ १०६ ॥ श्रोत्रु योगस्य सुसाधनं वै, यद्येक्यामन्तमुखेन योगी । भूत्वा
 स्थिरो जानु सदा, मुशक्यस्वाद च ज्ञेया विजयोपलब्धिः ॥ १०७ ॥ जातासने
 चासनसिद्धिरप्रा, विनासनाद्धि विजयो न योगः । सिद्धयेत्यथो प्राणशरीररुत्तौ, तदा
 मुदृष्टौ विजयोऽपि लभ्यः ॥ १०८ ॥ प्राणेन्द्रिये वापि तनौ मुदृष्टौ, प्राप्नोति
 योगी, विजयं समन्तात् । सदेत्येवं च विना न योगमात्मोपलब्धिर्भवतीति
 ज्ञेयम् ॥ १०९ ॥ अतो नितान्तं श्रमतो गुरोश्च, युक्तेर्विशेषेण च प्रापणीयः ।
 जयोऽप्यजसं खलु स्वासनस्य, ज्ञानन्तु सर्वे मुनयो नितान्तम् ॥ ११० ॥ जितास-
 नानन्तरमेव शश्वत्मादिनियमादिजयोऽपि लभ्यः । जितासनानन्तरसाधकेन, संल-

॥ १२८ ॥ अवयव प्रयातो यदा वृद्धिमेति, प्रकृतिप्रत्येकं पदार्थान्तरेऽपि, । तदा प्रेमवृद्धिः प्रयात्येव नूनं, तथा सृष्टिप्रत्येकमंशेऽपि ज्ञेया ॥ १२९ ॥ मुदा वीत-
 रागत्वमुत्कृष्टतायाः, प्रभावस्य स्याद्द्वर्तनं योगसिद्धौ । प्रयत्नोऽपि स्यादुत्कृष्टत्वेन
 दाभक्तदानीं मुहुर्तान्तमुत्भाषनीयः ॥ १३० ॥ ततः सृष्टिभागेऽपि स्यान्नेत्सुदृष्टिः-
 मुत्तं स्वापयित्वा च तत्रैव सृष्टिः । स्थिरीभाष्यमागत्य कथस्य स्वस्य, स्वपिण्डादिनिः,
 सुस्य दुःखं पुनश्च ॥ १३१ ॥ मुहुः पश्यते तादृशावस्थया, मुत्तं साधके नाप्यथै
 क्षीघ्रतः । प्रभुनाम्नो मुहुर्भावनानामकं, जपं प्रेमतो योगजग्यं पुनः ॥ १३२ ॥
 तदा प्रारभेतेच्छया शब्दकोषारणं ॐ नमो जापमेवं जपेत् । अनेनार्हदेवं भजे-
 त्प्रेमतः, सर्वकष्टे तदा ॐ पदं लुप्यते; पुनः शब्ददेव स्वयं नामतः ॥ १३३ ॥
 ततश्चात्मनि प्रेमतश्चाहति, प्रभावैक्यकरामुत्तिस्ततः । स्वयं सक्षणं जायते प्रेमतो,
 यथा चावकाशं परं तत्ततः ॥ १३४ ॥ चलंधोपशान्त्या भ्रमन्वा विशान्तदोनिष्ठ-
 मानः घायानोऽपि च । तथा जाप्रतो भुञ्जमानश्च तत्र ध्यानं कदाचित्सरेत्कथयतः
 ॥ १३५ ॥ निशान्ते दिशान्ते च मध्यान्हके, विद्यायां सुयोगः क्रियामारभेत ॥
 सदाऽजापजापं जपेत्सस्वरजेकतो योगद्वारैव सद्भावना, दृढत्वं भवेद्योगतो नान्यतः
 ॥ १३६ ॥ जापमेवं जपेत्प्रेमभावेन च, तथा हि द्वयं साधनं सर्वतो । मिलित्वा
 मनः शान्तभावं प्रजेन्मनोऽश्वो भयंकरको दुःखदः ॥ १३७ ॥ तथा साहसधाररूपं
 भवेन्मनो रूपमधस्तथा चेन्द्रियं, घोटकोऽस्ति बलिष्ठ इति ज्ञायतां, परं घेदशेन
 प्रपातेन च ॥ १३८ ॥ ततो मत्तता याति तेषां बहिः । ततस्ते भवेयुः प्रदान्ताः
 पुनः ॥ ततश्चेदशेन प्रचरेण च, भवेत्साधकानां विवेकान्विता ॥ १३९ ॥
 तथैवं च दृष्टिश्च सूक्ष्मा मुहुः, महैवानवेदात्मिकमनन्दकम् । इदं साधनं स्याच्च
 सन्तोषकहेतुस्तदा साधक्यः स्वस्य च, प्रवृत्तिं निवृत्तिं च सपरदत ॥ १४० ॥
 भात्मानं स्मरति विद्धि, शरीरं रथमेव तु । इन्द्रियाणि ह्यानाहुर्मनः प्रग्रहमेव
 च ॥ १४१ ॥ पराटल यत्राटकं वाद्यतुल्या, कृतं तत्र कुर्वन्तु वाऽभ्यन्तरीया ।
 शुभं श्राटकं दृष्टितो योगसिद्धौ, भवेद्योगिनां साधने सम्प्रवृत्तिः ॥ १४२ ॥
 भासोच्छ्वाससक्त्योर्दृष्टिः, पूर्वं स्यान्वा प्रदत्ततः । बहिर्याति यदा भासस्तदा 'सो' शब्द
 इत्येते ॥ १४३ ॥ जात्रे चाभ्यन्तरे शब्दद्वयं शब्दः स्वभावतः । जायते च द्वयो-
 यामे, 'सोह' मित्युपयुज्यते ॥ १४४ ॥ जापं विनैव संतिद्येदजपाजापमुत्तमम् ।
 तेनवापापवर्णस्य, श्रान्तिर्भवति योगिनाम् ॥ १४५ ॥ ध्यानेन तत्र सम्पश्येदद्द
 शासोऽभिजन्वते । यत्र त्वीनो भवेच्छ्वासस्तत्र वृत्तिप्रयासतः ॥ १४६ ॥ स्थापये-

मुदे ॥ १६५ ॥ अन्ते च विन्दानतिलीनभावं, ब्रजेषु सिद्धं प्रतिभाति योगी ।
 शान्तौ च नादानुभवं च याति, विन्दोरपेक्षा तु विशेषनादे ॥ १६६ ॥ श्रीविन्दो-
 रवलोकनेऽनुदिक्च जाते ततश्चैषते, शक्तियोगधियां ततश्च श्रवणं नादस्य जज्ञ-
 ह्यते । पश्चादात्ममुखं स्वयं विलसति श्रीसाधकानां ततो, यैवं शून्यगुहां निबद्ध-
 मनसां मुक्तिः करान्जे स्थिता ॥ १६७ ॥ नादोऽनेकविधोऽस्ति, साधविहितः
 संश्रूयते योगिभिर्घष्ठानादसमस्तथास्ति निन्दः शृङ्गस्य वीणारवः । पैणूपावरवश्च
 चक्रसदृशं शास्त्रयोर्दि शब्दस्वभा, एवं विन्दवलोचनादनुमुहुर्नादः समुत्पद्यते ॥ १६८ ॥
 योगामृतस्य पानेन, नादस्य श्रवणरपुनः । विन्दुदर्शनतो योगी, जरापरण्यर्जितः
 ॥ १६९ ॥ नादानन्दे समुत्पद्ये, विन्दुर्गोणतमो भवेत् । नादस्य चापिशेषेण, जायते
 श्रवणं मुहुः ॥ १७० ॥ घनगर्जनतोऽन्यूनं, श्रूयते गर्जनं बहु । दिव्यनादप्रभाये
 षाऽप्यन्ते योगी प्रलीयते ॥ १७१ ॥ नादे ध्वन्यनुभवस्य, सर्वाधिययेन वर्धनम् ।
 तदा स्यात्साधकजने, ध्रमणे चरन्ते तथा ॥ १७२ ॥ उपविश्यातने यैवं, स्थितः
 सर्वक्रियासु च । नादानुभवमेवास्ति, नान्यो भाति विशेषतः ॥ १७३ ॥ नादानु-
 भवतो लोकं, सद्गीतस्य प्रचारकः । योगिनिधुं शृणोऽजयं, यथा नादः शिष्यकरः
 ॥ १७४ ॥ मुञ्चन्ति रोदनं वायाः, श्लेषं मुञ्चन्ति पद्मगाः । गूणाः प्राणान् विमु-
 चन्ति, नास्ति नादसमो रसः ॥ १७५ ॥ साधकानां तथा लोकं, सद्गीतोऽधि-
 प्रियकरः । अतः सद्गीतगानन, मनोऽस्त्या सदैकताम् । साधकः प्रमर्जिष्यात्,
 शनैर्नूनं प्रयासतः ॥ १७६ ॥ वस्तुतो नादो याद्योऽभूत्सद्गीतस्य प्रयापने । याद्य-
 नादस्य दारेणाऽन्यन्तरो नादमेलनात् ॥ प्राप्तुं च दास्यते योगी, नात्र पर्य-
 विचारणम् । यदा साधकजनो नादेर्दिनेति तथाप्रतः ॥ १७७ ॥ तदा तस्य च
 यत्रोऽभूत्तादाऽनुभवमेव हि । तथा ध्रमण्युहायां तु, सद्गीतारः प्रतीयते ॥ १७८ ॥
 तदूर्ध्वं प्रमभावेन, चक्रः शुद्धः प्रदृश्यते । तस्य शिरारमभ्ये तु, महानेधो विरा-
 जते ॥ १८० ॥ ततश्चोर्ध्वं पश्येद्भ्रमण्युगुहां यत्र रवितः, सद्गीतदमेर्षोऽस्यविभ-
 बह्रुतेजोऽस्ति विततम् । तथा विन्दोर्नादश्रवणविलयं, यात्वनृदिनं, सदा योगी
 लीनो भवति नितरां यत्र सुखतः ॥ १८१ ॥ तस्य चानुभवं नित्यं, कुर्याद्योगी
 विशेषतः । प्रकृतशक्त्याऽयं, वर्तुस्त्रसर इष्यते ॥ १८२ ॥ अधो मुखात्पत्रेण,
 समं सम्प्राज्यते मतः । छत्राश्रयमिदं तद्वत्सहस्रदलसंबृतम् ॥ १८३ ॥ सिद्धि-
 शिलाहपकेऽप्राऽजरमरणचक्रके । शिरोऽपरमायलोकस्य, चाप्रभागोपरिस्थितम्
 ॥ १८४ ॥ अजरमरणचकेऽत्र, श्रुतिलीनादनन्तरम् । साधकानामरण्यं, चाऽ-

स्वयं स्वस्मिन्प्रजायते ॥ २०७ ॥ भावनोदयते सद्यस्तिदेषु प्रेमवर्धिनी । यदा
यदा प्रयासश्च, वर्धते च तदा तदा । आभ्यन्तरे विशेषेणानन्दस्य जायतिर्भवेत्
॥ २०८ ॥ मूलाधारं समुदाह्य, चक्रं चक्रान्तरं नयेत् । नाभ्यां वक्षःस्थले कण्ठे,
त्रिकुड्यामलिङ्गहरे ॥ २०९ ॥ शिरसरस्थगुहान्ते च, ब्रह्मरन्ध्रे मेलयेत् ।
भित्तैवं ब्रह्मरन्ध्रं च, योगी निर्वाणतां व्रजेत् ॥ २१० ॥ न होतावन्मात्रं हि,
प्रस्तुतं वाद्यतोपि वा । आनन्दस्वैवानुभवो, जायते नु क्षणं पुनः ॥ २११ ॥
पूर्णानन्दमयस्थान्ते, भूत्वा सर्वत्र भावना । ईश्वरे स्थापयेन्नित्यं, भूत्वा
प्रेमप्रयोगतः ॥ २१२ ॥ पर्येदहार्निशं नित्यं, महानन्दो विक्रमने । वीतराग-
स्ततो याति, विद्मैयं योगवित्तमैः ॥ २१३ ॥ पूर्वोक्तप्रकरणेण, प्रमाणमनुसारतः ।
साधकार्यं स्वल्पमयी, प्रक्रिया क्वचित्तार्थिभिः ॥ २१४ ॥ एवं विचारकरणा-
त्तथोक्तस्य प्रकरणतः । भवेदलभ्यस्तथा, मननात्सरणादपि ॥ २१५ ॥ तथा-
ऽपरिमितं चेत्यं, सामर्थ्यं लभते मुहुः । अत्यन्तो योगविषयो, विशालो
गहनस्तथा ॥ २१६ ॥ विना गुह्यदृष्यानाञ्च कश्चियोगसाधकः । योगं शिक्ष-
यितुं योगी, न भवद्योगवित्तमम् ॥ २१७ ॥ योगधनुर्विधः प्रोक्तो, मुनिभिस्त्व-
दर्थिभिः । हठयोगो मन्त्रयोगो, लययोगस्तथैव च ॥ राजयोग इति ख्यात-
धनुर्धा योगसाधने ॥ २१८ ॥ यमो नियमधासनं, प्राणायामस्तथा पुनः ।
प्रत्याहारो धारणा च, ध्यानं चैव समाधिकः ॥ २१९ ॥ तत्र चेल्लङ्कायोगोऽस्ति,
विद्मैयो मुनिभिर्मुदा । तत्रास्त्यपेक्षा वैरुस्य, उत्तरोत्तरतः पृथक् ॥ २२० ॥
प्राणायामो बहुविधो, दृश्यते योगशास्त्रके । तद्वान्तरभेदश्च, कथ्यते शास्त्रसम्मतः
॥ २२१ ॥ परन्तु तत्र मुख्योऽस्ति, पूरकः कुम्भरूपा । रेशको भस्त्रिकापस्ति,
प्राणायामोपयोगकम् ॥ २२२ ॥ प्राणायामसहायार्थं, नेतिर्धौतिश्च नौलिकः ।
वस्त्रिः कपालभातिश्च, गजकर्णात्यादिरस्ति च ॥ २२३ ॥ प्रक्रिया हठयोगस्य,
बन्धः सन्ति पृथक् पृथक् । नासिकारन्ध्रतः सूत्रं, प्रवेशान्तर्वहिः पुनः ॥ २२४ ॥
मुक्तात्रि.मारयेद्वाक्यं, नेतिः स्य कीर्त्यते बुधैः । वक्रमुत्तार्य जठरे, मलं निस्तार-
येद्बहिः ॥ २२५ ॥ धौतिः क्रिया च कथिता, योगे साहाय्यकारिणी । ध्रामगित्वा
नलं योगी, नित्यं प्रति मुहुर्मुहुः ॥ नौलिक्रियेयं सम्प्रोक्ता, योगाभ्यासविशारदैः
॥ २२६ ॥ गुदास्थानगतं तदन्मलं सम्मार्जयेद्बहिः । वस्तीक्रियेति विद्मैया, योग-
सिद्धिकरी मता ॥ २२७ ॥ कपालभातिर्विद्मैया, गजकर्णा तथैव च । हठयोगे
क्रियाश्चेता, योगविद्भिर्निर्दिशता ॥ २२८ ॥ खेचर्येव महामुश, सर्वमुद्रोत्तमा
वीर. २३

लौकिकानन्दमेव च ॥ १८५ ॥ योगिनोऽनुभवन्तीत्यं, वर्द्धते तदहर्निशम् । यत्र
 योगात्मनो लीना, भवन्त्यधिकतो मुहुः ॥ १८६ ॥ अपूर्वोऽऽनन्दसन्दोहाऽनुभवो
 वर्द्धते स्वयम् । आसरीरे (अखिले) स्वयं तस्य, प्रसारो जायतेऽसङ्कृत
 ॥ १८७ ॥ अर्वादानन्दसन्दोहः, स्वयं सर्वाङ्गकेऽसङ्कृत । अलौकिकऽऽनन्दस्वं,
 स्वयं स्फूर्त्या विभाव्यते ॥ १८८ ॥ अवस्थयाऽजया वो हि, स्वं साधकसंज्ञकम् ।
 विहाय योगी सिद्धय, विदेहोऽपि तथा पुनः ॥ १८९ ॥ महात्मा जीवनमुक्ता,
 कथ्यते योगवित्तमैः । महात्मनयेदृशस्य, देहादृष्टिर्यदा स्थले ॥ १९० ॥ यत्र
 यत्र प्रसरति, तत्र तत्राऽप्यस्त्रैकिकम् । दिव्यानन्दानुभवनं, करोति साधकैस्तमः
 ॥ १९१ ॥ जनपदे जले स्थले, तथा वसुमतां स्थले । राजस्थले पद्ममे, गग-
 नादिमुत्तस्थले ॥ १९२ ॥ एतस्थानेषु साधूनां, दृष्टिर्याति महारमनाम् । तत्र
 तत्र स्थले नित्यमानन्दानुभवारमकम् ॥ १९३ ॥ सर्वत्राऽभेददृष्ट्या च, तथाऽ-
 नुभवतः सदा । द्वैतभावस्य भ्रान्तेषु, जातेऽभावे च कथ्यते ॥ १९४ ॥ तादृशो
 वीतरामश्च, योगी भवति निश्चलः । कुतश्चोऽपि सिद्धय, जायत आत्मवत्सलः
 ॥ १९५ ॥ योगिनामीदृशानां च, दर्शनं लोकपावनम् । कुरुते सततं योगादप्रे
 चैव निशाम्यताम् ॥ १९६ ॥ यथाऽभ्यन्तरवृत्तीनां, द्वारेणापि प्रयोगके । सम्बन्धे
 ज्ञायते तद्दृष्ट्या स शास्त्रभागतः ॥ १९७ ॥ नानेरुपरिभागे च, स्थापनीयो विशेष-
 पतः । यदा तत्र प्रयासे तु, चक्षुषो नाभिमप्यते ॥ १९८ ॥ अत्युज्वलतमं तेजो,
 दृश्यते चानुरूपतः । तदा नाभियतां दृष्टिं, विहाय बधसोर्मुहः । स्थापनीया
 प्रयत्नेन, मध्यभागे सुभावतः ॥ १९९ ॥ ततोऽपि नासिकारन्ध्रे, स्थापनीयं च
 ध्यानतः । नासिकामाशिकुट्यां तु, ततो भ्रमरगह्वरे ॥ २०० ॥ अजरामरचकस्य,
 सिद्धाः सिद्धाधिकमु च । ततोऽप्यनुभवे गच्छेत्तन्मानं च प्रवर्तते ॥ २०१ ॥ भवे-
 रैवं महत्त्वं च, साधनं जन्यते परम् । भक्त्या चोत्पद्यते प्रेम, तेनैवात्मा प्रदृश्यते
 ॥ २०२ ॥ कस्यचिच्छास्त्रतत्त्वस्यस्येकोपरि विचारणम् । कुर्वन्कुर्वन्ध गम्भीराशयं
 चोत्तीर्यते पुनः ॥ २०२ ॥ तद्गाराप्रतथापीह वर्धते तद्विद्याय । एकस्मिं पीठि-
 रीदृशी, यत्र पद्मासने स्थितः ॥ २०३ ॥ विचारयति चित्तचित्तदे स्थित्या प्र-
 इयतु । परन्तु नावरोधन्वो, विचारो योगसाधने ॥ २०४ ॥ अन्यासचक्रमासाद्य,
 स्वयं शान्तिर्भवेत्पुनः । विचारधारया चालन्तमेऽद्वैतं प्रशाम्यति ॥ २०५ ॥
 विचारशान्तिवः पथासाधकप्रणामलौकिकम् । आनन्दानुभवो याति, ततोऽधिक-
 भवोपरि ॥ २०६ ॥ प्रेमदृष्टिर्विज्ञातम स्याद्भावं सर्वत्र सत्सम् । स्थापयत्येव योग्याः

स्वयं स्वस्मिन्प्रजायते ॥ २०७ ॥ भावनोदयते शब्दस्तिष्ठेपु प्रेमवर्धिनी । यदा
यदा प्रयासश्च, वर्धते च तदा तदा । आभ्यन्तरे विशेषेणानन्दस्य जागृतिर्भवेत्
॥ २०८ ॥ मूलाधारं समुद्राख्य, चक्रं चक्रन्तरं नयेत् । नाभ्यां बधःस्थले कण्ठे,
त्रिकुख्यामल्लिगह्वरे ॥ २०९ ॥ शिखरस्थगुहान्ते च, प्रद्वारन्तरे मेलयेत् ।
भित्त्वं च प्रद्वारन्तं च, योगी निर्वाणतां व्रजेत् ॥ २१० ॥ न ह्येतावन्मात्रं हि,
प्रत्युतं घाततोपि वा । आनन्दस्यैवानुभवो, जायते ॥ अणं पुनः ॥ २११ ॥
पूर्णानन्दमवधान्ते, भूत्वा सर्वत्र भावना । ईश्वरे स्थापयेन्निलं, भूत्वा
प्रेमप्रयोगतः ॥ २१२ ॥ पश्येदहर्निश निलं, महानन्दो विद्यासने । वीतराग-
स्ततो याति, विज्ञेयं योगवित्तमैः ॥ २१३ ॥ पूर्वोक्तप्रचारेण, प्रमाणमनुसारतः ।
साधकार्थं स्वल्पमयी, प्रक्रिया कथिताविभिः ॥ २१४ ॥ एवं विचारफरणा-
सथोक्तस्य प्रकारतः । भवेदलभ्यत्वाभध, मननात्मरणादपि ॥ २१५ ॥ तथा-
ऽपरिमितं चैतयं, सामर्थ्यं कथते मुहुः । अत्यन्तो योगविषयो, विद्यालो
गहनस्तथा ॥ २१६ ॥ विना गुरुपदप्यानाम कथियोगसाधकः । योगं शिधु-
यितुं योगी, न भवयोगवित्तमम् ॥ २१७ ॥ योगधनुर्विध. प्रोक्तो, मुनिभित्त्व-
दर्शिभिः । हठयोगो मन्त्रयोगो, लययोगस्तथैव च ॥ राजयोग इति ख्यात-
धनुर्था योगसाधने ॥ २१८ ॥ यमो नियमश्चासनं, प्राणायामस्तथा पुनः ।
प्रत्याहारो धारणा च, ध्यानं चैव समाधिकः ॥ २१९ ॥ स चैलष्टांगयोगोऽस्ति,
विज्ञेयो मुनिभिर्मुदा । तत्रास्त्यपेक्षा कैरुस्य, उत्तरोत्तरत. पृथक् ॥ २२० ॥
प्राणायामो बहुविधो, इत्यते योगशास्त्रके । तद्वान्तरभेदध, कथ्यते शास्त्रसम्मतः
॥ २२१ ॥ परन्तु तत्र मुख्योऽस्ति, पूरकः कुम्भकस्तथा । रेचको भस्त्रिकायस्ति,
प्राणायामोपयोगरम् ॥ २२२ ॥ प्राणायामसहायार्थं, नेतिर्पौत्तिश्च नौल्लिङ्ग ।
वस्तिः कपालभातिश्च, गजकर्णात्यादिरस्ति च ॥ २२३ ॥ प्रक्रिया हठयोगस्य,
बन्धः सन्ति पृथक् पृथक् । नास्तिचरन्ध्रतः सूत्रं, प्रवेशान्तर्बहिः पुनः ॥ २२४ ॥
मुखाभिःसारयेद्वाह्यं, नेतिः सा कीर्त्यते बुधैः । बन्धयुक्तार्थं जठरे, मलं निस्तार-
येद्बहिः ॥ २२५ ॥ पौत्तिः क्रिया च कथिता, योगे साहाय्यस्मरिणी । भ्रामिगत्वा
नलं योगी, निलंप्रति मुहुर्मुहुः ॥ नोल्लिक्रियेयं सम्प्रोक्त, योगाभ्यासविशारदैः
॥ २२६ ॥ गुदास्थानमर्तं तद्वन्मलं सम्मार्जयेद्बहिः । वस्त्रिक्रियेति विज्ञेश, योग-
सिद्धिकरी मता ॥ २२७ ॥ कपालभातिर्विज्ञेया, गजकर्णां तथैव च । हठयोगे
क्रियाधैता, योगविद्विर्निर्दशयत्वा ॥ २२८ ॥ खेचर्येक महामुद्रा, सर्वमुद्रोत्तमा
वीर. २३

मता । तथा बन्धत्रयं प्रोक्तं, योयसाधनकर्मणि ॥ ३२९ ॥ खेचरीति महामुद्रा,
महाबन्धकरी तथा । वज्रमुदेति विषयः, मुद्राः प्रोक्ताः सुसाधकैः ॥ ३३० ॥
तथा मुद्रा महायोगी, गुरुदेवप्रसादतः । खनुं शक्नोति योगातो, नान्यथा सिद्ध्यति
स्फुटम् ॥ ३३१ ॥ प्राणायामविचारोऽपि, वर्धतेऽनुभवानुदा । वस्तुनीमानि
योगोऽस्मिन्, ज्ञातव्यानि विशेषतः ॥ ३३२ ॥ अतो महात्मनामन्ते, स्थित्वा
शिक्षादिभिः क्रियाः । संसारे योयतो ज्ञान्यः, पथा मोक्षाय विद्यते ॥ ३३३ ॥
यो योगं कुरुते नित्यं, स याति परमास्पदम् । निर्भयं कर्मबन्धाच्च
मुच्यते नात्र संशयः ॥ ३३४ ॥ इत्युपदेशानुसारेण, ज्ञातव्यं मोक्षार्थिभिः ।
अप्रानेके जनाः काले, बहुपापहरा भवे ॥ ३३५ ॥ दृश्यन्ते च तथाऽन्तेऽपि,
कथं तेषां सुखोदयः । सुपुण्यरूपं तैरसं, बीजं पूर्वं ततश्च ॥ ३३६ ॥ त्र्यम्ब-
कं पठं ध्येयं जन्ते तेन ज्ञायताम् । परन्त्वय च बीविभ्यो, दत्त्वा दुःखं तिर-
न्तरम् ॥ ३३७ ॥ वपन्ति दुःखबीजं ते, भविष्यन्ति सुखेतराः । कर्तुं दुःख-
मयं तेषामन्ते स्थाचात्र संशयः ॥ ३३८ ॥ इत्थं बध सुधी भूत्वा, पापिष्ठोऽपि
भवे भवात् । पापानुबन्धिपुण्यात्मा, ज्ञायतां जयतीतले ॥ ३३९ ॥ तदत्र वर्तते
हेतुः, पूर्वपुण्यप्रसङ्गतः । जायन्ते सुखिनः पक्षादुःखिनोऽपि भवन्त्यदः ॥ ३४० ॥
वर्तमाने पापयोगात्पापिनोऽपि ततः परम् । दृश्यन्ते सुखिनोऽप्येवं, ज्ञातव्यं तत्त्व-
निधयैः ॥ ३४१ ॥ पर्मान्गानो जन्तः केचित्सन्ति श्लोके सुखार्थिनः । कियन्तो
दुःखभोगारः, पापपुत्रप्रमाक्तः ॥ ३४२ ॥ किञ्चन्तश्च सुखापरता, पुण्योत्पन्नभा-
षताः । एवं दुःखसमाप्तौ च, सुखोदकं प्रजायते ॥ सुखभोगरामाप्तौ तु, दुःखो-
दकः प्रपद्यते ॥ ३४३ ॥ अतस्ते सुखिनश्चाप्ये, भविष्यन्ति पररुताः । ईदृशान्म-
शुजान् शास्त्रे, पुण्यानुबन्धिपापिनः ॥ ३४४ ॥ कथयन्ति जगत्यास्मिन्पूर्वपापप्रभा-
षतः । भुञ्जन्ति तेऽथ पापैश्च, वर्तमाने तथा पुनः ॥ ३४५ ॥ पुण्योदयवशात्ते
च, भविष्ये सुखभोगिनः । ज्ञातव्यं दुःखमोक्षपूर्वं, तथा सुखधुनां मुनि ॥ ३४६ ॥
ततः किं कथयन्त्वय, वर्तमाने च पापिनः । भविष्येऽपि तथा सन्ति, नियमोऽ-
प्यसि किमीदृशः ॥ नियमोऽप्येतेष्वहस्येषु, जनाश्च बहवो मुनि । पूर्वपापबन्ध-
दत्त, दुःखिता जीवदुःखदाः ॥ ३४७ ॥ तेऽप्यत्रजन्मन्त्यन्ते च, दुःखिनो मनुजाः
पुनः । संयेदज्ञानानानु, न्य संहेति वदन्तु नः ॥ ३४८ ॥ पापानुबन्धि-
पापिनो, ज्ञातव्यं ज्ञानमानतः । पूर्वजन्मार्जितानां च, दुःखतां भोगिनोऽ-
धुना ॥ ३४९ ॥ इदानीं कुरुते धर्मं, तद्गोचराप्ये भविष्यति । किंवतादयो
नियमः, शास्त्रेऽप्यसि प्रयाण्यः ॥ वर्तमाने सुखं भुञ्जे, भविष्येऽपि पुनः सुखम्

॥ २५० ॥ योगोऽनघो महत्तत्त्वप्रापकोऽस्त्यमरद्वयः । तंस्य सेवनमात्रेण, याति योगी परम्पदम् ॥ २५१ ॥ भवितुं शक्यते चेत्यं, भूतकाले च ये नराः । प्राणिनां सुखदातारो, कन्धयित्वाप्रतिपुण्यकम् ॥ २५२ ॥ तेनाप्य सुखसम्पन्नाः, पुण्यमेवाधयन्ति ते । भविव्येऽपि पुनस्तद्वत्पुण्यस्यैवानुबन्धनम् ॥ २५३ ॥ एता-
द्वदजनस्यात्र, शाले पुण्यानुबन्धञ्च । पुण्यवान्कथ्यते लोके, पूर्वंपुण्यप्रभावतः ॥ २५४ ॥ सुखी भूत्वा स चेदानीं, वर्तमाने करोति चेत् । पुण्यं भविष्यकालेऽपि, पश्चादपि सुखी भवेत् ॥ २५५ ॥ कर्मणां चतुष्टयं चेत्यमनुबन्धं भवत्यदः । विद्दे-
यश्चानुबन्धाप्यो, बन्धनं शालसम्मतम् ॥ २५६ ॥ भुंक्ते च तत्कल्मसे, शुभाशुभानु-
बन्धनैः । अस्त्येवं च सुखीदानीमशुभेन च दुःखभाक् ॥ २५७ ॥ पापानु-
बन्धिपापश्च, पापानुबन्धिपुण्यकृत् । पुण्यानुबन्धिपापश्च, पुण्यानु-
बन्धिपुण्यवान् ॥ २५८ ॥ चतुर्विधं सुविद्देयमनुबन्धस्य साधकैः । समयेऽ-
त्र सुखं पश्चादपि सुखप्रापणम् ॥ २५९ ॥ इत्थं कर्मफलं दुःखमथवा सुखसं-
भवः । परन्त्वन्याधिमोक्षस्य, सुखस्यापि कदाचन ॥ २६० ॥ तनातिर्न भवेत्थैक-
मप्यादिमकञ्जलात्तये । फथिके सुखभोगश्च, हेवं सर्वत्र सर्वदा ॥ २६१ ॥
अर्थाच्चपुण्यपापानां, धर्म्यं नीत्वाऽऽत्मरूपके । स्वातन्त्र्यो मनसाऽप्ये च, कीदृशोऽ-
प्यनुबन्धनम् [न बन्धनीयो हेयश्च, नययिद्भिरिहोच्यते] ॥ २६२ ॥
दत्तालमूलात्स्ववतेऽमृतं हि, योगी जनस्तपिचरि प्रख्यानात् । तेनैव तृप्तिश्च तथा
विमुक्तिः, सञ्जायते योगिजनस्य मिलम् ॥ २६३ ॥ बन्धव्योऽस्त्यनुबन्ध-
श्चेत्पुण्यस्यैवानुबन्धनम् । पापानुबन्धं नो कुर्यादेव पश्चास्ति सर्वदा
॥ २६४ ॥ कुतः पुण्यानुबन्धस्य, बलादेवं फलं भवेत् । यतः स्वात्कर्मविर्जरा,
न पुनः कर्मसम्भवः ॥ २६५ ॥ स्वतन्त्रतायाश्चेत्तद्धि, द्वितीयं द्वारमिष्यते ।
ज्ञात्वैवं च विवेकेन, साध्यो योगश्च साधकैः ॥ २६६ ॥ योगाघ्रास्त्यपरः
कश्चिन्मुक्तिसिद्धिकरोऽधुना । तस्माद्योगमुपाधित्य, याति योगी
परम्पदम् ॥ २६७ ॥ योगः कल्पतरुर्विपत्तितरधिरज्ञाननाशोद्यतो, येन स्वात्
जराऽपमृत्युहरणं योगार्थिनां दुःखहा । वृत्तिः स्यादचल्यऽऽत्मनि प्रवितते यस्मा-
त्परा निर्मल, योगे निर्मलचेतसां इदि मुहुर्मुक्तिश्च वा प्राजते ॥ २६८ ॥
योगो हि निर्मलादर्शां, यत्रात्मा च प्रदृश्यते । लोकध्वान्तर्गतं
वस्तु, निशामय गुरोर्मुखात् ॥ २६९ ॥

इति वीरयोगतरङ्गः समाप्तः ॥

भाचार्यः—अलोक प्राणी मुखकी इच्छा प्रकट करता है, इतना ही नहीं यदि मुखकी प्राप्तिके लिये अनेक उपाय करता है । उन उपायोंके जब वह सफलीभूत होता है और अनन्त मुखको पाता है तब वह सर्वथा कृतकृत्य हुआ समझा जाता है । मुखको पानेके लिये अनेक साधनोंमें धर्म सर्वतो मुख साधन है । वर्तमान समयमें अनेक गत, पंथ, वादावंसी सम्प्रदाय, संघाटा, गच्छ, टोला, पार्श्ववाजी आदि जो धर्मके नामपर चलकर भ्रमर शरीर बनने जा रही हैं, वे सब मुखके साधनसे विभुल बनकर अपने शिष्योंको मुखका साधन प्राप्त करानेमें असमर्थते ही हैं । मात्र अपनी सम्प्रदाय और टोलेको निभानेके लिये अमुक अमुक क्रियाएँ रच डाली हैं । उर्दीको परम्पराके अनुसार अपने शिष्योंको भी बताने रहते हैं, और वे शिष्य भी उस परम्पराके अरपट्ट चकके अनुसार उन क्रियाओंको उनके इच्छारूप भाष-भाषकर करते रहते हैं । ऐसी स्थितिमें जो कविद्वय कविद्वय मुखकी इच्छावाले प्राणी हैं उनको सन्तोष नहीं होता । सन्तोष न होनेसे ऐसे भ्रमपरिणामवाले जीवोंको मुखके साधनके लिये सूत पसीना एक करना पड़ता है । बहुत कुछ धूल टाक उड़ानेपर भी मुखके सच्चे साधन समयपर मिलते हैं और नहीं भी मिलते । इस प्रकार उनकी दयनीय स्थितिपर स्पष्ट समझा जा सकता है कि स्थायी मुखके वास्तविक और सच्चे साधनोंके प्रचार करनेकी जगत्के लिये पूरी आवश्यकता है ।

मुखके साधनोंमें योग सबसे भारी और अद्वितीय चमत्कारिक तथा सर्वमान्य साधन है । यदि इन साधनोंका शुद्धरूप द्वारा उपयोग किया जाय तो भवदयमेव अल्प समयमें सनातन अखंड मुखकी प्राप्ति हो सकती है । योग एक ऐसी वस्तु है कि वह अपने आप नहीं सीखा जा सकता, अतः किसी महात्मा, योगनिष्ठ, जातमविद्व पुरुषके द्वारा उसे सीखना चाहिये । आजकल योगी पुरुष इस भारतमें सब जगह नहीं मिलते अतः सतत प्रयास द्वारा योगियोंकी शोध करनी पड़ेगी, परन्तु नकली योगियोंसे तो सावधान ही नहीं बल्कि दूर रहना चाहिये और किसी सच्चे योगीको खोजकर साध्यकी साधना करनी चाहिये । एवं दृष्टवा स्वप्न रहे कि योगकी साधनाके बिना कल मुखको कोई भी नहीं प्राप्त कर सकता, परन्तु वह सब मुख अपने पास और अपनी आत्मानमें ही है, और योग अन्तर्दृष्टिके अभ्यास द्वारा उसे बता

सकता है। जिस मनुष्यको सनातन गुण अभीष्ट हो उसे योगिनी साधनामें लगाना चाहिये। योग और योगीकी महत्ता यही ही ऊंची है। श्री गीता भगवतीमें श्रीकृष्णचन्द्रने कहा है कि—

तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

(अध्याय ६, श्लोक ४७)

भावार्थ—उपवासादिक अनेक प्रकारके लम्बे-लम्बे तप करनेवालोंसे योगी बड़ा है। नय, निक्षेप, देवादिकी आयुष्यके भंग (भांगे) तथा जीवादिकी सख्याकी गणना करनेवाले बापाल ज्ञानियोंसे भी योगी बड़ा है, आवश्यकदि कार्य करनेवालेसे भी योगी बहुत बड़ा है। अतः हे अर्जुन ! तू योगी बन ।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा, विजितात्मा जितेन्द्रियः ।

सर्वभूतात्मभूतात्मा, कुर्व्यंप्रपि न लिप्यते ॥

(गीता अध्याय ७, श्लोक ५)

भावार्थ—आत्म-विजेता, इन्द्रियजित् और सब भूतोंपर समभाव रखनेवाला योगी पुरुष कर्म करनेपर भी निष्कर्म्य समझा जाता है। अर्थात् कर्म लेपसे लिप्त नहीं होता।

इसी प्रकार जैन-दर्शनमें भी कहा है कि—

“अगमं च मूलं विलं च विगिं च धीरे ।

फलच्छिन्दियाणं षिकम्मदंती ॥”

(आचार्यंग)

अप्रकर्म और मूलकर्मके नेदको समझ कर विवेक द्वारा कर्म कर । इस प्रकार कर्म करनेपर वह साधक निष्कर्मा कहल्यता है ।

अकम्मस्स वचहारो ण विज्जइ । कम्मणा उचादि जायइ ॥

(आचार्यंग १-१-३)

भावार्थ—निष्कर्मके जीवनमें उपाधि या उत्पात नहीं होता। इसी प्रकार श्रेष्ठिक दीपटाप और दिवाब न्नार भी नहीं होता। इन्द्रिय धीरे मात्र योग क्षेत्रस्य साहन होता है, इत्यादि ।

वह योग अनादि कालसे चलय आ रहा है, और इसके आदि प्रवर्तक आदिनाथ अर्थात् आदि तीर्थंकर श्रीऋषभदेवजी जिनराज हो गये हैं। उन्होंने मनो निग्रहका आदेश सर्व प्रथम देकर वह फर्माया है कि अधिकतर बहुतसे जीवोंका जगत्के सम्मुख दृष्टि द्वासा क्षोभ प्राप्त मन अधुव्य होकर आत्माके सम्मुख प्रवर्तित होता है, और वह फिर अनन्त सुखका माध्याकार पाकर उसका अनुभव करता है अतः मनका निरोध करना ही योग है। भगवान् पतंजलिने भी योगका यही लक्षण बताया है।

“योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।” ‘चित्तवृत्तिय निरोध करना योग है।’

इस अत्युच्चम योगके पात्र छौं पुंस्य या चारों वर्णके लोक हैं। योग साधनामें जाति भेदकी कोई आवश्यकता नहीं है। चाण्डाल जाति भी योगी महात्मा हो सकता है। २५०० वर्ष पूर्व हरिकेशी मुनि पादिके चाण्डाल थे तथापि योगके द्वारा महात्मा पदको प्राप्त गये। यथा—

सौधागकुलसंभूभो, गुणुत्तरधरो मुनिः। (उत्तराध्यायन)

भावार्थ—चाण्डाल कुलमें जन्म लेनेपर भी हरिकेशी मुनि उष गुणके धारणकरनेवाले मुनि थे, पुनश्च।

सक्यं खु दीसह तयोविसेतो, न दीसहं जाहं विसेतु कोई।

सौधागपुत्रं हरिपससाहं, जस्सेरिसा इदि महापुभागा ॥

(१७, उत्तराध्यायन ११)

“योगका महात्म्य आर्षों आने प्रकाशमें रीत्य रह रहा है जिसमें जातिकी कोई आवश्यकता विशेष नहीं है। हरिकेशयोगी चाण्डाल जाति है। परन्तु इसके योग ऋद्धिके सामने सबकी आँखें चौंभिया गये हैं।”

परन्तु सामान्य वृत्तिसाम्येते योग साधना नहीं हो सकती। अतः योग नियमके त्रिशुभमोको पो, दुष, केवल, प्रायुक्त भोजन आदि धार्मिक आहारका उपयोग करना चाहिये। यथा—

मायुःसत्त्ववटारोम्यसुखयीतिविवर्धनाः,

रसाः श्लिग्धाः स्थिरा हृसा यादाराः सात्त्विक प्रियाः।

(गीता श्लोक १७, अध्याय ८)

रसपुष्ट, चिकना, स्थिर, हृद्य आहार सात्त्विक जनोंमें दिन दे, यमोकि इनमें आमुष्य, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख जैसे प्रोषिकी वृद्धि होती है।”

परन्तु अधिक मिरचें, अति तेल, अति खटाई आदि तामसी पदार्थोंका उपयोग कभी भी न करना चाहिये । इसके उपरान्त आवश्यकतासे अधिक न खोलकर अधिकतम मीन रहना चाहिये । निकम्मा वाग्ब्यय करनेसे योगमें विकार आ जाता है । योग साधना करनेवाले महात्मा पुष्पके पाससे योगकी तालिका सीखकर उसकी साधना करनेके लिये एकान्त तथा पवित्र विजन प्रदेशमें जाना चाहिये । पहाड, पर्वत आदि एकान्तप्रदेशके अतिरिक्त अन्य किसी स्थानमें जैसी चाहिये वैसी अच्छी रीतिसे योगकी साधना नहीं कर सकता । इसीलिये प्राचीन कालके पुरुष अनेक पहाडोंमें जहां नाना सात्विक वनस्पति होनेसे तथा बहा अनेक महात्माओंके शुद्ध रजःकण होनेकी स्मृति रहनेसे, वातावरण भी एकान्त और पवित्र रहनेसे उस स्थलपर एकदम शान्त और अचपल मन हो जाता है । अतः वह स्थान उनका मनपसंद है । बड़े राजमहल या धर्म स्थानमें जिस आनन्दका स्वरूप भी अनुभव न हुआ हो उस आनन्दका अनुभव कुत्र और क्षिणके तथा हंस तीर्थके बर्फानी पहाडोंमें जानसे होता है । अतः योगीको किसी ऐसे ही प्रकारका स्थान पसन्द करना चाहिये । यदि कारणबद्ध इन स्थानोंपर न जा सके तो जहां तक अपनी ही बस्तीमें रहता हो उसके आसपास किसी रमणीक वनस्पतियाले उपवनको चुनना चाहिये, और वही योगाभ्यास करना चाहिये । धूलपर बैठकर योगकी साधना नहीं की जा सकती बल्कि बैठनेके लिये आसनकी भी आवश्यकता है ।

योगियोंके लिये दर्भासन अत्युत्तम है, और दर्भासनपर कम्बलसन धारण करना चाहिये । दर्भासन तथा कम्बलसनमें साधकके शरीरकी विपुलशक्तिको टिकारये रखनेकी शक्ति बड़ी ही उत्तम है । इसीलिये सूतके कपड़ेपर योगी अपने योगाभ्यासकी साधना न करे ।

भगवती आदि सूत्रोंमें भी कई स्थानोंपर दर्भासनका पाठ ही दिया गया है । यथा—

“दम्भसंधारयं संधरत्ता ।”

इसीकी पुष्टिके लिये उत्तराखण्डमें केशी मुनि और गौतम गणधर जहां मिलते हैं वहां वे आगन्तुक मुनिश्च स्वागत “कुश तपाणिय” दर्भाके भागनसे करते हैं । इससे स्पष्ट सिद्ध है कि—जैन जातिमें भी आदानप्रदानके प्रसङ्गमें पहले सर्वत्र दर्भासनका ही रियाज था ।

दर्भासनके अभागे कंवलसन निजना चाहिये । दर्भासनके ऊपर कंवलसन पिछाकर उसपर पद्मासनसे मन पसंद आसन लगा कर तथा स्थिर होकर पूर्व या उत्तरीयें मुख करके बैठना चाहिये । स्थानमें पद्मासन लगाकर पूर्वमें मुख करना बतला है ।

“पुरोधामिमुद्दे” सपत्नियंकनिसम्पणे”

पद्मकासन या पद्मासनसे बैठकर पूर्वमें मुख रखये । पद्मासन लगाकर मार्गें हाथकी हथेलीपर दाहिना हाथ सीधा रखकर, कनर, गर्दन, मध्यकक्षों एक पंक्तिमें रखकर बैठना चाहिये, और दाहोको हंसलीसे चार तयुके अन्तरपर रहने दे । इस आसनसे संचरे, सांघ या मध्याह्नमें तथा एतदिके पहले और पिछले पहरमें सतत अभ्यास करना चाहिये । एक पहर यदि आसमसे थिर होकर बैठ सके तब समझे कि आसनपर विजय प्राप्तकर ही गई है । आसनपर विजय पानेके बाद प्रण और छीर तथा दक्षिण विजय पाता चाहिये । परन्तु आसनपर विजय पावे दिन शेष सिद्ध नहीं हो सकता । इसके बिना आत्म उपात्कार अर्थात् सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती । अतः सतत प्रणाय द्वारा शुद्धमते पाई हुई बुद्धिके अनुसार आसनपर उभार लेना चाहिये । आसनके जसमें मन और विषयपर जीव प्राप्त करनी चाहिये ।

आसनको जीतनेके पश्चात् साधकजब अनेक प्रकारकी कियार्णें सीध सकता है । परन्तु आसनको जीतकर दक्षिणे जीतनेकी पूर्ण आवश्यकता है । दृष्टि जयथा पहला लक्षण आसन्न न सीचना है । स्वप्ने मेयोन्मेष दृष्टि हो जाती है । योग परिभाषामें इसे प्राटक कहा जाता है । सुशोभें भी मेयोन्मेष दृष्टि होनेके कई उदाहर प्रमाण मिलते हैं ।

दृष्टिमें जीतनेकेदिये ना प्राटकनुशको सिद्धहयकेदिये संचरे और सांभमें साधकको चपेट आसनपर बैठकर अपनेसे सदा हाथके अन्तर पर दिखी हुई ही गोलीको बसाकर रख देना चाहिये और उस चने पितनी पंजीपर दृष्टि नमनायें रहें । जमुक समयके अन्तर आंशमें पानी धवण । आसममें अथ आसंपर प्राटक रोक देना चाहिये । चर ना आट रिज तक आंगुओंको पीछेसे रहना चाहिये, और प्राटक अरंभ रखना चाहिये । प्रयास ऐसा करना चाहिये जिससे फलक बन्द न हो सके, और इस प्रयासमें आन्तरिक द्रष्टि दिन शुद्ध रखना चाहिये । जब एक पक्षमें अधिक पत्रकमें अज्ञ संशय तक

कई नवीन बातोंके अचरज साधकपुरुष स्वयं देखने लगेगा, और ज्यों ज्यों इससे भी अगदी बढ़ेगा ल्यों ल्यों उस साधकको अत्यधिक आनन्दकी अंश अंशमें प्राप्ति होगी। ज्यों ज्यों दृष्टिसे जीतता जायगा ल्यों ल्यों उसका मन शांत होता जायगा और दृष्टिके जयमें मनका भी जय होता है। अधिकतर आंखकी भवोंपर दृष्टि रखना इसीलिये सूत्रोंमें भी बताया है।

“एग पोगलनिविट्टदिट्टि।” ‘एक पुद्गलपर दृष्टिसे स्थापना करे।’

इस प्रकार ध्यानकी प्रक्रियाएँ महात्मा पुरुषोंके पास सीखनी चाहिये। जब एक घंटा तक दृष्टिविजयका अभ्यास हो जाय तदनन्तर साधकको चाहिये कि दिनके पहले भागमें किसी सुन्दर पहाड़के शिखरपर या वृक्षकी चोटीपर दृष्टि जमाना चाहिये। रात्रिमें चान्द या शुक्र तथा मंगल तारेपर नजरको जमाना चाहिये। यह प्रयास ज्यों ज्यों बढ़ेगा ल्यों ल्यों प्रकृतिके प्रत्येक पदार्थकी ओर पवित्र प्रेम उत्पन्न होगा, और सृष्टिके प्रत्येक अंशमें धीतरागताका प्रकटीकरण होगा। परन्तु यह प्रयास भी एक घंटा तक रखना चाहिये इसके अनन्तर सृष्टिके चाहे जिस भागपर दृष्टि डालोगे तब एकदम वह वहीं स्थिर हो जायगी, और शरीरके कोयलेमेंसे दुःख निकल कर भागेगा, इस कक्षापर पहुंचनेपर साधकको तुरन्त प्रभु नामका भावना नामक जाप परम प्रेम पूर्वक शुरू कर देना चाहिये। जापमें इच्छानुसार शब्दोच्चार या ‘नमो अरिहताय’ जपना चाहिये। परन्तु कुछ समयके पश्चात् नमो पद आपसे आप उठ जायगा, और आत्मा अर्हन् प्रभुमें एकाकार हो जायगा। प्रति समय यथावसर पाकर हिलते, चलते, उठते, बैठते, सोते, जागते वह ध्यान दिमागसे न निकल सकेगा। साध, सवेरे, मध्याह्न और रात्रिमें योगकी क्रियाका आरम्भ रखकर जाप जपते रहना आवश्यक है। एक ओरसे योग क्रिया द्वारा सद्भावनाही हड़ता और दूसरी ओरसे जाप, इन दो साधनोंके मिलनेसे मन एकदम शान्त हो जायगा। क्योंकि—“मण्यो साहसिभ्यो भीमो, दुष्टस्त्वो।” मनरुपी घोंडा साहसिक और भयंकर दुष्ट है। “इन्द्रिय चंचल तुरंगो” इन्द्रियोंके घोंडे अधिक बलवान् होते हैं, परन्तु इस प्रयाससे उनकी मस्ती निकल जाती है, और वे शान्तिमय हो जाते हैं। इस प्रकारके संयोगोंमें साधककी विवेक दृष्टिमें अत्यन्त सूक्ष्मदृष्टि हो जायगी तथा साथ-साथ आनन्दकी वृद्धि भी। यह साधना सन्तोष जनक होनेपर साधकको अपने योगी

मृत्युका भय नहीं हो सकता, और साधकके संशय शक्तियोंका नाश हो जाता है। इसीको समझनेके लिये कहा जाता है कि शंकरका तीसरा नेत्र उघड़ आता है। तब संशय शक्त्यरूप विध्वंस प्रलय हो जाता है।

त्रिकुटीमें विन्दु दर्शन होनेपर साधक ज्यों-ज्यों विशेष प्रयास करता है स्रों-स्रों वह विन्दु विशेष प्रकाशित होने लगता है, और अन्तमें साधक उस विन्दुमें इतना विलीन हो जाता है कि उस शान्तिमें उसे नादका अनुभव होने लगता है। तब विन्दुकी अपेक्षा नादमें विशेष आनन्द आनेसे विन्दु गौण होने लगजाता है, और नाद विशेषातिविशेष ध्वन्यगोचर होता है। नाद भी अनेक तरहका सुनाई पड़ने लगता है, और वह धक्की, सितार, सरंगी और नौबतखानेसे भी अधिक और उत्कृष्ट होता है। मेघकी गर्जनासे भी अधिक गर्जना सुनाई देने लगती है। अन्तमें दिव्य नादका अनुभव होनेपर साधक उस नादमें अत्यधिक लीन हो जाता है। इस ध्वनिका अनुभव इतना अधिक बढ़ जाता है कि साधककी हिलने, चलने, उठने, बैठने आदिकी क्रियाओंमें भी नादका अनुसन्धान रहा करता है। नादके अनुभवसे ही जगत्में संगीतका प्रचार योगी लोकोंने किया है। जिस प्रकार नाद साधकको प्रिय है उसी भाँति जगत्कोभी संगीत प्रिय है। अतः संगीत (गुणगान) द्वारा मनको एकाग्र बनाकर साधकजन आगे बढ़ सकते हैं। शास्त्रमें संगीत बाह्य नाद हो गया है, और इस बाह्य नाद द्वारा अभ्यन्तर नादको मिलाकर पाया जा सकता है। साधक जब नादमें और भी आगे बढ़ता है, तब उसको नादका अनुभव जहाँ होता है वह भ्रमर गुफाके ऊपर शंकुके आकारकी एक पोली प्रतीत होगी, और उस पोलके शिखरपर एक महान् प्रकाशवाले पदार्थका अनुभव होगा। यह प्रसन्नमान पदार्थ गोलाकार और उलटे छत्रके आकारकी तरहका जान पड़ेगा। यह छत्राकार सहस्र दल

लगता है। इस अवस्थामें वह साधक रूपसे निटकर सिद्ध, योगी, विवेकी, महात्मा जीवन्मुक्त कहलाता है। उस योगीकी दृष्टि देखते अन्ध स्थलपर जहाँ जहाँ जाती है वहाँ वहाँ वह अलौकिक दिव्य आनन्दका अनुभव करता है। जलस्थान, स्वल्पान, राजस्थान, धनिकस्थान, पशुस्थान, आकाश स्थान आदि जिन जिन स्थानोंपर उस महात्माकी दृष्टि होती है वहाँ वहाँ वह आनन्दका ही अनुभव करता है। सब जगह अवेद रूपसे अलौकिक अनुभव करनेसे ब्रह्म भावकी प्राप्ति न रहनेसे वह वीरपुरुष कहल्यता है। ऐसा योगी पुरुष ही कृतकृत्त और सिद्ध है। ऐसे योगीके दर्शन भी जगत्को पावन करते हैं।

जिस प्रकार अन्धन्तरङ्गित द्वारा हृय योवके सम्बन्धमें समस्त सके हैं। उसी दृष्टिसे पादरके भागमें नाभिके ऊपर स्थापन करनेमें आता है, और जब उस प्रयासमें नाभि और चक्षुके बीचमें एक चमकनेवाली तेजस्वी लक्ष्मी अर्धचन्द्ररूपसे झिलने लगे तब नाभिके दृष्टि हटाकर छातीके मध्य भागमें स्थापन करनी चाहिये, और वहाँ भी जब दृष्टि भाँति तेजस्वी लक्ष्मी भातने लगे तब नाभिके अग्रमें स्थापन करे। नासाग्रसे त्रिजुटीमें, बहासे ध्रुवसे शुक्रेण ही भ्रमणपर चक्ररूप सिद्धशिल्पमें और बहासे स्वस्व-अनुभवमें पहुँचा जाता है।

इस अनुभव मार्गमें भक्ति है, वह एक महान् साधन है, भक्तिये प्रेम प्रकट होता है, और प्रेमके द्वारा भी आत्मात्म साक्षात्कार ही सकता है। किसी शास्त्रके श्लोकार विचार करते-काले संशीर तहमें उतर जाता है, और उसके द्वारा भी आगे बढ़ सकता है।

एक ऐसी भी रीति है कि जिसमें वक्षसजने बैठकर जो विचार आये उनको तटस्थ बैठकर देख करे, परन्तु विचारोंको अटवने न दे। अन्धावके प्रथम प्रयत्नसे विचारयात्र स्वयं ठंडी पडने लग जाती है, और अन्तमें एहद्वय चान्त हो जाती है। विचारोंके शान्त होनेपर साधकको अलौकिक आनन्द होने लगता है। तब अगुल विचार विचार और उत्कृष्ट प्रेम्की दृष्टि हो जाती है। गमान् भाव तो अपने रचने लगता है। अपने अग्रमें ईश्वर भाव उदय होने लगता है। ज्यों-ज्यों वह प्रयास बढ़ता है, त्यों-त्यों अन्तर्गत आनन्दकी विशेष जागृति हो जावनी। इतना ही नहीं, बल्कि मादर भी उस प्रकार आनन्दका ही अनुभव होने लगेगा। और अन्तमें वह पूर्ण आनन्दमय

बन जायगा। सब जगह ईश्वरभास्वको स्थापन करता हुआ अति प्रेममय बनकर, प्रेमकी दृष्टिसे विषय दिन रात अन्त्योक्तन करनेसे सहजानन्द प्रगट होता है, और वह वीतराग हो जाता है।

पहले बड़े गये प्रमाणानुसार खपटोके लिये थोड़ी सी प्रक्रियाएँ संक्षेपमें बताई गई हैं। इन्हें विचारकर तथा उसी प्रकार मनन करनेसे अवश्य अलभ्य लाभ होगा। तथा अपरिमित समर्प्य पा सकेगा। योगस्य विषय अत्यन्त विद्याल और गहन है, और इसे शुरूमकी छाड़ी बिना सीख भी नहीं सकता। हठयोग, मंत्रयोग, लययोग और राजयोग इस भाँति बोग चार प्रकारोंमें विभक्त है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रलाहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योगके आठ अंग हैं, और इनमें प्रत्येकमें उत्तरोत्तर एकसे एककी अवस्था है। प्राणायाम कई प्रकारोंसे हो सकता है, परन्तु उनमें पूरक, कुंभक और रेचक मुख्य हैं, भस्त्रिका आदि प्राणायाम भी उपयोगी हैं। प्राणायामको साहायता देनेके लिये नेत्रि अर्थात् नाकमेंसे होकर पियेकर मुखाद्वारे निकालना; तथा थोड़ी अर्थात् कपडेको पेटमें उतारकर मलका निकालना; नौकी अर्थात् नलोंको गुमाकर किराना, बलि बानी गुदासे मल गाफ करना, तथा कपालभाति गजकरणी आदि हठयोगकी अनेक क्रियाएँ होती हैं। इसी प्रकार ऐचरी-मुद्रा, महाबन्धमुद्रा, वज्रमुद्रा इत्यादि मुद्राएँ शुरूमके बिना न कर सकनेके कारण प्राणायाम आदि की शर्त फिर बताई जायेगी, क्योंकि ये वस्तुएँ भी विशेष हेतुरूप हैं। अतः उनको महात्मा पुरुषोंकी सगतिमें रहकर सीखना चाहिये। योगसे बहकर सग्नरमें कोई अन्य विद्या उत्तम नहीं है। जो पुरुष योगकी साधना करेंगे अन्तमें वे परमपदको पायेंगे, और कर्मोंसे मुक्त होंगे। अतः उनको कर्मबंधके चार प्रकार समझना चाहिये जिनके वे प्रमेद हैं।

कर्मबन्धके ४ प्रकार और दुःख सुख

इस समय अनेक मनुष्य नाना पाप करते देखे जाते हैं तथापि वे सुखी क्यों हैं ?

उन्होंने पुण्यरूपी बीज बोये थे, इसीलिये आज वे उनके सुखरूप फलोंको खा रहे हैं, परन्तु इस समय अन्य जीवोंको दुःख देकर पापके बीज बोते हैं, इससे भविष्यमें इसके अनन्तर उनके फल उन्हें दुःखरूप होंगे। इस प्रकार जो मनुष्य सुखी होकर भी पापिष्ठ होता है वह मनुष्य

“पापानुबंधी पुण्यवान्” समझा जाता है। इसीलिये कि इस समय पूर्वपुण्यके कारण सुखी है और वर्तमान पापके कारण भविष्यमें दुःखी होगा।

कितनेक मनुष्य धर्मी होते हैं, अच्छे कार्य करते हैं, पुण्य भी करते हैं, तथापि दुःखित क्यों है ?

इसका कारण यह है कि पहले उस जीवने पाप किये थे, अतः वर्तमानमें दुःख भोगते हैं, इतनेपर भी इस कार्य करते हुए इस समय पुण्य पांध रहे हैं। अतः वे आगे सुखी होंगे। ऐसे मनुष्योंको शास्त्रमें ‘पुण्यानुबंधी पापी’ कहा है। इसीलिये कि भूतकालके पापके कारण दुःख भोग रहे हैं, परन्तु वे वर्तमानके पुण्य कार्यके द्वारा भविष्यमें सुख भोगेंगे।

तब क्या वर्तमान कर्ममें कोई मनुष्य दुःखी भोगता हो और उसे भविष्यमें भी दुःख भोगना पड़े क्या ऐसा भी कोई नियम है ?

हां हां क्यों नहीं, बहुतसे मनुष्य पूर्वके पापके कारण इस समय दुःखी भोगते हैं इतनेपर भी इस समय अन्य जीवोंको दुःख देते हैं तो वे अपने कर्मोंमें भी दुःखी ही होंगे।

ऐसे मनुष्योंकी शास्त्रमें क्या उपाय बताए हैं ?

वे ‘पापानुबंधी पापी’ भर्त्सित पूर्वकर्ममें पाप किया था वसुधा फल तो भोग रहे हैं, और इस समय पाप करते हैं अगली उच्छ्वस कुपकृत फल भी भोगेंगे।

तब क्या यह भी हो सकता है कि इस समय सुखी हो और आगे भी सुखी ही रहे ?

हां यह भी हो सकता है, भूतकालमें किये अन्य प्राणियोंको दुःख देकर पुण्य बांधा है, वे अब सुखी हैं, और अब पुण्य खपकर भविष्यमें भी सुखी ही उपभोग करेंगे।

ऐसे पुरुषोंकी शास्त्रमें क्या कहा है ?

इसे ‘पुण्यानुबंधी पुण्यवान्’ कहा है, क्योंकि पहले पुण्य करनेसे अब सुखी है, और वर्तमानमें पुण्य कर रहा है जिससे आगे भी सुख ही पावगा।

सार—श्री कर्मोंके कारण प्रचारके अनुबंध होते हैं, अनुबंध का भय रह बंध है जिसका फल आगे नोवा जाता है। अच्छा अनुबंध होनेपर

अग्नीमुखोका उपभोग करेगा। अशुभ अनुबंध हो तो अग्नी मुख भोगना पड़ेगा।

(१) 'पापानुबंधी पाप' इस समय दुःख और पीछे भी दुःख।

(२) 'पापानुबंधी पुण्य' इस समय सुख और पीछे दुःख।

(३) 'पुण्यानुबंधी पाप' इस समय दुःख और फिर सुख।

(४) 'पुण्यानुबंधी पुण्य' इस समय सुख और फिर भी सुख।

इस प्रकारके कर्मोंसे या तो दुःख मिलता है या सुख मिलता है, परन्तु मोक्षके अन्त्याद्य सुख जो कि कभी समाप्त नहीं होते, ऐसा आरम्भिक सुख पानेके अर्थ शारीरिक सुखोंका भोग छोड़ना चाहिये। अर्थात् पाप पुण्यका क्षय करके आरम्भस्वरूपमें रहना सीखिये, और किसी भी प्रकारका अनुबंध न बाधना चाहिये। यदि अनुबंध डालना हो तो पुण्यका ही बाधना चाहिये। पापका अनुबंध तो बिल्कुल ही न डालना चाहिये क्योंकि पुण्यके अनुबंधसे कुछ ऐसा बल प्राप्त करता है कि जिससे कर्मोंका क्षय भी कर सकता है।

॥ अध्याऽऽलोचनापुष्पाञ्जली योगस्य पुष्टये ॥

वीतरागोऽसि विज्ञानमयो गुणवरोऽसि त्वम्। गुणागरोऽसि देवेश।
सदा भव्यावने रतः ॥ १ ॥ इत्थं ते स्मरणाधिलं, नय यान्ति भवाम्युधेः।
पारं मुयेन धीवीर। नान्योपायोऽस्ति भूतले ॥ २ ॥ शुभाऽऽनन्दस्य फेलिस्त्वं,
शुणोत्तमगृहं जिन। मुरामुरनैस्त्वं हि, सेभ्योऽस्ववनिमण्डले ॥ ३ ॥ त्वदीये
चरणाम्भोजे, मतिमें स्यादक्षमतः। सर्वोषधोऽसि सर्वज्ञो, रक्ष संसार-
सर्पतः ॥ ४ ॥ महोदधिः कलाबुद्धेरदसंस्त्वं शुभस्य च। आचारस्याऽनव-
द्यस्य, संयतेर्दुःखभञ्जकः ॥ ५ ॥ वैद्यो लोकत्रयस्यैव, रक्षाकर। जयोऽस्तु ते।
श्रीशो जिनवरोऽसि त्वं, कृपाकर। दयानिधे। ॥ ६ ॥ कर्मज्ञो जातमर्षर।
विरागिमें त्वयि प्रभो। वीतरागमयोऽसि त्वं, दुर्बुद्धेर्मे निशामय। ॥ ७ ॥
विज्ञोऽसि हे प्रभो। देहि, वरं चाभयदं शुभम्। पित्रोरपे शिशुः स्पष्टं, नोचा-
रयति किं? पुनः ॥ ८ ॥ मोदाय तस्य किं लील, न भवेत्त्वं विचारय। हे
मनः। स्वमुरतं च, रीतिं नैव स्वस्त्रियकीम् ॥ ९ ॥ नमो भूत्वा स्वयं प्रीतिं,
विभो कुमुदाऽनिशम्। भवेऽस्मिषदं शुद्धेन, मनसा दत्तपाप्नु किम् ॥ १० ॥
दानं किञ्चित्सदाचरो, ज्ञानं नैव तपश्च मे। पवित्रं नो यनो मेऽलं, कथमार-
धये विभुम् ॥ ११ ॥ अद्यापि वासनाहानिर्न जाता पुद्गलेषु च। भ्रमान्मे

भ्रमणं सिद्ध्याः संसारान्धौ दद्याद्विधे ! ॥ १२ ॥ कोष्ठाग्निना प्रदग्धोऽहं, रिरा-
 रात्रि शुभाशुभे । लोभोरोगेन सन्दधो, देहि मे ज्ञानमेपजम् ॥ १३ ॥ अभि-
 मानग्रहप्रसङ्गात्क्षाननशतो ह्यहम् । जायते न शुरो ! त्वनं, कपटावृतचेतनः
 ॥ १४ ॥ जगत्त्रय मया क्रियिन्न, कृतं परहितं विभो ! शोकतागाममस्य, सुखं
 मे स्यात्कथं किल ॥ १५ ॥ मादस्य स्व नरस्यत्र, जातं जन्म मुधैव च ।
 मन्वन्तां पुनये, क्षम्यजिनदेव ! मरस्य च ॥ १६ ॥ दर्शनं च त्वया दत्तं,
 स्वमुपस्यैव निर्मलम् । सुखिरोऽभवताञ्चिते, मरीये जायते फलम् ॥ १७ ॥
 शानन्दरतसन्ने, न भवेत्सत्त्ववर्तनम् । ममास्ति हृदयं वज्रसमं जानीहि
 उत्प्रिय ! ॥ १८ ॥ दुर्लभं च मया प्राप्तं, ज्ञानरत्नं दद्याकर ! भ्रमणे बहुदिना-
 षाते, न निरुत्ते भवो मम ॥ १९ ॥ नष्टं मे ज्ञानरत्नं च, सदाऽऽलस्यप्रभा-
 षतः । कस्मान्तिकमुपागम्य, पट्टीमि मुहुर्मुहुः ॥ २० ॥ जगतो दयनायैव,
 वैराग्यं विभूतं मया । हास्यमर्थं भवे जातं, धर्मलेशं न लब्धवान् ॥ २१ ॥
 मरीये रक्षणाप्तं च, सिद्धा वसति निर्मल्यः । तथापि कलहो नित्यं, शानादिगुण-
 नाशकः ॥ २२ ॥ तथापि निरुहीतश्च, जातोऽहं वेन मे रतिः । हास्ये प्रत्र-
 ल्यिते धैव, जायते च महान्प्रभो ! ॥ २३ ॥ भ्रमणोऽशुभतेऽप्यस्मिन्, रामवर्जाको
 हि नित्यशः । अतोऽहं चाधमो लोके, सुखं लक्षं विचारय ॥ २४ ॥ सदाऽ-
 न्यान्दूपयित्वाऽहं, नन्ये स्वमुखविर्मलम् । परदाणन्वितोऽयैव, जाते नैत्रे च
 वैकृते ॥ २५ ॥ परनिन्दारतत्वेन, चित्तं मे मलिनं शुरो ! कस्मादितं भवेन्नेऽप,
 न जातं विमलं मनः ॥ २६ ॥ गुणै वै ङात्रिणी चैव, तथेद्ये रविरोऽहंकः ।
 मत्प्रतिष्ठा तदायता, कदापि न च तिष्ठति ॥ २७ ॥ करोमि प्रसूतं तुन्वं,
 लब्धां लोपां शुरोऽशुभा । त्वना तु ज्ञायतां सर्वं, जयत्कने दद्याद्विधे ! ॥ २८ ॥
 शुरोर्वचनमलन्तं, मया लक्षं च हे प्रभो ! तथा सच्छास्त्रवननं, निध्या युष्मा
 हितं परम् ॥ २९ ॥ दुष्कर्मनिरतो नित्यं, दुस्सप्री च तथैव हि । सिध्यान्वपह-
 संलितमभयं विद्धि मां शुरो ! ॥ ३० ॥ भवे प्रभो न मे नष्ट एति वेद पिदा
 शुरो । लक्षं लब्ध्या च त्वां देव ! निरिक्तं भवकष्टकम् ॥ ३१ ॥ अज्ञानं च मे
 पापं, दृष्ट्वाऽस्तनवपादहो ! हाहाहारस्तदा जातोऽनेनेति मयि नो मुगम् ॥ ३२ ॥
 मृगाशीकुचदग्दे मे, व्यं चशुराहर्निधम् । दया प्यार्नं तथा लक्षं, न प्नातः
 श्रीजिनेश्वरः ॥ ३३ ॥ च्यन्तान्नं मनोदाहि, दृष्ट्वाऽस्मिमुगमेधते । इति त्वयि
 परे ज्ञानं, मनो जातं क्वचिच्च मे ॥ ३४ ॥ सच्छास्त्रस्य च विद्वान्तविधि

श्रुत्वापि नो भयम् । संसारतारकं श्रुत्वा, ज्ञातं नो कारणं मया ॥ ३५ ॥ स्वाप्तस्य
 मयि नो भातो, जातेषु मुमनोरमः । गुर्णापद्य मयि स्वामिन् ! विमला नो रतेः
 कथ्य ॥ ३६ ॥ प्रभुत्वं न च मे जातं, स्वप्नेऽपि दृश्यतां प्रभो ! तथापि गवेषवे-
 द्यात्करिष्येऽहं कथं हितम् ॥ ३७ ॥ प्रतिक्षणमायुर्हसते, मनस्तापो न माल्यघो ।
 दुःखदा च जराऽवस्था, सम्पन्ना विषयादरात् ॥ ३८ ॥ निवर्तते न चाद्यापि,
 तस्मात्प्रच्छरणागतः । मेपजेच्छा मदीयाऽस्ति, धर्मवृत्तौ न मे मतिः ॥ ३९ ॥
 मोहरूपप्रहाविष्टो, न शिष्टः कोऽपि चाधुना । चैतन्येन समाविष्टो, लभते एव-
 मभ्यसम् ॥ ४० ॥ इत्यायमन्यमानोऽहं, गुरो ! रक्षां मयि कुरु । तन्मुष्टे त्वं
 मरीये हि, स्थितो देव्यविमोचकः ॥ ४१ ॥ तथापि दीनवाक्यानि, शृणोमि तव
 सश्रिभौ । पिबारे मे दयागार ! मुधा मे जननं भवे ॥ ४२ ॥ जिनसेवा कृता
 नैव, सविधिपृहसेवनम् । तथा कर्म कृतं धर्मपालनं न क्वचित्कृतम् ॥ ४३ ॥
 दत्तं नो दानमायुषं, न चित्ते स्मरणं तव । केवलं त्वयि संलप्तो, यथायोग्यं
 निशामय ॥ ४४ ॥ वृदेहं दुर्लभं प्राप्य, तदाश्रय मया कृतः । यथैकाकी
 मरोऽरण्ये, रोरबीति मुधा तथा ॥ ४५ ॥ प्रत्यक्षफलदातृत्वाद्धर्मं जैनं शुभं
 ज्ञतम् । तत्र जाता च नो प्रीतिर्मदीया दुःखनाशिनी ॥ ४६ ॥ महामौर्ख्यं च मे
 पश्य, यतो जातं भयं मुहुः । कल्पवृक्षं तथा क्रमदुष्या प्राप्य द्वयं मया ॥ ४७ ॥
 सहसा दुःखसमूहं च, सहमानेन नाशितम् । दुर्लभं जन्म प्राप्याद्य, न मया
 साधितं तपः ॥ ४८ ॥ रोगदुःखे निरुद्धे नो, दृष्टौ च सुखभोगकौ । इति मे
 ह्यपराधं च, क्षमस्व कृपया गुरो ! ॥ ४९ ॥ अपमृत्युभयापत्तिनाशार्थं न कृतं
 क्वचित् । अन्ताजनसमासक्तो, धनादेः सद्गृहः कृतः ॥ ५० ॥ काराणद्वयमा
 नारी, नरकागारखलप्रहा । तत्रासक्तमनाश्वाहं, न जिनं प्यातवान् पुनः ॥ ५१ ॥
 नो साधितं च साधुत्वं, सद्बुत्तिर्नो भूता मया । अतुल्य वार्जिता कीर्तिर्न परेषु
 दया कृता ॥ ५२ ॥ परदुःखं प्रहाणेच्छ, तथा दीनजने दया । स्वप्नेऽपि नोप-
 कारद्य, कृतं न गुरुसेवनम् ॥ ५३ ॥ रत्नकल्पं वृजन्मादिप्रामीणजनसेवया ।
 नष्टं जातं मुधा विद्वन् ! तद्रक्षस्वाधुना गुरो ! ॥ ५४ ॥ वैराग्ये च समायाते,
 शास्त्रज्ञानं न जायते । कोपाश्रितं दुर्जनस्य, वाक्यं मा सोढुमर्हसि ॥ ५५ ॥
 आध्यात्मिकी च विद्या नो, नास्त्युत्तमकलाऽपि च । कथं भवान्धेः पारं च,
 गमिष्यामि सुबोधय ॥ ५६ ॥ भवान्तरे चोत्तमं कर्म, न कृतं किञ्चिदुत्तमम् ।
 जन्मान्तरे करिष्यामि, नास्त्याज्ञा मे गुरो ! किल ॥ ५७ ॥ जिनदेवेन्द्रं चाहं,
 वीर. २४

कटे न स्वात्कचं न हि । चोत्तमो यो भवारम्भे, पटः खोऽपि प्रवायतं ॥५८॥
 चरित्रं चनेकविधं, कथं हेयं मयाऽनघ । मरीचमपमयं वृत्तं, न गुप्तं ते महा-
 प्रभो । ॥ ५९ ॥ जगन्नयस्वरूपस्त्वं, प्रजानासि प्रभो । ध्रुवम् । मार्गदण्डविल
 त्वं हि, मनोऽभिप्रायवित्तपा ॥ ६० ॥ तत्त्वमो नास्ति हे नय्य ! परो दुःख-
 प्रणायकः । दुःखवस्त्रमहं श्रम्य, नो वाचेऽन्यत्रूयादपि ॥ ६१ ॥ वर्धन्वोपा-
 त्यकं ज्ञानं, वाचे त्वतो भवापहम् । शिवदो जगत्तानीय । शार्पनेयं प्रवाचय
 ॥ ६२ ॥ उपेक्षुः सन्तस्यं च, हर । ज्ञानं प्रथीयताम् । कस्मिंश्चित्पक्षे चित्तं,
 समुत्सवं ध्रुपद्युषे ॥ ६३ ॥ फलकक्षाऽभिधे रम्ये, मतिर्मे मुफना भवेत् ।
 बतो जगत्त्वाम्भोधे, पारे वात्यासि यज्ञतः ॥ ६४ ॥ तस्मिन्ने वज्रनावां च,
 चित्तवृत्तं प्रमोदतः । प्रकटं करोमि सर्वज्ञ । येनाप्यालोचना भवेत् ॥ ६५ ॥
 यथा चित्तप्रवाहः स्वात्तथा जुह मदायते । शब्दज्ञानं न मे चास्ति, तथा पित्रक-
 एन्दताम् ॥ ६६ ॥ इंसवत्सो नरो यद्य, ए पठेदितकाम्यता । वेदोपादेयता-
 शोभने, यत्सरे निर्मित्वा स्त्रियम् ॥ ६७ ॥ वीरस्तुतेरभ्यासः, शीघ्रं च पुण्य-
 निष्ठता । रचिता चोपमन्त्रा, वीरपञ्चस्य मुष्टये ॥ ६८ ॥ शुद्धमंदीयोऽस्ति
 फकीरचन्द्रो, ज्ञानं मया लब्धमिदं यतश्च । शोधं च ताप्या
 सुफियां करोमि, ततोऽ*मरत्वं च भवेत्स्फुटं मे ॥ ६९ ॥

इति धीमग्नातपुत्रमहावीरजैनसहृदयमुनिधीफकीर-
 चन्द्रजिचिउप्यपुष्पमिःपुयिरचित्ताऽपूर्वशान्तिव-
 ऽऽलोचना पुष्पाञ्जली समाप्ता ।

भगवान् महावीरकी वैराग्य भावना.

हो धीरेज्जनां अत्र महावीर महावीर, हरदय हो नरो पर दपेतद्वीर
 महावीर । आत्मनो जिना रुद्वी तनवीर महावीर, भवपचरी नू इत्यरी
 वतवीर महावीर । आत्मनो क्ति ए मरुतिके सुरार्थदेवदण्ड, दुनियाकेलिए
 मतलए इवएरे हरेकृत ॥ १ ॥ इह वार महावीर नुवां पर भगर भावा,
 उय हांठए चर्याच पशु कम्भे छावा । हर जेकेभधोरत वा हुअ उरुपे
 वपया, जेगे भमअ रुद्वी हसी से पुगावा । क्या नावपा तिथ नामपे

फुदरतकी झलक थी, क्या ज्ञात थी जिस ज्ञातमें फितरतकी चमक थी ॥ २ ॥
 महसूस हुआ जब इसे दरपेश सफ़र है, मंज़िल है कड़ी राहमें गुमराही का
 का डर है । दुनिया जिसे कहते हैं वह एक ख़ानए घर है, आराम कहां
 दर्दोमुसीबतका यह घर है । सोचा के यह क्या है के हूं छुद में भी इसी
 में, नाफ़हमी से माख़ज़ हूं रहते तल्मी में ॥ ३ ॥ जब ग़ौर किया हस्तीए
 अन्निया नज़र आई, दर असल अजब सैर सरापा नज़र आई । बच्चोंका
 घरोंदा सा यह दुनिया नज़र आई, मिट मिटके भी होती हुई पैदा नज़र आई ।
 जौहरके अरज़ुक नहीं कुछ ठीक ठिकाना, गिरगटकी तरह रंग बदलता है
 ज़माना ॥ ४ ॥ घेसघाती (अनित्यता) हर रंगेजहां अस्लमें विजलीकी
 चमक है, जो छल्ल हवेदा है वह शोलेकी लपक है । गुंचोंकी चटक है न वह
 फूलोंकी महक है, एक हस्तीएयोहूमकी यों ही सी झलक है । पल भरमें न
 वह शक़ न वह शान न सुरत, या वहने नज़र आंखने देखी थी जो मूरत
 ॥ ५ ॥ हर चीज़ के जिस चीज़पे होनेका गुमां हो, बेहरकतो बेजान हो
 या साहिबेजां हो । एक छल्ल हो तखीर हो हस्तीका निशा हो, कमबोर
 हो दाहज़ोर हो बाताबोतवां हो । बफ़ आए तो फिर ज़ोर किसीका
 नहीं चलता, वह हुकनेक़ज़ा है के जो टाके नहीं टलता ॥ ६ ॥ कहते
 हैं जबानी जिसे नखपनकी फ़ना है, पीरी जिसे कहते हैं जबानीकी क़ज़ा है ।
 हर अहदमें लफ़ है हर लफ़ जुदा है, एक लफ़में सौ दर्द हैं हरदर्द
 सिवा हैं । फिर दर्द के राहत कोई कायम भी कहीं है, क्या है जिसे "हे"
 कहिए के है भी तो नहीं है ॥ ७ ॥ बेपनाही (अशरणाता) भावर
 पितर व दुक़तरों फ़र्ज़िन्दो बिरदार, यागने बफ़शर रफ़ीक़ान दिलावर ।
 ओरग कुलाहे मही सदक़ने जवाहर, इन्सानोंकी फ़ौजे हों के देवोंका हो
 रुदकर । होनी कनी टलती नहीं आपहुंने जब इज़ाम, हर सुबहके दामनसे
 है वावस्ता यहां घाम ॥ ८ ॥ कमज़ोर हो मज़बूत हो बाशानो अमर हो,
 मुफ़लिस हो गदा हो कोई या साहिबेज़र हो । ज़ुंगी हो फिरंगी हो कोई रस्के
 क़मर हो, हो खारेनज़र सबक़ के मंज़ूर नज़र हो । बफ़ आया तो फिर नोए
 दिगर हो नहीं सकता, यमराजके पंजेसे मफ़ूर हो नहीं सकता ॥ ९ ॥ मरता
 है पिसर भापसे रोक़ नहीं जाता, मां रोती है दम बेटेका थामा नहीं जाता ।
 मुंह तकते हैं सब भाषसे बोला नहीं जाता, आईसे भी आईको बचाया नहीं

खाता । तदवीर किसी तरह किसीकी नहीं चलती, मीत ऐसी बला है के
 जो टाळे नहीं टसवी ॥ १० ॥ सदाश कोई देता है के कुछ रहेका हो,
 पढ़ता है अमल कोई के तासीर दुवा हो । कढ़ता है तबीबोंसे के कुछ
 ऐसी दवा हो, झूठ किसी सूरतसे कहीं डुकमकजा हो । होनी की मगर कोई
 दुआ है न दवा है, जो होना है आखिरको नहीं होके रहा है ॥ ११ ॥
 फितरतका तकाजा है के होकर ही रहेगा, जो जिसने किया है उसे भोगेगा
 सहेगा । कुछ उर नहीं काफिर जो मुझे कोई कहेगा, जिस रूपसे बहा
 जाता है दरिका वह बहेगा । हानी कोई बंधा है किसीका न छुदा है, सम-
 रह है उसी फेला जो जिसने किया है ॥ १२ ॥ अज्ञतरामे दुनिया
 (संसारता) इस पर भौ तो दिल ककके तमसा व तलम है, राहत जिसे
 कहते हैं मयस्सर ही वह कब है । एक आरजू सौ रंजो सुधीबतवर तबब है,
 और हसरतों आखों हैं फिर एक एक गुजर है । वह खीब है ? जो शौह
 का छोटा नहीं छोटा, किस दिलमें यहाँ खूनेतमसा नहीं होता ॥ १३ ॥
 मुहिसको अमर गम है के रोटी नहीं परमें, ज़रदार है मुज़तर हबिसे
 दौलतो ज़रमें । एक दर्दकी तखीर है एक जौके क्षियारमें, राहत न इसे
 है न उसे आठ पहरमें । एक आल तो फर्जन्दके अरमानमें नम है, आला-
 हकी कसरतसे कहीं नाकमें दय है ॥ १४ ॥ आराम समझता है कोई मालको
 ज़रको, कन्धे लिए फिरता है कोई दुष्टोपिसर को । रोता है कोई ज़रफते
 मंजूरनज़रको, तानीर कराता है कोई मुम्बदोदरको । वह भेप है में इच्छा
 हूँ वह मान रहा है, दुख दर्दके सामानको सुख जाब रहा है ॥ १५ ॥ दिख
 शौकसे रंजर है और शौक फिज़ू है, आखोंमें जो नम है किसी अरमानका
 मूँ है । राहत जिसे कहते हैं वह एक सरोसकूँ है, हाक आपना मगर
 फरचेतमसा से जुबूँ है । एक आरजू पूरी हुई छी करणई पैदा, आराम
 किसी दृष्टसे मिलने नहीं पाता ॥ १६ ॥ दुनिया और चहम हमदर्दी
 (अन्यस्वता) हर आत्मा दुनियामें अकेली ही अकलसे, पाचंद तनामुप
 है मगर बंद अमलसे । मर मरके कहीं-मुटती है यह नैद हमलसे, दह कुरतीवी
 लडती हुई धाती है अकलसे । बीमारीमें आजिब रही दरमां तलबीसे, जब
 मरती है तो पाती है दुखनां बलबीसे ॥ १७ ॥ धन झूठे तामुक हैं गलत
 धनए चरफत, फहनेकी मुहब्बत है शिखाकेकी रिफाकत । बीमारी होना

मौत हो या दौरे मुसीबत, मुमकिन ही नहीं उसमें किसी गैर की शरकत।
 मुंह तकते हैं हैरतसे मदद कर नहीं सकते, मां बाप भी बेटेके लिए मर
 नहीं सकते ॥१८॥ अलेहृदगी बेइलायकी और तनहाई (एकत्वता)
 ये महलोमकां हमने जो ताबीर किए हैं, यह ऐशका सामान के दम जिसपे
 दिए हैं। यह लालो गुहर औरोंसे जो छीन लिए हैं, बीलाद के जिसके लिए
 सर-भरके जिए हैं। हम जायेंगे ये साथ न जायेंगे हमारे, ये हमसे जुदा हैं यहीं
 रह जायेंगे सारे ॥१९॥ यह रूप यह रंग और यह नकशा ये खत व खाल, है
 नूरके सांचेमें ढला आइने समयाल। यो रुहसे मसखन नज़र आता है फ़िल्-
 ह्याल, लेकिन है जुदा जानसे यह जानका जंजाल। यों भात्मा इस पैकरे-
 खाकी में बसा है, है आइनेमें अक्स मगर उससे जुदा है ॥ २० ॥ नापाकी
 और गिलाज़त [अशुचिता] यह पैकरेखाकी के हर एक जिसपे फ़िदा
 है, हर शयसको मंज़ूर नज़र जां से सिवा है। कुछ गोश्त है कुछ खून है
 बलगमसे भरा है, इक ज़रफ़े गिलाज़त है जो शिखीसे ढका है। बोल और
 निजासतके सिवा ख़ाक नहीं है, नापाक है इतना के कमी पाक नहीं है ॥२१॥
 मशहूरे ज़माना हो जो हुक्मे नमस्के से, दिल छीन लिया करता है जो शक्के-
 हसीं से। उसके हो कोई ज़ख़म कटे जिस कहीं से, फ़म्बारह छुटे पीपका
 और खूँका वहाँ से। देखे न नज़र चाहनेसालोकी पलटके, मक्खीके सिवा
 ग़र कोई पास न फटके ॥ २२ ॥ आमद-ज़राते अमल [आसघता]
 कर देते हैं ज़राते अमल रुहको नाबार, फल देके ही टलते हैं ये अगुवार
 सितमगार। गो कर्म हैं दो किसके मदकरो निकोकार, होना ही मगर इनका
 है सद बाहसे आज़ार। इक इक ज़फ़ए रुहपे बैठे हैं हज़ारों, उठता है अगर
 एक तो आजाते हैं लाखों ॥ २३ ॥ जो टलता है वह खून झलक अपनी
 दिखाके, गेज़ो गज़बो फ़िजसे बीचाना बनाके। जज़बो कशिशे जंगे अमल हृदसे
 पढाके, खुद छोडता है स्यरके फंदोंमें फँसाके। बंधती है योही रुह इस
 आमदसे अमलकी, भर्दिस नहीं मिटती के यह है रोज़ अज़लकी ॥ २४ ॥
 सहेबाव [संवरता] अब जब कमी इस मोहबब कुछ जोर पद्य हो, सुस
 तालइसे दुःमनेजां ज़ेर हुआ हो। उस वक्त कोई रहबरे हक़ राहुमा हो,
 तब रुहका कुछ होश ठिकाने हो बचा हो। जाने ही न दे ध्यानको गैरोंकी
 फ़िज़ामें, रोके रविशेइल्मको सुद उसकी ज़ियामें ॥ २५ ॥ ज़राते अम-
 लका इज़राज [निर्जया] काफ़ूर शबे कुफ़ हो मिटबाए जहाल्ल, तावां

हो मूर्खत्वं बड़े मूर्खदायकं । क्यूँ होँ इवासोपि हो दिख महवैरियाजत, पुत्रि
 सुमति शील हो सन्तोष हो आदत । यह बाइते सरपत्तमी फिर आप ही टट
 जाएँ, ज़रते अमल रुहके जुधोसे निकलजाएँ ॥ २६ ॥ आभय भी हुके बंदे
 अमल छूटने लय जाएँ, फंदेसे सुले दाम कुहन टूटने लग जाए । ये मोह की
 मदिराका पड़ा छूटने लग जाएँ, सुद आत्मा अपने ही मजुँ टूटने लग जाए ।
 फिर अपना तमाशा हो और अपनी ही नज़र हो, अगियारसे अगियारकी छोड़-
 बतसे हज़र हो ॥ २७ ॥ आलसिने असबाव [संसार] यह जहाँ पाकी
 जिसे सब कहते हैं संसार, उःश्व्य हुक्रे हैं यह इक जावसद इसरार । फाइल
 कोई इनका न कोई सालिखे सर्दार, पैदा कभी होते हैं न मिटते हैं ये जिन-
 हार । छःसे कमी कम और सिपा हो नहीं सकते, धनते हैं विगडते हैं पूजा हो
 नहीं सकते ॥ २८ ॥ पांच इनमें हैं बेहोश तो इक साहिने अदराक, पांच इनमें
 सब एक मकां सली ककवाक । चार इनमें जुदा रहते हैं बेहोश सदा पाक,
 हो मिलते हैं आपसमें तो हो जाते हैं नापक । इक मादह इक रूद जब
 हो जाते हैं मज़दल, खोली न छुले ऐसी गिरह लगती है मज़पूत ॥ २९ ॥
 पांच ऐसे के जिनकी कोई रंगत है न सरत, एक ऐसा के दर हिसको है बर
 बाइते लक़त । कहते हैं ससे मादह सब बहले फ़ीरत, जब रूये मिलता
 है तो यह होती है दावत । जाँ रूद तो वह जिस है और बंद अमल है, जो
 तादरे जाँ के लिए सप्याद अत्रल है ॥ ३० ॥ वह आंख गुलपीसी वह अयरु जो
 कभी है, वह शोश नज़र जो खरे ज़मिक किचवी है । मंज़ूर गुरजु सबको
 जो नाज़फबदनी है, हर सरतेदिलक़द इन्हीं दोहोंसे पनी है । महजुप है
 इन्मो मज़रे रूद लज़लसे, बरपी हुंर फिरती है गरीब अपने अमलसे ॥ ३१ ॥
 इन्सान भी हीवान भी और दूरो परी भी, यह नजम यह अफ़्साक यह
 बुदकी भी परी भी । गुलघारू वे और कोहमें हर बान ज़री भी, जो धरक़े है
 धामने खोरी भी खरी भी, बेजाब भी जीरुद भी अफ़्से के बुरे हैं,
 अत्ये इन्ही दो के हैं के आंखोंमें गुने हैं ॥ ३२ ॥ यह असल है इन्बिया
 की यह आलमकी हज़ीकत, क़ावाकमें है टोष जवाहरकी सफ़ूत, हाँ एक
 बहुत इश्क़ बहुत इश्की है जुसअल, रुहके लिए है यही मैदान अमोयत ।
 ये इन्मे सही आत्मा क़ानिब नज़री से, आवाह व सरपदा है गुद बेसगी
 से ॥ ३३ ॥ इसले इन्म सही की बुदवारी [योधि दुर्लभ] आसोते
 कभी जोब दिखान नहीं जाता, क्या आंख फिरी हिससे नदमा नहीं जाता ।

बेचक्रको अशकालमें लाया नहीं जाता, जुजु कदफजुमीरी उसे पाया नहीं जाता । इन्द्रा मगर रुहकी हस्तीसे सूता है, हर धैको फकृत इल्मने मालूम किया है ॥ ३४ ॥ होशो खिरदो इल्म फकृत रुह की है ज़ात, जुजु रुह किसी और को हासिल नहीं ये बात । लिपटी है अज़ल्ले जो उसे बंदकी आफ़ात, इनके ही सबब बहकी हुई फिरती है दिन रात । फिर भी सिफ़ते जात कमी जा नहीं सकती, ये होशको होश और खिरद आ नहीं असकती ॥ ३५ ॥ सब जड़ हैं मगर आत्मा है ज्ञानका भंडार, जो ज्ञान है और इल्म है चेतनका चमत्कार । छुद इल्म भीमालूम का बाहोशो खबरदार, उस ज़ातमें मुमकिन ही नहीं शर-कते अग़ियार । पुत्रल्ले मगर ज्ञानको आवरण किया है, छुद भूलसे अपनी ये गिरफ़्तारे बला है ॥ ३६ ॥ इक बार अगर भूल कोई इसकी मिटादे, दाल आहनेमें इसकी कोई उसको दिखादे । छुद ज़ातका इसकी इसे धीदार करादे, यह बंद अमल काटसे फिर दममें उडादे । ज़ायिदो मुरदनकी बला इक आनमें टलजाए, आज़ाद हो जू हरमकी बंदिशसे निकल जाए ॥ ३७ ॥ दुनिया है अजब चदम फुरेब आहना खाना, सौ बार यहाँ मिलके छुटा ऐसो खजाना । बार ऐसे बफ़ादार के बेमिस्त्रो यगाना, वह हुज़के जिस हुज़का मुस्ताक़ ज़माना । मिल जायें यह आसान है दुधार नहीं है, मुश्कल तो फकृत ज़ातका अपनी ही यकी है ॥ ३८ ॥ रुहानियत या सिफ़ते ज़ाति [धर्म] कहते हैं जिसे धर्म वह कुछ और नहीं है, वस ज़ातका अपनी ही फकृत इल्मोयकी है । लारेब है इसमें न जुना और जुनी है, सच ऐसा के रोशन सिफ़ते मेहरेमबी है । भटकी है जो आपसे वही रुह है नाशाद, और मुहयते यकज़ाईसे है गैरकी बरबाद ॥ ३९ ॥ परिणाम—यह राज़की सूरत थी जो पाबन्द हुआ थी, अब उठ गया पर्दा तो वही जल्बहनुमां थी । गो इल्म सरीहीकी अभी जू न जिमा थी, लेकिन बरके दहरकी तफ़-सीर तो था थी । देखा तो इन जोराफ़ पे यह साफ़ लिखा है, भूला है जो आपेको वह कर्मोंसे बंधा है ॥ ४० ॥ अगवान् विचार—अगवान् महावीर ये दर असल महावीर, मति-शुक्ति-अवधिज्ञानकी थी रुहमें तनवीर । पढते ही यह समझे बरके दहरकी तहरीर, है भूल छुद अपनी सबब जिहलो तह-कीर । सोचा के अब इस मोहको निर्मूल करेगा, फिर जन्न न हो जिससे वह चारित्र धरुगा ॥ ४१ ॥ ॥ ज्ञान फकृत ज्ञानकी जू यनके रहंगा, में होश हूँ बेहोश का पाबंद न हूंगा । आज़ाद है फ़ितरत मेरी आज़ाद बनंगा,

हूँ पाक तो अब गैरकी शरकतसे कचूंगा । वह ज्ञात हूँ रहता हूँ मैं जो अपनी सफा में, है अबसफ़िगान चीज़ हर एक मेरी ज़िंदा में ॥ ४२ ॥ यह है सिपते ज्ञात मिटाई नहीं जाती, पुढल्ले फिखी तरह दपाई नहीं जाती । चौ जंग लगे फिर भी सफ़ाई नहीं जाती, यह शान यह एजाजतुमाई नहीं पाती । इस पर मिरी हस्तीमें है एक जुदक़ एक आनन्द, और ऐसा के जिसका कोई हमसर है न मानन्द ॥ ४३ ॥ धी भूल के था महुये तमाशाए जहां में, फिरता था तलागे हविस खमो ज़र्बा में । नादान था जो फ़द था इस बंदेगिरां में, बाफ़लत धी मगम्पज़ ही न था सुदो ज़ियानें । आशा है जो अब होख तो बेहोश न हूंगा, चिद्रूप हूँ चिद्रूप ही मैं मगत रहूंगा ॥ ४४ ॥ असवाबो तभाकुफ़ जो बज़ाहिर थे किए इर । बिल शर्मसे मजबूर न जज़वातसे मामूर । था जामए उरिया ही खियासे तने पुरन्दर, जो रूप मयाजात था बस था यही मुंजूर । कहने को ततम्पुर था अहिंसा धी दया धी, किलमस्त वह एक रुद थी और उत्तमे सिफ़ा धी ॥ ४५ ॥ वह जोर जो था नादे मुफ़ातिफ़का रुका था, तूफ़ान जो उठा था अज़ल से वो यमा था । लहरोमें जो था धीर वह रामोष हुभा था, उस ज्ञानके सावरमें फ़सर आया हुभा था । सादिन जो हुभा था तो जाव आगड़े ऐसी, साफ़ उत्तमें झलकने लगी जो चीज़ थी जैसी ॥ ४६ ॥ यह इत्म सरीखी था बस एक शक था केवल, सूरजसा विछल आया पुटा कर्मका पादल । हर सुहम-स्थूल हर एक आव्य व अरफ़ल, थे उत्तमें अबां धी न था पर्दा कोई शायल । सर्वह इयादां हुए बना उनसे छुष था, जो आठिने अस्वाब में था जान लिया था ॥ ४७ ॥ रास लहजा एदा एक तने पाकसे निकली, धी रुदधी आबाज मगर साकसे बिकली । वह साक भी बेहतर कहीं अक़लाकसे निकली, मजबूर जोहर साहिबे अदरकसे निकली । विजदह उसे इन्सान भी करते थे मुन्क नी, फ़ितरतधी ज़िंदा धी वह दहीक़नडी सालक थी ॥ ४८ ॥ हल्लोछ इपर पुष्प बचनछ था उपर जोश, सिरनेक़ी अब वर्गना मुवनेक़ो सन घोश । हर सज़ अनां होमया आने क्का सन्तोप, विजदेमें मुके जिषो मज़र दोष सरे दोष । हां नेरे महापीर इस आवाज़कें सददे, इस सज़ब मायल हूँ इन अंदाज़कें सदके ॥ ४९ ॥

(फ़कीर मायल).

मङ्गलाचरणम् ।

सर्वं एव हि जैनानां, प्रमाणं लौकिको विधिः ।
 यत्र सम्यक्त्वहानिर्न, यत्र न व्रतदूषणम् ॥ १ ॥
 रत्नत्रयपुरस्काराः, पञ्चापि परमेष्ठिनः ।
 भव्यरत्नाकरानन्दं, कुर्वन्तु भुवनेन्दवः ॥ २ ॥

[अर्हन् परमेष्ठी] ॐ निखिलभुवनपतिविहितनिरतिशयसपर्यापरम्परस्य, परानपेक्ष्यापर्य्यायप्रवृत्तसमस्तार्थावलोकलोचनकेवलज्ञानसाभ्राज्यलान्छनपञ्चमहाकल्याणाष्टकमहाप्रातिहार्यचतुस्त्रिंशदतिशयविराजितस्य, षोडशार्धलक्षणसहस्रांकितदिव्यदेहमाहात्म्यस्य, द्वादशगुणप्रमुखमहासुनिमनःप्रणिधानसंनिधीयमानपरमेश्वरपरमसर्वज्ञादिनामसहस्रस्य, विरहितारिरजोरहःकुहकभावस्य, समवसरणसरोऽवतीर्णजगन्नयपुण्डरीकखण्डमार्तण्डमण्डलस्य, दुष्पाराजवंजवीभावजलनिमज्जन्तुजातहस्तावलम्बपरमागमस्य, भक्तिभरविनतविष्टपत्रयीपालमौलिमणिप्रभाभोगनभोविनृम्भमाणचरणनक्षत्रनिकुरुम्बस्य, सरस्वतीधरप्रसादचिन्तामणेर्लक्ष्मीलतानिकेतकरूपानोकहस्य, कीर्तिपोतिकाप्रवर्धनिकामध्ये नीरवीचिपरिचयखलीकारकारणामिधानपात्रमञ्जप्रभावस्य, सौभाग्यसौरभसंपादनपारिजातप्रसवस्तवकस्य, सौरूप्योत्पत्तिमणिमकरिकाघटनविकटाकारस्य, रत्नत्रयपुरःसरस्य, भगवतोऽर्हत्परमेष्ठिनो भूयो भूयः स्मृतिं करोमीति स्वाहा । अपि च—

नरोरगसुराम्भोजविरोचनरुचिथियम् ।

आरोम्याय जिनाधीशं, करोम्यर्चनगोचरम् ॥ १ ॥

[सिद्धपरमेष्ठी] ❀ सहचरसमीचीनचार्वीत्रयविचारगोचरोचित-
हिताहितप्रविभागस्य, अत एव परनिरपेक्षतया स्वयंभुवः सलिलान्मु-
क्ताफलमिव उपलादिव च क्वचनगदेवात्मनः चरणविशेषोपसर्पण-
वशादाविभूतमखिलबलविलयलब्धात्मस्वभावमसमसहायक्रममवधीरिता-
भ्यसंनिधिव्यवधानमनवधिभयत्रसाध्यमवसितातिशयसीमानमात्मस्वरूपे-
फनियन्तमन्तःप्रकाशमध्यासितयन्तमनन्तदर्शनवैशद्यविशेषसाक्षात्क-
तसकलवस्तुसर्वस्वमनवसानमुखस्रोतसमर्पयन्तवीर्यमचाक्षुषसूक्ष्मावभास-
मसदृशाभिनिवेशावगाहमलषुव्यपदेशमपगतवायापराकारसंकमगतिवि-
शुद्धस्वभावतया, निवृत्ताशेषशारीरद्वारतया च, मनाफुक्तपूर्वामत्सान्त-
रमरुपरसगन्धशब्दस्पर्शमशेषभुवमाश्रितःशेखरायमाणपत्रविधंभरमुप-
शान्तसकलसंसारदोषमसरं, परमात्मानमुपेयुषो गुरुणापि प्रतिपन्नगुरु-
भावस्य रत्नत्रयपुरःसरस्य भगवतः सिद्धपरमेष्ठिनो भूयो भूयः स्मृतिं
करोमीति स्ताहा, अपि च—

प्रज्ञफर्म्मविनिर्मुक्ताज्ञानकर्मविचरितान् ।

यत्नतः संस्तुवे सिद्धान्, रत्नत्रयमहीयसः ॥ २ ॥

[आचार्यपरमेष्ठी] ❀ पूज्यतमस्य उदिनेतोतदिफुल्लशीलगुरु-
परम्परोपाचसमद्यैतिहरहस्यसारस्य, अध्ययनाध्यायविनियोगविनयनि-
यमोपनयनादिक्रियाकाण्डनिष्णतचित्तस्य चातुर्येषसंप्रमर्षनाभुरंधरस्य,
द्विविधात्मधर्माचनोपनविपूर्तेहिकल्पेज्ञासम्बन्धस्य, सफलवर्णाश्रमसम-
यसमाचारविचारोचितवचनप्रपञ्चमरीचिविदलितनिसिलज्वनतारविन्द-
नीमिध्यात्यमोहान्धकारपटलस्य ज्ञानतपःप्रभासमक्यमितजिनश्यामन्तं
शिष्यसम्पदादोषमिव भुवनमुद्धर्तुमुपतन्न भगवतो रत्नत्रयस्य पुरःसा-
त्साचार्यपरमेष्ठिनो भूयो भूयः स्मृतिं करोमीति स्ताहा । अपि च—

विचार्य सर्वमैतिसमाचार्य्यकमुपेयुषः ।

आचार्य्यवर्य्यानर्चामि, सञ्चार्य्य हृदयाम्युजे ॥ १ ॥

[उपाध्यायपरमेष्ठी] ॐ श्रीनद्मगवदहृद्ददनारविन्दविनिर्गत-
द्वादशांगचतुर्दशपूर्वमकीर्णविस्तीर्णधुतपाराचारपारमस्य, अपारसम्प-
राधारप्यविनिर्गमानुपसर्गमार्गणनिरतविनेयजनशरप्यस्य दुरन्तैकान्त-
वाद्रमदमपीमलिनपरवादिफरिफण्टीरवोत्कण्ठकण्ठरवायमाणप्रमाणनय-
निक्षेपानुयोगवाम्यतिफरस्य, श्रवणप्रहणायगाहनावधारणप्रयोगवाम्भि-
त्यकवित्वगमिकशक्तिविस्रापितवित्ततरनिलिम्पाम्बरचरचक्रवर्तिसीम-
न्तप्रीतपर्य्यस्तोषंससप्तस्रौरभाभिवासितपादर्पाटोपकण्ठस्य प्रतविधानव-
द्यहृदयस्य भगवतो रत्नत्रयपुरःसरस्य उपाध्यायपरमेष्ठिनो भूयो भूयः
स्मृतिं करोमीति स्वाहा । अपि च—

अपास्तैकान्तवादीन्द्रानपरागमपारगान् ।

उपाध्यायानुपासेहमुपायाय शुताप्तये ॥ १ ॥

[सर्वसाधुपरमेष्ठी] ॐ विदितवेदितव्यस्य चाद्याम्यन्तराचरण-
करणत्रयविशुद्धिप्रथगापगाप्रवाहनिर्मूलितमनोजकुजकुडुम्भाडम्बरस्य
अमराम्बरचरनितम्बिनीकदम्बनदमादुर्भूतमदनमदमकरन्ददुर्दिनविनो-
दारविन्दचन्द्रायमाणोदितोदितप्रतप्रातापहसितार्वाचीयफामनचरित्रच्यु-
तविरञ्चिविरोचनादिवैस्तानसरसस्य, अनेकशस्त्रिमुचनक्षोभविधायिमिर्म-
नोगोचरातिचरैराध्यप्रभावभूमिभिरनवभारितविधानैस्त्रैस्त्रैर्मूलोत्तरगुण-
मामर्णाभिस्तपःप्रारम्भैः सकलैहिके मुखसाम्राज्यवरप्रदानावहितायाताव-
र्धारितविस्मितोपनतवनदेवतालकालिकुलविलुप्यमानचरणसरसिरुहपरा-
गस्य निर्वाणपथनिष्ठितात्मनो रत्नत्रयस्य पुरःसरस्य भगवतो लोके सर्व-
साधुपरमेष्ठिनो भूयो भूयः स्मृतिं करोमीति स्वाहा । अपि च—

बोधोपगाप्रवाहेण, विध्यातानगवह्वयः ।

विध्याराध्यांघ्रयः सन्तु, साध्यबोधाय साधवः ॥ १ ॥

[सम्यग्दर्शनम्] ॐ जिनजिनागमजिनधर्मजिनोक्तजीवादित-
त्वावधारणद्वयविजृम्भितनिरतिशयाभिनिवेशाधिष्ठानासु, प्रकाशितशं-
कामाकाम्यावह्वदनकुमतातिशयोद्धारासु, प्रशमसविगानुकम्पाऽऽस्ति-
क्यस्त्रंभसंभृतासु, स्थितिकरणोपगूहनवात्सल्यप्रभावनोपचरितोत्सवस-
पर्यासु, अनेकत्रिदशविशेषनिर्भाषितभूमिकासु, सुकृतचेतःप्रासादपर-
म्परासु कृतक्रीडाविहारमपि च, यन्निसर्गान्महामुनिमनःपयोधिपरिचि-
तमशेषभरतैरावतविदेहवर्यधरचक्रवर्तिचूडामणिकुलदैवतं, अमरेश्वर-
ततिवैवतावतसकल्पवल्लीपङ्कजं, अश्वरचरलोकहृदयैकमण्डनं, अपवर्ग-
पुरप्रवेशागप्यपण्यात्मसात्करणसत्यंकारं, अनुल्लङ्घ्यदुर्घनपटादुर्दिने-
ष्वरि जन्तुषु, ज्योतिर्लोकदिगतिगर्तपातनमकाण्डमेदनमामनन्वि
मनीषिणस्तस्य संसारपादपोच्छेदप्रथमकारणस्य सकलमंगलविधायिनः
पञ्चपरमेष्ठिपुरःसरस्य भगवतः सम्यग्दर्शनरत्नस्य पुनः पुनः शुद्धिं
करोमीति स्वाहा । अपि च—

शुक्तिलक्ष्मीलतामूलं, शुक्तिश्रीवल्लरीवनम् ।

भक्तितोऽर्हामि सम्यक्त्वं, शुक्तिचिन्तामणिप्रदम् ॥१॥

[सम्यग्ज्ञानरत्नम्] ॐ यत्तिसिलमुवनतार्तीयलोचनं, आत्महि-
ताहितविवेकयावात्स्यावबोधसमासादितसमीचीनभावं, अधिगमसम्य-
क्त्वरत्नोत्पत्तिस्यानं, अखिलासपि दद्यासु क्षेत्रज्ञत्वभावसाप्राज्यपरम-
लान्छनं, अपि च यस्मिन्निदानीमपि नदीस्रातचेतोभिः सम्यगुपाहितो-
पयोगसमावर्त्तने धुमणिमणिदर्पण इव साक्षाद्भवन्ति ते ते भावैकसम्य-
क्त्याः स्वभावक्षेत्रसमयविप्रकर्षिणोऽपि भावात्सत्यात्मत्वाभिनियन्धमय-

हेतुविहितविचित्रपरिणतिभिः, मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेबलेः पञ्च-
तयीमवस्यामवगाहमानस्य सकलमङ्गलविधायिनः पञ्चपरमेष्ठिपुरसरस्य
भगवतः सम्यग्ज्ञानरत्नस्य पौनःपुन्येनादरणं करोमीति स्वाहा । अपि च—

नेत्रं हिताहितालोके, सूत्रं धीसौघसाधने ।

पात्रं पूजाविधेः कुर्वे, क्षेत्रं लक्ष्म्याः समागमे ॥ १ ॥

[सम्यक्चरित्रम्] ॐ यत्सकललोकालोकादलोकनप्रतिबन्ध-
कान्धकारविध्वंसनं, अनवद्यविद्यामन्दाकिनीधरं, अशेषसत्त्वोत्सवानन्द-
चन्द्रोदयं, अखिलव्रतगुप्तिसमितिलतारामपुण्याकरसमयं, अनल्पफल-
प्रदायितरुःकल्पद्रुमप्रसवभूमिमस्मयोपशमसौमनस्यवृत्तिधैर्य्यप्रधानैरनु-
ष्ठीयमानमुशन्ति सद्धीमनाः परमपदप्राप्तेः प्रथममिव सौपानं, तस्य
पञ्चतयात्मनः सर्वक्रियोपशमानिशपावनस्य, सकलमङ्गलविधायिनः
पञ्चपरमेष्ठिपुरःसरस्य भगवतः सम्यक्चरित्ररत्नस्य सम्यगवधारणं करो-
मीति स्वाहा । अपि च—

धर्मयोगिनरेन्द्रस्य, कर्मवैरिजयार्जने ।

शर्मकृत्सर्वतत्वानां, धर्मधीर्बृत्तमाश्रये ॥ १ ॥

जिनसिद्धसुरिदेशकसाधुश्रद्धानयोधरत्नानाम् ।

कृत्वाष्टतयीं स्मृतिं विदधामि तवः स्तवं युक्त्या ॥ २ ॥

अथ ममाक्रन्दनकाव्यम् ।

श्रीमद्ब्रह्मपदारविन्दयुगलो घ्यानैकवेद्योऽस्ति यो, व्याप्तं येन चरा-
चरात्मकमिदं क्षीरं यथा सर्पिणा । यद्भासा तरणिर्विभाति दहनश्चे-
न्दुर्निशान्धापहस्तं वन्दे मनसा मिरा च शिरसा जैनेज्यमीशं जिनम्

॥ १ ॥ संसारोऽगवैनतेऽसदृशो विज्ञानकोशालम्बः, कल्पद्रुष्टजिनाट-
 त्रेष्व हुतभुग् ज्वालजटालकृतः । वीजं धर्मतरोश्च विश्वजलधौ पोतो-
 ऽस्ति यस्सेविनां, ध्येयस्रं मुनयो भजन्तु नितरामानन्दकन्दालम्बम्
 ॥ २ ॥ पञ्चकेशनिरासवासरमणिर्विज्ञानवाराम्बुधिर्भव्याभीष्टशतप्रपूरण-
 विधौ चैतन्यचिन्तामणिः । सञ्जनेष्वितसाधुभक्तिनलिनीव्याङ्गशहेतू-
 दयः, सोऽस्माकं कुस्तात्कपात्पशमनं भीमोऽजिनेन्द्रः प्रभुः ॥ ३ ॥
 जैना भिक्षुवराः । पिताऽस्ति परमोऽस्माकं हि वीरो जिनो, यो दीपो-
 त्तवसंज्ञके शुभदिने निर्वाणतामाप्तवान् । योऽन्ते नो निगमागमादि-
 जनितज्ञानात्मके चक्षुषी, प्रादात्संयमिनो विधाय सुखदं ध्यायन्त्व-
 त्स्रं विभुम् ॥ ४ ॥ धर्मज्ञानचरित्रसंयमकपोयोगाङ्गभाषानदात्, यो
 नो जैनमत्तावरोधनकरमध्यंसन्तर्धं विभुः । हित्वा वाँश्च वयं भवाब्धि-
 पतिताः किञ्चिन्न कर्तुं क्षमास्तस्मादुक्तविधौ समाहितधियो यत्र च
 कुर्मो मुहुः ॥ ५ ॥ मायाजालमपास्य चात्मनि मनस्संघीयते योगिभि-
 योंगाभ्यासतपोऽपरिमह्वल्यत्सत्सङ्गतेः संवरात् । ते विप्रा जिनपाद-
 पद्मरजसः सेवानुरक्तस्य च, तस्मात्तान् परिहृत्य चैक्यकरणे चेतस्स-
 मापीयताम् ॥ ६ ॥ चक्रे द्वादशधा तपोबलमदो दत्त्वा तपस्यान्वि-
 तान्, द्वारा गुप्तधिया निवेकपटयो जाता विरक्ता यतः । शीलदे-
 र्निर्ल्याश्च चैतनगुणैरात्म्यायभावाध्यास्तस्मादात्मविचारणे मुनिवरा
 शृष्टाङ्गसिद्धिमदम् ॥ ७ ॥ स्याद्भदो विदुषां हित्वाय गदितोऽनेकान्त-
 वादस्तथा, सिद्धान्तप्रतिपादनं भवभिदां येनाक्षयं जायते । सर्वं तच्च
 निहाय मोहजलधौ मया वयं दुस्तरे, रागद्वेषज्जपाकुले च मुनयो मय्यं
 नृतो नो भवेत् ॥ ८ ॥ मायानिर्मितशोकसारविषये वैरान्यमेवाम्यं,

दत्त्वा नश्च महाव्रतादिनियमान्प्रवृत्तयोस्तथा । संसारे जिनदेवधर्म-
तरणिं प्रादादथो संयमान्, तं साधुं सुखसागरं प्रतिपदं ध्यायन्त्वतिप्रे-
मतः ॥ ९ ॥ अहिंसा तथा सत्यमस्तेयमाहुर्महद्ब्रह्मचर्यं मुनिर्वाणहे-
तुम् । यतस्तत्त्वबोधस्समुत्पद्यते च, ह्यतो रक्षणीयाश्च ते भिक्षु-
वर्यैः ॥ १० ॥ यस्यामोघात्मशक्तिं प्रबलगुणगणैर्नो प्रवृत्तं समर्था,
नास्माकं साधुबोधस्तदनु च कथने तत्स्वरूपस्य तत्त्वम् । तस्य
उद्योतिःप्रवाहं प्रबलगुणकरं वृत्तमीशाः कथंचित्तो वा घाता-
ख्यशक्तौ मतिरपि सुतरां नेदृशी तादृशी च ॥ ११ ॥ ध्यान-
प्यप्रतिपालनाय सुधिया जातावतारा वयं, कामक्रोधविमोहलोभम-
त्तमानावरोधाशयाः । चेतः संघपदारविन्दयुगले जित्वेन्द्रियप्रा-
मकं, संसारानृतभोगरोगशमने विद्यौमये धार्यताम् ॥ १२ ॥
कामक्रोधविमर्दनेन च पुनर्लोभः समुत्पद्यते, तस्मान्मोहसमुद्भवः स्मृति-
हरो विज्ञाननाशस्ततः । पश्चाद्ब्रह्मविपर्ययोऽनृतमयी भोगैपणा
जायत, इत्थं दुःखमये विचित्रविषये जीवोऽनिशं बध्यते ॥ १३ ॥
आदाविन्द्रियनिग्रहे च विषया नश्यन्त्यनायासतः, काये चारुपरिग्रहादि-
शमने ज्ञानोदयो भासते । पश्चात्कर्मसमुद्ययप्रणशनं धर्मे प्रवृत्तिः
स्विरा, - तस्मादिन्द्रियसंयमे हि मुनिभिश्चेतः प्रदेयं सदा ॥ १४ ॥
तच्छक्तेरात्मयोगात्सकलगुणमयः स्यात्प्रतापोदयश्च, तस्याग्रे चोत्थि-
त्वायाः प्रचलति नितरां वर्द्धमानाः समस्ताः । जाते शीले महत्त्वे सक-
लगुणविधेः सुप्रवाहं नियुज्य, वीर्यं चान्तेऽवरोधं कृतमतिविमलं
नो मनः शान्तिमत्वम् ॥ १५ ॥ चित्तं मे विमलायतं जिनवरे लग्नं
गुरोर्भावनात्, सेवाभावबलं च संयमबलं प्रोक्तुष्टमप्रेऽकरोत् । रक्ष्यं

संघवलं प्रतापसहितं कार्यं सुवाक्यार्चनमीर्षाशून्यवलं विधातकवलं
 तत्त्वात्मकं धार्यताम् ॥ १६ ॥ धैर्येण क्षमया विभान्ति मुनयः कञ्चै-
 र्यथाम्बवाशयाः, सत्यासत्यविमर्शनेन विषयासक्तं मनः शान्यति ।
 तच्छान्तेः सकलेन्द्रियाणि विषयाच्छाम्यन्त्यसद्भावनात्, साक्षात्कारतरं
 भवेद्धृदि पुनः रूपं परस्यात्मनः ॥ १७ ॥ दृश्यादृश्यमिदापवारणकरे
 लोलायुपश्वेतसा, सौत्रोः सच्चरितामृतादिविलसच्छास्त्राश्रये स्वीयताम् ।
 चार्वाचारविचारसारस्पटवो येनास्त्रिःशःश्रीः, तस्मिन् ज्ञानमये जगत्स-
 नुदिनं सत्संयमैरन्यताः ॥ १८ ॥ रुद्धं सर्वमनर्थकं मगधता हिंसाफलं
 नर्कदं, साधूनां प्रबळारिनाशनकरं साध्वीगणानां तथा । तीव्रं भावक-
 पायकादिश्रमं तत्त्वानुरूपं महतीर्थं स्थापितवान् स्वनामविजितं सार्ध-
 न्यमेवं कृतम् ॥ १९ ॥ तत्कालीनगुणानुरूपमभिधां बोधालिनीं
 नूतनां, संघे ससिद्धिमेकतां सुमपुरां कृत्वा स्वधर्माधिने । योऽयत्वं
 समये विधाय हृदये जाता यतो योगिनः, सूत्रोक्ते वचने कुतश्चम-
 निशं विश्वासमेवं मुहुः ॥ २० ॥ येनोद्धातवलं च हिंसकवलं पूर्णा-
 त्मना सम्मुखो, भूत्वा नष्टतरं कृतं सुमनसा रुद्धं च मिथ्याबलम् ।
 शुद्धश्रावकश्राविकागणमयं संस्थाप्य तीर्थं शुभं, श्रीतीर्थहरनाम त्वं
 सुखलितं सार्धन्यमेवाकरोत् ॥ २१ ॥ तत्काले जनता स्वधर्मनिरता
 सहे सदा सम्मता, यावैक्यस्य रसस्य पानमसकृद्यत्वायिते प्रेमतः ।
 आज्ञा विश्वहिता सुबोधजननी संस्थापिताऽमानदा, धैर्यं शौर्यमद्या-
 बलञ्च सुखदं प्रयोतितं नो मुदे ॥ २२ ॥ धैर्यादेर्वैल्यारणं च
 विषयासक्तेन्द्रियाणां गणं, रुद्धा योगतपोऽस्तिना च जगतो जन्यं महा-
 नर्थदम् । दुःस्वापायकरे तमोऽपहरणे ज्ञाने मनो दीयतां, स्याच्चित्तं

सकलेन्द्रियैः सह ततः शान्तं प्रयासं विना ॥ २३ ॥ पश्चाच्छान्ति-
गतं मनो न विषये लभं कदाचिद्भवेत्पूर्वाचार्य्यवरैः सुसंयमरतैरित्येव-
मुक्तं पुरा । साधूनां जगदन्तरायशमने मोक्षाप्तये साधनं, द्वित्वाऽऽशा-
न्तिकरान् समस्तविषयांश्चेतो गिरौ स्थाप्यताम् ॥ २४ ॥ कामिन्याः
कनकात्कषायत्रिषयाद्ये साधवो विभ्यति, जीवात्राणकरादसत्यवचना-
द्भ्रजानकृष्णोरगात् । स्वाद्बलाशनतः परिग्रहरताचे भव्यभावाशया, लोके
भ्रव्यजनानवन्ति सततं सहोषतत्वामृतैः ॥ २५ ॥ तेजस्तस्य प्रकाशतां
गतमदो भव्याशयानां हृदि, फण्डं भीषणवत्त्वमत्र गहनं संस्थापितं
संयमे । जैनाचार्य्यवरैः परस्परमथो संस्थाप्य चैक्यं बलं, संयुक्ताखिल-
शक्त्यमोघसहिता संपादिविद्युत्प्रभा ॥ २६ ॥ विद्युच्छक्तिरिवारविन्द-
हृदये प्रोद्भासिता येन नः, सद्ये शक्तिमदोच्चयोऽतिकृपया जाता यत्-
शैकता । तां विस्मृत्य च मोहमानममताक्रान्ता वयं दुःखिनस्तामुद्भा-
वयितुं मुहुर्यतिवरा यत्ने मनो धीयताम् ॥ २७ ॥ पूर्वाचार्य्यगणैः पर-
स्परमदशैक्यं सुसंस्थापितं, शक्त्यानन्तप्रवाहसङ्घतडितः शक्तिः समु-
त्पादिता । वीरं शासनमेव निम्नपतित येनोद्धृतं शान्तित, एतावन्नहि
किन्तु शासनवरं संवर्द्धितं न्यायतः ॥ २८ ॥ योगसक्तधियो जिने-
न्द्रमृदुलाम्भोजांघ्रिसेवारता, मिथ्यात्वादिनिरस्तसर्वविषयाः कारुण्यवन्तो
दयाम् । धृत्वा चेतसि त्रयो निधाय च गुरोर्निर्द्वन्द्वपादाम्बुजं, व्याख्या-
त्राय निबन्धरूपममलं ह्याक्रन्दनाख्यं द्रुवे ॥ २९ ॥ ॥ इति प्रस्ता-
वना ॥ अद्याऽनघमयेक्षते च महती हानिः समाजस्य च, भाग्यान्म-
न्दमयादुतावरयुगाद्यच्छासनाख्यं बलम् । क्षीणत्वं प्रतिपद्यतेऽनुदिवसं
न ज्ञायते कारणं, द्वन्द्वारम्भविधौ च कष्टमधिकं संवर्धते हानिकृत्
॥ ३० ॥ ईर्ष्याकाशणतो न कोऽपि कमपिऽभूते न सम्मन्यते, दृष्टेदं
वीर. २५

मतभेदकारकमिदं चेतस्ततो धावति । विद्याऽपि हसते तथाप्यनयतो
 धर्मो विलुप्तो भवेन्न्यायान्यायविचारदुर्वल्लतरो जातोऽधुना बुध्यताम्
 ॥ ३१ ॥ जातोऽयं मतभेदभेदकवशादाचारभेदोऽपि च, संख्या
 त्रिंशतितोऽपि जातमधिकं किं वर्णयामो वयम् । साम्प्रदायिकभेद-
 वेशकरणादाचारभेदोऽपि च, ज्ञातैवं शमसाधनेऽनुदिवसं धर्मे प्रवृ-
 त्तिर्दमे ॥ ३२ ॥ दृष्टेर्म विषयं च कस्य न मनस्तोदं हितेच्छावता,
 प्राप्नोत्यन्तममन्तशासनवशां केषां मनस्तोक्तताम् । गत्याघोरतया च
 हेति सुमहच्छब्दः समुत्पद्यते, जाते सत्यपि साधुचेतसि पुनर्नोत्पद्यते
 भाषना ॥ ३३ ॥ उदौर्बल्यमहचरं न कुरुते प्रत्येकमत्रान्तरे, सर्वेषां
 मनसा विचारकरणे नो भेदभावोऽधुना । वासं नो कुरुते परस्परमहो
 सम्मेलनं नैकतां, नान्येषां, हितमीहते शुभपिया कश्चिन्नरः प्रेमतः,
 दृष्ट्वा चोन्नतकं पदं परजनस्वार्ता भवेयुर्जनाः ॥ ३४ ॥ केषां
 ज्ञानोपलब्धिर्न, भवति सुवरां नास्ति शिक्षोपलब्धिस्त्यक्त्वा सेवापि
 नित्या निजमुनिचरणाम्भोजयोः साधुवर्ग्यैः । सेवाधर्मापलापोऽजनि
 जनहृदयात्त्वमत्तुल्यो नराणां, क्रोधाविष्टश्च लिङ्गं मतिदिनमखिलं
 सभ्यमूलं विहिंसैः ॥ ३५ ॥ योऽन्येषां धर्मलोपे प्रबलबलमयो धार-
 यित्वा प्रवृत्तः, प्राप्नुं, शिक्षाविभागे, प्रचुरसमबलं संविमर्तुं समर्थः ।
 सोऽनर्थं स्फोटयित्वा रिपुदलगहनं दग्धुमभिस्वरूपः, कार्यं तस्यापि
 नित्यं वितरति समये-नाभिमानप्रयोगः ॥ ३६ ॥ सम्मेले विलयं
 गते च कियती सम्माकना दुर्दशा, जातोऽहं पतितो मवे च कियती
 चाघातसंवेदना । यद्दया मे महती तूतसिजवनी कान्तातिदुःखादरा,
 ॥ किञ्चिन्नहि मेखि तद्विगपन्ना कार्ये प्रसिद्धे सति ॥ ३७ ॥ मान-
 क्रोधपरिमहोदयवशाद्धर्मक्षयो जायते, उत्क्षीणे विनवेवशासनपले दासः

समुत्पद्यते । तद्भासे च कलङ्कितं जिनमतं निष्ठा ततो भावना, तस्माद्दोष-
समुच्चयापनयने चित्तं समाधीयताम् ॥ ३८ ॥ अस्माकं यदि बोधमस्त्य-
वनतेर्मानापमानस्य च, पातस्यैव च वाऽवहेलनजनेर्जाता पराकाष्ठता ।
लब्धज्ञानबलेऽपि कुम्भश्रवसो निद्रालयाः शेरते, विद्युत्तेजसममिजं किमु
पुनर्मानूदये तिष्ठति ॥ ३९ ॥ अत्याचारसमुद्भवे च निखिलं नष्टं च
भद्र्यात्मनां, सर्वापारमयी क्रियापि विपुला नष्टा तथा भावना । शास्त्राणां
पठनं प्रणष्टमधिकं जैनावतारे मुनौ, किं कर्तव्यमतः परं मुनिवराः
सञ्चिन्तयध्वं हृदा ॥ ४० ॥ शिक्षार्थं बहुशो जनैर्विरचिताः पाठालयाः
कालया, नो वा साधुगणैश्च विश्वविदितं संस्थापितं वा क्वचित् ।
विद्यार्पीठमनल्पकं यतिवराश्छात्राः पठेयुर्मुदा, ज्ञानाभ्यासकरा नयन्ति
सकलं धर्मादिकं श्रेयसे ॥ ४१ ॥ धर्मे नाभिरुचिर्मुरौ न नियतिर्विद्या-
श्रमे नो मतिः, तत्सूत्रे पठनादरो न हि रतिः सद्दे मुनीनां तथा ।
न्यायान्यायविचारणे न च गतियोगाश्रमे नादरः, श्रेयो नश्च कथं भवे-
दनुदिनं चेतः परं क्षुभ्यति ॥ ४२ ॥ मोहेनाधिकतृप्याय च महति
सञ्जायते नः क्षतिः, यद्दन्ते ममतादयोऽहितकरा ज्ञानं ततः क्षीयते ।
तत्क्षीणे जिनधर्मशर्म विलयं यास्यत्यथो भावना, निष्ठा सूत्रसमुद्भवा
सुरगुरौ लोके कथं स्थास्तिरिति ॥ ४३ ॥ रागद्वेषविवर्धनेन च मनो
न स्यात् स्थिरं चञ्चलं, तद्रोधानयनं विना न विषयाः शाम्यन्ति योगा-
श्रयाः । यावत्कर्मनिरोधनं न हि भवेत्तावत्कथं भावुकं, ज्ञात्वैवं परि-
हृत्य रागविषयं साधं बलं सेव्यताम् ॥ ४४ ॥ गर्तेऽशान्तिमये बध्ने
निपतिताः कश्चिवल्पबन्धो न हि, सर्वाधारजिनेश्वरोपकरणे नो विस्मृति-
योग्यता । दत्तं तेन ततोऽखिलं च विषयं संलब्धवन्तो मुदा, तत्सर्वं
कथमन्यथापहरणं कुर्वन्ति चान्ये नराः ॥ ४५ ॥ सामाजस्य सुरक्षणं

च भवतामाधीनतामागमदेवं चाम्युदयोऽपि भिक्षुकवरा ज्ञत्वा द्वयो
 रक्षणम् । संयुक्तेष्टवलं विना न हि भवेत् तद्रक्षणं नालसात्, संयुक्ता-
 भ्युदयप्रतापजन्ता चैक्यादिकं प्राप्नुयात् ॥ ४६ ॥ पूर्व देशमवेक्ष्यतां
 हि कियतीमत्युन्नतिं प्राप्तवान्, तद्देशोऽप्यधिवासिनो हि नितरां स्वार्था-
 भिमन्ने रताः । तत्रैक्येन बलेन सज्जनजनाः कुर्वन्ति निष्कण्ठकं, राज्यं
 छत्रधराश्च भोगानिरताश्चैकाधिपत्ये स्थिताः ॥ ४७ ॥ देशोऽस्मिन्
 दुरवस्यता प्रतिदिनं वृद्धिगता पश्यत, अत्रत्या विषयोपभोगनिरता
 जाताः पराधीनताम् । ऐक्याभावपरा न संयमकरा नो दूरदर्शोप्सवो,
 रागेर्ष्याशयसंयुताश्च सुतरां विज्ञानशून्याशयाः ॥ ४८ ॥ दारिद्रेण
 सुखेतरा जनपदा साहाय्यमाप्यान्मतः, वचं चान्यजनेन वत्तमनिर्गु-
 सन्धार्यते दुःखतः । पश्यामोऽधमदुर्दशां च महतीं भुञ्जः पराधीनतां,
 बद्धाः श्रृंखल्या वयं परवशाः स्वातन्त्र्यहीनास्तथा ॥ ४९ ॥ पूर्वस्था
 मनुजाः स्वतन्त्रनिरता राज्यं वहन्त्याहिताः, प्रत्यक्षात्मकमुल्यकेन
 नियताः सत्यप्रमाणेन च । ऐक्यं चाधिगताः स्वधर्मविलया विख्यात-
 सेवाः पराः, ज्ञात्वैवं समयादिकं न हि भवेत्याज्यं कदाचिन्नहि ॥ ५० ॥
 जाते वस्तुनि रोदनादिकरणं मिथ्यैव होचारणं, पश्चात्तपनिवेशने न
 हि पुनर्नेत्राक्षुपातं शुभम् । बुद्धारादिविकल्पनं किल मुधा सर्वं व्यलीकं
 त्यजेच्छ्रीमद्वीरजिनानुशासनवरं चोत्थाप्यतां श्रीध्वजः ॥ ५१ ॥ वीर-
 स्वाभ्यनुशासनानुसरणं संधैक्यता सेवनं, सूत्रागाधमहोदधेश्च तरणं
 ज्ञानक्रियाराधनम् । कापायाद्यपवारणं जिनमुनौ सेवार्पणं प्रेमतः,
 सन्त्येतानि शुमार्थिनामनुदिनं श्रेयःकराण्यप्रतः ॥ ५२ ॥ मृत्युप्राय-
 गतस्य चैक्यमुचलस्योत्थापनं कार्यतां, यद्येकेन समाजकेन समये साम-
 धर्मभाजा न हि । वीरत्वेन च बलरत्नकरणे चेतः समाधीयतां दाढ्यं

निश्चयमाविधाय मनसः शुद्धिर्विधेया पुनः ॥ ५३ ॥ रागैश्चापि परि-
 ग्रहेरनुदिनं मुक्त्वा भवन्त्वादरात्, सर्वानिष्टकरैर्ममत्ववलिभिः । सङ्गः
 परित्यज्यताम् । स्वस्वधाकरणे ममत्वकरणे दोषो महाजायते, सर्व-
 साद्विषयान्मनोपहरणं श्रेयस्करं स्यात्ततः ॥ ५४ ॥ शास्त्रे वस्त्रे शिष्य-
 वर्गे शरीरे, ग्रामे देशे श्रावके चान्यकार्ये । शोकं मोहं सम्परित्यज्य
 नैजं, स्थायत्तायां नैव ग्राह्यं कदाचित् ॥ ५५ ॥ बोधार्थं जनताहिताय
 सकलो ग्रन्थो मुदा ह्यर्प्यतां, न स्थाप्यो निकटे कदापि मनसो भार-
 दयं नित्यशः । त्यज्यन्तां प्रियवस्तुनोऽपि नितरां नो कार्यतां सञ्चयो,
 नित्यैकं वसनं निधाय सुखदं स्वे जीवने रक्षणम् ॥ ५६ ॥ ग्राह्यं
 मृष्मयमेव भाजनमथो नोऽनल्पमूल्यात्मकं, चैकं चाम्बरमेव धारणवरं
 नान्यन्महर्षं क्वचित् । धार्यो नान्यपरिग्रहश्च ज्ञयनं भूमिस्वले शोभनं,
 नो वाच्यं परुषाक्षरं क्वचिदथो जातापमानैरपि ॥ ५७ ॥ नो भोक्त-
 व्यमनुत्तमं रसरसैर्युक्तं सदन्नं क्वचित्, गार्हस्थ्यैर्मनुजैर्न सङ्गतिरिवः
 कार्या शुभाकाङ्क्षिभिः । स्वातन्त्र्यं शुभशासनैः शमदमज्ञान्त्यादिभिः
 संयुतैरेवं जैनमुनिं समुन्नतपदारूढं भवेन्नान्यथा ॥ ५८ ॥ स्वातन्त्र्यं
 समवाप्य चात्मनिहिता शक्तिः समाश्रीयतां, चारित्रं च निरीहता सर-
 लता सत्यं निवासं वने । एवं संयमता क्षमत्वमनिशं सत्याग्रहत्वं तथा,
 इत्यादेर्वलमुद्विभाव्य सकलं स्वातन्त्र्यसञ्चिन्तनम् ॥ ५९ ॥ यत्रानन्त-
 सुखं भवत्यनुदिनं तां पद्धतिं गच्छत, श्राद्धानां भवनं त्यजन्तु मुन-
 योऽरप्यं गुहां चेच्छत । स्थित्वा तत्र सुसंयमं प्रकुरुत नान्योऽस्ति
 पन्थाऽपरः, सर्वसिन् विषये भवन्तु निपुणाः पारंगताः स्युः पुनः
 ॥ ६० ॥ भगवद्दीरजिनस्य जन्मभवनं नित्यं भ्रमन्त्याहिताः, शीताद्य-
 न्वितदेशमार्गपथिको भूत्वा महावेदना । सोढव्या च महोप्यदेशज-

नितं चोष्णादिकं वा, तथा; सेव्यं साधुजनस्य सङ्गमखिलं हेयं गृहिस्त्री-
जने ॥ ६१ ॥ साध्वीस्त्रीगणसंगते न च पुनर्नो दर्शयेच्चाननं, संघसो-
व्रतिके मनो मुहुरथो सन्दीयतां प्रेयतः । तच्चाप्युन्नतशैलरे स्थिरयितुं
यत्नेन संस्थीयतां, सन्तोः भिक्षुवरः समाजविषये सद्गौरवं धार्यताम्
॥ ६२ ॥ स्वच्छं जैनमतं तदुक्तविधिना स्याद्वादचित्तार्पणं, तत्तत्रोक्त-
विमर्शतत्त्वमननं शश्वद्धिताऽऽधायकम् । कर्तव्यं प्रतिवासरं सुमुनयो
हित्वा कथायादिकं; शास्त्रेऽन्यत्रमते (परसमये) सुबोधकरणे कल्पन्तु
सङ्घुद्धिमिः ॥ ६३ ॥ शास्त्रोद्धारकृतेऽनुरक्तमनसः प्रत्यन्तदेशंप्रति,
मा गन्तव्यमसत्करांश्च विषयान्नो चिन्तयध्वं हृदि । सधिरैर्विलसद्गृहं
दुःखनिनां हेयं सदा दूरतो, दध्याज्येन संमन्वितं च पयसा त्याज्यं
सदन्नाशनम् ॥ ६४ ॥ शीतोष्णादिकजन्यतापसहनं मौनं मिताभाषणं,
येन त्याज्यनतोपकारमुखदं वापयं च धार्यं हृदि । गन्तव्यं गहनं गिरौ न
मिहितं सत्कन्दरामन्दिरं, भोक्तव्यं विरसादिकं च क्षशनं धृत्वा पशान्ति
मुदा ॥ ६५ ॥ योगाभ्यासपरायणो गुरुयदाग्भोजार्चनासक्तधीः, सूत्रा-
भ्यासरतो दमादिसहितः सद्भावनासंयुतः । ध्वस्ताशेषकपायको जित-
महापङ्कगेशधुर्गुरुः, सद्गच्छ्या परिपूर्णशान्तहृदयो योगाश्रमे दक्षधीः
॥ ६६ ॥ नो वै वेपविधानमाप्रकरणाच्छिष्यो मवेत्कर्हिचिच्छान्तं धर्मरतं
गुणान्वितजनं संशिक्षयेद्दीक्षया । नानाशास्त्रविचारणोत्सुकमनास्त्यक्तैयणो
दुःखहृत्, एतादृग्गुणवत्तरो ह्यतिप्रियः शिष्योऽप्येयो मुहुः ॥ ६७ ॥
हे भिक्षुप्रवरा मयाऽद्य समये सन्दश्यते संस्वितिः, वे केचिद् गृहिषो
गृहादिरहिताभ्यायान्ति नष्टे धने । दुःसार्ताश्च नुमुक्षवो हि भवता-
मारात् पिपासाकुल्या, नो कृत्वा च परीक्षणं पुनरथो दीक्षां ददत्याद-
रात् ॥ ६८ ॥ तेभ्योऽप्योम्यतरेभ्य दीक्षणमहो सन्दीयते वा हटा-

दीक्षामात्रविधानकेन नियता भ्रं प्रदत्त्वा मुदा । किञ्चिद्भा-
 पणयुक्तिशक्तिसहिता भाषात्मिका दीयते, दशवैकालिकनन्दिसूत्रवि-
 पय उचीर्णता चेद्भवेत् ॥ ६९ ॥ नो वैराम्यरतो विचारकर-
 णेऽदक्षो न विद्यान्वितः, क्षिप्रं श्राद्धज्जनाय मोहकरणेऽविद्यावशः
 सत्कथाम् । नो वा जैनमतानुसारचलनो भक्त्या विरक्त्या युतः, (नैवं
 शिष्यगणोऽतिदीक्षणपरो नो भावशुद्धौ रतिः) अन्येभ्यो हठवधनाय
 नितरां शिष्योऽप्यनिष्टः स्मृतः ॥ ७० ॥ न्यायप्राकृतजन्यकान्यविषयं
 सच्छाब्दिकं वा पुनर्दद्याज्ज्ञानमनन्तरं सुमुनये शिष्याय दीक्षामपि ।
 येन स्यात्समितौ सुयोम्यगणना लब्धप्रतिष्ठो भवेन्नो चेत्कर्मविगर्हितं
 च भवतां निन्दालयो जायते ॥ ७१ ॥ इष्टेमां घटनां बुधो हृदि
 महत्कष्टं मनस्रोददं, हास्यं वा विदधाति रोदनमथो वाक्षार्थमेपौ
 जनः । हीनं योग्यतया जनो न मनुते सत्कारमातन्यते, जन्मान्धस्य
 दिवाकरः प्रकथनं नामात्यन्तप्रदम् ॥ ७२ ॥ ज्ञानं नैव विभाति यस्य
 हृदयेऽज्ञानान्धकारापहं, नो शिक्षा विशदा सतां न मुखरो भूत्वाऽ-
 न्यथा वञ्चनम् । लोकान् वञ्चयितुं करोति विविधां धृत्वा मुखे
 वस्त्रिकां, जैनानां मतदूषणं प्रकुरुते न स्थापनीयो जनः ॥ ७३ ॥
 साङ्गोपाङ्गतया च सूत्रविषये स्याद्वादज्ञाने तथा, छन्दःशास्त्रसमन्वि-
 तेऽन्यविषये ज्ञानं प्रदायाथवा । साधुभ्यश्च परीक्षणं सुनियतं संस्कार-
 यित्वा पुनः, पश्चाद्दीरपदानुसारवशतो दीक्षा प्रदेयाऽन्यथा ॥ ७४ ॥
 व्याख्यानप्रतिभाप्रबन्धरचना शिक्षाप्रणाली ततो, धर्माख्यानपरं च
 भाषणमयी सद्भावना जायते । ज्ञानं न्यायकरं समस्तजनताकल्याण-
 कृद्भाव्यत, एवं रीतिमुपाश्रयेच्चदि मुनिर्धर्मप्रवाहोदयः ॥ ७५ ॥ अर्ह-
 ङ्गीरनिमित्तधर्मसरणीमाश्रित्य देशान्तरं, आन्त्वा विश्वहिताय धर्मत-

र्णां हिंसाद्यगवात्मिकाम् । दत्त्वाऽनेकविवादवादनपरं निर्भूयं बोधाश्रये,
 तिष्ठेतासिल्लेखेऽनाशनपरा ज्ञाने परे निष्ठया ॥ ७६ ॥ देशकं च
 वयं सुसंयमरताः संसेवयामो मुदा, ताद्याचूडमयाण्डवत्प्रतिदिनं संता-
 रत्वाद्ब्रजकम् । भूत्वा च भ्रमणं तु निष्कलमहो कुम्भो विरामः तदा,
 तेषां चणपरा मत्तानुकरणे जाताः प्रवृत्ता रहः ॥ ७७ ॥ चित्तं देह-
 धलोक्त्यतां च गृहिणो विधासमासाद्य च, युष्माकं मनसा धिया च
 सुतरां तिष्ठन्ति सेषाश्रये । घ्यात्वैवं च तथाविधोऽज्ञानपदोऽधोस्थापयन्
 भुवं, नोचेन्निस्रतलं पतन्ति बहुधा कृच्छ्रालवबादुजतेः ॥ ७८ ॥
 भारत्या भवने च पुस्तकचयं संस्वाम्य साधून्महास्त्रक्षाकरणे प्रयत्न-
 शतकं श्रद्धाधिपेयं तथा । यत्नाभूषणयोर्वधेतरजनाः कुर्वन्ति सद्गणं,
 सूत्राणां चयनं सदा च मुनिभिः कर्तव्यमत्रालये ॥ ७९ ॥ अर्हद्वी-
 रमुधर्मरोधकरणं यत्पुस्तकं वर्तते, नो तद्वाद्यमसत्करं च मुनिना लभे-
 यते सर्वदा । यत्र स्त्रीस्तिवर्णनादिविषयं तद्दूरतस्त्यज्यतां, साद्वाद्य-
 दिकशान्त्वमेव हितकृत् प्राद्यं शुभाकाङ्क्षिभिः ॥ ८० ॥ येन ज्ञानधि-
 यर्षनं च भवतां सञ्जायते मोदतस्तद्योग्यं च हिताय वोऽनुदिवसं
 प्राद्यं दुर्धः सत्यतः । एतादेरनुवर्णनं च कथनं भावोऽस्ति यत्रापि
 या, हिंसाभावपरिग्रहप्रस्थानं हेयं सद्य साधुभिः ॥ ८१ ॥ तत्रानर्थ-
 करं तुसंयमहरं शान्त्यादिविशेषदं, न प्राद्यं मनसोदयं च प्रतिभियोगे
 च विप्रप्रदम् । येनाज्यापलभ्यर्म्मंशर्मपिलसत्सद्गोभसूयोर्यत्पद्यद् प्राद्यं
 च पलादपि प्रयत्नतां योगार्थिनां ध्येयं ॥ ८२ ॥ युष्माकं परिषा-
 टिकेयमपरा यच्छास्त्रसूत्रादिकं, मोहादिप्रवलायतेऽधिकतरं दृष्ट्वा
 जनेर्हस्यते । नेत्रादमुनिपासनं च नितरां कुर्वन्ति हे भिक्षवः !
 पात्रं वाऽप्यथवाम्बरे च मनसा सन्दस्यतेऽन्वयेनेत्तलादप्यधिष्ठं पय-

दिविषये मोहं समुज्जृम्भते ॥ ८३ ॥ तर्कि. हीर्न हि. जायते भगवतां
दीक्षार्थिनां लोकतो, लोकानां च. घनार्जनं परजनश्रेयस्करं ज्ञायताम् ।
युष्माकं परिरक्षितं गतपदं न श्रेयसे. पुस्तकं, ज्ञात्वैवं समतां. जहत्व-
नुदिनं भव्यं भवेद्येन च ॥ ८४ ॥ विद्याऽध्यापनकार्यलुप्तमधिकं तत्रापि
पाठ्यक्रमो, हा वो हानिकरी विभाति क्रियती संख्या विरामस्य च ।
नोऽवस्था मुत्रतग्रहस्य नियता नो वा घृतादेस्तथा, न स्वस्यापि गुरो-
र्विचारमननं कुर्वन्ति काऽन्यत्कथा ॥ ८५ ॥ यच्छास्त्राणि च पुस्त-
कानि पठने चोपक्रमात्पाठने, तानीषाममतावशाद्बहिर्गृहे ग्रंथि विद्या-
याग्रतः । नष्टप्रायगतानि विश्वजलधौ नोद्घाटयन्त्यालसात्, शिष्येण
प्रतिवासरं च गुरवोऽन्योन्य प्रयुध्यन्त्यतः ॥ ८६ ॥ वैरं भावगताः
परस्परमहो प्रेमोच्चकाधःपतन्, लोकान्तानि निजानि संकल्पयन्
यान्त्या विनायासतः । ज्ञात्वेमां च दशां मदीयमनसि स्याद्दुःखसङ्गं
पुनर्जनाचारसुशास्त्रतत्त्वमननात्स्वाध्यायवृद्धिर्भवेत् ॥ ८७ ॥ नीतिन्या-
यप्रमाणतत्त्वनिस्त्रिधात् सर्वं विरुद्धं मतं, कोऽपि प्रीतिपुरःसरं न कुरुते
कर्माखिलं सज्जनः । तेनाधःपतनं गतादिविहितं धर्माच्च यायान्मुहु-
त्वेनाऽहं च करोमि चिन्तनमहो धर्मस्य वृद्धिः कथम् ॥ ८८ ॥
शबालयगतौ यद्ब्रह्मसारमेवौ परस्परम् । युध्यन्तः साधवस्तद्वत्,
युध्यन्ति प्रीतिमन्तरा ॥ ८९ ॥ अतोऽस्माकं च साधुत्वं, गतं नास्त्यत्र
भावना । दुर्दशा कीदृशी जाता, स्वधर्मो निघनं गतः ॥ ८९ ॥
येनास्माकं वर्धते ज्ञानशक्तिर्यस्याधारात्प्रीतितत्त्वावबोधः । स्वाध्यायस्या-
मूल्यरत्नं वदन्ति, शान्तिर्दान्तिर्ज्ञानरूपे परेशे ॥ ९० ॥ तच्चेदानीं
नाशभावं प्रयाति, नो वा शुद्धिः संयमादेश्च प्राप्तिः । तद्वारा वा नैव
बोधो न भावस्तस्माच्छास्त्रं साधवोऽप्यात्मपार्श्वे ॥ ९१ ॥ तद्ब्रह्मन्थाँल्लो-

ककल्याणद्वेतोर्लोके धर्मप्राप्तये वै वहन्तु । येन स्यान्नो रक्षणं संय-
मादेन स्याद्धानिः कार्यसिद्धौ मुनीशः ॥ ९२ ॥ तस्मात्सर्वान् भारती-
गेहमध्ये, सन्तो ग्रन्थान् स्थापयन्तु प्रयत्नात् । येन स्याद्वै सर्वलोको-
पकारो, ज्ञानैवं वै नो विलम्बं हि कार्यम् ॥ ९३ ॥ शुद्धस्फाटिक-
वत्सरोजहृदयो विद्याकलावारिधिर्भाव्यस्तापत्रयापहो गुणनिधिः शिष्ये-
ष्टकामप्रदः । यद्येतादृशभावधारणकरः, स्याच्चेद्गुरुः क्षिप्रतः, शिष्या-
रिष्टनिनाशनं च भवतान्नास्त्यत्र सन्देहकः ॥ ९४ ॥ एवं भिक्षुवराश्च
शिष्यरचने क्लेशप्रदा वः प्रथा, यः कश्चिद्भवति प्रदीक्षणपरः स्यात्तस्य
दीक्षेच्छया । कायात्पारदवद्बहिःप्रसरते वार्ता स्फुटावित्यद्यः, ध्रुत्वा-
ऽनेकवरिष्ठसाधुचतुराः स्वास्यात्क्षरन्त्यम्बु च ॥ ९५ ॥ यत्रेनायमत-
द्विदो यदि भवेन्मे स्याद्द्वरः शिष्यकस्तस्यापि प्रभवेत्सुजीवनवरं लोके
च धन्यो जनः । जन्ते सिद्धिकृतेऽन्तरस्वघटको दुर्वासनां वर्द्धयेत्,
नास्त्रार्थं समये सुसंयमयमाश्रित्यं यवन्ते मुहुः ॥ ९६ ॥ संप्रहः पुस्त-
कानां यो, दोषो वर्वाति तद्विदाम् । शिष्याणां करणे तद्वन्महान्
दोषो हि जायते ॥ ९७ ॥ मातापित्रोर्विनाशां च, व्ययं दीक्षोत्सवे
चहु । अपव्ययमपि कर्तुं, प्रेरयन्ति मुहुर्मुहुः ॥ ९८ ॥ भिक्षवः शिष्य-
तृष्णातो, नश्यन्ति धर्मकर्मतः । लगौरथं व्रतं चापि, नाशयन्ति मुषा
स्वतः ॥ ९९ ॥ रोगस्यासेयमस्तीह, शान्तिः भीत्तामिनो परा ।
महावीरस्य संप्रस्य, सेवा सर्वार्थसाधिनी ॥ १०० ॥ सम्प्रदायानुरो-
धेन, संयमादेश्च सेवनम् । गच्छवाद्दं गुरोर्वाद्दं, शिष्यवाद्दं विवर्ज-
येत् ॥ १०१ ॥ भारतस्यास्त्रिलसैकमुस्याचार्य्यो भवेद्भुवन् । मूत्वा
तस्यैव शिष्यास्तु, तदज्ञां षालयन्तु च ॥ १०२ ॥ यः कश्चिद्दीक्षणं

प्राप्तुं, समीहेत मुदान्वितः । स्वदेशे संयमं दीक्षां, निर्वेदेन च धार-
येत् ॥ १०३ ॥ तदा व्यवस्था सन्मार्गं, गत्वोन्नतपदं ततः । गच्छेच्च
शिवसम्प्राप्तिः, सर्वेषां नो भविष्यति ॥ १०४ ॥ सद्धे चैकः स्थाप-
नीयो गणेशः, सर्वानर्थान् वेदितुं यः समर्थः । येन स्थानः सम्प्रदा-
यानुरोधाद्धर्मे वृद्धिश्चिन्त्यतां भिक्षुवर्यैः ॥ १०५ ॥ कश्चित्समाजस्य
महत्पदास्पदं, विभर्तुमिच्छेत् किञ्च तस्य वागुराम् । कर्तुं करे स्वस्य
सदेपणास्ति वा, प्रगृह्यतां चेद्वरिवर्ति शक्तिः ॥ १०६ ॥ कश्चित्त्वयं
सर्वसमाजकार्यकर्ता तथा धारयिता बुभूषुः । तथा व्यवस्थापि समाज-
शक्तौ, स्वशक्तिमास्थापयितुं प्रवृत्तः ॥ १०७ ॥ कस्यापि चेच्छास्ति
समाजनेता, सदा भवेयं च मुशासकोऽपि । एतद्वितेच्छा च प्रवर्ध-
तेऽनिशं, सर्वस्वमेवास्तु मयि प्रपन्ने, ॥ १०८ ॥ यदीदृशीच्छा परि-
वर्तते तदा, समाजलोपोऽपि भवेद्दि शीघ्रम् । इत्थं समाजस्य च
दुर्वशा भवेद्विचिन्त्यतां जैनमुनिप्रवीणैः ॥ १०९ ॥ कृच्छ्रादाप्तपदो-
न्नताद्धि पतनं निम्नं समाजस्य च, एवं गौरवनाशतां परिग्रजेत् सर्वे
भवेयुस्त्वरम् । दुःखार्ता जिनदेवभक्तिनिरता धर्मोऽपि नाशं व्रजेत्,
ज्ञात्वैवं जिनशासनोऽनुदिवसं तद्रक्षणे स्वीयताम् ॥ ११० ॥ रोगो-
ऽनेन समाजभोगविषये वृद्धिगतो नित्यशः, साधूनामहमालिकाविकृ-
तितो नष्टाऽधुना सम्यता । सर्वेषां हि महत्त्वत्वविषये जातेपणा
सर्वतो, मानं चातपधावने निपतितं मिथ्यापलापो मिथः ॥ १११ ॥
भिक्षूणामभिमानभावमधिकं कापायसंसेविनामेतस्यापणमार्गभागविषये
जातं महर्धं ध्रुवम् । योम्यायोम्यविचारणापि विलयं याता समाजस्य
किं, तेनैवास्ति समाजकोऽपि नितरां पिष्टस्ततो धुण्णवत् ॥ ११२ ॥

भिरुचिं विदधुः । लोकांतरप्राप्तिनिमित्तभूतसज्ज्ञानकर्मादिकरा
 भवन्तु ॥ ७ ॥ अत्रान्तरे मानवलं त्यजेयुः, सत्साधुसेवा नितरां
 विशेषा । सत्वात्मिकां वृत्तिमनूपसृत्य, मनश्च स्वाध्यायवले नियुज्य
 ॥ ८ ॥ स्वजीवनेनाद्यसमाजसेवा, रश्मि गृहित्वा परिरक्षणीया । निश्चित्य
 चित्तेन समाजवृन्दे, साहाय्यदानं करणीयमाशु ॥ ९ ॥ अथाभ्या-
 ख्यानप्रहरणम् ॥ सन्दृश्यते भिक्षुवरा ! मयाद्य, किञ्चिद्विकारान्वित-
 साधुभावाः । तेषां च जाते परिवर्तनादिकं, कुत्सान्वितं तेन विचार-
 णीयम् ॥ १० ॥ दुष्टस्वभावान् कथयन्ति चान्यान्, कुर्वन्ति स्वस्यैव
 प्रशंसनं च । विद्वत्सु दोषं परिभावयन्ति, गुणं पिधायथ गुणं स्वकी-
 यम् ॥ ११ ॥ प्रकाशयन्ते च स्वकीयदोषं, पिधाय ते संयमिनः
 वरिष्ठाः । निन्दन्ति ते दुष्कृतिनोऽभिमानात्समाजभाजः प्रवदन्त्य-
 सिद्धान् ॥ १२ ॥ यदापहर्षुं वरिवर्तिं शक्तिस्तदेतरस्थान् गुणदिव्य-
 संघान् । आच्छिद्य सिद्धप्रवरा भवेम, इति प्रजल्पन्ति विचारशून्याः
 ॥ १३ ॥ नदीयेऽत्र काये यदि शक्तिरुमा, जगन्मात्रजातान् गुणा-
 नाविच्छिद्य । स्वकीये तनौ स्थापयित्वा वरिष्ठो, भवेयं तदा सर्वतो
 माननीयः ॥ १४ ॥ परन्त्वस्ति भव्यं न चेद्दग् बलं वा, न विज्ञान-
 शक्तिर्विधातुं कुतः स्यात् । परेषां च निन्दाभिधानं मुखेन, परं मन्यते
 शाकपत्रादिकल्पम् ॥ १५ ॥ अयेऽन्यत्र निन्दे ! न लब्धं पदं ते,
 विहाय स्वलं साधुसधे प्रवेशः । कृतस्त्रे न जाने सदा दूरतस्त्वां,
 त्यजेयुर्जना मानवन्तो मनस्तः ॥ १६ ॥ अये पापिनि त्वत्कृते धर्म-
 नाशे, भवेन्निम्नपातश्च नो धारयत्वम् । अतस्त्रैर्मुखं नीलवर्णं च नाशः,
 समाजाद्बहिस्त्वं गता चेद्दरेष्यम् ॥ १७ ॥ अयेऽनिष्टभावे ! पिशाच-
 स्वभावे ! मुनीनां समाजात्त्वमन्यत्र गच्छ । न भव्यं भवेत्तत्र संने-

लने च, मुजाते मुरम्ये कुतस्तेऽत्र वासः ॥ १८ ॥ सदा सख्यतामप्य
 ते न प्रवेशो, वयं वञ्चिता ज्ञानिनोऽज्ञातसंगाः । मुसं पश्यतेऽप्रे च
 संमेलनं नो, भविष्यत्यन्यायास्ततश्चाजमेरे ॥ १९ ॥ न याचेऽतिरिक्तं
 समाजान्मुनीनां, मनो मे प्रसक्तं समाजप्रसङ्गे । अतो धारणीयं मन-
 सस्य सिद्धौ, यतो नो भवेद्धर्मलाभो मुनीनाः ॥ २० ॥ वयं चाप्य
 (सं) भोगान्मुदोद्घाटयिष्यामहे ज्ञादद्यास्यान् रात्रा मेगभावात् । भरम्ये
 निवासाय यत्नं विधाय, तत्रावेकबलं मुहुर्धारणीयम् ॥ २१ ॥ मृदा
 निर्मितं पात्रमेकं सदैव, ध्रुवं धारणीयं गृहस्यैः समं नो । कदाचिद्वि-
 धेयाऽशुभा सप्रतिष्ठा, दलं प्रेषणं वजनीयं तथैव ॥ २२ ॥ मुखावा-
 सिहेतोश्च कर्तव्यमेव, मिताहारमेकत्र काले परीयः । मितित्वा च
 सांघत्सरं पर्यचैकं, वयं चास्तित्वाः साधवो यत्नतश्च ॥ २३ ॥ सदाऽऽ-
 चार्यव्योऽलिललां मुनीनां, युधेको भवेच्छिष्यदिसाप्रदायी । त्यजे-
 शुर्विचारे च यं भेदवादं, करिष्यामहे ज्ञानविज्ञानवादम् ॥ २४ ॥
 जहो ज्ञानरूपेऽप्य गङ्गाप्रवाहे, सदुत्साहशक्तिं च कुर्मोऽतिहर्षीत् ।
 समाजेऽत्र सर्वे मिलित्वा त्वदीयं, बहिष्कारमेव करिष्यामहे च ॥ २५ ॥
 यदा ते भवेन्मूलमोऽप्य निन्दे ! क्वं त्वं समाजे च तिष्ठेरेवेनः ।
 यदा ते च्युतिस्त्वापिफाराद्भवेत्, तदा ते ॥ यानं भवेद्गृहि शिष्यम्
 ॥ २६ ॥ मुसम्मेलनस्य प्रसंगे बलेन, बहिष्कारभावो न जातः
 कदाचित् । अर ! त्वं मुसं नावल्लोके त्वदीयं, सकीयं तथा नैव सन्द-
 र्शयामि ॥ २७ ॥ तथा नैव केनापि साकं वदामि, तथा मोननापाय
 तिष्ठानि शब्दम् । गतं वेदनस्यं शरीराय नैऽप्य, त्वयि निन्दनाये गते
 येनसपाद् ॥ २८ ॥ यदा द्रोहबुद्धिस्तदा ते निवातोऽन्यथा तं प्रया-
 दीति संपान्मुनीनाम् । जगद्भ्रन्तुं नो वितिष्ठस निन्दे ! निव-

तस्व तूर्णं वने पर्वते वा ॥ २९ ॥ इतः पेपणं ते करिष्यन्ति
 लोका, अतोऽन्यत्र गन्तव्यमेवं त्रिचार्य । न वा भद्रमत्राधि-
 वासे बलिष्ठे, जगते करिष्यत्यहोऽनादरं हि ॥ ३० ॥ भवद्भिः-
 मुखात्स्वाच्च त्याज्या वरिष्ठैस्तपस्याबलं संयमादेर्बलं च । तथा
 संघसेवा बलं चात्मनोऽपि, भवेन्नष्टमेवं हि सर्वस्वनाशः ॥ ३१ ॥
 मया निश्चयं दीयतेऽद्य भवद्भिः, परित्यज्य निन्दां सकर्तव्यतां हि ।
 तथेर्ष्यामयं क्रोधमात्सर्यमेवं, समाहृत्य धर्मं चरेयुर्विरक्तिम् ॥ ३२ ॥
 [अथाऽपलापविषये] यदा कश्चिदायाति पार्श्वे स्वकीये, तमुत्थाप्य
 हस्तेन चोर्द्ध्वं (हर्म्यं) नयन्ति । तथैकान्तगोहे च तेनैव वार्ताऽपलापं
 प्रकुर्वन्ति मोदैः प्रमोदैः ॥ ३३ ॥ विनाज्ञानसम्पन्नमेकं स्वशिष्यं,
 विधायाथवा द्वारपालं स्वकीयम् । विनोदेन कुर्वन्ति कार्यं विगर्हमहो
 वर्तते कीदृशी साधुवृत्तिः ॥ ३४ ॥ मुखे चानने चक्षुषा चक्षुरेवं, तथा
 कर्णके कर्णवृत्तिं निधाय । करोत्याहितः किञ्चिदात्मानुकूलमनिष्टप्रदां
 सर्वनाशाय वार्ताम् ॥ ३५ ॥ निन्दा यस्य मुखेऽस्ति तापसजनाः
 सत्कर्मतो धर्मतो, अश्यत्यत्र च तस्य नश्यति तपो ज्ञानं पुनः
 संयमः । तस्मात्तां परिहृत्य संयमपरैश्चित्तं समाजे मुहुः । संस्याप्योत्त-
 मकर्मसेवनपरैर्जैने मते दीयताम् ॥ ३६ ॥ यदैकस्मिन् स्थाने निब-
 सति मुनिस्तत्र न परान् । समाजस्थान् साधून् न हि हितकरानाहित-
 धियः ॥ निवासार्हान् रगान्निजनिकटतो दूरयति च । तथा वार्तालापं
 तैः सह हृदा नैव कुरुते ॥ ३७ ॥ समानीतं तैश्च मधुरजलमन्नं न
 मनुते । न वाऽऽतिथ्यं तेषां न च किमपि सत्कारकरणम् ॥ परं चैवं
 ज्ञात्वा परमतरताञ्छून्यहृदयः । अहं वै पश्यामि व्रतमपि च तेषां
 मतिहरन् ॥ ३८ ॥ यथा श्वाऽन्यधानं परमनिजकोपेन निकटं ।

मनायं भक्ष्यांशं किमपि न हि चातुं प्रभवतु ॥ विचार्येत्यं शब्दैविः
 कलमनसा दूरयति च । मुनीनां संघेऽयं भवति कलहो द्वेषमनसा
 ॥ ३९ ॥ प्रसन्नोऽयं दृष्ट्वा नहि भवति कश्चिन्मुनिवरस्तथाऽन्योन्यं
 द्वेषं विप्रममतिनोत्पाद्य कुरुते ॥ पश्यन्नेयं नीतिर्न हि न हि न जाने
 कथमगात् । इतः श्रेष्ठश्चागः कपिरपि कपोताश्च मुषियः ॥ ४० ॥
 मिलित्वेनेऽन्योन्यं समयमनसा रक्षणमहो । सदा कुर्वन्त्यन्ये विषय-
 सुखभोगेऽपि नितराम् ॥ सहाया जायन्ते इति मनसि निश्चित्य
 भवतो, (परं द्वेषा युक्ताः सुखदगुणवन्तो मुनिजनाः) पितृमन्त्यां
 शक्त्या विषयगुणयोगैकनिपुणाः ॥ ४१ ॥ [अथ शान्तिकराष्टकम्]
 न वा साधुवृत्तिर्न वा कोपशान्तिर्न वा संयमादौ प्रवृत्तिर्मुनीनाम् । न
 हि ज्ञानसिद्धिर्न विज्ञानवृद्धिः, कथं जैवसंघे निश्चितिर्नानाम् ॥ ४२ ॥
 गता संघभक्तिर्गताश्चिरोधो, गतं चात्मतत्त्वं गतं शुकृष्यातम् । इवा-
 नीतनानां मुनीनां प्रवृत्तिः, मुखे शायके चाशने शिष्यवर्गं ॥ ४३ ॥
 गताऽऽध्यात्मविद्या गताऽऽनन्दवृत्तिर्गता भावभक्तिर्गता सर्पाचिता ।
 गता भिक्षुसेवा गता धर्मवृत्तिर्गता शान्तचर्या निवृत्तिः शुभा न ॥ ४४ ॥
 गतं ज्ञानगम्यं परं धैर्यरूपं, यतो वदतोऽतो भवेदस्मंदादिः । कथं
 स्वाद्वाग्भोधिपारं मुनीनां, विना सत्कियां चिन्तयच्च मनसः ॥ ४५ ॥
 सदा शिष्यलोभाद्ये नः प्रवृत्तिर्न वा चिन्तनं कोविदानां च तत्रे ।
 अनेकान्तसिद्धान्तस्वाध्यायदीना, मनोरोधने नो गतिर्या कथं स्यात्
 ॥ ४६ ॥ गता वैशमपाद्वा साधुभावाद्गतो न्यायसिद्धान्तऽन्यो विचारः ।
 सुसम्पत्त्वमानन्दकन्दालयं नो, पूतं नैव चित्तं कदाचिन्मुनीन्द्रैः
 ॥ ४७ ॥ जलाध्यायतोऽज्ञानवृद्धिप्रसङ्गात्तं जेदत्त्वं गुणभ्यक्त्य-
 क्तम् । सदा चिन्त्यते केन नयं भवेन्नत्वा सेरुनीवं, यदा गुण-

साम्यम् ॥ ४८ ॥ न वाऽरुण्यवासो न वा त्यागशक्तिर्न वा ज्ञानं
 धर्मसत्त्वस्य शश्वत् । वरीवर्तिं चिन्तोदरार्थं सदैव, अतोऽहं तपाम्यात्-
 भावं यतीशाः ! ॥ ४९ ॥ भजन्त्वाहिता देवदेवं विनेशं, यतो जायते
 दुःखमूलस्य भंगः । तथा संवृतौ प्रेमभावो निवृत्तिर्भवांभोधितो
 ज्ञायतां साधुवृन्दैः ॥ ५० ॥ गता मोक्षप्राप्तिर्गता लब्धिशक्तिर्गता रे
 गता रे जिनेशस्य भक्तिः । मुनीनामिदानींतनानां प्रवृत्तिः, सुखे
 शायके चाशने शिष्यलोभे ॥ ५१ ॥ गतं वस्तुपो योगचर्यापि
 नास्ति, गतो ध्यानस्वाध्याययोगोऽपि दूरम् । गतः सूत्रपाठो गतं न्याय-
 सूत्रं, न स्याद्वादवादे रुचिर्वा कदाचित् ॥ ५२ ॥ गतोऽध्यात्मवादोऽ-
 ल्पितो जैनसंघो, गतं रे ! गतं रे ! गतं प्राकृतत्वम् । इदानींतनानां मुनीनां
 प्रवृत्तिः, सुखे शायके चाशने शिष्यलोभे ॥ ५३ ॥ [अध्यापय-
 निवृत्तेरुपायः] रे चित्त ! चिन्तय जिनाम्बुजपादरेणुं, पारं गमिष्यसि
 सुखेन यतो भवान्धेः । शिष्यादयोऽन्यजनता न हि ते सहायाः,
 सर्वं विलोक्य मुनेः मृगतृष्णिकाभम् ॥ ५४ ॥ संसारसागर-
 मगाधमगम्यपारं, श्रीमज्जिनेन्द्रचरणाम्बुजश्रद्धया वा । उल्लङ्घयिष्यति
 सुखेन च ते प्रयासस्तस्मात्कुरुष्व मुनिभक्तिमधौघहर्त्रिम् ॥ ५५ ॥
 सुखे दुःखे किञ्चिन्न भवति समाजान्तरमुनेः, सहायो रागान्धो निज-
 हठपरो द्वेषनिरतः । तथा विद्याभ्यासं प्रतिपदवमन् द्वेषमनिशं,
 घृणां तद्ब्रह्मोके निजमतिविरोधेन तनुते ॥ ५६ ॥ जना उच्चैर्हासं
 विदधति घृणापात्रमिति वो, न वा संघप्रीतिर्न च सहनिवासं
 प्रकुरुते । अतो, मोहस्पन्देर्निखिलमतके नैव भवतां, मुजातं
 बन्धत्वं दृढतरसुरज्वा मुनिवराः ॥ ५७ ॥ यदा वृद्धिर्मोहावृत्तिरपि
 कथं शान्तिरधुना, न वा जाताशा नः पुनरपि सहावासकरणे । निवृत्ते-

मोहस्य कथमखिललोकानुसरणे, विचार्यैवं सन्तः कुरुत मुनयो मोह-
शमनम् ॥ ५८ ॥ कुरीतीनां नाशो भवति हि : च रुदेरपि तथा;
सहावासः पश्चादनुभवजविज्ञानमभवत् । तदा प्रेम्णाऽऽमोदः सह
दमशमादेः सुकरणं, जनाधारे जने निवसति सदा चित्तमचलम् ॥ ५९ ॥
स साम्योत्कर्षे वा भवति सहावासस्य अनकं, परं न ज्ञानस्योत्कटकमपि
वत्सास्ति फलदम् । यदाऽभ्यासासक्तं मुनिमपि ब्रह्मन्याहितजनां,
समं केन स्पृष्टो निगमसकलऽध्यात्मविदुषा ॥ ६० ॥ मुविद्यावृ-
द्धार्थं यदि मनसि चिन्ताऽप्युदयते । तदा स्पृष्टोऽदिनिखिलमुनिसंघे
पिब्लसति । तदा विद्यालभो भवति मुनिपृन्दैरधिगत्य । भये विख्यातिः
स्यान्नजनिजमताचारवशतः ॥ ६१ ॥ विना स्पृष्टां नापि प्रसरति
समुत्साहविषयः । सहावासे चैवं न लगति मनश्चंचलतया । विनान्तः
स्त्रांभ्यामे न वसति पियो वृत्तिरचला । ततो विद्यालभो भवति विदुषां
मोदसहितः ॥ ६२ ॥ सहाध्यायिनं वा सहावासिनं वा, विनापीत-
विद्याविनोदप्रचारः । सहाचारिणं चान्तस नो विचारी, ततो नो भये-
च्छालतत्त्वावबोधः ॥ ६३ ॥ तथा नावलोक्यो भवेच्छालचर्या, विना
तत्कृते नैव पुष्टिं प्रयाति । न काठिन्यकं साधिभावं तथैव, चिरं
चित्तमितौ मुहश्चिन्तयध्वम् ॥ ६४ ॥ तथाऽध्वयनतोऽध्यापनाद्वा विचा-
रात्समुत्पद्यतेऽपूर्वशक्तिप्रवाहः । नदैकजवासो मिलित्वाऽरिजानां, तदा
यत्र येषां प्रवेशोऽधिकोऽस्ति ॥ ६५ ॥ प्रवीणोऽथवा वै विशेषाधि-
कारी, सहाचारिणे वा सहाध्यायिने च । सहावासिने वा प्रवीणं
करोति, भवेत्तस्य सौख्यं नितान्तं मुनीनाम् ॥ ६६ ॥ स्वकीयेन तुल्यं
च योन्मं विधाय, समाजे समुत्तेजनां वै करोति । जतो भेदभावं
परित्यज्य । शक्तिं, स्वकीयां तथा योन्मतां सन्तनोतु ॥ ६७ ॥

चरित्रं मुविद्यां परसौ ददातु, सुवक्तृत्वबोधोऽस्ति केषां विशेषः ।
 तदा तत्कला चापि देया परस्माययं नो विचारो ह्यदा धारणीयः ॥ ६८ ॥
 स्वविद्या मया दीयते चेत्परसौ, तदा तस्य लोके प्रतिष्ठाऽधिका स्यात् ।
 तथा योग्यता वृद्धिरेवं प्रयाति, विचारं च नैवं कदाचित्करोतु ॥
 (पठित्वा च विद्या प्रदानेऽधिका स्यात्) ॥ ६९ ॥ तदा ज्ञानशुद्धिश्चरि-
 त्रप्रवृत्तिर्गतिष्ठो जनेऽथो भवेत्स्वं विचार्य्यं । परसौ कुरुष्वार्पणं स्वं
 गुणानां, समाजे प्रवृत्तिर्विधेया सुखेन ॥ (तथाऽनन्यभावेन प्रीतिं
 विधाय) ॥ ७० ॥ यथा यश्च यत्ने विधत्ते च भावं, तथैतरोऽपि
 करोत्यात्मभाषम् । प्रिया प्रेमभावो विचार्य्यैव फल्यो, यतोऽन्योन्यसंमे-
 लनं स्यात्सुसौम्यम् ॥ ७१ ॥ न याचे गुरोः पादसेवातिरिक्तं, विरक्तिं
 तु वाऽऽप्यात्मविद्यामशक्तिम् । परं प्रेम्णः साधुभावं प्रयाचे, समाजो-
 न्तरिरेन मे, तद्विधेहि ॥ ७२ ॥ त्रिधा तापतप्तोऽहमस्मिन् भवाब्धौ,
 कथं मे निवृत्तिर्भवेद्दुःखराशेः । अतो मेऽभिलाषामिमां पूरयस्व, गुरोः
 स्वां दयां मे विधायाथ भावात् ॥ ७३ ॥ जीवत्राणकरीं निर्धाय विशन्-
 दामास्येऽनिर्घां पट्टिकां, फाये चोत्पटं विलुञ्चितशिक्षः कश्चे त्तिवां
 मार्जनीम् । विद्याशून्यमुखारविन्दहृदयः श्राद्धादिकैर्गीयते, लोकान्
 शिक्षयित्वा सुवेशरचना यस्यास्ति तसौ नमः ॥ ७४ ॥ उपसृक्तमर्थं ह्यदा

स्यात् ॥ ७७ ॥ भवेत्काचिदित्यं जने योम्यता च, तथा शक्तिमा-
 बोऽस्ति यस्मिन् विशेषः । प्रदेयस्तदान्ये नरे भक्तितथ, सुविज्ञान-
 वृद्धिस्तथा शक्तिवृद्धिः ॥ ७८ ॥ स्वशक्तेस्तथा योम्यतायां च विशो-
 पयोगस्य वृद्धौ च संयुक्तवीर्ये । ध्रुवं योजनीयं ध्रुवं योजनीयं, स्वचि-
 त्तस्य शंकां निराहृत्य लोके ॥ ७९ ॥ [अथ परोपकृतिः] शिक्षा-
 प्रेमधराः पवित्रहृदया भिक्षार्थिनो ध्यानतो, ज्ञायन्तां प्रतिजीवकार्य-
 समये लक्ष्यात्पविन्दुं मुहुः । मत्त्वानन्तपरोपकारकरणे शूरा भवन्त्या-
 हिता, लक्ष्यं नैव कदापि विस्मृतिपर्यं कर्तव्यमेवं विदुः ॥ ८० ॥
 धर्मे मौलतिकार्यगौरववशाजान्यत्ररोधे करः, येन स्वादुपकारकेऽनु-
 दिवसं लोकोपकारी भवेत् । न स्वानं च कचित्प्रदेयमधुना भेदस्य
 भावस्य च, सामाजे वितरन्तु कार्यपरतां ध्यात्वा हृदा मिशुकाः ॥ ८१ ॥
 साहाय्यं च भवेज्जानान्तरमुदेऽन्योन्यं विचारेण च, शक्तौ स्वाद्बृढता-
 बलं विवरणादेकं विचारस्य वा । तन्माहात्म्यबलं भविष्यति पुनः
 स्वादुजतत्वेन हि, संयुक्तस्य बलस्य वर्द्धनमयो स्यान्नोऽन्यनायासतः
 ॥ ८२ ॥ एकस्यान्यसहायकोऽनुदिवसं भूत्वा सहायं कुरु, स्वान्ते
 वासकराम देयमस्त्रिलं नो वा विचारो मुने । विदेवं च समाजके
 प्रसरति लोकोपकारस्ततो, ज्ञात्वा सर्वमिदं विचारनिरताः श्रेयस्करा
 बुध्यताम् ॥ ८३ ॥ [अथाऽऽधुनिका सम्यक्त्वादानरूढिः]
 अद्यानद्यभवे च भिक्षुकवरेष्वाधीनर्जनेषु च, सम्यक्त्वं प्रथिपाय योग-
 मिततः शिष्यं स्वकीयं तथा । भक्तं पक्षधरं विनेतुमसतां रूढिर्विचिन्ना
 गता । मांत्वा सार्द्धमियं प्रवृद्धिरतुलां वात्या लरूपेण च ॥ ८४ ॥
 भूकम्पोऽपमितीव शेषविषयाज्ज्ञेयो मुनीन्द्रैरतो । वृक्षाणामिय संदतेश्च
 नितरां स्वाधेन भाशो मुहुः ॥ सम्यक्त्वस्य तथान्धसंपविटसच्-

परिष्ठाः ॥ १०२ ॥ कृते चाभिमाने तपस्याविनाशः, समाजोन्नतौ
जायते विगतसंपः । अतश्चाभिमानं न वै धारणीयं, न वै धारणीयं न
वै धारणीयम् ॥ १०३ ॥ महापक्षपाताभिमानाभिभूताश्चरन्त्यात्मनः
कुमयां लोकगदाम् । समुत्पद्यते योगिनी मोहमाया, ततो बध्यते
तच्छते भोगजाले ॥ १०४ ॥ मुनिजनहृदि भानुर्गनरूपी यदति ।
सकलदुरितनाशो जायते चापयासात् ॥ विक्रसति यदि पद्मं ज्ञानः
चारित्र्यरूपं । भवति मनसि ज्ञान्विर्योगसिद्धिस्ततः स्यात् ॥ १०५ ॥
गृहस्था न चास्मिन्महामोहजाले, निपद्यं त्वदीये समर्था भवन्ति ।
महानीरसपे मिलित्वा च सर्वे, भवेयुश्च श्रद्धालवो जैनधाढ्याः ॥ १०६ ॥
सत्रा संपसम्बन्धमात्रेण सर्वं, स्वकीयं विदित्वा कुरुन्वात्मरूपम् ।
[अथ शरीरसाहाय्यदानम्] यदा रोगयुक्तो भवेत्कोऽपि साधुः,
क्वचित्कश्चिदेयं च देशान्तरस्य ॥ १०७ ॥ न चेद्यानुकूल्यं जलं वायु-
रेवं, न तेषां सुखाधायको देश एव । चिकित्साख्यं नास्ति तद्देशमध्ये,
न वा साधनं किञ्चिदन्यं विदित्वा । तदा तत्र देशे विहारे भवतिर्मुदा
साधुवर्ष्यश्च ही द्रोलिङ्गायाम् ॥ १०८ ॥ समारोप्य वा स्कन्धमारोप-
यित्वा, समानीयतामन्यदेशेऽनुकूले । यदा सम्प्रदायस्य भेदो हि
छिन्नस्तत्रैवं भवेन्नान्यथा वै शुभ स्यात् ॥ १०९ ॥ केचित्सार्धपर-
यणाश्च मुनयः केचित्सकुक्षिभराः, सन्त्यन्ये श्रुतसम्प्रयेऽपि निरताः
केचित्सधर्मच्युताः ॥ विद्यारत्नमुवाञ्चिताल्पमतयो मूढाश्च केचिद्भुवं,
केचित्साधनसारशून्यहृदयास्तो वै कथं पारगाः ॥ ११० ॥ मुनिः सेव-
तास्ये निजे धर्मपट्टेर्मुहुध्वान्तरात्मातिपूतो विभाव्य । सुशय्यंभवैः
स्मरिभिर्वर्णितं च, महत्त्वं भवे भव्यभावेन सिद्धः ॥ १११ ॥ तत्रस्तस्य
सम्बन्धमावो महान् हि, यत्स्तेन सेवास्वधर्मप्रचारः । मनाङ्ग नाम

पुनरथो तेम्यञ्च देये क्वचित् ॥ ९२ ॥ नेदं सर्वमपस्मृतिं कुरु न
 ज्ञेत्स्वर्गोऽपि न स्वाद्धतिर्धर्मो मोक्षपथं च नाकमथवा स्वसैव पाणौ
 स्थितम् । जानन्त्येवमहं गुणोऽसि निस्त्रिदन्द्येऽवराः सन्ति च, ध्रुवेयं
 परिज्ञायतामविरतं स्वादन्धकारावृताः ॥ ९३ ॥ अस्त्यन्योऽपि महानु-
 भावविपद्यः सन्धोऽर्थतां चित्ततः, सम्यग्दृष्टप्रदत्तमन्यमुनिभिस्त्वयक्त्वा च
 तत्त्वं पुनः । सम्यक्त्वं च प्रदाय नैव कुरुते सर्वोत्थं मानतः, कैचि-
 त्स्वस्य समीपके च रहसि संलेशयित्वा मुदा ॥ ९४ ॥ संस्थाप्योत्तम-
 ग्राहकेण सदृशो नामाङ्कितं पुस्तकं । तीर्थस्वाक्ष स्वकीयपत्रनिचये
 संलिन्यते नाम च ॥ यत्रार्थं च जनाः प्रयान्ति नितरां तेषां यथा
 यत्तत्सद्ब्रह्मैतन्मताष्वलम्बनपराः कुर्वन्ति कुस्तान्विताः ॥ ९५ ॥ कठोरा-
 लिकायाश्च निन्दास्पर्धायाः, प्रवृत्तेश्च सञ्जायते कुग्रहत्वम् । ममत्वान्ध-
 कारेण संछादनं स्यात्तथा रागद्वेषादिकस्वानमेवत् ॥ ९६ ॥ सम्यक्त्व-
 संयुक्तवले च सम्यग् मन्दलमायावमितो विचिन्त्यम् । मदीयसम्यक्त्वप-
 लस्य मूलं, संछिद्यते कुत्सिक्या च रीत्यां ॥ ९७ ॥ अतोऽस्य रोगस्य
 चिकित्सकत्वं, कर्तव्यमेवं पुत्रथापणाद्यः । तदैकदेशस्य मलं विभाय,
 धर्मं भयङ्कारि च राजयक्ष्मा ॥ ९८ ॥ रोगो यथोत्पन्नतया करोति,
 विकारतामात्मगृहीयकेऽन्तः । महान्नर्धो भयतीति हेयं, गृहस्वरागा-
 त्मकृष्टाष्टिभावः ॥ ९९ ॥ विषय्य दोषं परितः करोति, तथाऽनिशं
 मुचलिकेव दृशा । सर्वार्तयन्त्यत्र विवर्द्धनं च, वैषम्यभावस्य निशम्य
 योगिन् ॥ १०० ॥ स्वकीयज्ञातस्य महाधिकारं, सप्तोदयश्चैव स्वयं च
 सम्पद् । त्वदीयजातेन निशन्ति लोकाः, युक्तश्च लोके प्रविशेक-
 चुदस्य ॥ १०१ ॥ जानन्ति सर्वे च वरावरं वा, विचारसारस्य
 करोति भावम् । धावन्ति ते चान्धं परम्परातो, दूरं परं श्रोशुमिदं

मुखाः, शृण्वन्तु, व्याख्यानमनन्यथावात् ॥ १३५ ॥ यथाद्वन्तोऽपि
 तुशासनं वरं, तन्वन्तु यथाच तंशोपदेशम् । कुर्वन्तु वृद्धिं च प्रशास-
 नस्य, मुस्तागतं चापिः तथैव मुञ्जाः ॥ १३६ ॥ साध्यं मुष्ममेकमेव
 मुनयः सर्वे मिलित्वा हृदा । स्वानाम् परिकल्पयन्तु मुष्मिं विषाच-
 रित्रात्मकम् ॥ येन स्याच्च समाजकोचतिदशा शिक्षाविभृगस्य च ।
 तो चेद्भ्रमविपर्ययस्य समयो जातोऽप्यभार्य्यं कुपैः ॥ १३६ ॥
 संस्थाप्या किल भारतस्य जनता पोते च संघात्मके । सिद्धास्यं नगरं
 सुदारचरित्वा संस्थापयन्वाहिताः ॥ एतावत्करणेन याति भक्ता पार-
 त्रिकं चैहिकं । सर्वं कार्यमदभ्रमेव विषयांसकं मनोहीयताम् ॥ १३७ ॥
 स्वादर्शं च जगद्भवन्तमधुना जानातु चात्मा पुनर्व्येके नाम भवेत्तोऽ-
 नुपिततं धाममानुसन्धानतः ॥ एवं धर्मपरायणो यदि भवेत्ते स्याच्च
 कीर्तिः परा । तस्मात्संपवियर्धनाय भवतां स्वायेत्युत्तरगुणा ॥ १३८ ॥
 [अधःधमाऽन्मर्धना] भवान् वीरपुत्रोऽस्ति शान्तासुमूर्तिरहित्वा
 तपस्यान्वितः सत्यमाही । तथा ज्ञानतोऽत्यन्तरुद्धारोऽस्ति, पुनर्वि-
 त्तरागानुसारं करोति ॥ १३९ ॥ न्यनेन्दुसंस्त्रोपशुके शतस्य, दिना-
 धपित्वं कुरुते तपस्याम् । अतन्नापस्तिपवरोऽस्ति लोकं, चोपाधि-
 धार्म्यस्ति विचारणीयम् ॥ १४० ॥ तत्पृष्ठतो विधुनिर्दं, च उग्रमहं
 त्र स्वल्पवर्गतिर्न मेऽस्ति । स्वहन्नुभयोऽपि न चाशुतेहं, व्याकृषाग-
 दानेऽपि न मेऽस्ति शक्तिः ॥ १४१ ॥ मस्तिद्वयकारि न पानि
 पिदान्, किन्त्वल्पबुद्धिस्तुव चाटकोऽहम् । सत्प्रवर्धं, पिदधानि
 श्रेयां, तथाऽस्ति संप्रकृष्टमभिलषी ॥ १४२ ॥ एमादिहं च विधी-
 पोमि मन्दं, मणो यदि पृथक्वयाऽग्नायम् । ज्ञानं तद्य पिस्तुति-
 पणभक्त्या हि शुचान्तरमायनात् ॥ १४३ ॥ एषा विधिभक्तिः

शुद्धिपत्रम्



कृतेऽपि भूयसि संशोधनप्रयासे कश्चिदशुद्धयोऽवशिष्टा एवेति ताः कृपया
अधोनिर्दिष्टसङ्केतानुसारं संशोध्यैव पठन्तु पाठयन्तु भव्यजनाः श्रावका मुनयश्चेति
सविनयमभ्यर्थयतेऽयं लघुतमः पुष्पभिधुः ॥

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्तयः	अशुद्धम्	शुद्धम्
१६	११	जैनतरमतावलम्बी	जैनेतरमतावलम्बी
१९	५	"	अनन्तशक्ति
२१	१५	सम्यग्दर्शनका	सम्यग्दर्शनकी
२८	४	मेल	मेल
२७	२३	भावन	भावना
३९	५	निशंकसे	विःशंकसे
४८	११	नस्तर	नस्वर
"	२१	कार्माण	कार्मण
५२	२५	बुद्धिप्राप्तिने	बुद्धिशक्तिने
५३	१६	तेओ	ते
६०	११	कस्मापासवकारणम्	कस्मपासवकारणम्
६१	२२	पुरुषेष्वपि	पुरुषेष्वपि
१००	११	वह्मी	वह भी
१००	२२	इनकि	इनकी
१०१	३	कि	की
१०२	२३	इत्यभिधानप्यदीपिका	इत्यभिधानप्यदीपिका
१०४	३	सबशदोंम	सब श्चदोंमें
"	२५	सेट्टे	सेट्टं
१०६	५	तेन	तेने
१०९	१०	धुनीका मताः	धुनिकाः

(३) उच्च कर्ममलके कारण इस जीवको नाना योनियोंमें अनेक उद्भट भोगने पडते हैं और उसीके नष्ट हो जानेपर यह जीव अनन्तज्ञान-अनन्त-दर्शन-अनन्तसुख और अनन्तशक्ति आदिको जो कि इसकी निजी सम्पत्ति है और जिसे मुक्ति कहते हैं वह प्राप्त करता है ।

(४) निराकुलता लक्षणयुक्त मोक्ष मुख्यतः प्राप्ति इस जीवके अपने निजी पुरुषार्थके अधिकारमें है किसीके पास मांगनेसे नहीं मिलता ।

(५) पदार्थोंके स्वरूपका यह सत्य भ्रमज्ञान [Right belief] सत्य-ज्ञान [Right knowledge] और सत्य आचरण [Right conduct] ही यथाथमें मोक्षका साधन है ।

(६) वस्तुमें अनन्त धर्मोत्पत्ति, स्वाभाव ही उनके प्रत्येक धर्मका सत्यतासे प्रतिपादन करता है ।

(७) सत्य आचरणमें निप्रतिषिद्ध बातें गर्भित हैं, यथा—

[क] जीव मात्र पर दया करना, कभी किसीको घरीरसे कष्ट न देना, बचनसे दुःख न करना, और मनसे दुःख न विचारना ।

[ख] क्रोध-मान-माया-लोभ और माधुर्यादि कषायमाहते भावभावों मलिन न होने देना, उधे इनके प्रतिवशी गुणोंसे सदा पवित्र रचना ।

[ग] इन्द्रियों और मनको बस करना एवं बाह्य संसारमें विस्त न होना ।

[घ] उत्तम धर्मा-निरर्थक-सरलता-शुद्धता-त्यज-धीर-संयम-उप-साम-ज्ञान धर्मवर्मादि लक्षणमयक धर्मको धारण करना ।

[च] सत्य-बोधि-शुद्धीत भादि निन्द्य धर्मोंसे स्थाने करना ।

(८) यह संसार स्वयं सिद्ध अर्थात् अनादि अनन्त है, इसका कर्तृ हता कोई नहीं है ।

(९) आत्मा [soul] और परमात्मा [God] में केहाड विभाव और स्वभावका विशेष है । जो आत्मा सगुणैपरूप विभाव को छोड़कर निज स्वभावरूप हो जाता है उधे ही परमात्मा कहते हैं ।

(१०) मन्वन्तीन-सूत-व्यवस्था विचार मनुष्यका निजका किना दुःख विचार है वेसे मनुष्यमात्रमें श्रेष्ठिक वेद उच नी नहीं है ।

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्तयः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२४०	१८०	हि	च
२९२	१२१	धम्मः	धम्म
२९४	१३७	जिवा	जीव ।
२९६	१२	निजा :	निजां
"	१९	नक्ष्यति	नक्ष्यति
२९९	३०	समस्येद्वा	समस्येतद्वा
३०५	४	ऽध्रासि	ऽध्राति
३१३	२४	दश्यते	दश्यते
३१४	२०	चेतना	चेतना
३१७	१७	खसन्	खसन्
३२०	१८	मश्रुते	मश्रुते
"	२२	ऐसा	ऐसे
३२९	२५	दीनानां	दीनोंध
"	२८	चलते	चलति
३३०	२७	धेदं	धेदं
"	२९	शंकटान्	शंकटान्
३३१	१२	तेतिवि	तेनेति
३३६	९	प्रयागमण्डल	प्रयागमण्डले
३४१	१९	निसेवनम्	निवेशनम्
३४७	२९	मादिनिशमादि	यमादिद्वानां वि.
३४८	२८	जनोष्यू	जनैरु
३५३	१४	न भवयोगवित्तमम्	न भवेयोगवित्तनः
३६९	२५	तद्रक्षस्वाधुना गुरो !	रक्षमामधुना गुरो !
३७०	९	जगज्जल्यम्भोधे	जगज्जल्यम्भोधेः
"	१९	पुण्याश्रुती	पुण्याश्रुतिः
३७१	२१	विरदार	विरदार

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्तयः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२७२	२२	आपना	अपना
"	२५	अन्यत्वता	अन्यत्व
२७३	३	एकत्वता	एकत्व
२८१	९	वहः	वह
२८४	११	बोधार्थिकी	बोधार्थिकी
२८७	२१	कथितप्रबन्धो	कथितप्रबन्धो
३१९	६	वीयतेऽय	वीयते यद्

गच्छतः स्खलनं कापि, भवत्येव प्रमादतः ।

इत्यन्ति दुर्जनास्तत्र, समादधति सञ्जनाः ॥

विद्युतिकारः

दानी पुरुषोक्ती नामावली

१००) शे० जगन्नीकन महता, मु० शरिया, १००) शेठ मानक्यन्त्र
महावीरप्रसाद, मुपुत्र शेठ ज्वालाप्रसादजी राजा बहादुर कलकत्ता, १००)
शे० शिवलाल पोपट संघवी, शरिया, २००) शे० मनोहरलाल जैन, कान-
पुर, २०) शे० अमरचंद नाहर, कलकत्ता, २०) शे० सुमानमल पन्नालाल
कलकत्ता, २०) शे० गोपीचंद हीरावत कलकत्ता, ११॥) शे० चांदमल
मूलक कलकत्ता, ११) शे० मुंदरलाल सारड कलकत्ता १५) शे० रतन-
लालजी बदलिया कलकत्ता, ७) शे० मांगीलाल बोरडिया सरघाड.

पुस्तकें मिलनेका पता—

मन्त्री-ज्ञानपुत्र महावीर जैनसंघ,

उ०, पो०, पाटोदी, [स्टेट]

वि० शुभांशु, (पंजाब) :